ओ३म्

दयानन्द-ग्रन्थ-माला

(तृतीय भाग)

(लघु-ग्रन्थ संग्रह (१४ पुस्तकें), उपदेश मञ्जरी, तथा
दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह)

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७
दूरभाष—२२१३२७, २२९५४७, २३३११२, २३८३६०

विक्रय केन्द्र—२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७
शाखा—४५५ खारीबावली, दिल्ली-११०००६

सृष्टि-संवत् १,९६,०८,५३,०८२
दयानन्दाब्द १५७
वि० संवत् २०३८

यम संस्करण २२०० मूल्य तीनों भागों का ८०) रु०

प्रकाशकीय

महर्षि-दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश की शताब्दी के शुभावसर पर आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दयानन्द-ग्रन्थमाला को तीन भागों में प्रकाशित कर आर्य-जगत् की सेवा में समर्पित कर रहा है, यह अतीव प्रसन्नता की बात है। यद्यपि दयानन्द-ग्रन्थमाला (दो भागों में) प्रथम अर्धशताब्दी के शुभावसर पर प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु वह अब उपलब्ध न होने से महर्षि के ग्रन्थों का एकत्र मिलना कठिन ही हो गया है। हमारे ट्रस्ट की सभा में सभी सदस्यों ने इस पावन अवसर पर यह हार्दिक इच्छा प्रकट की कि महर्षि की स्मृति में महर्षि के ग्रन्थों के उपहार से उत्तम अन्य कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि महर्षि को समझने के लिये उनके ग्रन्थों को समझना परमावश्यक है। यही उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धाञ्जलि हो सकती है। यद्यपि इस समय कागज की महंगाई तथा साधनों की कीमत बढ़ने से इस ग्रन्थ-माला के प्रकाशन में अनेक प्रकार की बाधायें सामने आईं, पुनरपि पूर्व निश्चय के अनुसार बढ़िया कागज पर उत्तम छपाई के साथ लागतमात्र मूल्य पर यह कार्य परम-पिता परमात्मा की कृपा से पूर्ण हो ही गया। एतदर्थ ट्रस्ट के सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र है।

और इस ग्रन्थ-माला के प्रकाशन का विशेष उद्देश्य भी है। महर्षि के कुछ ग्रन्थों को छोड़कर दूसरे ग्रन्थ बाजार में उपलब्ध न होने से जहाँ पाठक पूर्ण लाभ उठा नहीं सकते थे, वहाँ महर्षि के ग्रन्थों की सुरक्षा भी नहीं हो सकती थी। जो ग्रन्थ पठन-पाठन में नहीं आते, धीरे-धीरे वे जन-मानस से ओझल ही हो जाते हैं। इससे आर्य-जगत् की महती हानि हो सकती है। पाञ्च हजार वर्षों के पश्चात् महर्षि-दयानन्द ने जिस लुप्त वेदविद्या का प्रकाश अपने ग्रन्थों में किया है, लोग उस विद्या से वञ्चित ही रह जाते। अतः समस्त ग्रन्थों के एकत्र प्रकाशन से पठन-पाठन में सुविधा के साथ-साथ इन ग्रन्थों की सुरक्षा भी होती है। महर्षि-दयानन्द ने वेदादि समस्त सत्यशास्त्रों का पूर्णरूपेण मन्थन

करके सर्वसामान्य की भाषा में जो वेद-विद्या का प्रकाश किया है, वह उनकी अलौकिक प्रतिभा तथा लोकहित-भावना का परिचायक है। मध्यकालीन अनार्ष ग्रन्थों और मत-मतान्तरों की भयंकर काली घटाओं ने सत्यविद्या के प्रकाशक वेद-सूर्य को इस प्रकार ढक लिया था कि मानव अज्ञानान्धकार में ही भटकता फिरता था। और मानव-जीवन को निष्फल ही कर रहा था। लोकहितैषी, परम आस्तिक महर्षि-दयानन्द ने कुशल वैद्य की भांति इस रोग को परखा और उचित उपचार करने के लिये भौतिक सुखों का सर्वथा त्याग करके लोकहित के कार्य में लग गये। और वैदिक वाङ्मय का मन्थन करके नीर-क्षीर विवेक की भांति सत्यासत्य का निर्णय किया और उसका प्रकाश अपने ग्रन्थों में किया है। आज यदि कोई निष्पक्ष तथा जिज्ञासुभाव से वेद-विद्या को सीखना चाहता है तो वह महर्षि के ग्रन्थों का अध्ययन किये बिना वेदादि-शास्त्रों के सत्यार्थ को नहीं समझ सकता। अतः वेद-ज्ञान की प्राप्ति के लिये महर्षि के ग्रन्थ सोपान की भांति परम सहायक हैं। जो व्यक्ति महर्षि के ग्रन्थों को एक बार पढ़ लेता है उसका मानो कायाकल्प ही हो जाता है और वह असत्य एवं अज्ञानपूर्ण विकट मार्ग से बचकर सन्मार्ग का पथिक बन जाता है। इसलिये प्रत्येक वेदभक्त को वेदार्थ-ज्ञान प्राप्ति के लिये, प्रत्येक परमेश्वर के उपासक को सच्ची उपासना पद्धति जानने के लिये, निष्पक्ष व्यक्ति को सत्यासत्य निर्णय करने के लिये महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों को एक बार अवश्य पढ़ना चाहिये। इनको पढ़ने मे मानव की बुद्धि का आवरण दूर होता है और पारस्परिक मत-मतान्तरों के झगड़ों से बचकर मानव मानव बन जाता है।

ग्रन्थ-माला के प्रस्तुत तृतीय भाग में महर्षि के लघुग्रन्थ-संग्रह (जिसमें १४ पुस्तकें हैं), दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह और उपदेश मञ्जरी का संग्रह किया गया है। लघुग्रन्थ संग्रह में यद्यपि गोकरुणानिधि, व्यवहार भानु, इत्यादि छोटी-छोटी पुस्तकों का संग्रह है, परन्तु ये पुस्तकें भी अपने स्थान पर विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें कुछ पुस्तकें तो ऐसी हैं जो बाजार में पृथक् उपलब्ध ही नहीं होतीं। आर्यों के दैनिक कर्त्तव्यों का बोध पञ्चमहायज्ञविधि से, गाय की रक्षा का महत्त्व तथा गोरक्षा के लाभों का विवरण (सोदाहरण) गोकरुणानिधि से, वैदिक सत्य मान्यताओं का परिचय आर्योद्देश्यरत्नमाला से, मानव के पारस्परिक व्यवहार का बोध व्यवहारभानु से, वेद-विरुद्ध मतों का खण्डन वेद-विरुद्धमतखण्डनादि पुस्तकों से और आर्य-समाज के उद्देश्य एवं नियमों की जानकारी, इत्यादि अनेक आवश्यक बातों का बोध करने के लिये लघुग्रन्थ-संग्रह का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

और दूसरी दोनों पुस्तकों का ग्रन्थ-माला में संग्रह अपूर्व ही है। क्योंकि इनको ग्रन्थ-माला के साथ प्रथम वार ट्रस्ट ही छाप रहा है। महर्षि के शास्त्रार्थों का संग्रह सर्वप्रथम हमारे ट्रस्ट ने ही किया है, परन्तु ट्रस्ट का संग्रह इसलिये उत्तम बन गया है कि इसमें महर्षि के शास्त्रार्थों के अतिरिक्त महर्षि के साथ किये गये संवादों का भी संग्रह किया गया है। और शास्त्रार्थ भी कोई छोड़ा नहीं गया है। महर्षि के साथ हुए शास्त्रार्थों से भी बहुत ज्ञान की वृद्धि होती है। महर्षि द्वारा प्रस्तुत अनेक युक्तियों व प्रमाण भाग का बोध तथा उनकी सत्य व्याख्या का ज्ञान भी होता है। और उपदेश-मञ्जरी में पूना में दिये गये महर्षि के १५ व्याख्यानों का संग्रह किया गया है। इस का प्रकाशन मूल मराठी भाषा से मिलान करके किया गया है। इन उपदेशों से ईश्वर के स्वरूप, धर्माधर्म, पुनर्जन्म, तथा भारतीय सत्य इतिहास का यथार्थ बोध होता है। ट्रस्ट ने इसके साथ एक विस्तृत विषयसूची संलग्न करके पाठकों की रुचि बढ़ाने में और विषय देखने में अतीव सरल कार्य किया है। आशा है कि पाठक इन ग्रन्थों के स्वाध्याय से सन्मार्ग के पथिक बनकर परमार्थसिद्धि कर सकेंगे।

विनीत—
दीपचन्द आर्य
प्रधान—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

आषाढ़ शुक्ला नवमी,
सं० २०३८ वि०
दिनांक—१० जौलाई, १९८१ ई०

ओ३म्

दयानन्द-लघु-ग्रन्थ-संग्रह

(चौदह पुस्तिकाओं का संकलन)

सम्पादक
सुदर्शनदेव आचार्य एम० ए०

प्रकाशक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७
शाखा विक्रय केन्द्र—४५५ खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष—२२१३२७, २२६५४७, २३३११२, २३८३६०

सृष्टि-संवत् १,९६,०८,५३,०८१
दयानन्दाब्द १५६
वि० सं० २०३७, ई० १९८१ सन्

पूर्व प्रकाशित	२२००
तृतीय संकरण	३३००
योग	५५००

मूल्य—
फुल कपड़ा जिल्द ८) रुपये

ग्रन्थ-सूची

प्रकाशकीय

इस ग्रन्थ में १४ चौदह लघु पुस्तिकाओं का संग्रह है। इनके पृथक्-पृथक् छपने के के कारण तथा प्रचार भी न होने से इस समय प्रायः लोगों को अधिकांश पुस्तकों के विषय का पता नहीं है। इनमें से कुछ ही ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रचलित है अन्यों का जो है वह भी कम होता जा रहा है। इन सब ग्रन्थों के पठन-पाठन को प्रचलित करने तथा बढ़ाने के लिये इन्हें संग्रह रूप में छापा गया है।

महर्षि के सभी ग्रन्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयों का अति सरल भाषा में प्रामाणिक प्रतिपादन मिलता है। अतः उनके सभी ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। पाठक इस संग्रह द्वारा ऋषि के सभी लघु-ग्रन्थों को सरलता से प्राप्त कर उनके अध्ययन से बहुमूल्य मोतियों को पा सकेंगे।

इस लघु-ग्रन्थ-संग्रह का सम्पादन जिस-जिस संस्करण से किया है, उन पुस्तकों के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि भी उसके साथ दे दी है। सम्पादन उन संस्करणों के अनुसार ही किया है, पाठ-परिवर्तन कोई नहीं किया। उन संस्करणों का विवरण भी सूचीपत्र में दे दिया है। इनमें अधिकतर संस्करण ऋषि के जीवन-काल में छपे अन्तिम संस्करण हैं। इस समय इनकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। ऋषि ग्रन्थों को संशोधन से बचाने के लिये यह प्रयत्न इस समय परम आवश्यक था। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए ट्रस्ट सत्यार्थ प्रकाश, संस्कारविधि, एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका इन तीनों ग्रन्थों के ऋषि के जीवन काल में छपे अन्तिम संस्करणों के फोटो आफसेट प्रिंट के रूप में प्रकाशन कर चुका है।

इस ग्रन्थ में संग्रह का क्रम ग्रन्थों के प्रकाशन-काल के अनुसार ही रखा है। अनेक अवसरों पर ग्रन्थ का प्रकाशन का जानना बहुत लाभप्रद होता है।

वेदविरुद्ध-मतखण्डन प्रथम संस्करण संस्कृत भाषा में गुजराती भाषा के अनुवाद सहित छपा था। वह हमें प्राप्त नहीं हुआ। इसका द्वितीय संस्करण ऋषि-निर्वाण के पश्चात् पं० भीमसेन कृत भाषानुवाद सहित छपा। उसी के अनुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन किया गया। इसमें संस्कृत के सामने भाषानुवाद पाठकों की सरलताके लिये छापा है।

'शिक्षापत्री ध्वान्तनिवारण' का प्रथम संस्करण गुजराती का भाषार्थ सहित छपा था। वह हमें प्राप्त नहीं हुआ। द्वितीय संस्करण गुजराती का अनुवाद आर्यभाषा में छपा था।

उसी के अनुसार इसका सम्पादन किया है। इसमें संस्कृत के सामने भाषानुवाद पाठकों की सरलता के लिये छापा है। द्वितीय संकरण ऋषि-निर्वाण के बहुत पश्चात् छपा। अतः इसके मुखपृष्ठ पर सृष्टिसंवत् ऋषि के मन्तव्यानुसार नहीं है।'

व्यवहारभानु-ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर 'पाणिनि मुनि प्रणीता' श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती कृतव्याख्या सहित' ऐसा अशुद्ध पाठ छपा था। इसी संस्करण के अन्त में शुद्धाशुद्धपत्र में शुद्ध भी किया गया है किन्तु बहुत समय तक शुद्धाशुद्ध पत्र की ओर ध्यान न जाने के कारण मुखपृष्ठ पर पाठ अशुद्ध ही छपता रहा। किन्तु हमने शुद्धाशुद्ध पत्र के अनुसार मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि को शुद्ध करके छापा है।

इस समय व्यवहारभानु, आर्योद्देश्यरत्नमाला, गोकरुणानिधि तथा पञ्चमहायज्ञविधि पठन-पाठन में अधिक प्रचलन देखकर ट्रस्ट की ओर से इन चार लघु ग्रन्थों का पृथक् भी प्रकाशन किया गया है।

इस संग्रह के प्रकाशनार्थ ऋषि-जीवनकाल में छपी आर्योद्देश्यरत्नमाला, भ्रान्तिनिवारण भ्रमोच्छेदन तथा अनुभ्रमोच्छेदन यह चार पुस्तकें श्री माननीय पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक से प्राप्त हुईं। इस उदारता के लिये माननीय पण्डित जी का हार्दिक धन्यवाद है।

श्री पं० सुदर्शनदेव जी आचार्य एम. ए. ने इस लघुग्रन्थ का सम्पादन बहुत योग्यता पूर्ण और पुरुषार्थ से किया है। इसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

—दीपचन्द आर्य

प्रधान—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

कार्तिक कृष्ण तृतीया, संवत् २०३७ वि०
२५-१०-१९८० ई०

द्वि० संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

ओ३म्

वेदविरुद्धमतखण्डनोऽयङ्ग्रन्थः

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः

तच्छिष्यभीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितः

प्रयागनगर

वैदिकयन्त्रालये मुद्रितः

सम्मतिरत्र वेदमतानुयायिपूर्णानन्दस्वामिनः

संवत् १९४४

श्रावण शुक्ल

द्वितीय वार छपा } १०००

{ डाक व्यय सहित मूल्य ।)

❀ ओ३म् ❀

अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

१. (प्रश्नः) कोऽयं वल्लभो नाम कश्चास्यार्थः ?

२. (उत्तरम्) वल्लभोऽस्मदाचार्यः प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः ।

३. (प्र०) किमाचार्यत्वं नाम भवन्तश्च के ?

४. (उ०) गुरुराचार्यः वयं वर्णाश्रमस्थाः ।

५. (प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ?

६. (उ०) उपदेशष्टृत्वमिति वदामः ।

७. (प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रियः, उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ?

८. (उ०) नाद्यः, कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वाभावात् किन्तु कश्चित्ताद्दशोऽस्ति । न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात्, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । अन्यच्च, सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम् । मृतस्याचार्यत्वकरणासंभवात् ।

"समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठंगुरुं समुपगच्छेत्"

१. (प्रश्न) वल्लभ नामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है ?

२. (उत्तर) वल्लभ हमारा आचार्य है । इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है ।

३. (प्र०) आचार्यपन क्या है और आप कौन हैं ?

४. (उ०) गुरु को आचार्य कहते हैं और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं ।

५. (प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ?

६. (उ०) उपदेश करना, इसको हम गुरुपन कहते हैं ।

७. (प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ?

८. (उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं हो सकता क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना सम्भव नहीं किन्तु कोई वैसा है । और द्वितीयपक्ष इसलिए ठीक नहीं कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उसमें मूर्खों की प्रीति होने से वह भी अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने-अपने सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है अर्थात् विद्वानों का विद्वानों और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है । और भी देखो कि जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे हुओं में न होने और मरों में प्रीति करना

इति श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात् ।
"उपनीयतु यश्शिष्यं
वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च
तमाचार्य्यम् प्रचक्षते ।।"
इति मनुमतविरोधात् ।

भी निष्फल होने से उस पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता। और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। वेद में लिखा है कि—"वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके आवे।" इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास हाथ में समिध लेके आना असम्भव है। और "जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं।"

इस मानव धर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है।

मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसम्बन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम् ।

मरने के पश्चात् पढ़ना-पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं वे नहीं हो सकते क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत है।

तथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च। तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टवचनत्वमप्यसङ्गतन्तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात् ।

इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी सर्वथा असङ्गत है।

९. (प्र०) किङ्गुरुत्वं, सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ।

९. (प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है? क्या सत्योपदेश करना व असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है?

१०. (उ०) नादिमः, कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्त्वादस्ति चेन्न सङ्गच्छते, विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात् ।

१०. (उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुममें इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं तो तुम्हारा कहना असङ्गत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है।

अर्थकामेष्वसक्तानां,
धर्मज्ञानं विधीयते ।।
इति मनुसाक्ष्यविरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्त-

धर्मशास्त्र में कहा है कि—"अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में

प्रीतेर्विद्यमानत्वात् मरणसमयेऽपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन् पदार्थान् कश्चिद् गृह्णाति भवतान्तेन तुल्यत्वाच्च ।

प्रसिद्ध है। स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पग रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डालादि के तुल्य मृतक के वस्त्र, आभूषणादि पदार्थों को लेते हो। इससे महाब्राह्मणादि के तुल्य हुए।

नान्त्यः, असत्योपदेशस्यानभिधानाद् द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च। स्वपुत्रादीन् प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद् भवत्सु गुरुत्वस्य विरह एवेत्यवगन्तव्यम् ।

और द्वितीय पक्ष—असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध और दोनों गुरु शिष्य दुःखफलभागी होते हैं। अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है। अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता।

"निषेकादीनि कर्माणि
यः करोति यथाविधिः।
सम्भावयति चान्नेन
स विप्रो गुरुरुच्यते ॥

धर्मशास्त्र में कहा भी है—"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहाता है।"

इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति। भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्त्तिपूजन कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमन्त्रोपदेशञ्च त्यजन्तु; नोचेद् वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद् भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ।

इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है। और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है। इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है। यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नही करते ? यदि करते हो तो पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण कराना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ। यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते। यह निश्चय जानना चाहिए।

११. (प्र०) भवन्तो गुरवः, शिष्या, मध्यस्था वा ?

११. (प्र०) आप लोग गुरु, शिष्य वा मध्यस्थ हो ?

१२. (उ०) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान् वेदान् पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति ? शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद् ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

१२. (उ०) यदि गुरु हो तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ? यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है यह निश्चय जानना चाहिए ।

१३. (प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद् विरोधिनो वा ?

१३. (प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो वा वेदमत के विरोधी हो ?

१४. (उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते ? वेदविरोधिनश्चेन् नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते—

"नास्तिको वेदनिन्दकः" ।

योऽनधीत्य द्विजो
वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्व-
माशु गच्छति सान्वयः"
इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ।

१४. (उ०) यदि वेदमतानुयायी हो तो वेदविरुद्ध अपने कपोल कल्पित वल्लभ वा अन्य सम्प्रदाय को क्यों मानते हो ? यदि वेदविरोधी हो तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि—"वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है" । और—

"जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह अपने कुटुम्ब सहित जीवते ही शूद्र हो जाता है" । इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो ।

पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति ? नो चेन्मन्दिरे जडमूर्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टादिनादश्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन् पदार्थान् किमर्थमाहरन्ति ?

फिर जन्मने मरने वाले श्री कृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि को ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़ मूर्तिस्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ?

१५. (प्र०) भवन्तः स्वस्मिन् कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ?

१५. (प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं वा मनुष्यपन की ?

१६. (उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते ? तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो, भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ? मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभि-

१६. (उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? श्रीकृष्ण जी के सदृश पराक्रम आप लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ? श्रीकृष्ण जी तो परमपद को

मानस्त्यज्यताम् ।

प्राप्त हो गये आप लोग कैसे जीवते बने हो? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ।

१७. (प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये, वैष्णवाश्चेत् कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते?

१७. (प्र०) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो?

१८. (उ०) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्तस्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो विशेषग्रहणस्य नियमाभावात्। यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथा विष्णोरयं शत्रुः, पुत्रः, पिता, प्रभावशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि गृहीतुं शक्याः। अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः।

१८. (उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण के "तस्येदम्" इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है। भक्ति विशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं। जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया वैसे कोई विष्णु शब्द के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है। इसलिए आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता।

१९. (प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः?

१९. (प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है?

२०. (उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम इति चेद् व्यापकत्वं त्यजताम्। चतुर्भुजादिक मन्यन्ते चेत् सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम्। कुतः? संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति। संयोगश्चानित्यस्तस्माद् भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलन्नान्यथा। ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव।

२०. (उ०) यदि गोलोक वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति, देहधारी कहते हो तो व्यापक होना छोड़ो यदि चतुर्भुज आदि आकृति वाला मानते हो तो सावयव, उत्पत्ति धर्मवाला, अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो। क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता। और संयोग अनित्य है। इससे संयोग वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है; अथवा नहीं और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है।

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

वेद में कहा है कि—"ईश्वर शरीर, छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित,

शुद्ध, निष्पाप सर्वत्र व्यापक है।" इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है।

२१. (प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम् ?

२१. (प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्ति के पूजने में पुण्य होता है वा अपुण्य ?

२२. (उ०) पुण्यं भवति, न च पापमिति ब्रूमः। स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च। तत्र वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत इति जल्पामः। वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते। अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव।

२२. (उ०) पुण्य होता है; पाप नहीं। ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि यदि थोड़े कण्ठी तथा तिलक के धारण और मूर्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कण्ठियों का भार लादने, चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है, ऐसा मानो और करो। यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिए वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में कण्ठी, तिलकधारण और पाषाणमूर्तिपूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है। इसलिये आपका कथन व्यर्थ है।

२३. (प्र०) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम ?

२३. (प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है।

२४. (उ०) पाषाणादिमूर्त्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति नैवं शक्यं वक्तुम्। कथं ? प्राणादीनान्तरकर्मणान्तत्रादर्शनात्। यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ?

२४. (उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्त्तियों में वेदमन्त्र द्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्तियों में नहीं दीख पड़ती। जो उन मूर्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ?

यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति ? भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति।

यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म

किञ्च पाषाणादिमूर्त्तीनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गम-नागमनयोरवकाश एव नास्ति; न नाड्यश्छिद्राणि च। मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तत एव। प्राणादिभिर्विना दाहादिका: क्रिया: जनै: क्रियन्ते। यदा भवन्त: प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यं भविष्यति। तस्माच्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम्।

यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीम:। कुत:? ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम्। तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोऽस्ति। एतस्यान्यथा करणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम्। ईश्वरेण ये जडा: पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति तथा चेतना जडा: कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चय:।

ईश्वर: सर्वव्याप्यस्त्यत: पाषाणादिमूर्त्तिमध्येऽप्यस्ति। पुनस्तत्पूजने को दोष:? खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते?, एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटनचन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति? कुत: सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात्। नो चेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्कुमर्थं न कुर्वन्ति? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे सत्येकस्मिन् वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति। तद्यथा चक्रवर्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमिताया भूमे

से तुमको बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी। और यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि के जाने-आने का अवकाश ही नहीं। न नाड़ी और इन्द्रियछिद्र हैं। और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश, नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है। केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं। सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ। तब तो किसी का मरण ही न होवे इससे बड़ा पुण्य होगा। इसलिए शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये।

हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा। क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा यह निश्चय जानना चाहिये। जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है अन्य इन्द्रिय से नहीं यह ईश्वरकृत नियम है। इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये। ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं वे कभी चेतन नहीं होते। वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते यह निश्चय है।

यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है तो पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चन्दन घिसना और हाथ जोड़कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है। जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा वैसे पुष्पादि के

राजास्तीति तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम् ।

साथ टूटना घिस जाना भी सम्भव है। यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते ? जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटी सी किसी मूर्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है। तद्यथा—जैसे चक्रवर्ती राजा से कोई कहे कि आप दश हाथ भूमि के राजा हैं। उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा यह जानना चाहिये।

२५. (प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्त्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम् ?

२५. (प्र०) छोटी-छोटी बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप ?

२६. (उ०) नाद्यः। कुतः ? किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्त्तिपूजने पुण्यम्भवति चेर्त्तहि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम्। अन्यच्च वेदानभिहितपाषाणादिमूर्त्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियतान्नो चेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम् ।

२६. (उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं। क्योंकि यदि छोटी-छोटी पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है तो बड़ी-बड़ी पीतल आदि की घण्टादि रूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पुण्य होता है; ऐसा जानो। और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता है ऐसा मानो। यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो।

न चरमः। कुतः ? पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात्। मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः। तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्वाच्चेति ।

और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है। यदि कहो कि मूर्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है तो ठीक नहीं। क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है तो अन्य को क्या मुक्ति दे सकेगी।

२७. (प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानङ्का वा युक्तिः ?

२७. (प्र०) ऐसे विशेष चिह्नरूप कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ?

२८. (उ०) हरिपदाकृतित्वम्। कृष्णस्य ललाटे राधाया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं

२८. (उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के

ताडनं, ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः।

मस्तक पर राधाजी ने लाल चन्दन युक्त लात मारी थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं।

हरिशब्देन कस्य ग्रहणम्? विष्णोरेवेति वदामः। नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम्। अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादयुक्तत्वादत एव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम्।

हरि शब्द से किसको लेते हो? हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं। यह कहना ठीक नहीं क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है। उनका ग्रहण क्यों नहीं होता? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है। इसी से पापकारी है यह जानना चाहिये।

किञ्च तिलकत्वमिति? त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः। नैवं वक्तुमुचितम्। तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलकं वेत्यर्थस्य जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम्।

तिलक क्या वस्तु है? यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये। यह सिद्ध है तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है यह निश्चय जानना चाहिये।

२९. (प्र०) मूर्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम्?

२९. (प्र०) मूर्तिपूजनादि से पुण्य होता है वा पाप?

३०. (उ०) मूर्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति। कुतः? 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्यतः।

३०. (उ०) मूर्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है क्योंकि 'जिस की भावना जैसी होती है उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है'।

३१. (प्र०) भावना सत्याऽस्युत मिथ्या?

३१. (प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या?

३२. (उ०) न प्रथमः। कुतो? दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या।

३२. (उ०) पहिला पक्ष भावना का सत्य मानना ठीक नहीं। क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं फिर भी सब को सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है इससे भावना सत्य नहीं।

न द्वितीयः। कथं? विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवती-

दूसरा पक्ष—भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के विना विद्या,

स्यत:। यदि भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनाङ्कृत्वोपर्य्यासीमहि, यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या; नान्यथा।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है। यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आप के शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है उतने समय में उतनी दूर आपका शरीर हमको पहुँचा देवे तब तो भावना ठीक; नहीं तो मिथ्या।

पुन: पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तण्डुलभावनान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनान्दरिद्र: स्वस्मिंश्चक्रवर्त्तिभावनाञ्चक्रवर्ती स्वस्मिन् दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम्।

फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध, दही, घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, और शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी दरिद्र अपने में चक्रवर्ती राजा की और चक्रवर्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे और वह वैसी ही ठीक-ठीक सिद्ध हो जावे तब तो सत्य अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये।

तर्हि भावना का नाम ?

तो फिर भी भावना किस का नाम है ?

भावना तु पाषाणे पाषाण: भावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिंस्तद् बुद्धिरिति। तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद् बुद्धिर्भ्रमो ह्यभावना चेति।

पत्थर में पत्थर, रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है। अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है। रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान, अन्य में अन्य बुद्धि, भ्रमरूप अभावना कहाती है।

३३. (प्र०) प्रतिताशब्देन किङ्गृह्यते ?

३३. (प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ?

३४. (उ०) पूजनार्या चतुर्भुजादिमूर्तिरिति वदाम:।

३४. (उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्ति को लेते हैं।

३५. (प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थ: क्रियते ?

३५. (प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ?

३६. (उ०) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा। किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ?

३६. (उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है ऐसा अर्थ करते हो तो किसका स्वरूप इससे जाना जाता है ?

ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः। किञ्च भो ! अनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलङ्कृतङ्किमतोऽयमर्थः क्रियते ?

"तुलामान प्रतीमान
सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु
पुनरेव परीक्षयेत्॥"

इति मनुसाक्ष्यं बोध्यम्।

प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः। "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति यजुस्संहिताया द्वात्रिंशाऽध्याये। ईश्वरस्य प्रतिमातोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात्।

अत एव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम्।

३७. (प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते !

३८. (उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः, नैव शक्यम्। पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थत्वात्। यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान् व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थांश्चेति। तद्यथा केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी शाटी चेत्यर्थान्नवीनं घृतञ्चेत्यादिव्यावर्त्तते तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति; न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति।

यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ?

धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि— "तराजू और प्रतिमान बाट सब ठीक-ठीक रखने चाहिये और छः-छः महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे"।

इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़, घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है। और यजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अतुल है। इसी से आपका किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये।

३७. (प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो ?

३८. (उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण उपपुराण लेते हो ठीक नहीं। क्योंकि पुराण शब्द विशेषणवाचक होने से व्यावर्तक अर्थवाची होता है। जैसे पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं। जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत, पुराना गुड़, पुरानी साड़ी इसमे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई। इस कारण, पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं।

"ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति", "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत", "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः"। इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्यनन्तरन्नवदिनपर्यन्तम्-ऋग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानाय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति।

कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि—"ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं।" "अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने" "पुराणविद्या वेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने" अर्थात् नव दिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि सुन कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद भाग यजमान आदि कहें और सुनें।

ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणन्नान्यस्येति, साक्ष्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति। परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति-सिद्धान्तः।

इस प्रकार पुराण शब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य का नहीं; ऐसी साक्षी है। और वेद ही सबसे पुराने हैं। परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं; यही सिद्धान्त है।

ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्ति-करणार्थानि रचितानीति जानीमः। यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादि-नामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम्।

ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यास जी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति कराने वाले बनाये हैं। जैसे शिव आदि के नाम के छल से तन्त्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो।

३९. (प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते ?

३९. (प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ?

४०. (उ०) मूर्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः। नैवं शक्यम्, कुतोऽत्रवेदविधेरभावाद् भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति। यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते। कथं होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात्—

४०. (उ०) मूर्त्ति को स्थापन करने, पूजने के स्थान, जिनमें कि घण्टानाद आदि करते हैं उनको देवालय कहते हो तो ठीक नहीं। क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रान्तियुक्त होने से। इससे जिसमें होम किया जाता है वही स्थान देवालय शब्द वाच्य हो सकता है क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है।

"अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ १ ॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथा

धर्मशास्त्र में लिखा है कि—पढ़ना-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-पितृयज्ञ, होम-देवयज्ञ, वैश्वदेव-भूतयज्ञ, और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता ॥ १ ॥ तथा स्वाध्याय से ऋषि-

विधि। पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा" ॥ २ ॥

पूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन-अन्नों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये ॥"२ ॥

होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वाद् भवत्कृतोऽर्थोऽसंगत एवेति निश्चयः।

अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः।

इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है। यह मनु की साक्षी है। इसमे आपका किया अर्थ असंगत है यही निश्चय जानो। इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेनी चाहिये।

४१. (प्र०) देवशब्देन किं गृह्यते ?

४१. (प्र०) देव शब्द से क्या लेते हो ?

४२. (उ०) ब्रह्मविष्णुमहादेवादीनत्र पूजनार्थांस्तन्मूर्तीश्चेति गृह्णीमः। नैवं योग्यम्।

"यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र" इति निरुक्ते।

४२. (उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उनकी मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो सो ठीक नहीं, क्योंकि "वेद में जहां-जहां देवता कहा है वहां-वहां उस देवता का नाम वाचक शब्दयुक्त मन्त्र का ही नाम देवता है"। यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है।

"मन्त्रमयी देवतेति" पूर्वमीमांसायाम्। तथा "मन्त्रमयी देवतेति" ब्राह्मणे।

और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मण भाग में—"मन्त्र स्वरूप ही देवता माना है।

"आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति" मनुस्मृतौ।

मनुस्मृति में—"आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है, इसलिये आत्मा ही सब देवता है।

"मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव" इति तैत्तिरीयोपनिषदि।

तैत्तिरीय आरण्यक में—"माता, पिता आचार्य और अतिथि को ही देवता माना है।"

इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डमन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीकाराद् भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः।

इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द मे ईश्वर का ही स्वीकार है। इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है।

एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीन् देवताशब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योऽस्ति किन्तु पशुरेव च।

जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है। और उपनिषद् में यही कहा है कि—

"योऽन्यां देवतामुपासते
स पशुरेव देवानाम्"।

"उत्तिष्ठत जाग्रत तज्जानथ
अन्या वाचो विमुञ्चथ"।

चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम्।

"जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है वह देवताओं में पशु ही है।" "इसलिये हे मनुष्यो! उठो जागो उस आत्मा को जानो अन्य की उपासना रूप वाणियों को छोड़ो।" इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि नहीं हो सकतीं यह निश्चय जानो।

४३. (प्र०) देवलदेवलकशब्दाभ्यां किं गृह्यते?

४३. (प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो?

४४. (उ०) मूर्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः। नैवमुचितं वक्तुम्। कथं,—

"यद्वित्तं यज्ञशीलानां
देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनान्तु यद्वित्त-
मासुरं तत्प्रचक्षते"॥

४४. (उ०) यदि कहते हो कि मूर्त्ति पूजने और मूर्त्ति पूजा से जीविका करने वाले देवल और देवलक कहाते हैं तो ठीक नहीं। क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

"जो यज्ञ करने वालों का धन है वह देवस्व और यज्ञ न करने वालों का धन आसुर कहाता है।"

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्। यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्यते, तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयन्देवलो निन्द्यः। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः। कुत्सितो देवलो देवलकः "कुत्सिते" इति सूत्रेण कप्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोऽर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम्।

देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने वाला 'देवल' निन्दित कहाता है। यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है वह 'देवलक' अति निन्दित कहाता है। क्योंकि व्याकरण के 'कुत्सिते' सूत्र से निन्दित अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है। इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है; यह जानना चाहिये।

४५. (प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न?

४५. (प्र०) ईश्वर के जन्म मरण होते हैं वा नहीं?

४६. (उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो नान्यथेति स्वीक्रियते। भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्मनिर्मूलार्थञ्च।

४६. (उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत=मनुष्यादि के जन्म-मरण से विलक्षण दिव्य जन्म-मरण होते हैं अन्यथा नहीं; यह स्वीकार है। क्योंकि भक्तों के उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है तो ठीक नहीं।

नैवन्न्याय्यङ्कुर्य्यात् सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति। सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन। यश्च शरीरधारणादिसहायेन कार्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत्। यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्मस्थापनमधर्मदुष्टविनाशञ्च।

क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी, प्रखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल निष्कम्प है। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है। फिर जो शरीरधारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न कर सके तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता। जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है तथा स्वतन्त्र=असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है।

यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वादयोऽपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः। अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च।

जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं। यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ हो जावे तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त, अजन्मा और अविकारी है।

प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्यापेक्षया स्वल्पन्तुच्छं सान्तञ्चास्ति पुनस्तस्य का शरीरसामग्री? यतो निवासार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः।

प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा, तुच्छ और अन्तवाला है, फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है? जिसमें वह समाय जावे उससे बड़ा कोई भी नहीं। यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है?

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्"।

वेद और उपनिषदों के प्रमाणों का अर्थ—यह सब में व्याप्त, प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अच्छेद्य, अभेद्य, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप है।"

"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"

"वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है।"

"सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म॰

"वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सबसे बड़ा अनन्त है।"

"दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषस्स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"।

वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप, सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित, सबके बाहर भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है।"

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते"॥

वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से परे निश्चल है। उसी को ठीक-ठीक जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है।"

"अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"

"वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है। इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है।"

"वेदाहमेतम्पुरुषं महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"॥

इति यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः।

'मनुष्य को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सबसे बड़ा पूर्ण, सूर्य के तुल्य प्रकाश वाला, अन्धकार से परे है। क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है। अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं हैं।"

ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः।

इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्ममरण नहीं होते यही सब वेदों का सिद्धांत जानना चाहिये।

४७. (प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ?

४७. (प्र०) ईश्वर साकार है वा निराकार ?

४८. (उ०) निराकारश्चेति वदामः। निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात् साकारं जगत्कथञ्जायेत तथा हस्तादिभिर्विनाकथञ्जगद्रचयेदिति ? मैवं वाच्यङ्कुतः ? सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति। तद्यथा—

४८. (उ०) यदि कहो कि निराकार है तो ठीक है और जो निराकार होने में तुम को शंका है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके ? और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं इससे निराकार से ही साकार की उत्पत्ति हो सकती है।

जैसे प्रमाण—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः,

"उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से

अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याः ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" ॥

जल, जल मे पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है। सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है।"

आत्माऽऽकाशौ निराकारौ तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत, ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलपृथिवी चेत्यादिनिराकारात्सूक्ष्मात् स्थूलमिदञ्जगज्जायते, तथा च स्थूलमयस्कान्तपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्या समर्था इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः।

इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार है। आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु और त्रिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है। इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते हैं, इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है।

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वन्न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥

और—"विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता, विना चक्षु देखता, विना कान के सुनता, वह सबको जानता, उसका जानने वाला कोई नहीं, उसको सनातन पूर्ण ब्रह्म कहते है।"

इत्यादिश्रुतिभ्यः हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात् साकार ईश्वरस्साकारात् साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादिवाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम्।

इत्यादि श्रुति प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में है ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है साकार से साकार की उत्पत्ति होती है। हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता। इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों के प्रमाद से ही निश्चय होता है।

४६. (प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति? मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते?

४६. (प्र०) ईश्वर मायावी है वा नहीं? और माया शब्द का क्या अर्थ करते हो?

५०. (उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते नैवं योग्यम् भवितुम्। कथं? छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात्। कश्चिद्वदेदयं मायावीत्यनेन किङ्गम्यतेऽयं छली कपटी चेति। ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव···एवंतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम्।

५०. (उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि छल, कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है। कोई कहे कि यह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है। ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है इसी से निर्मल,

निरञ्जन, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव ही है। ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है। क्योंकि इस में श्री पतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"। इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्।

"अविद्यादि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है"।

५१. (प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति निर्गुणो वा ?

५१. (प्र०) ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ?

५२. (उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः। तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोपि स एव। एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयैर्गुणैस्सगुण एवअडत्वजन्ममरणाज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात् स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः —

५२. (उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है यह निश्चित है। जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है, ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण, और जन्म, मरण, जड़-पन, अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। उपनिषद् में कहा है कि—

"एको देवस्सर्वभूतेषु गूढ-
स्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी
चेतो केवलो निर्गुणश्च"॥

"एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है। सब का अन्तर्यामी, सब का अध्यक्ष, सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवास स्थान, सब का साक्षी, चेतन, केवल एक और निर्गुण है।"

इति साक्ष्याद् ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः। किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम्।

इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं। क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारण कर्त्ता, अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य, उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है; ऐसा जानना चाहिये।

५३. (प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ?

५३. (प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो वा नहीं ?

५४ (उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्य-

५४. (उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य

सायुज्यलक्षणा चतुर्थी मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः। चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते? ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोऽर्था गृह्यन्ते। नैवं शक्य विज्ञातुङ्कुतः सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति। सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा, सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात्। सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां स्वतस्सिद्धा। कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणाणां सत्वात्। सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति। कुतः? ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति। सा चतुर्थी मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम्।

और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं। (प्र०) चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो? (उ०) एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति, इत्यादि अर्थ लेते हैं। यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है। और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्त्तमान है इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है। और सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतः सिद्ध ही है क्योकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुण वाले है। और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उसमें व्याप्यव्यापक सम्बन्ध स्वतःसिद्ध ही है। इसलिये यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है।

का तर्हि मुक्तिरिति? वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते। नैव वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादत एव दुःखापत्तेश्चेति।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं। क्योंकि वहां पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता।

वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति। तद्यथा यथावद् विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमब्रह्म तत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतोभवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः।

वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं। जैसे—जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति

"मुक्ति" कहाती है। इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है। यह निश्चय जानो। क्योंकि—

"सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" इति मनुसाक्ष्यात्।

"परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है।" तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है।

५५. (प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता अहोस्वित्तद्विरोधिनः ?

५५. (प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभ-सम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं वा विरोधी ?

५६. (उ०) न पूर्वः, चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात् वेदविरोधात् पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम्—

५६. (उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नही है। वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं, यह जानना चाहिये। धर्मशास्त्र में कहा है कि—

"पाखण्डिनो विकर्मस्थान्
बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्वकवृत्तींश्च
वाङ्मात्रेणापि नार्चयेद्" ॥
इति मनूक्तत्वात्।

"पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करने हारे, विड़ाल के स्वभाव से युक्त, शठ, स्वार्थी, बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे।"

एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति। 'सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा, इति विवेकः। कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः।

ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नही हैं किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया, ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं। कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये।

५७. (प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति मिथ्या वेति ?

५७. (प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ?

५८. (उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति। वेदोक्तगायत्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम्।

५८. (उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है। वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से, आप को नास्तिकता और नरक प्राप्ति होगी।

५९. (प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ?

६०. (उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति। नैवं शक्यं कुतः? श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिनस्त्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोऽयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्त्तव्य इत्यर्थः। एवमेव 'नमो नारायणाय' 'नमश्शिवाय' नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'' इत्यादयोऽप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोऽयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद् भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरसमुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः।

''श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण! तवास्मि।''

सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं

५९. (प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ?

६०. (उ०) श्री लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों, यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों वा मेरे शरण को नष्ट करें इत्यादि अर्थ भी सम्भव है। अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में ''प्राप्नोतु'' पद नहीं है किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो। वैसे कोई ''हिनस्तु'' आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है। उसको तुम कैसे रोक सकोगे ? इस कारण तुम्हारा यह अक्षर-समुदायरूप मन्त्र निरर्थक अशुद्ध है। इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिए। इसी प्रकार 'नमो नारायणाय'। 'नमः शिवाय'। 'नमो भगवते वासुदेवाय'। 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'। इत्यादि अक्षरसमुदाय रूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहिये।

और वल्लभसम्प्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिए।

जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र—'श्रीकृष्णः शरणं॰ इत्यादि है। इसका यह अर्थ है कि—श्रीकृष्ण मेरे शरण हों। सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग उससे हुआ जो दुःख और क्लेश उनसे घेरा हुआ मैं, श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूं। और हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं।

सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है,

व्यर्थम् । कुतः ? वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात् प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं संदिग्धत्वात् ।

क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ ऐसा निश्चय कर सको । और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए । इसलिए कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१. (प्र०) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ?

६१. (प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ?

६२. (उ०) परब्रह्म गोलोकवासीवेति वदामः । नैतत्सत्यमस्ति । कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् ।

६२. (उ०) यदि कहते हो कि गोलोक निवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं तो यह ठीक (सत्य) नहीं क्योंकि जन्म मरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते ।

गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेप्यसभ्या विद्याहीना आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः ।

गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा । उसमें जो वसते हैं वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जानने चाहिये ।

किञ्च अस्मात् प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गोलोकात्पृथक्कश्चिद् गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् । तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ।

और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे वे भी वैसे ही होते हैं यह जानना चाहिये ।

'कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्त तिरोभावोऽह' मित्यादि, इदमशुद्धम् । कृतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च । पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः ।

और जो कहा था कि 'अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख क्लेश से ढपा हुआ मैं हूँ इत्यादि; यह अशुद्ध है । क्योंकि ताप और क्लेश दोनो के एकार्थ होने से दोनो का कहना पुनरुक्त दोष है । फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं ।

कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहत्वात्जन्ममरणादियुक्तत्वाद् भगवानेव भवितुमयोग्यः । तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्य, सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च ।

काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है । क्योंकि

शरीर इन्द्रियादि अपने-अपने साथ स्वाभाविक स्थित हैं। अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटाकर दूसरे को नहीं दिये जा सकते।

समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात्।

यदि कहो कि नहीं; समर्पण होता ही है तो मलमूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे। और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे। यही प्रकट न्याय है।

दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पापफलकमेव। कुतः? परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात्। तद्धर्मांश्चेति पुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराणीति, नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गैगम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च।

और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफल वाला ही है। क्योंकि परस्त्री का परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है तथा 'तद्धर्मान्' इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और "वित्तेहपराणि" इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसम्बन्ध भी अशुद्ध ही है, क्योंकि परशब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है।

'आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण! तवास्मी'त्यन्तोऽनर्थो ऽक्षरसमुदायः। एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव। दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति। "शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्" इति मनुसाक्ष्यदर्शनात्। अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धांतरहस्यादिग्रन्थेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः तद्यथा—

हे कृष्ण मैं तुम्हारा दास हूँ। आत्मा के साथ समर्पण करता हूँ। यहाँ पर्यन्त अक्षरसमुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है। जब जीवात्मा एक ही वस्तु है; दो नहीं तो फिर आत्मा मैं आत्मा के साथ देह और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूँ, यह कथन अशुद्ध, असम्बद्ध ही है। और दास अर्थात् शूद्र हूँ। "शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये" यह मनुस्मृति की साक्षी है। सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है।

"श्रावणस्याऽमले पक्ष
एकादश्यां महानिशि।

(श्रावणस्या०) श्रावण महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में

साक्षाद्भगवता प्रोक्तं
तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

साक्षात् भगवान् ने जो कहा है उसको ज्यों का त्यों कहते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्
सर्वेषान्देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि
दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्धरूप मन्त्र के लेन से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है। और दोष पांच प्रकार के हैं ॥२॥

सहजा देशकालोत्था
लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च
न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥

१–सहज स्वाभाविक, २–देश से हुए, ३–काल-भेद मे हुए ४–लोक वा धर्मशास्त्र में कहे और ५–वेद में कहे। ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं। इन की निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरण रूप मन्त्र से हो सकती है। परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये ॥३॥

अन्यथा सर्वदोषाणां
न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां
तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है इसलिए समर्पण अवश्य करना चाहिए ॥ ४ ॥

निवेदिभिः समर्प्यैव
सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य
स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥ ५ ॥

इससे गुसांइयों के चेले—निवेदन करने के वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें, यही नियम है। देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसांई के चेले किसी वस्तु को भोगें और समर्पण यही है कि स्वामी गुसांई जी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें ॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये
सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं
तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥

इससे सब कामो के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है। वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें ॥ ६ ॥

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि
भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके
व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥

गुसांई जी के मत से भिन्न मार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसांई जी के चेला चेली कभी न सुनें। जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है वैसा होना चाहिये ॥ ७ ॥

तथा कार्यं समर्प्यैव
सर्वेषां ब्रह्मता ततः
गङ्गात्वे सर्वदोषाणाम्
गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥
गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्
तद्वदत्रापि चैव हि ॥"

वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करें। जैसे गङ्गा में घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाती है वैसे अपने मत के दोष भी गुण रूप समझने चाहियें।" ॥ ८ ॥

प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेन नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि। स इदानीं वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान् किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति। किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः। साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति। तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च।

हमने पहले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते। जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांच हजार वर्ष व्यतीत हुए सो उन्होंने अत्र वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा? किन्तु कदापि नहीं कहा। केवल बनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है; ऐसा जान पड़ता है। 'साक्षात् भगवान् ने कहा' यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक अक्षर समुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है।

सर्वदोषनिवृत्तिरिति दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम्? नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते नान्यः कश्चिदिति। हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः। कुतः? 'स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति' न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः।

और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे? यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते। किन्तु कर्त्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है; अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों तो उसके दुःख रूप नरकफल भोगने वाले हरि ही होवें यह निश्चय है। क्योंकि स्वयं किये हुए पाप पुण्य रूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

सहजा इत्यादि, सहजानां दोषाणां

सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति

निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत, कुतस्तेषां सहज-त्वादग्निदाहवत् ।

होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति हो जावे क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी नहीं रहेगा ।

सर्वसमर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषा-णां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम् भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् ।

सबके समर्पण करने में भी आप तथा आपके शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती । इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं ।

तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफ-ज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ? लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृ-भगिनीस्नुषापरस्त्रीगमन - विश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादि-संयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाचार्य-रिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसम्प्रदायस्थैर्भगवदुप-देशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ?

और ब्रह्मसम्बन्ध से देशकाल के परि-वर्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते ? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहिये ?

इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते ? भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्म-कारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते ।

इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करने हारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं । नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि—

योऽवमन्येत ते मूले
हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो
नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ।

जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें क्योंकि वह वेद-निन्दक होने से नास्तिक है ।

'अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चने' त्यादि रचनम्भाङ्गपानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम् । कुतः ? ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ।

इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत होती है । और यह जो कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये विना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती, यह रचना भांग पीकर के ही की है; यह जानना चाहिए । क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होना है इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं रखना चाहिए; यह निश्चय है ।

अधर्मोपदेशोऽयमन्यो ऽपिवल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः—'तस्मादादौ०' स्वोपभोगात् पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यम्, विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगिवस्तुसमर्पणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः '

और भी थोड़ा यह वल्लभ सम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—"जिस कारण सर्वस्व समर्पण के विना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये गुसांई जी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का भी समर्पण करें । विवाह होने के पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिए । समर्पण करके उन-उन वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें ।"

अथाऽस्य खण्डनम्—

विवाहानन्तरं स्वोपभोगात् पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

इसका खण्डन—

यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने के पश्चात् अपने भोगने से पहले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री, पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिए समर्पण करके ही पश्चात् अपने भोग सम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री, कन्या, भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ?

अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीना समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति ?

यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं इससे नहीं करते तो अन्यों की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये

क्यों कराते हो ?

तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्य: पुण्यात्मक समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

यदि कहो कि इन का हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते ?

सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयो: परस्पर समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् ।

सिद्धान्त वस्तुत: यही है कि जिसका जिसके साथ विवाह हुआ उनका परस्पर समर्पण हो ही गया । अन्यथा नहीं हो सकता; यह जानो ।

तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसंप्रदायस्य केनचित् पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वास: कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चय: । ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फल कुत: ? पापाचरणोपदेशस्य दु:खफलत्वात् ।

इससे व्यभिचारमय उपदेशो वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये यही निश्चय है । जो लोग विश्वास करते है वा करेंगे उनको नरक की प्राप्ति ही फल होना सम्भव है । क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दु:ख ही होता है ।

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या । पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था उताऽधर्माचरणार्था ?

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है । यह भी वैसा ही मिथ्या है । पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है वा अधर्माचरण के अर्थ ?

नाद्य: । कुतो ? वल्लभादीनामिदानीन्तनान्ताना परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्याक्षानुमानाभ्या दर्शनात् । अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्व दृश्यते नान्यथा ।

इसमें प्रथम पक्ष ठीक नही । क्योंकि वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गुसांइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है । घोड़े, बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोडी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देखके पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा नहीं ।

भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्याग: परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहो चेति निश्चीयेते ।

आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेद विद्या और धर्माचरण का त्याग परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना, इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं ।

अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह—वैदिकत्वं

इस विषय में वल्लभ कहता है कि—

लौकिक व कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्य्यय इति । अत एव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति । कुत. ? लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात् । तस्य सम्प्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात् ।

लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नही, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है इससे अन्य सब विपरीत हैं । इसी से वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि वल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है । वल्लभ के सम्प्रदाय वाले सभी वेदविरोधी होने से नास्तिक समझने चाहिये ।

यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा तदनुष्ठानत्यागान्मूर्तिपूजनासक्तत्वाद् व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम् ।

पूजा नाम सत्काररसज्जनाना, तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः ।

आर्त्तिर्नाम दु.खन्ताङ्करोतीत्यार्त्तिकार ।

विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ वा व्यापक होता है । उस यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते; यह निश्चय जानना चाहिये । पूजा नाम सत्पुरुषो का सत्कार, उसका जो अरि नाम शत्रु, यह पूजारिशब्द का अर्थ है । आर्त्ति नाम दु:ख को जो करे, वह आर्त्तिकर्त्ता कहाता है ।

गोशब्देन पशुगुणवान्, साईशब्देन यवनाऽऽचार्य । अथ गोसांईत्यास्यशब्दार्थोऽर्थश्चास्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्यागश्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागश्च वदोक्तन्धम परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति ।

गो नामक पशुगुण युक्त, साइ शब्द से मुसलमानो का आचार्य, अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे, धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोडे और वेदोक्त धम का त्याग कर देवे वह गोसाईं कहाता है । वैसे ही आप लोग दीख पडते है । इसी से गोसाँई कहाते हो ।

वाजिशब्देनाश्वो वा गर्दभो मध्यस्थो ऽते वावाजिशब्दार्थ. ।

वाजी नाम घोड़ा, दूसरे वा शब्द से घोडे का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिच्चर यह वावाजी शब्द का अर्थ है ।

रागोऽस्यास्तीति रागी वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः ।

राग जिसमे हो वह रागी, वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको वैरागी कहते है । यही वैरागी शब्द का अर्थ है ।

दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत् ।

दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड हो उसे दण्डवत् कहते हैं । यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ हे ।

हिन्दुशब्दस्यार्थ कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्त्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चे-

काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर

त्यादयोऽर्थाः ।

इत्यादिशब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्या-प्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदाय-रूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्य-तामिति निश्चयः ।

की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दु शब्द का अर्थ है ।

इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार, विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अब तक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है । यह अन्ध-परम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है । यह निश्चित है ।

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते—

[अब शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड का खण्डन लिखते हैं—]

शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ? द्विधा इतं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतं कार्य-कारणरूपमेकीभूतमेव । यद्वा तदेव ब्रह्मस्त्री-पुरुषरूपेण द्विधा जातं कीडाकरणार्थमिति च ।

शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ करते हो ? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता है, जो द्वीत है वही द्वैत, और जो द्वैत न हो वह अद्वैत—कार्यकारण का एकरूप होना है अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ ।

नैवञ्छक्यं वक्तुम्, कुतः ? अविद्यादोष-रहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव । यदि जीवादिकार्य-रूपं यज्जगद् ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञान-रचनधारणसर्वज्ञतासत्यसंकल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ? तथा च जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्ध-नरकदुःखविषयभोगादयश्च । तस्माद्वल्लभ-कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम् ।

यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि अवि-द्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञान स्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्‌रूप होना अयोग्य ही है । यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है वह ब्रह्म ही है तो अनन्त विज्ञान, रचन, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें । इससे बन्धन, नरक, दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें । इससे वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये ।

द्वीतमिति 'द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा। सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।' इति वल्लभप्रबुक्कनन्द्रष्टव्यम्। द्विधा कारणकार्यरूपेण परिणतञ्चेत्तहर्यशान-दुःखबन्धननरकप्राप्तयादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः। पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तर-प्राप्तिः परिणामः। तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूय-ताम्—ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीडादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता अत एव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम्।

और द्वीत, द्वैत एक ही बात है। द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है। यह वल्लभ का भूंकना है। कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवें। पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तर प्राप्ति 'परिणाम' कहाता है वैसे ही आपके मत में ब्रह्म ही जगत् रूप बन गया। इससे क्या आया यह सुनो—जो जगत् में अविद्या ज्वर, पीडा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये। इसी से आपका मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है; यह जानना चाहिये।

वल्लभेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म वेद नेह नानास्ति किञ्चन। तज्जलानिति शान्त उपासीते'त्यादि श्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः। कुतः? विदुषा समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः।

वल्लभ ने 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना। क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय का किया विद्वानो का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है।

यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नानापित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति। तथैव सच्चिदानन्दाद्येकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति। किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैक-रसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद् ब्रह्मणश्चेति। यथाऽ'यमात्मा ब्रह्म' त्यत्रेद शब्देनात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः सम्बन्धग्रहणञ्च।

जैसे किसी ने कहा कि—सब यह सुवर्ण है। इसमें अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं है। वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि ब्रह्म एकरस, अखण्ड और अभेद्य है। जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है। इस वाक्य मे 'इदम्' शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता।

तथा 'तज्जलानिति ब्रह्म शान्तः सन्नुपा-सीत। ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपास-नीयमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञात-स्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा?

'तज्जलान् इति ब्रह्म? "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, "तल्ल, नाम उसी में सब लय होता, 'तदन्' नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना

करे। अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं। इस प्रकार से ब्रह्म की उपासना करनी ही चाहिये; अन्य की नहीं। यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो कथा ही क्या है ?

"सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्व-
मिदमाबोध्यते पुरः।
सर्वशब्देन यावद्धि
दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥ १ ॥

"यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है यह पहले ही जताया है। 'सर्व' शब्द से जितना देखा सुना यह जगत् है वह सब जानना ॥ १ ॥

बोध्यते तेन सर्वं हि
ब्रह्मरूपं सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य
ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥ २ ॥

इससे वह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है। क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है ॥ २ ॥

साकारं सर्वशक्त्येकं
सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च।
सच्चिदानन्दस्वरूपं हि
ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥ ३ ॥

वह ब्रह्म साकार सर्वशक्तियुक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्द-स्वरूप है उसी से यह जगत् हुआ है ॥" ३ ॥

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः
समासः कर्मधारयः।
अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः
षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः" ॥ ४ ॥

[शुद्धाद्वैत पद में कर्मधारय समास जानना चाहिये तथा विद्वान् लोग 'अद्वैतशुद्ध' पद में षष्ठी तत्पुरुष बतलाते हैं]।

इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः।

इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं; यह निश्चय जानो।

कर्मधारयसमासोऽसंगतः। कुतः ? कार्य-कारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात्। षष्ठीतत्-पुरुषोऽप्यसङ्गतः, द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता। अवास्तवौ द्वौ चेत् कार्यकारणकथनं व्यर्थम्। शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोः स्त्री-पुंसयोरद्वैतम्।

शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण, जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्यकारण के एकस्वरूप एकात्मक गुणवाले न होने से असङ्गत है। षष्ठीतत्पुरुष समास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकर हो सकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं तो कार्य-

कारणरूप कहना व्यर्थ है। इससे शुद्धपुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है।

अर्थान्मैथुनसमये द्वैतं, स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते। अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम इत्यादिपतितकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः। कुतः ?

अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। मैं कृष्ण तू राधा तेरा मेरा सङ्गम होवे, इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करने वाला जानना चाहिये। क्योंकि—

लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः स एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद् गृही तथानेकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः।

इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ। उसने पहिले सन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया। इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहले कुत्ते के तुल्य वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास लिया। पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ। इसने भी पहिले विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (सन्यास) आश्रम ग्रहणकर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ, विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टङ्कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते। येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासं कुर्वन्तीमान् गुरूंश्च मन्यन्ते तेऽपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम्। एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः —

इनके आदिपुरुष लक्ष्मणभट्ट से लेकर अब तक वल्लभ सम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है। तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है; पाप नहीं। इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा
ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं
हन्यादेवाविचारयन्॥ १॥

"गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों तो राजा विना विचारे मार डाले॥ १॥

नाततायिवधे दोषो
हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा
मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ २ ॥

क्योंकि आततायी के मारने में मारने वाले को दोष नही लगता । चाहे प्रसिद्धि मे मारे वा अप्रसिद्धि में, सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है किन्तु हिंसा नही कहाती" ।२।

इति धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्तेत स आततायी विज्ञेयः ।

धर्म को छोडके सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो वह आततायी कहाता है ।

(प्र०) शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत उताऽन्धकाररूपम् ?

(प्र०) शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है वा स्वभाव से अन्धकाररूप है ।

(उ०) नाद्यः । कुत ? स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थंसूर्यापेक्षाभावात् ।

(उ०) प्रकाशरूप होना, पहिला पक्ष, इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से मार्त्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे । सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके सो संभव नही ।

न चरमः, स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपञ्चेत् सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् ।

स्वभाव मे अन्धकारस्वरूप होना, द्वितीय पक्ष भी ठीक नही । क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकारस्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे ।

एवमेव तत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् । अत एव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड-सत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ?

इसी प्रकार 'सत्सिद्धान्त मार्त्तण्ड' का भी खण्डन जानो । इस पूर्वोक्त प्रकार 'शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड' और 'सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड' इन दोनो पुस्तको का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है । ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है ?

एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ।

इसी प्रकार 'विद्वन्मण्डन' नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो ।

विठ्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात् ? किन्तु परस्त्रीगमनपरधनहरणव्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम् । तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते—

जब तुम्हारा आचार्य विठ्ठल ही विद्वान् नही था तो फिर विद्वानो का मण्डन कैसे कर सकता है ? किन्तु परस्त्रीगमन, पराया धन हरना और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था; अन्य किसी कार्य मे नही । सो उदाहरणमात्र दिखाते है—

'निजमुरलिकेति' मुरलिकानादेन तेना-

विठ्ठलकृत विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ में

गता गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम्। प्रतिर्लक्षणे युवतिं युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव। कुतः? मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात्॥

'निजमुरलिका०' इत्यादि लिखा है। अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुन के गोकुल की सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आईं। कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया अर्थात् युवति-युवति स्त्रियों को देखकर, जितनी गोपों की स्त्रियां थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया। इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से 'विद्वन्मण्डन' नाम अयोग्य ही है। क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख, व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है।

एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम्। तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव। तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते—

इसी प्रकार 'अणु भाष्य' भी असङ्गत ही है। और ऐसे ही 'रस भावना' आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इनमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं—

राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या। तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः, अन्यास्सर्वा स्त्रियः सन्ति! अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति। पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीरान्निसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे।

'राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये तथा गोलोक मे एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं। कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन-रात क्रीडा करते हैं। सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक-एक स्त्री को एक-एक पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं।'

तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति सञ्ज्ञा कृता। प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति। 'प्रभुर्गात्राणि पर्यषि विश्वतः'? इत्यादि श्रुतिषु वर्णितम्। तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोऽपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु का कथा।

और वल्लभ का महाप्रभु नाम रखा है। प्रभु नाम ईश्वर का है। 'प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है, यह वेद में कहा है। जब उस ईश्वर के तुल्य अब तक न कोई हुआ न होगा तो उससे अधिक कौन हो सकता है।

पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते, यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः।

फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये।

यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसम्प्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक्।

जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं।

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः॥

इति शुभम्॥

पञ्चम संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

॥ ओ३म् ॥

॥ वेदान्तिध्वान्तनिवारणम् ॥

अर्थात्

आधुनिक वेदान्तियों के मत में वेदादि
सत्यशास्त्रों के पठनपाठन छूटने मे जो
ध्वान्त अर्थात् अन्धकार फैलगया
है उसका निवारण।
जिसमें

श्रौतमार्गानुकूल वादानुवाद सहित
वेदान्त मत का निरूपण

शुद्ध होकर
वैदिक-यन्त्रालय
अजमेर
में
मुद्रित हुआ

संवत् १९५९ वैशाख शुक्ला,
पांचवी वार १२००
मूल्य –)   डाकव्यय) ॥

छन्दः शिखरिणी ।

दयापूर्वोपेतं,

परमपरमाख्यातुमनघाः ।

गिराया नंजान-,

न्त्यमतिमतविध्वंसविधिना ॥

स वेदान्तभ्रान्ता-

नभिनवमतभ्रान्तमनसः ।

समुद्धर्त्तुं श्रौतं,

प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम् ॥ १ ॥

ओ३म्

अथ वेदान्तिध्वान्तनिवारणम् ॥

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं तथा मनुष्यों को हठ अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं सो केवल अल्पज्ञानी लोग इन के उपदेशजाल में फंस के मत्स्यवत् मरण क्लेशयुक्त होके अधर्म्म, अनैश्वर्य और पराधीनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं ।

एक बात इनकी यह है कि जीव को ब्रह्म मानना । दूसरी यह है कि स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता है । तीसरी बात यह है कि जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं कि मोक्ष में जीव का लय मानते हैं तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध इत्यादि

अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं। परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं—

(१) जीव को ब्रह्म मानने में प्रथम इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि **"प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है किन्तु वेद का व्याख्यान जो ऐतरेय ब्राह्मण उस में यह वाक्य है। सो ऐसा पाठ है कि **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि "प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्" (व्याख्या) जिस में प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है वह प्रज्ञान कहावे अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा।

"ब्रह्म" जो सबसे वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ाने वाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला तथा व्यवहार में भी (बृहत्) बड़े सुख का देनेवाला। ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है। इस वाक्य का नाम "महावाक्य" नवीन वेदान्तियों ने रक्खा है सो अप्रमाण है। क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का "महावाक्य" नाम नहीं लिखा है।

"अहं ब्रह्मास्मि" इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ। यह अनर्थ इनका बिलकुल खोटा है। क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का सम्बन्ध देखे विना चोर की नाईं बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलब सिन्धु का अर्थ कर के स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो इस वचन का पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार का है।

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ प्रपाठक ३ ब्राह्मण २ कण्डिका १८ "आत्मेत्येवोपासीत। अत्र ह्येते सर्वऽएकं भवन्ति" इत्युपक्रम्य—तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽअन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरोह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति ॥ १९ ॥

तदाहुः। यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमुतद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत् सर्वमभवदिति ॥ २० ॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥२१॥

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। अहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽअन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः

पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादियमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मा-देषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ २२ ॥

"अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः" इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं। क्योंकि सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म वह सब से प्रियस्वरूप है उसी को जानना। पुत्र, वित्त, धन तथा सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है तथा अन्तरतर आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है जो कि अपने सबों का आत्मा है। जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है उस के प्रति "ब्रूयात्" कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है सो तू दुःखसागर में गिर के सदा रोवेगा और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना वा प्रीति करेगा सो सदा रोवेगा जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा सो सदैव रोवेगा।

"आत्मानमेव प्रियमुपासीत स यथात्मानमेव प्रियमुपासते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति" ॥

और जो सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषण-युक्त परमेश्वर की उपासना करता है वह इस लोक जन्म तथा परलोक परजन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त होता है। और उसी ईश्वर की कृपा से "ईश्वरो ह तथैव स्यात्" मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त हो के समर्थ सत्तावान् होता है; अन्य नहीं। तथा "न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति" यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख "प्रमायुक" नष्ट कभी नहीं होता किन्तु उस को सदैव स्थिर सुख रहता है। क्योंकि "अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" जिस ब्रह्मज्ञान में सब परस्पर प्रीतिमान् होके जैसा अपने को सुख वा दुःख, प्रिय और अप्रिय जान पड़ता है वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और दुःख तुल्य समझ के न्यायकारित्वादि गुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र के सुख में एकीभूत हो के एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब करते हैं। क्योंकि जैसा अपना आत्मा है वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है।

"तदाहुः" इत्यादि जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाला वही है। ऐसा ब्रह्मविद्यावालों का निश्चय है। सब जगत् में "तद् ब्रह्मावेत्" व्याप्त हो के सब की रक्षा कर रहा है ' किमु" और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं।

"ब्रह्म वा इदमित्यादि०" सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्त्तमान था सो अपने आत्मा को "अहं ब्रह्मास्मीति सदैवावेत्" स्वस्वरूप का विस्मरण उस को कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो ब्रह्म अविद्यानिद्रा से उठके जानता है सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञाननिद्रा से उठके ब्रह्मविद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है।

"तदैतदित्यादि०" इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता और प्राप्त हुआ मैं मनु और

सूर्य्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्य्यलोकस्थ जन्म वाला हुआ था, ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो यह विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा सो भी इस प्रकार जानेगा कि "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति" मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् ब्रह्मस्थ हूँ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है सो इस सब सुख को प्राप्त होता है उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव, इन्द्रिय वा अन्य विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रिय स्वरूप होता है। जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं और आकाश तथा घर एक भी नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक में स्पष्ट लिखा है। सो यह वचन है—

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" ॥

व्याख्या—हे जीवात्मन्! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है तेरे में व्यापक होके भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है। जो तेरे बीच में रह के तेरा नियन्ता है उस अन्तर्यामी को छोड़ के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर। जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने अथवा उपासना करे वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूं तथा वह मेरे से भिन्न है। उस से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है। अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु है जैसा कि बैल वा गर्दभ वैसा वह मनुष्य है जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता।

इत्यादि प्रकरण विचार के विना चार अक्षर को पकड़ के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थविस्तार भय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है किन्तु शतपथब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है। वैसे ही 'तत्त्वमसि" यह भी सामवेद का वचन नहीं है किन्तु साम ब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रक्खा है। उसमें ऐसा प्रकरण है कि—

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्व्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति" ॥

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् की आत्मा है। सो कैसा है कि—जो "अणिमा" अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति, आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो! यही सब जगत का

अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन निर्विकार, सत्यस्वरूप, अविनश्वर है।

(प्रश्न) जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् की आत्मा है वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं ?

(उत्तर) "स आत्मा" परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उसका आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो ! जो सर्वात्मा है सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात्—

तदन्तर्यामी तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोर्थः" ॥

तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।

यष्टिकां भोजय, अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मण भोजयेति गम्यते, तथैव तद् ब्रह्म सहचरितस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा, अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीति विज्ञेयोऽर्थः। तात्स्थ्योपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रासम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः।

अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्षष्टितमं सूत्रं प्रमाणमस्ति "सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्न पुरुषेष्वतद्भावेपि तदुपचारः" "एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति वेद्यम्"।

यहां भी सर्वशक्तिमत्त्वभ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादिगुणवाले ब्रह्म का सम्भव जीव में कभी नहीं हो सकता है क्योंकि अल्पशक्तिमत्त्व, भ्रान्त्यादि दोषसहितत्वादि गुणवाला जीव है। इससे ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।

चौथा "अयमात्मा ब्रह्म" इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का वो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषदादिकों का है। इस का तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देख के कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है यही ब्रह्म है। अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभव-विधायक जीव के समझने के लिये यह वाक्य है। तथा—

"योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्"।

यह यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात् प्राण में पुरुष है वह मैं जीवात्मा हूँ। 'आदित्यो वै प्राणः" शतपथब्राह्मणे। तथा—

"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः" इति मुण्डकोपनिषदि ॥

इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक सो जीवात्मा पुरुष मैं हूं।

"यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति हे जीवाः ! यः असौ आदित्ये बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे सः असौ अहमेवास्मीति मां वित्त"

हे जीवो ! मुझ को बाहर और भीतर तुम लोग जानो, कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूं। ऐसा तुम लोग मुझ को जानो। क्योंकि इस मन्त्र के आगे "अग्ने नयेत्यादि" मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है। तथा "ओं खं० ब्रह्म" ओं जिस का सर्वोत्तम नाम है, ख आकाश की नाई व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'

यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है, इसका अर्थ भी तात्स्थ्योपाधि से करना।

"इदं सर्वं जगत् ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्मस्थं यद्वा "इदं यज्जगदाधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव" नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम्, यथेदं सर्वं घृतमेव नेदं तैलादिभिर्मिश्रितमिति ॥

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है। अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी जो चेतन सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इस में दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है वैसे उस ब्रह्म की उपासना शान्त हो के जीव अवश्य करे और किसी की नहीं।

(२) दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्धयादिक जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि बृहदारण्यकादि उपनिषद् तथा व्याससूत्र और वेदादिशास्त्रों में यही सिद्धान्त है।

"श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्ध्या निश्चिनोति, मनसा सङ्कल्पयति" ॥

इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे "असिना छिनत्ति शिरः" तलवार को लेके किसी का शिर काटता है। इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है। काटने का साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है। इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप पुण्य का कर्त्ता भोक्ता जीव ही है अन्य नहीं। यह गोतम मुनि तथा व्यासादिकों ने सिद्ध किया है कि—

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति" ॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्मनिष्ठ हैं "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इस में भी जीव सुख दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। इस में कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम हो के विषयभोग रूप स्व-मतलब साधने के लिये यह बात बनाई है कि—जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप पुण्य से रहित है। यह बात नवीन वेदान्ती लोगों की मिथ्या ही है।

(३) तीसरे इन की यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं, सो इन का केवल अविद्यान्धकार का माहात्म्य है। ग्रन्थ अधिक न हो इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है। अर्थ—जिसका मूल सत्य है उस का वृक्ष मिथ्या कैसे होगा तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है सो नित्य है क्योंकि परमात्मा नित्य है तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है। उसी से यह जगत् हुआ है। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता।

जो ऐसा कहो कि—"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा" सो यह बात अयुक्त है क्योंकि जो पूर्व नहीं है सो फिर नहीं आ सकता। जिस कूप में जल नहीं है उससे पात्र में जल नहीं आता। इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा।

कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं हो सकता वियोगान्त में नहीं रहना सो वर्त्तमान में भी नहीं सो जानना चाहिये। इसका यह उत्तर है कि विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है। जो पदार्थ नहीं हों उनका संयोग भी नहीं होता। इससे वियोग के अन्त में भी पृथक्-पृथक् वे पदार्थ सदैव रहते हैं। कितना ही वियोग हो तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्त्तमान में संयुक्त पदार्थ हो के पृथिव्यादि जगत् बना है सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के विना कभी नहीं मिल सकते तथा वियोग होने के विना वियुक्त नहीं हो सकते सो मिलना और पृथक् होना यह पदार्थों का गुण ही है। जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं बालुका से नहीं, सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है सो गुण सहज स्वभाव से है। वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिस से यह जगत् बना है उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वभाविक) ही है इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण जो ईश्वर का सामर्थ्य सो नित्य है तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत् को मिथ्या कहते है उन का कहना और सिद्धान्त मिथ्याभूत है ऐसा निश्चित जानना।

(४) चौथी इन की यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्षसमय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत बिन्दु का मिलना, यह भी उनकी बात मिथ्या है। इस के मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार न हो इसलिये संक्षेप से लिखते है। कठवल्ली तथा बृहदारण्यकादि उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

अर्थ—जब जीव का मोक्ष होता है तब पांच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान मन के साथ

अर्थात् विज्ञान के साथ स्थिर हो जाता है और बुद्धि जो निश्चयात्मक वृत्ति सो चेष्टा न करे, अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्दस्वरूपयुक्त होके सदा आनन्द में रहता है, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं। सो अन्यत्र भी कहा है कि—

परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।
इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य॥

परम ज्योति जो परमात्मा उसको "उपसपद्य" अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त "होके स्वेन रूपेण" अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके शुद्ध युक्त, ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्यवाला जीव युक्त हो जाता है। वही स्वरूप शारीरक सूत्रों के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि—

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥

मोक्षसमय में मन को छोड़ के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते किन्तु मन तो रहता ही है औरों का अभाव होता है। यह निश्चय वादरि आचार्य्य का है। तथा—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥

जैमिनि आचार्य्य का यह मत मोक्षविषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है। तथा वादरायण (व्यासजी) का मत ऐसा है कि—

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोतः॥

जैसे मृत शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवां जो दिन सो सत्रयागरूप माना है और भिन्न भी माना जाता है, उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनो हैं। तद्वत् मोक्ष में भी भाव और अभाव रहना है, अर्थात् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशो का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्ममरणादि दुःखों से छूट के सदा आनन्द में युक्त जीव रहता है यह वादरायण जो व्यासजी उन का मत है। और गोतम ऋषि का भी ऐसा ही मत है (न्यायदर्शन अ० १। आ० १)।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदनन्तरापायादपवर्गः॥ २॥   बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥
तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़बुद्धि इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है उसकी निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं

दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्त है वह निवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है। जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है। सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत् होता है। बाधना, विविध प्रकार की पीडा अर्थात् जो दुःख हैं उन की अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यन्तानन्द वह सदा के लिये प्राप्त होता है। इसका नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता है। एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति" तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्॥

जो जीव सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी की स्वबुद्धि ज्ञान में निहित (स्थित) जानता वा प्राप्त होता है वह परमव्योम व्यापकस्वरूप जो परमात्मा उनमें मोक्ष-समय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जो ब्रह्म उस के साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् सब दुःखों से छूटके परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है। जो लोग जीव का लय मानते हैं उनके मत में अनिर्मोक्षप्रसङ्ग दोष आता है तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था वही अविद्याभ्रम अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्तमोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगा इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं उस मोक्ष को प्राप्त होनेवाले जीव का लय ही होना है फिर सब साधन निष्फल हो जायेंगे। क्योंकि मुक्तिसुख का आनन्द भोगने वाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता। तथा जीव ब्रह्म की एकता मानने वालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त हो के दोषी हो गया। सो यह वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है।

"शुद्धमपापविद्धं कविरित्यादि"॥

यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषण-युक्त है, उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं। भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं नान्यत्र।

(प्रश्न)—**"तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्, अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"**॥

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन है। वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके फिर प्रविष्ट हुआ। इस में जीवात्मारूप अन्तःकरण में प्रविष्ट होके नाम रूप का व्याकरण करूं। इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर) यह आप लोगों का अनर्थकरण है क्योंकि परिपूर्ण, एकरस, सब में जो

भरा है वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था, वा जब-जब जिस-जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है तब-तब उस उसको अपने आत्मा में ही होता है। इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करने वाला तथा जिसमें प्रवेश करता है उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है तथा एक प्रवेश का करने वाला और दूसरा अनु-प्रवेश करने वाला होता है। क्योंकि—

"शरीरं प्रविष्टो जीवः जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते" ॥

इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है कि बिवा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है।

"अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः" ॥

अत्र प्रमाणम् "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते" ॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विधान और सङ्गप्रतिपादन है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है ऋषि मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं। ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है। इस में प्रमाण—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ १ ॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १३। मं० १२ ॥

हे परमेश्वर! आपने "स्वभूत्या स्वसामर्थ्य" तथा "ओजसः" अनन्त पराक्रम से भूमि, जल, स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है। रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो।

"न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १४। मन्त्र १४ ॥

हे परमेश्वर! एक असहाय विश्व सब जगत् जो कि आप का अनुसङ्गी आप के रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है सो आपसे अलग ही है; आपका स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि—

"अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि" ॥

इस सब जगत् को आपने स्वरूप से अन्यत् भिन्न वस्तुभूत रचा है आप जगत्रूप नहीं बने। तथा—

"अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः" ॥

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है। परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादि दोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्व-शक्तिमत्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है; अन्य नहीं। इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असङ्ख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्गपर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति सुख प्राप्त होता है अन्य को नहीं।

इससे भी आत्मस्थ शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक व्याप्य, तथा अन्तर्यामी अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते।

व्याससूत्र—"नेतरोऽनुपपत्तेः" इतर जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती। "भेदव्यपदेशाच्च" ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं। "मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्" मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त हो के आनन्दी होते हैं। "प्राणभृच्च" प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं। "विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ" विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि "भेदव्यपदेश" जीव और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते और जो जीव ब्रह्म एक होते तो निषेध का संभव नहीं हो सकता; इत्यादि व्यास के शारीरक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग-अलग हैं तथा नवीन वेदान्ती लोगों ने पचीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है। त्रिवृत्करण छान्दोग्योप-निषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण बिभाग वा संयोग करना असम्भव है। नवीन वेदान्ती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है, क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं। एक जगत् को मिथ्या मानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना। जगत् को मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत् स्वप्न के तुल्य है, सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहने वाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के विना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता जो जीव ब्रह्म हो तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता ?

इससे जगत् को मिथ्या और ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत् को मिथ्या मानने में जगत् की उन्नति परस्पर प्रीति और विद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं वे सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधन-तत्परता, अन्याय का करना, पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फंसने से अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोष युक्त हो के अपने मनुष्य-जन्म धारण करने के जो कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से मूर्ति-पूजनादि व्यवहारों के करने से उस जीव का जन्म निष्फल हो जाता है। इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठन-पाठन और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थप्रकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ, दुराग्रह, दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्तव्य है। इनको सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है। इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता, माता, राजा, बन्धु जो परमात्मा उससे मैं अत्यन्त नम्र हो के प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके असन्मार्ग से हटा के सन्मार्ग में चलावें यही हमारा परम गुरु है।

॥ समाप्तम् ॥

द्वि० संस्करण के मुख पृष्ठ की प्रतिलिपि

॥ ओ३म् ॥

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणम्

अर्थात्

स्वामिनारायणमतदोषदर्शनात्मकम्

लोकोपकाराय

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामिनिर्मितम् ॥

अजमेरीयवैदिकयन्त्रालयमुद्रितम्

आर्यसंवत् १९६०८५३०७७

द्वितीयावृत्तिः १०००

विक्रमीसंवत् १९६३

मूल्य ~)॥
डाकव्यय)॥

॥ ओ३म् ॥

सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च ॥

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डन ॥

(प्रश्नः) कोऽय सहजानन्दो नाम ?

(उत्तरम्) नारायणावतार, स्वामिनारायणाख्याचार्य इति ब्रूम. ।

(प्र०) कश्च नारायण ?

(उ०) वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते ।

(प्र०) स इदानीमस्ति न वा ?

(उ०) वर्तत एव तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात् ।

नैवं शक्यम्,

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिविरोधात् ।

ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात् । सावयवदेहधारणस्संयोगजन्यादिमतो नित्येश्वरत्वयोरसम्भवाच्च । यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स, ईश्वर एव न भवति । तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा ?

तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम् । कुतः ? मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात् ।

(प्रश्न) सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

(उत्तर) सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है ।

(प्र०) नारायण कौन है ।

(उ०) गोलोक और वैकुण्ठ में रहने वाला, चतुर्भुज, द्विभुज और लक्ष्मीपति ईश्वर है ।

(प्र०) वह अब भी है कि नही ?

(उ०) ईश्वर नित्य है, इससे वह अब भी है ।

ऐसा होना अशक्य है ।

क्योकि वेद मे कहा है कि—"ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्य रूप, शरीर, छिद्र और नाड़ी मे रहित, शुद्ध और पाप रहित है" ।

सर्वान्तिर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म-मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नही सकते । फिर आज कल के सहजानन्द का तो क्या कहना है ?

प्रथम तो मृतक के लिये आचार्य का नाम बिल्कुल नही घटता, क्योकि सहजानन्द मर गया और इसी मे वह अभ्यास करने को असमर्थ है ।

"स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।"

'उपनीय तु यश्शिष्यं
वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सरहस्यं सकल्पञ्च
तमाचार्यं प्रचक्षते ।।

इति ब्राह्मणमनुसाक्ष्य वर्तमानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ।

तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षाविद्याविरहत्वे पाखण्डाचारा विज्ञायन्ते । तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचिताया आदिमोऽयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा
श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि ।
वृन्दावनविहारान्तं
श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये ।। १ ।।

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽध उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैः कस्यापि निश्चयो नास्ति अत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम् ।

वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रतास्तीति स्वीक्रियताम् ।

कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते । इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति । वृन्दावने विहरन् कृष्णः केनापि न दृश्यते । किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते, नैव कृष्णः । पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोष-

ब्राह्मण भाग में कहा है कि—"अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो, उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये ।।"

और यही मनु भी साक्षी देता है कि—"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्मक्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कल्प सहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिये ।।"

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षा-पत्री, जिससे सिद्ध होता कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है । सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्न लिखित है—

"श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधा जी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मी जी बैठी हैं और जो वृन्दावन में क्रीडा करते हैं, उनका मैं हृदय से ध्यान धरता हूँ" ।। १ ।।

राधा वाम और दक्षिण, पश्चिम, आसपास और ऊपर नीचे कहां खड़ी हैं ? सो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं । इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना की सो व्यर्थ है ।

जबकि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी है तो कृष्ण के मुख में दरिद्रता बैठी है ऐसा मानना पड़ेगा ।

महाभारत में कहा है कि "कृष्ण द्वारिका के पड़ोस में मर गये" । अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है ? कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीडा करते हुये किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां दीखती

रहितं विहाय 'कृष्णं हृदि चिन्तये' इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति ॥ १ ॥

"मुकुन्दानन्दमुख्याश्च
नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः ।
गृहस्थाश्च मायाराम-
भट्टाद्या ये मदाश्रयः" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदेश्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवाऽसङ्गतम् ॥

एवमेवाग्रस्थाः श्लोकाः प्रायशोऽशुद्धाः सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा शिवालयादीनि
देवागाराणि वर्त्मनि ।
प्रणम्य तानि तद्देव-
दर्शनं कार्यमादरात् ॥ १३ ॥

पाषाणादिमूर्त्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात् 'तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति'प्रलापात् सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव लक्ष्यते ॥ १३ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः
स हातव्यो न केनचित् ।
परधर्मो न चाचर्यो
न च पाखण्डकल्पितः ॥ १४ ॥

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मः सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः ? कुतः ? वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिपाखण्डानां प्रचारकरणात् सहजानन्दे वदतोव्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः ॥ १४ ॥

हैं । निराकार, जन्म-मरण रहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान धरता हूं; ऐसा कहना मिथ्या है ॥ १ ॥

मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मायाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर आस्था रक्खी नहीं, इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार से इनके बहुत से आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं ।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवें, उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥ १३ ॥

पाषाणादि मूर्ति के घर को देवालय नाम दिया, इससे और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था ॥ १३ ॥

अपने वर्णाश्रम का जो धर्म, उसका कोई पुरुष त्याग न करे, उसी प्रकार पाखण्ड-कल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये" ॥ १४ ॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग किसलिये किया ? जो कहो कि त्याग नहीं किया तो वेदविरुद्ध मूर्तिपूजन, कण्ठी, तिलकधारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया कराया ? यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है, यहां तक कि अपने कथन को अपने आप ही धो डाला है ॥ १४ ॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद्वा
पतनं यस्य वाक्यतः ।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः
कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥१५॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोऽस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः ? वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्याभावात् । अतः किं समागतम् ? सहजानन्दस्य तत् सम्प्रदायस्थानाञ्च मुखात् कदाचित् केनचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स कृष्ण. प्रभुरेव न, तस्य जन्म मरणादिस्वभावत्वात् ॥ १५ ॥

"जिसके कहने से कृष्णभक्ति में भंग पड़े, उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा वार्ता सुननी नहीं चाहिये" ॥ १५ ॥

केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है । इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है । क्योंकि वेद में जहां वर्णाश्रम धर्म प्रतिपादन प्रकरण चला है; वहां पर कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है; ऐसा नहीं कहा । यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उसके सम्प्रदाय वालों के मुख से कभी किसी को कथावार्ता नहीं सुननी चाहिये । कृष्ण को (मृत को) प्रभु नाम देना ही नहीं बन सकता, क्योंकि इनके जन्ममरण आदि दोष हुए हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या
मुखात् कार्या न पूरुषैः ।
न विवादः स्त्रिया कार्यो
न राज्ञा न च तज्जनैः ॥ ३४ ॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद् याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात् सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥ ३४ ॥

"स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवार्ता मनुष्यों को सुननी नही चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वादविवाद नहीं करना चाहिये" ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी-आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था, इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने योग्य नहीं ॥ ३४ ॥

कृष्णदीक्षा गुरोः प्राप्ते
तुलसीमालिका गले ।
धार्ये नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो
ललाटादौ द्विजातिभिः ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षातुलसीमाला - धारणोर्ध्वपुण्ड्रधार्यमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव । कुतः ? वेदयुक्तिभ्यां विरोधात् । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यं भविष्यतीत्येवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥

"कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये" ।४१।

कृष्णदीक्षा, तुलसीमालाधारण और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि जो कहा, सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है । क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्ति रहित है । जो कण्ठी, थोड़ा सा तिलक धारण करने से पुण्य होता है तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त

मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है; ऐसा मानना पड़ेगा। और जो ऐसा मानते हो तो यह काम जल्दी करो ॥ ४१ ॥

इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्या एव वेदितव्याः।

सहजानन्द के ऐसे-ऐसे कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां
स्यात् स्वकुलागता।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि
न त्याज्या सा मदाश्रितैः ॥४६॥

"वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता हो तो उसको मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये" ॥ ४६ ॥

ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं
नारायणमहेशयोः।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण
वेदेषु प्रतिपादनात् ॥ ४७ ॥

"नारायण और केशव की एकात्मता (अभिन्नता) ही है। क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है" ॥ ४७ ॥

एवञ्चेत् सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित् त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधारणं कृतमेवासीत्, पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितश्च ?

त्रिपुण्ड्र, रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना, सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय वालों की किसलिये छुड़ाई ?

मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति, तद्व्यर्थमेव कुतः ? तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥ ४६ ॥

"मेरे आश्रितो को" ऐसा वचन सहजानन्द ने बार-बार लिखा है, सो मिथ्या है। क्योंकि जिसको जन्म-मरणादि दोष प्राप्त हुए, ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है ॥ ४६ ॥

नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावात्। अतः सहजानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

नारायण और शिव दोनों एक ही हैं, ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है सो मिथ्या है। क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य
लेख्यार्चां तत आदरात्।
शक्त्या जपित्वा तन्मन्त्रं
कर्त्तव्यं व्यावहारिकम् ॥५४॥

इस प्रकार करने के बाद "राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्ति का प्रेम से दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना, उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये"।

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च···प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ, पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्तिं कर्तुं सामर्थ्यं नैव भवेत्। अतस्तत्पूजा कर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥ ५४ ॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं, फिर उसकी छवि अथवा मूर्ति कैसे हो ? यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है वह

शैली वा धातुजा मूर्तिः
शालिग्रामोऽर्च्य एव तैः ।
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य
जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ॥५६॥

आस्माच्छ्लोकाद् विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जडबुद्धिरासीदिति कुतः ? वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्तिपूजनस्य विधानात् । कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्तविरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धेश्च ॥ ५६ ॥

बिलकुल असत्य है ॥ ५४ ॥

'पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई, मूर्ति की यथाशक्ति फल फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना" ॥ ५६ ॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है। वेदविरुद्ध मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है ॥५६॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं
भोज्यं प्रासादिकं ततः ।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या
भवितव्यं च तैः सदा ॥ ५८ ॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात्, पाषाणादिजडमूर्तेर्भोजनकरणाभवात्, तन्नैवेद्यकरण व्यर्थमेव । इदन्तु खलु छलमेवास्ति । कुतः ? अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानाद कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥ ५८ ॥

"हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाकी बची प्रसादी आप खानी चाहिए और कृष्ण सेवा में जिस प्रकार बन सके, उसी प्रकार तत्पर रहना ॥ ५८ ॥

हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं। इस कारण से मूर्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है। यह बिलकुल छलकपट है क्योंकि जब ऐसा होता है, तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन्-टन् पुँ पुँ करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है ॥ ५८ ॥

आचार्येणैव दत्तं यद्
यच्च तेन प्रतिष्ठितम् ।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं
वन्द्यमेवेतरत् तु यत् ॥ ६२ ॥

"अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिसमें प्राणप्रतिष्ठा कर दी हो, उन्हीं की केवल सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी ॥ ६२ ॥

भगवन्मन्दिरं सर्वैः
सायं गन्तव्यमन्वहम् ।
नाम संकीर्त्तनं कार्यं
तत्रोच्चै राधिकापतेः ॥ ६३ ॥

प्रतिदिन शाम को भगवत् मन्दिर में जाना और वहां राधापति कृष्ण का ऊंची वाणी से कीर्त्तन करना ॥ ६३ ॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं, यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च तत् कृष्णरूपमेव न, किन्तु तत् पाषाणादिस्वरूपमेव । तच्च कदाचित् केनचिदपि न सेव्यं, न चैव वन्द्यम् । किन्तु

पाषाणादि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि वह तो केवल पत्थर ही है। ऐसा पत्थर किसी को कभी सेवनीय नहीं। इसी

यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी, दयालुस्सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, निराकारो भगवान् परमात्मा एव सर्वैस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः ॥ ६२ ॥

प्रकार उसको नमना भी नहीं। जो सर्वशक्तिमान्, अवतार रहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये ॥ ६२ ॥

अत एवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य, तत्त्व सायं सर्वेरन्वह गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्तनं [च] कार्यमिति मिथ्योपदेशं प्रबुक्कतस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीद्। असदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते।

शाम को सब मनुष्यों को भगवद् मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियो की और जिसका जन्ममरण हुआ ऐसे राधापति कृष्ण नामक मृत की पूजा करनी और उसका ऊंची वाणी से कीर्त्तन करना ऐसा जो ऊपर कहा है सब मिथ्या उपदेश है। यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है वह वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था। असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी; ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारश्चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तेषामपि सद्गतिर्न भूता, न भवति, न भविष्यति च किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्ट न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादिलक्षणं धर्मञ्च यथावद् ये स्वीकरिष्यन्ति, सर्वशक्तिमन्न्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद्ये च करिष्यन्ति, तेषामेव सद्गतिरभूद्, भवति, भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम्।

इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है, उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है और न होगी भी, जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपात रहित न्याय और वैरबुद्धि त्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है, उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता, और सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा, केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी।

एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं ॥ ६३ ॥

एकादशीनां सर्वासां
कर्तव्यं व्रतमादरात्।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च
शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७९ ॥

"एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों को रखना और कृष्ण के जन्मदिवस और शिवरात्रि को बड़ा उत्सव करना चाहिये" ॥ ७९ ॥

एकादश्यादीनि व्रतानि वेदे क्वापि न

एकादशी आदि व्रत वेद मे कहीं नहीं

विहितानि । किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि । अत एवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ।

लिखे, किन्तु वेद में तो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखे हैं । अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों को रखना व्यर्थ है ॥ ७६ ॥

सर्ववैष्णवराजश्री-
वल्लभाचार्यनन्दनः ।
श्रीविठ्ठलेशः कृतवान्
यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥

"सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य उनके पुत्र विठ्ठल ने जो-जो उत्सव निर्माण किये हैं ॥ ८१ ॥

कार्यास्तमनुसृत्यैव-
सर्व एव व्रतोत्सवाः ।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य
ग्राह्या तदुदितैव हि ॥ ८२ ॥

उन सब उत्सवों को विठ्ठल के अनुसार करना चाहिये । जिस प्रकार मे विठ्ठल ने कृष्ण की सेवा की है, उसी प्रकार करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

कर्त्तव्या द्वारिकामुख्य-
तीर्थयात्रा यथाविधि ।
सर्वैरपि यथाशक्ति
भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ॥ ८३ ॥

द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि किया करें और कंगाल मनुष्यों पर दया रखा करें ॥ ८३ ॥

विष्णुः शिवो गणपतिः
पार्वती च दिवाकरः ।
एता पूज्यतया मान्या
देवताः पञ्च मामकैः ॥ ८४ ॥

मेरे आश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवे क्वापि
वर्म नारायणात्मकम् ।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो
जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥ ८५ ॥

भूत प्रेतादि उपद्रव करें तो नारायण कवच अथवा हनुमान् मन्त्र का जप करना चाहिये । परन्तु किसी क्षुद्रदेवता का जप नहीं करना चाहिये ॥ ८५ ॥

सर्ववैष्णवराज श्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विठ्ठलेशः परधनहरण, धर्मनाशनं, व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवांस्तत् कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१-८२ ॥

सर्व वैष्णवराज श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र विठ्ठल ने परधनहरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है । इस प्रकार कर्म करने वाले पुरुष के विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है, इससे सहजानन्द भी दुष्ट था, यह सिद्ध हुआ ॥ ८१-८२ ॥

द्वारकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते । कुतः ?

द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी चाहियें, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया,

जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्। तदा-त्राकरणेऽपदेशो दुःखफलक एवास्ति। किञ्च 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति छान्दोग्योपनिषदि, 'सतीर्थ्यस्स ब्रह्मचारी च' इत्यादि प्रमाणार्थे व्यवहारस्य विद्यमानत्वाद् वेदेश्वरविज्ञानानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः। यैरविद्याजन्म-मरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च ॥ ८३ ॥

शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणा मृताना वेदेषु पूजाऽनभिधानाद्, रवेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला। परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पंचत्वाभावाद्। 'एता पूज्यतया मान्याः' इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसङ्गत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवच-पाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति। अतस्तदुपदेश-प्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि
श्रीमद्भागवताभिधम्।
पुराणं भारते तु श्री-
विष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ९३ ॥
तथा श्रीभगवद्गीता
नीतिश्च विदुरोदिता
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं
स्कन्दवैष्णवखण्डगम् ॥ ९४ ॥
धर्मशास्त्रान्तर्गता च
याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः।
एतान्यष्ट ममेष्टानि
सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ९५ ॥
स्वहितेच्छुभिरेतानि
मच्छिष्यैः सकलैरपि।
श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि
कथनीयानि च द्विजैः ॥ ९६ ॥

वह केवल भ्रान्ति से ही किया है, यह निश्चित जानना चाहिये। क्योंकि जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश सम्भव नहीं दीखता इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है। छान्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान किया है। जिससे अविद्या, जन्म-मरण, हर्ष शोकादि दुःखों से तरे, उसी का नाम तीर्थ होता है ॥ ८३ ॥

शिव, विष्णु, गणिपति, पार्वती आदि देहधारी मृतकों की तथा स्वतः जड़ रूप सूर्य की पूजा निष्फल है। अजन्मा होने से परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये। और इन की पूजा करने के लिये जो सहजानन्द ने कहा है; वह मिथ्या है ॥ ८४ ॥

भूत प्रेतों से निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान् मन्त्र का जप करना, ऐसा उपदेश करने से ज्ञात होता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा ॥८५॥

वेद, व्यास सूत्र भागवत महाभारत में कहा हुआ विष्णु सहस्रनाम भगवद्गीता विदुरनीति स्कन्दपुराण और वैष्णवखण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और धर्मशास्त्रों में याज्ञवल्क्य ऋषि कृत याज्ञवल्क्यस्मृति आदि आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट हैं ॥ ९३,९४,९५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य है उनको इन शास्त्रों को सुनना पाठ करना और कराना चाहिये ॥ ९६ ॥

तत्राचारव्यवहृति
निष्कृतानाञ्च निर्णये ।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता
याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ॥ ९७ ॥

इन आठ शास्त्रों में आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूँ ॥ ९७ ॥

श्रीमद्भागवतस्यैषु
स्कन्धौ दशमपञ्चमौ ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ
कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥ ९८ ॥

भागवत के पाचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है अत एव वे मेरे मतानुयायियों को सर्वश्रेष्ठ माननी तथा जाननी चाहिये ॥ ९८ ॥

दशमः पञ्चमः स्कन्धो
याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं
धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥ ९९ ॥

मेरे मत में भागवत के दशमस्कन्ध में भक्ति शास्त्र, पांचवे में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्य स्मृति में धर्मशास्त्र का वर्णन जानना चाहिये ॥ ९९ ॥

शारीरकाणां भगवद्-
गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं
भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥

शारीरक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है ॥ १०० ॥

एतेषु यानि वाक्यानि
श्रीकृष्णस्य वृषस्य च ।
अत्युत्कर्षपराणि स्यु-
स्तथा भक्तिविरागयोः ॥ १०१ ॥
मन्तव्यानि प्रधानानि
तान्येवेतरवाक्यतः ।
धर्मेण सहिता कृष्ण-
भक्तिः कार्येति तद्रहः ॥ १०२ ॥

इन शास्त्रों के जिन-जिन वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये ॥ १०१-१०२ ॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोका प्रायोऽशुद्धाः सन्ति । श्रीमद्भागवतादिपुराणानां भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषां तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्, वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणात्, मिताक्षराटीकान्वितायाः याज्ञवल्क्यस्मृतेरेवग्रहणात्, पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्तैव दृश्यते सहजानन्दे । सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्या-

उपरोक्त "वेदाश्च" इत्यादि श्लोक प्रायः अशुद्ध हैं । श्रीमद्भागवत आदि पुराण तथा महाभारत में विष्णु सहस्रनाम और भगवद्गीता आदि का ही प्रमाणार्थ स्वीकार करना तथा दूसरे श्रेष्ठ ग्रन्थों का त्याग । वासुदेव माहात्म्य भागवत में याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका का ही ग्रहण, पूर्वमीमांसादि शास्त्रों का तथा मनुस्मृति का त्याग करने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द

भूताधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद् विषयासक्तो वेदनिन्दकोऽपि सहजानन्दोऽस्तीति विज्ञायते ॥

अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के अतीव अशुद्ध तथा भ्रष्ट मिथ्या भूत प्रेत अधर्म कथा प्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने से ज्ञात होता है कि सहजानन्द विषयासक्त तथा वेदनिन्दक (नास्तिक) था ॥ ९३-९८ ॥

दशमस्कन्धे भक्तिशास्त्रस्य लेशोऽपि नास्ति। किन्तु व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनं तत्रास्त्येव प्रसिद्धम्। पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादन नास्ति। किन्तु योगाभासप्रतिपादन तु तत्रास्त्येव। श्रौतसूत्रमीमांसादेर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात् पिष्टपेषणवद् दूषिताया याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात् सहजानन्दस्य वेदोक्ताना कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते ॥ ९९ ॥

दशमस्कन्ध मे भक्ति लेशमात्र भी नहीं है किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पांचवे स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं किन्तु योगाभास का प्रतिपादन तो वहा किया ही है। श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने मे और दले हुए पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा ज्ञात होता है कि सहजानन्द को वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय मे किञ्चित् भी ज्ञान नही था ॥ ९९ ॥

रामानुजकृतस्य शारीरकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारादविवेकस्सहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते ॥ १०० ॥

शारीरक सूत्र का रामानुज म किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से महजानन्द अविवेकी है; यह सिद्ध होता है ॥ १०० ॥

श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः, न च स्ववाक्यानाम्। अत एव सहजानन्देन 'अत्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युः, इत्युक्तत्वाद् भ्रान्त एव स मन्तव्यः ॥ १०१ ॥

श्रीकृष्ण ने स्वय ही वेदो को मर्वोत्कृष्ट माना है, अपने वाक्यो को नही। अत एव सहजानन्द ने "अत्युत्कर्षपराणि' आदि वाक्यों के रचने से प्रतीत होता है कि सहजानन्द को भ्रम हो गया होगा ॥ १०१ ॥

वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने, वेदेभ्योऽपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रबुक्कन् सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति ॥ १०२ ॥

वेदवाक्य सर्वोत्तम है, यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं यह सहजानन्द का लज्जा से डूब मरने जैसा है ॥ १०२ ॥

हृदये जीववज्जीवे
योऽन्तर्यामितया स्थितः।

"जिस प्रकार हृदय मे जीव रहता है, उसी प्रकार अन्तर्यामी होने से ईश्वर जीव मे रहता है वह स्वतन्त्र और सबको उन-उन

ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ
सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १०७ ॥

के कर्मों का फलदाता है ऐसा जानना चाहिये ॥ १०७ ॥

स श्रीकृष्णः परब्रह्म
भगवान् पुरुषोत्तमः ।
उपास्य इष्टदेवो नः
सर्वाविर्भावकारणम् ॥ १०८ ॥

वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य इष्टदेव सब पदार्थों के आविर्भाव का कारण (प्रसिद्धकर्ता) है ॥ १०८ ॥

स राधया युतो ज्ञेयो
राधाकृष्ण इति प्रभुः ।
रुक्मिण्या रमयोपेतो
लक्ष्मीनारायणः स हि ॥ १०९ ॥
ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ
नरनारायणाभिधः ।
बलभद्रादियोगेन तत्
तन्नामोच्यते स च ॥ ११० ॥

जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब लक्ष्मी-नारायण, अर्जुन के साथ हो उस समय नारायण और जब बलभद्रादिकों से युक्त हो तब उनको वही नाम देना चाहिये ।१०९-११०

जीववन्न कदाचिदीशो भवति, सर्वज्ञ-सर्वशक्त्यनन्तनिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात् ॥ १०७ ॥

क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अनन्त, निर्विकार आदि गुणयुक्त स्वभाव वाला होने से जीव के समान कभी नहीं होता ॥ १०७ ॥

जन्म-मरण-हर्ष-शोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात् कृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः कदाचिन्नैव संभवति । पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दादिस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दः कथयति, स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः ॥ १०८ ॥

जन्म, मरण, हर्ष, शोक, अल्पज्ञ अल्पशक्ति आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम नितान्त असम्भव है । एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द स्वरूप, निर्दोष, निराकार अवतार रहित वेदयुक्ति सिद्ध परमात्मा को छोड़कर जन्ममरणयुक्त कृष्ण की उपासना करनी, यह जो सहजानन्द ने कहा है, इससे ज्ञात होता है कि उसको पदार्थज्ञान किञ्चित् मात्र भी नहीं था ॥ १०८ ॥

राधा त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य । कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री । पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

राधा तो "अनय" नामक ग्वाले की स्त्री थी । कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था । कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था । इसलिये कृष्ण को लक्ष्मीनारायण कहना ही असङ्गत है ॥ १०९ ॥

तत्तन्नामोच्यते स च इति सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव। कुतः? सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तत्वातो बोध्यम्।

इस प्रकार का कथन करके सहजानन्द ने अपनी मूर्खता जताई है। क्योंकि सर्वज्ञता के बिना सहजानन्द का कथन युक्ति रहित दिखाई देता है॥ ११०॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः
कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्
ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम्॥ ११३॥

उसी की ही (कृष्ण की) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये क्योंकि कृष्ण भक्ति से अन्य कल्याण तथा सुख का साधन दिखाई नहीं देता॥ ११३॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्न वेति विदुषां सन्देहः। स च परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोऽन्यत्कल्याणकरं किञ्चिन्नास्त्येवेति वदन् सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत्॥११३॥

कृष्ण का स्वयं का कल्याण हुआ कि नहीं, इस विषय में ही विद्वानों को संशय है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है। यह कहकर उसने अपनी अविद्या बताई है।

गुणिनां गुणवत्ताया
ज्ञेयं ह्येतत् परं फलम्।
कृष्णे भक्तिश्च तत्संगो
ऽन्यथा यान्ति विदोऽप्यधः॥११४॥

"गुणवान् पुरुषों के विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना। उसको छोड़के जो कोई दूसरा कुछ करेगा, वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा॥ ११४॥

'गुणिनां गुणवत्ताया' इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्याम्। अतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोविज्ञानमपि यथावन्नासीदिति। कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेदविरुद्धा चास्ति। विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति, विद्यायाः प्रकाशस्वरूपत्वात्। किञ्च, अविद्वांस एव सहजानन्द सदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते। कुतः? अविद्याया अधर्माचरणान्धकारवत्त्वात्॥ ११४॥

"गुणिनां गुण०" इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से ज्ञात होता है कि सहजानन्द को छन्दोज्ञान भी ठीक-ठीक नहीं था। मृत कृष्ण की भक्ति करनी भी वेदविरुद्ध तथा निष्फल है। विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है; ऐसा दीख पड़ता है॥११४॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं
देहत्रयविलक्षणम्।

"तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उसमें ब्रह्मरूप की भावना करके

विभाव्य तेन कर्त्तव्या
भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा ॥ ११५ ॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मरूपश्चेद् ब्रह्मणा तुल्यत्व तस्मिन् कुतो न दृश्यते? तुल्यत्वं च चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्रचितं, जीवेन नवीनं जगत् किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते?

जीवब्रह्मणोरैक्यं चेत्तर्हि ब्रह्मणैवाविद्या-जन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडा-बन्धादिदोषयुक्तं जातमेवेति स्वीक्रियताम्। जीवाद् ब्रह्म भिन्नञ्चेत् प्रतिज्ञाहानिः। कृष्णोऽपि ब्रह्मभक्तः, एव सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्म-भक्तैव भवितव्यम्। नैवान्यस्य कस्यचित् कृष्णादेर्जीवस्य चेति। एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम् ॥ ११५ ॥

कृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी चाहिये" ॥

जो जीव ब्रह्मरूप हो उसमें ब्रह्म की तुल्यता क्यों नही दीखती? यदि जीव ब्रह्म के तुल्य है तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा वैसे ही जीव थोड़ा सा नवीन जगत् क्यों नहीं रच लेता?

यदि ब्रह्म तथा जीव को एक मानो तो अविद्या, जन्म, मरण, हर्ष, शोक, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, ज्वर, पीड़ा और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में भी मानने पड़ेगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न हुआ तो सहजानन्द का कहना व्यर्थ हुआ। कृष्ण स्वयं ही ब्रह्म भक्त थे, इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की भक्ति करनी चाहिये कृष्णादि जीवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये। एक कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा, उस से सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है ॥ ११५ ॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे
गोलोको धाम चेप्सितम्
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्ण-
सेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥१२१ ॥

चक्राङ्कितवत् सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम्। विशिष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते-अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः। विशिष्टो नाम मिलितः। केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति। एवं चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम्। द्वितीयेन विना विशिष्ट एवं न भवति। विशिष्टश्च, विशिष्टौ मायाऽविद्या-भ्यां युक्ता जीवेशौ, तयोरद्वैतं विशिष्टद्वैतम्। द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति। किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति। तद्यथा

विशिष्टाद्वैत मेरा मत है तथा मेरा प्रिय स्थान गोलोक है, वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी चाहिये, यही मुक्ति जाननी चाहिये ॥ १२१ ॥

सहजानन्द का मत चक्राङ्कित के समान है ऐसा दीख पड़ता है। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब मनुष्य इसी प्रकार करते हैं कि--अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है। कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता। दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन ही नहीं सकता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म तो अवश्य अद्वैत है। सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग

सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्ति, एवं स्वगतभेदोऽपि ब्रह्मणि नास्त्येव, संयोगवियोगाभावात् । अत एव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति । वेदयुक्तिसम्मतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः । एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम् ।

गवां पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात् सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । गोलोक एव निवासत्वात् कृष्णसेवानिबन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम् ॥ १२१ ॥

के विना सिद्ध नहीं हो सकता । वेद और युक्तिसिद्ध एक रसमात्र एक ही ब्रह्म है, यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना चाहिये । अतः इससे दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं ।

गौ आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान है । इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द स्वयं ही पशु बनता है । गोलोक में निवास करने से और एक कृष्ण सेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो सहजानन्द का प्रलाप है, सो मिथ्या है ॥ १२१ ॥

मया प्रतिष्ठापितानां
मन्दिरेषु महत्सु च ।
लक्ष्मीनारायणादीनां
सेवा कार्या यथाविधि ॥ १३० ॥

"मैंने बड़े-बड़े मन्दिरों में लक्ष्मीनारायणादि मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा की है उनकी यथाविधि सेवा करनी चाहिये" ॥ १३० ॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैव भवन्ति । वेदानभिहितानां पाषाणादिमूर्त्तीनां जडत्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनां तदानीञ्चेतनत्वात् पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधि खण्डनमेव कर्तव्यं, नैव च पूजनमिति ॥ १३० ॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी विद्या-धर्म विरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े-बड़े मन्दिरों में प्रतिष्ठापित पाषाणादि मूर्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सकता । क्योंकि वेद में मूर्तिपूजा का विधान कहीं पर भी नहीं है और मूर्त्ति स्वतः जड़ है इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारायण आदि तो चेतन थे इस हेतु से मूर्ति का यथाविधि पूजन न करके खण्डन ही करना चाहिये ॥ १३० ॥

अथैतयोस्तु भार्याभ्यां
आज्ञया पत्युरात्मनः ।
कृष्णमन्त्रोपदेशश्च
कर्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि ॥ १३३ ॥

"दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने-अपने पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमन्त्र का उपदेश करना चाहिये" ॥ १३३ ॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योऽपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटं प्रसारितम् । तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशं

सहजानन्द को विदित था कि स्त्रियों को उपदेश के विना धनप्राप्ति कभी नहीं होगी । अतः एव सहजानन्द ने यह सब छल कपट फैलाया । परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर

चोक्तवान्। अतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते ॥ १३३ ॥

कृष्ण का अर्थात् मृतकृष्ण का उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी सिद्ध होता है ॥ १३३ ॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्त-
धनधान्यादितश्च तैः ।
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय
विंशांशस्त्विह दुर्बलैः ॥ १४७ ॥

"अपने कमाये हुए धन धान्य का दशवां भाग कृष्ण के लिये अर्पण करें और जो दुर्बल होवें वे बीसवां भाग कृष्ण को अर्पण करें" ॥ १४७ ॥

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थ विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः।

परधन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल, कपट स्पष्ट सिद्ध है। इस प्रकार करने मे सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत् किञ्चित् कार्य किये विना ही दसवां, बीसवा भाग लेकर अपने ससार का विषयसुख खूब भोगेंगे।

पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं विंशांशं धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नैतादृश तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात् सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या, तथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनाञ्च।

और कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना। यह भी कथन युक्ति युक्त नही क्योंकि कृष्ण स्वयं तो दसवा अथवा बीसवा भाग लेने आ ही नहीं सकता और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था। अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ सम्प्रदाय वालों की तरह पर्याप्त धूर्त्तता चलाई है।

ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रभृत्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाता। अतः सर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्तनीयाः। अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम् ॥ १४७ ॥

ऐसे-ऐसे धूर्त्तों के सम्प्रदाय फैलने से अपने आर्य्यावर्त्त को बहुत हानि उठानी पडी है। इस लिये सब सज्जनों को श्रम उठा कर इन सम्प्रदायों को समूल नष्ट कर देना चाहिये। यदि ये समूल नष्ट न किये गये तो अपने देश का कल्याण कभी नही होगा ऐसा निश्चित होगा ॥ १४७ ॥

एकादशीमुखानाञ्च
व्रतानां निजशक्तितः ।
उद्यापनं यथाशास्त्रं
कर्त्तव्यं चिंतितार्थदम् ॥ १४८ ॥

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना, उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है" ॥ १४८ ॥

कर्त्तव्यं कारणीयं वा
श्रावणे मासि सर्वदा ।
बिल्वपत्रादिभिः प्रीत्या

"श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें अथवा करावें" ॥ १४९ ॥

श्रीमहादेवपूजनम् ॥ १४६ ॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तदुद्यापनेन बिना धनलाभोऽपि शिष्येभ्यो नैव भविष्यति। पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात् पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामह, एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम् ॥ १४८-१४६ ॥

यह भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें तो शिष्यों से उद्यापन विना धन लाभ नहीं होगा। श्रावण महीने में महादेवपूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन, प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। ऐसे-ऐसे विचारों से सहजानन्द के कपट का ज्ञान होता है ॥ १४८-१४६ ॥

देवता-प्रतिमां हित्वा
लेख्या काष्ठादिजापि वा।
न योषितप्रतिमा स्पृश्या
न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम्।

"देवमूर्त्ति को छोड़कर लिखी हुई अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्त्तियों का कभी स्पर्श न करें और उनकी तरफ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से भी नहीं देखें"।

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था स्थापिता? सा स्त्री नासीत् किम्? पुनश्च 'वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि' इति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च? ताश्च साध्वादिभिस्तच्छिष्यैर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते? तासां राधादीना च कथा किमर्था क्रियते? अत एव प्रमत्तगीतवत् प्रलापात् सहजानन्दादिषु वदतोव्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम् ॥ १७७ ॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिरों में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों की? क्या राधा स्त्री नहीं थी? जिनकी बाईं तरफ राधा है इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने मनुष्यों को उपदेश क्यों किया है? सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किस लिये करते हैं? इस प्रकार प्रमत्त गीतों के समान बकवाद से सहजानन्द पर अनेक दोष लगते है ॥ १७७ ॥

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि
रसना तु विशेषतः।
न द्रव्यसंग्रहः कार्यः
कारणीयो न केनचित् ॥ १८८ ॥

"सब इन्द्रियों को जीतना चाहिये विशेषतया रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिये। किसी को द्रव्य का संग्रह नहीं करना चाहिये, उसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना चाहिये" ॥ १८८ ॥

न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि
धैर्यं त्याज्यं न कर्हिचित्।
न प्रवेशयितव्या च
स्ववासे स्त्री कदाचन ॥ १६० ॥

"धैर्य को कभी नहीं छोड़ना चाहिये, अपने रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये" ॥ १६० ॥

साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्त्तव्यमित्युप-

केवल साधु ही जितेन्द्रिय होवे, ऐसा जो

दिश्यते भवता। तर्हि भवानसाधुरस्ति किम् ? गृहस्थेन जितेन्द्रियत्वादिकं नैव कर्त्तव्यं किम् ? ॥ १८८ ॥

तुम उपदेश देते हो, तो तुम क्या असाधु हो ? तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें ? ॥ १८८ ॥

कस्यचिन्न्यासस्थापनं नैव रक्षणीयञ्चेद्, विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम् ? वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्थापनं किमर्थं क्रियते ? सहजानन्देन च किमर्थं कृतम् ? किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति ॥ १९० ॥

तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर-प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये ? वेद-धर्म-युक्ति विरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये ? और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किस लिये स्थापन किया ? सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये ॥

इति संक्षेपतो धर्माः
सर्वेषां लिखिता मया।
साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो
ज्ञेय एषां तु विस्तरः ॥ २०३ ॥
सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य
सर्वेषां सारमात्मना।
पत्रीयं लिखिता नृणा-
मभीष्टफलदायिनी ॥ २०४ ॥

"इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है, और इन धर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों से जानना चाहिये" ॥ २०३ ॥

"मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्यों को इष्टफल की देने वाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥ २०४ ॥

'इति संक्षेपत' इति धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम् ? किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते। वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्तीति तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति। लिखितस्य धर्मस्य पुनर्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात्।

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन नहीं किया, किन्तु अपनी कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है। वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म लिखा है, उसका ज्ञान सहजानन्द को बिल्कुल नहीं था। लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है।

सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदायिको ग्रन्थो वेद एवास्ति। पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम्।

मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वेद ही है, और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं।

'विस्तर' इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम्। 'प्रथने वावशब्दे' इति व्याकरणनियमात्। कथनश्रवणोपाधावेव विस्तरेति

'विस्तर" शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। विस्तर की जगह 'प्रथने वावशब्दे' इस पाणनीय नियम से विस्तार शब्द

भवितव्यं नान्यत्रेति निश्चयः ॥ २०३ ॥

सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणां बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते। वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनादसारभूतेयं पत्री लिखितेति विज्ञायते।

'अभीष्टफलदायिनी'ति प्रलोभनमात्रम्? सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखम्। तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कर्त्तुं मनुभवविरुद्धमेव। ईदृक्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते। प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति। तद् वृद्धया बिना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति। पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते होति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम् ॥ २०४ ॥

वर्तिष्यन्ते य इत्थं हि
पुरुषा योषितस्तथा।
ते धर्मादिचतुर्वर्ग-
सिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ॥२०६॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते, ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति। किन्त्वधर्मानर्थकुकामदृढबन्धसिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः ॥ २०६ ॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति
ते त्वस्मत्संप्रदायतः।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं
स्त्रीपुंसैः सांप्रदायिकैः ॥ २०७ ॥

पाषाणादिमूर्तिपूजनं कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणं, कदाचित् केनचिदपि नैव

लिखना चाहिये। कथन-श्रवण आदि अर्थों में ही विस्तरशब्द का प्रयोग होता है ॥ २०३ ॥

सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं, तथा उसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसने वेद और युक्तिविरुद्ध पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी, तिलक धारण आदि भ्रष्ट कामों का प्रतिपादन किया है।

शिक्षापत्री में भी सार के स्थान पर असार वर्णन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्ट फलदायक है, परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुख-प्राप्ति होती है, यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे वचनों से ज्ञात होता है कि वह लोभी था। लोभ के विना सम्प्रदाय की वृद्धि नहीं होती, और वृद्धि न हो तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति नहीं होती और धन प्राप्ति न होवे तो इष्ट विषयसुख न मिले। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी ॥ २०४ ॥

"जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्ताव करेंगे, उनको अवश्य धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति होगी" ॥ २०६ ॥

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा, उसको धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा, किन्तु अधर्म-अनर्थ कुकाम (दुष्ट इच्छा) बन्ध नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे ॥ २०६ ॥

"शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करेंगे वे अपने सम्प्रदाय से बाहर हैं। इस प्रकार मेरे सम्प्रदायिक स्त्री-पुरुषों को समझना चाहिये" ॥ २०७ ॥

पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्नों का धारण कोई

कर्त्तव्यम्, इतीत्थं ये वर्त्तन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव। वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं सत्यं पक्षपातरहितं न्यायं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान् पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्, दूषितान्, सहजानन्दादिरचितान्, वेदपठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान् ये स्वीचक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च, तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान् सत्यधर्मबहिर्भूताञ्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम् ॥ २०७ ॥

कभी न करे। जो पुरुष वेदोक्त धर्म के अनुसार आचरण करेंगे वे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करेंगे। वेदादि सत्यशास्त्रोक्त सनातन, सत्य, पक्षपात रहित न्याय धर्म का त्याग करके सहजानन्द आदि के बनाये वेदपठन मार्ग के विरोधी शिक्षापत्री आदि भ्रष्ट और वेद-युक्ति विरुद्ध ग्रन्थों को जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया है, करते हैं और करेंगे, श्रेष्ठ पुरुष उन सब को सद्धर्मरहित और नास्तिक नाम देवें ॥ २०७ ॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं
पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः।
कर्त्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु
श्रवणं कार्य्यमादरात् ॥ २०८ ॥

"मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का प्रतिदिन पाठ करें; और जो विद्याहीन होवें प्रीति से उसका श्रवण करें" ॥ २०८ ॥

वक्त्रभावे तु पूजैव
कार्यास्याः प्रतिवासरम्।
मद्रूपमिति मद्वाणी
मान्येयं परमादरात् ॥ २०९ ॥

"और जो श्रवण करना भी न बने तो इस शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से प्रतिदिन पूजा करें, और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें" ॥ २०९ ॥

युक्ताय सम्पदा दैव्या
दातव्येयं तु पत्रिका।
आसुर्या सम्पदाढ्याय
पुंसे देया न कर्हिचित् ॥ २१० ॥

"इसी पत्री को दैवी मार्गी पुरुष को देवें किन्तु किसी आसुरी प्रवृत्ति वाले को कभी न दें" ॥ २१० ॥

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थ एवेति वेदितव्यम् ॥ २०८ ॥

वेद का पढ़ना सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुए शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है ॥

ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव। वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित्। पुनः परमादरान्मान्या तु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति। एतत्कथनं सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान् भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकं तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः॥ २०९ ॥

इस जड़, व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में अयोग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें, ऐसा जो सहजानन्द ने कहा, सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल अभिप्राय अज्ञानी और बालकों को

भ्रमाकर उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है ॥ २०९ ॥

यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्स त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहिष्यति, तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात् यस्त्वविद्याद्यसुरस्य सम्पद्युक्तः स एतां स्वीकरोति । तस्मिन् सम्प्रदायशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकार यविद्यमानत्वात् । सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोऽयं सम्प्रदाहः । इदानीन्तनास्सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥२१०॥

जो दैवी मार्गी होगा, वह तो शिक्षापत्री को हाथ में भी नहीं पकडेगा । जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय का है, वह स्वीकार करता है । उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये । क्योंकि सम्प्रदाय ग्रन्धकाररूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाये उसका नाम 'सम्प्रदाह' पड़ता है । वर्त्तमान में जितने वेदविरुद्ध सम्प्रदाय हैं, उन सबको सम्प्रदाह नाम देना चाहिए ॥ २१० ॥

मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः परमसुखञ्च ददातीति मिथ्याप्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या ?

मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है, और परम सुख देता है, इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है, वह सत्य है कि मिथ्या ?

मिथ्यैवेति निश्चयः । कथं ? यो मृतः स आगन्तुं पूर्वदेहकार्यं कर्तुं च नैव समर्थो भवति । यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्था. पुष्कला स्वाधीनाः कृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेत् । भोगार्थञ्च न चैवागच्छति, किमतो विज्ञायते, छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति । नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति ॥

यह निश्चय से मिथ्या है, क्योंकि जो पुरुष मर गया, वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर नहीं सकता । जो कभी वैसा करने मे समर्थ होवे तो सम्प्रदाय वालों ने छल कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है, उसको भोगने के लिए भी अवश्य आना चाहिए । अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे २ कथन करते हैं ।

स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि रचयित्वाग्नौ प्रतप्य बाहुमूले च सजीवान् देहान् दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्था, अहो । महत्पापमिति वेद्यम् । केचित्तु वकवृत्तिवत् साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शञ्च । तदाचार्य्यो गृहस्थोऽस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवो हारयन्ति, द्वौ

अपने शिष्यो के हाथ पर तप्त लोह खण्ड से दाह करके चक्र आदि चिह्न करने मे सहजानन्द सम्प्रदाय वालो को अत्यन्त पाप लगेगा ऐसा जानना चाहिए। कुछ जो बगुला भगत है वे स्त्री दर्शन और धातुस्पर्श नही करते । उनका आचार्य गृहस्थ है वह लोभ के हेतु मन्दिर बान्ध कपट एवं मिथ्या व्यवहारों से धनादि द्रव्यों को छीन लेते हैं। दो-दो

विवाहावप्येकः कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन् सम्प्रदाये वर्त्तते तस्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम् ।

इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्धयोहनीयमिति ।

सर्वात्मा सच्चिदानन्दः,
अजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान् ।।
भूयात्तमां सहायो नो
न्यायकारी शुचिः प्रभुः ।। १ ।।
भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे
सहस्यस्याऽसितेवले ।
एकादश्यामर्कवारे
ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागमत् ।। २ ।।

विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों उस सम्प्रदाय मे कल्याण की आशा किसी को नहीं करनी चाहिये । ऐसा सज्जन पुरुषों को जानना चाहिये ।

यह सहजानन्द सम्प्रदाय के दोषों का दिग्दर्शन मात्र वर्णन किया और दोषों का ज्ञान बुद्धिमानों को स्वयं अपनी बुद्धि से करना चाहिये ।

वेदभाष्य के नमूने का अंक

॥ वेदभाष्यम् ॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितम् ।
॥ संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितम् ॥

अस्यैकैकांकस्य प्रतिमासं मूल्यम् भारतवर्षान्तर्गतदेशान्तर-
प्रापणमूल्येन सहितं ।=) एतद् द्वादशमासानां
मिलित्वा वार्षिकं ४।।) एतावद् भवति ।।

इस ग्रन्थ के प्रतिमास एक-एक नम्बर का मूल्य भारतखण्ड के
भीतर डाक महसूल सहित ।=) और वार्षिक ४।।)

अस्य ग्रन्थस्य ग्रहणेच्छा यस्य भवेत् स काश्यां लाजरसकंपन्याख्यस्य
वा दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः समीपस्य वार्षिकं मूल्यं
प्रेषयेत् स प्रतिमासमेकं प्राप्स्यति ।।

-:o:—

इदं भाष्यं काश्यां लाजरसकंपन्याख्यस्य
यन्त्रालये मुद्रितम् ।।

संवत् १९३३

॥ ओ३म् ॥

॥ ऋग्वेदः ॥

अष्टक १ । अध्याय १ । वर्ग १ ॥

॥ अस्याग्नेयसूक्तस्य—

मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री च्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मू०—ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ २ ॥

पदपाठः—अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् । होतारम् । रत्नऽधातमम् ॥ १ ॥

॥ अथ वेदभाष्यम् ॥

अथात्र प्रथमत ईश्वर एवार्थोऽग्निशब्देन गृह्यते ॥ अत्र प्रमाणानि—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋग्वेद अष्टक २ । अध्याय ३ । वर्ग २२ । मन्त्र ४६ ॥ अस्यायमर्थः—एकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम् ॥ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्स प्रजापतिः ॥ यजुर्वेद अध्याय ३२ । मन्त्र १ ॥ यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमत्र बोध्यम् ॥ अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ॥ ऋ० अ० १ । अ० १ । व० १ । मन्त्र ५ ॥ कविः सर्वज्ञः, सत्यः सर्वदाविनाशरहितः, अत्यन्ताश्चर्य्यश्रवणश्चेत्यादिविशेषणयुक्तो मुख्यतया परमेश्वरो भवितुमर्हति नान्यः ॥ ब्रह्म ह्यग्निः ॥ शतपथ कांड १ । अध्याय ५ ॥ आत्मा वा अग्निः ॥ श० कां० ७ । अ० २ ॥ अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ॥ श० कां० ९ । अ० १ ॥ संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः ॥ श० कां० ६ । अ० ६ ॥ अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः ॥ श० कां० १ । अ० १ ॥ अग्निर्ब्रह्मात्मनोरत्र वाचकोस्ति । प्रमाशब्देन भौतिकोग्निः प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरो ग्राह्यः, देवानां विदुषां व्रतं, एतद्ध वै देवा व्रतं चरंति यत्सत्यं ॥ श० कां० १ । अ० १ ॥ सत्याचारनियमपालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः ॥ एष वै देवा ननु विद्वान्यदग्निः ॥ श० कां० १ । अ० ५ ॥ तेषूभ-

येषु मर्त्येष्वग्निरेवाऽमृत आस ॥ श० कां० २ । अ० २ ॥ विद्यासंभव ईश्वरेऽस्ति नैव च भौतिके तथामृतत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति ॥ प्राणोग्निः परमात्मेति ॥ मैत्र्युपनिषदि प्रपाठक ६ । खण्ड ६ ॥ एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः । प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निरिवाग्निनापि हितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेन एष वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वेत्यादि ॥ मैत्र्युपनिषदि प्र० ६ । ख० ८ ॥ प्राणाग्न्यात्मेशानादीनीश्वरस्य नामान्यत्र सन्तीति बोध्यम् ॥

अग्निर्वै सर्वा देवता इत्याद्यैतरेयब्राह्मणे पंचिका १ । अध्याय १ ॥ यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्य. । आत्मैव देवताः सर्वाः । सर्वमात्मन्यवस्थितमिति मनुनोक्तत्वात् १२ अध्याये ॥

अग्नि कस्मादग्रणीर्भवत्यग्र यज्ञेषु प्रणीयतेऽगं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति, त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीःपरस्तस्यैषा भवतीति ॥ निरुक्ते अध्याय ७ । खण्ड १४ ॥ अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनादीश्वरस्यात्र ग्रहणम् । दग्धादिति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च । अग्निः सर्वा देवता इति निर्वचनाय, इन्द्रं मित्रं वरु०, एकं सद्विप्रा ब०, इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यञ्च गरुत्मन्तं, दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वायस्तु सूक्त भजते यस्मै हविर्निरूप्यते यमेव सोग्निर्निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते । नि० अ० ७ । ख० १८ ॥ अनेनोभयोर्ज्ञानप्रकाशवतोर्ज्योतिषोरीश्वरभौतिकाग्न्योर्ग्रहणमित्युभयार्थग्रहणस्येदं प्रमाणम् ।

अग्निः पवित्रमुच्यते अग्निः पवित्रं स मां पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते माम्पुनन्त्वित्यपि निगमो भवति । नि० अ० ५ । ख० ६ ॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १ ॥ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २ ॥ इति मनुस्मृतिः, अ० १२ । श्लोक १२२-१२३ ॥ पवित्रः पवित्रकर्त्ता परमात्मास्तीत्यतः पवित्रशब्देन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम् ॥ तथा परः पुरुषोऽग्न्यादीनि च परमेश्वरस्यैवात्र नामानि सन्तीति बोध्यम् ॥ इत्यादिभिः प्रमाणैरग्निशब्देन परमात्मनोत्र ग्रहणमिति सिद्धम् ।

(अग्निमीले) सर्वज्ञस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तः परमेश्वरोग्निः पितृवत् पुत्रान् प्रत्युपदिशति स्म । हे जीव मनुष्यदेहधारिन् ! अहं अग्निं परमात्मानं ईले स्तौमीति वदेति पूर्वान्वयः । ततो जीवोऽभिवदति सर्वज्ञं शुद्धं सनातनमजमनाद्यनन्तं सर्वव्यापकं जगदादिकारणं स्वप्रकाशं परमेश्वरमग्निमहमीले स्तौमि । तस्मादन्यमीश्वरत्वेन लेशमात्रमपि नाश्रयं, कस्मै प्रयोजनाय ? धर्मार्थकाममोक्षसिद्धय इति निश्चयः ।

अञ्चु गतिपूजनयोः । णीञ् प्रापणे । अगि गत्यर्थः । इण् गतौ, इत्यादि धातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यति ॥ अञ्चति, अच्यते, जानाति, ज्ञायते, गच्छति, गम्यते, प्राप्नोति,

प्राप्यते, सत्करोति, पूजयति, सत्क्रियते, पूज्यते, नयति, प्राप्नोति, नीयते, प्राप्यते, धर्मात्मा जनो विद्वान् तथा विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षुभिश्चेत्यादिव्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वरग्रहणे सुष्ठूक्तिर्गम्यते ॥

कथंभूतः सोग्निः **(पुरोहितः)** सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरारंभात् पूर्वमेव सकलपादार्थोत्पादनेन विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति स पुरोहितः परमात्माग्निः । डुधाञ् धारणपोषणयोः । अस्मात्पुरः पूर्वात् क्तप्रत्ययांतात्पुरोहितशब्दः सिध्यति, अतएव सर्वाधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः ॥ अत्राह निरुक्तकारः । पुरोहितः पुर एनं दधाति होत्राय वृतः कृपायमाणोन्वध्यायद्देवश्रुत देवा एनं श्रृण्वंति वृष्टिवर्नि वृष्टियाचिनं रराण रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् सोस्मै वाचमयच्छद् बृहदुपव्याख्यातमिति ॥ नि० अ० २ । खं० १२ ॥

(यज्ञस्य देवम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । अस्माद्धातोर्नङ्प्रत्ययांताद्यज्ञशब्दो साध्यते । अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य क्रियासमूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य । यद्वा परमेश्वरस्य सामर्थ्यात्सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरुत्पन्नासीत्तत् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्त-कार्यकारणसंगत्योत्पन्नस्यास्य जगतो यज्ञस्य । अथवा सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य विद्यादि-विज्ञानयोगादेर्यज्ञस्य, यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा ॥ निरुक्त अ० ३ । खं० १९ ॥

देवं दातारं सुखानां द्योतकं सर्वस्य जगतः प्रकाशकं सर्वैर्विद्वद्भिः कमनीयम् । स्व-भक्तानां मोदकं हर्षकरम् । शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम् । विजेतु-मिच्छन्तं देवम् । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । अस्माद्धा-तोरच्प्रत्यये कृते देवशब्दः सिध्यति ॥

(ऋत्विजम्) कृल्ल्युटो बहुलमिति वार्त्तिकम् । कृत्यल्युटो बहुलमित्यस्य भाष्येस्त्यतः कर्म्मण्यपि क्विन् । सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हं यथाकालं जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधक-मृत्विजम् ऋतूपपदात् क्विन् प्रत्ययान्ताद्यजधातोरयं प्रयोगः ॥

(होतारम्) सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम् । मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनाना-मादातारं ग्रहीतारम् । वर्त्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् ॥ हु दानादनयोः । आदाने चेत्येके । अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते । अदनं भक्षणं न किंतु चराचरस्य जगतो ग्रहणं तत्कर्त्ता परमेश्वरोऽत्तेत्युच्यते ॥ अत्र प्रमाणम् । अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम् । अ० १ । पा० २ । सू० ९ ॥

(रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनैं रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरक-सुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमस्तं रत्नधातमम् । रत्नोपपदात् क्विबन्ताद् डुधाञ् धातोस्तमबन्तः प्रयोगः ॥

इमं मंत्रं यास्को निरुक्तकार एवं समाचष्टे । अग्निमीलेग्निं याचामीलिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो

भवतीति वा यो देवः सा देवता, होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां दातृतमम् तस्यैषापराभवतीति ॥ नि० अ० ७ । खं० १५ ॥

अथास्य मंत्रस्यान्वयो लिख्यते ॥ पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमं परमात्मानमग्निमहमीले स्तौमि याचामि तस्यैवाप्यन्वेषणं कुर्व इत्यन्वयः ॥

॥ अथ संस्कृतभाष्यस्य प्राकृतभाषयार्थो लिख्यते ॥

(**अग्निमीले**) इस मंत्र का ईश्वराभिप्राय से जो अर्थ है सो प्रथम किया जाता है ॥ इस मंत्र में अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है। इस के ग्रहण में "इन्द्रं मित्रं वरुण" इत्यादि यथालिखित प्रमाण का आधार है। सब जगत् को उत्पन्न करके, संसारस्थ पदार्थों का और परमात्मा का जिससे यथार्थ ज्ञान होता है, उस सनातन अपनी विद्या का सब जीवों के लिये आदि सृष्टि में परमात्मा ने उपदेश किया है। जैसे अपने सन्तानों को पिता उपदेश करता है, वैसे ही परम कृपालु पिता जो परमेश्वर है उसने हम सब जीवों के हित के लिए सुगमता से वेदों का उपदेश किया है। जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सब पदार्थों का विज्ञान और उनसे यथावत् उपकार लेवें, इसलिये अत्यन्त हित से हम लोगों को उपदेश किया है। सो हम लोग भी अत्यन्त प्रेम से इसको स्वीकार करें। अब जैसा उपदेश परमात्मा को करना है सो सब जीवों की ओर से परमेश्वर करता है कि जीव लोग जब इस वेद को पढ़ें, पढ़ावें और पाठ करें और विचारेंगे तब यथावत् कर्त्ता, क्रिया और कर्म का संबन्ध हो जायगा। जो सब का जाननेवाला, शुद्ध, सब विकारों से रहित, सनातन, जो सब काल में एकरस बना रहता है, जो अज है, जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अनादि है, जिसका आदिकारण कोई नहीं, जो अनन्त है जिसका अन्त कोई नहीं ले सकता, जगत् में जो परिपूर्ण हो रहा है, सब जगत् का आदिकारण और जो स्वप्रकाशस्वरूप है, ऐसा जो परमेश्वर जिसका नाम अग्नि है उसकी मैं स्तुति करता हूँ। इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है, और उसको छोड़ के दूसरे का लेशमात्र भी आश्रय मैं कभी नहीं करता। किस प्रयोजन के लिये ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी सिद्ध के लिये।

अंचु गतिपूजनयोः इत्यादि धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। अञ्चतीत्यादि० जो सब को जानता है, जो सब वेदादिक शास्त्रों से जाना जाता है, जो सब में गत नाम प्राप्त हो रहा है, जो सर्वत्र प्राप्त होता है, जो सब धर्मात्माओं का सत्कार करता है, जिसका सत्कार सब विद्वान् लोग करते हैं, जो सब सुख को प्राप्त करता है और सब सुखों के अर्थ प्राप्त किया जाता है, इस प्रकार व्याकरण निरुक्त आदि के प्रमाणों से अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कोई भी विवाद नहीं है।

पूर्वोक्त अग्नि कैसा है कि (पुरोहितः) सब देहधारियों की उत्पत्ति से प्रथम ही सब जगत् और स्वभक्त धर्मात्माओं के लिये सब पदार्थों की उत्पत्ति जिसने की है और विज्ञानादि दान से जो जीवादि सब संसार का धारण और पोषण करता है इससे परमात्मा का नाम पुरोहित है। पुरःपूर्वक क्त प्रत्ययान्त डुधाञ् धातु से पुरोहित शब्द सिद्ध हुआ है। इसी से सब का धारण और पोषण करने वाला एक परमात्मा ही है। अन्य कोई भी नहीं। इस पुरोहित शब्द में पुर एनं० इत्यादि निरुक्त का भी प्रमाण है।

(यज्ञस्य देवम्) यज धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, जो वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है उसका नाम यज्ञ है। अथवा परमेश्वर के सामर्थ्य से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की जो एक अवस्थारूप कार्य उत्पन्न हुआ है जिसका प्रकृति अव्यक्त और अव्याकृतादि नामों से वेदादि शास्त्रों में कथन किया है, उससे लेके पृथिवी पर्यन्त कार्यकारण संगति से उत्पन्न हुआ जो जगत्रूप यज्ञ है अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्पुरुषों के सग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है, उसका भी नाम यज्ञ है। इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो देव है, जो सब सुखों का देने वाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला, जो सब भक्तों को आनन्द कराने वाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करने वाला है, इसमें ईश्वर का नाम देव है।

(ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है। जो सब जगत् का रचने वाला और ज्ञानादि यज्ञ की सिद्धि को करने वाला है, इसमें ईश्वर का नाम ऋत्विज् है। ऋतु शब्दपूर्वक क्विन् प्रत्ययान्त यज धातु से ऋत्विज् शब्द सिद्ध होता है॥

(होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों को देनेवाला है। जो मोक्ष समय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण करने वाला है। तथा जो वर्त्तमान और प्रलय में सब जगत् का ग्रहण और धारण करनेवाला है, इसमें परमात्मा का होता नाम है। हु दानादनयोः आदाने चेत्येके। इस धातु से तृच् प्रत्यय करने से होता शब्द सिद्ध हुआ है।

(रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवीपर्यन्त रत्न यथा विज्ञान हीरादि जो रत्न और सुवर्णादि जो रत्न हैं, जिनके यथावत् उपयोग करने में आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों को दान के लिये जो धारण करता है, वह रत्नधा कहाता है और जो अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करने वाला है, इससे परमेश्वर का नाम रत्नधातम है। रत्नशब्दपूर्वक क्विप् प्रत्ययांत डुधाञ् धातु से तमप् प्रत्यय करने से यह शब्द सिद्ध हुआ है।

इस मंत्र की निरुक्तकार यास्कमुनि ने जिस प्रकार की व्याख्या की है सो संस्कृत में लिखी है उसको वहीं देख लेना॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्निमीळे) अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्निर्गृह्यते। रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निमहमीडे। तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे। कीदृशगुणोग्निस्तीत्याह। कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति। विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति। अतएव सर्वैर्विद्वद्भिः शिल्पिभिरग्नेः स्वभावगुणा यथावदध्यन्वेषणीयाः॥ पुरा ह्यार्यैराश्वविद्या शीघ्रगमनहेतुः सम्यक् संपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत्॥ अत्र प्रमाणानि—

तनो देवा एतं वज्रं ददृशुः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयँस्तस्याभयेनाष्ट्रेनिवातेग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति

तस्याभयेनाष्ट्रेनिवातेऽग्निर्जायत इति ॥ श० कां० २ । अ० १ ॥ **वृषो अग्निरिति** ॥ श० कां० १ । अ० ४ ॥ **अग्निर्वा अश्वः** ॥ श० कां० ३ । अ० ६ ॥ **अश्वो ह वा एष भूत्वा** देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥ श० कां० १ । अ० ४ ॥ **तूर्णिर्हव्यवाडिति** ॥ श० कां० १ । अ० ४ ॥ **अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्येति** ॥ श० कां० १ । अ० ६ ॥

इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोग्निरेवात्र गृह्यते । आशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः । अयमेवाग्निर्वज्रः सर्वपदार्थोच्छेदकत्वात्स्वयमच्छेद्यत्वाच्चाश्ववद्विमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति विज्ञायते । वृषवद्यानानां वोढाग्निरिति च । तथाश्ववदपि । एषोऽग्निरश्वो भूत्वा देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यः शिल्पविद्यासंगतं विमानादियानाख्यं यज्ञमेषोऽग्निरेव वहति प्रापयतीति शेषः । अतएव तूर्णिः शीघ्रगमनहेतुः । हव्यवाड् दातुं ग्रहीतुं योग्यं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वहति प्रापयतीत्यर्थः । इत्थं शिल्पविद्यासमूहभूतस्य यज्ञस्याग्निरेव योनिः कारणं बीजं निदानमिति शेषः ॥

(**पुरोहितम्**) अतएव सोग्निः पुरोहितः पुरस्तात् विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितः ॥ (यज्ञस्य देवं) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य, देवः व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम् ॥ (ऋत्विजम्) सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनमर्हम् ॥ (होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च । अतएव (रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम् । तद्विद्याऽऽधारकं वा ॥ अस्यान्वयस्तु पूर्ववद्वेदितव्यः ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायतेति ॥ शुक्ल य० अ० ३१ । मं० १२ ॥ तथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निरिति० तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक १ ॥ इत्यादिभिः । प्रमाणैर्भौतिकोग्निरेवात्र ग्राह्यः । कुतः । उत्पत्तिस्थितिप्रलयवतां पदार्थानां संसारान्तर्गतभावात् । परमेश्वरस्त्वेतेभ्यो विलक्षण एवास्ति । भौतिकाग्न्यादीनि जन्मादिधर्मवन्ति सन्ति कार्यत्वात् । परमेश्वरस्य जन्मादयो धर्मा न विद्यन्ते सर्वस्यादिकारणत्वात् । इति द्वितीयोर्थः ॥

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते । गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात् । तेषां ये दोषाः सन्ति तेऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते । रावणोवटसायणमाधवमहीधराणां दोषवद्व्याख्यखण्डनविषये यत्र यत्र समानं भाष्यं तत्र तत्रैकस्य खण्डनेनेतरेषामपि भाष्यस्य खण्डनं वेद्यम् । यत्र यत्र च विशेषस्तत्र तत्र पृथक् पृथक् खण्डनं विधास्यामि । तेनैवार्येङ्गलण्डभाषादिनिर्मितस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम् । सायणाचार्यादिभिरग्निशब्देनात्र भौतिकोऽग्निर्गृहीतः । तद्यथा । तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति । यद्वा यज्ञस्य सबंधिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम् । यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः । इत्युक्तत्वात् । इदमसमञ्जसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात् । इन्द्रादिरूपधारणमपीश्वरो नैव करोति । स पर्यगाच्छुक्रमकायम् । अज एकपात् इति मंत्रार्थविरोधात् । इन्द्रं मित्रमित्यादि प्रमाणैः सिद्धस्य परमेश्वरार्थस्य त्यागः शिष्टसम्मतो नास्ति । भौतिका-

न्यर्थस्य विषयस्याप्यल्पोनत्वात् । तस्मादयमर्थोपि निर्दोषो नास्ति । इन्द्रादीनि परमेश्वरस्य सूर्यादीना च नामानि सन्ति । तान्यैतरेयशतपथादिब्राह्मणनिरुक्तव्याकरणादिषु व्याख्यातानि तथा वेदेष्वपि तेषा मध्यादस्मिन् मंत्रभाष्येपि कानिचिदिन्द्रादीनि नामानि प्रकाशितानि । अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मंत्रार्थस्य विषय आगमिष्यति तत्र तत्र खण्डनं मयोदाहरिष्यते । सायणाचार्येण तथा प्रतिपादनं नैव कृतमतस्तद्भाष्यं दोषवदस्तीति बोध्यम् । एतत्खण्डनाभ्यन्तरे डाक्तरविलसनाख्यवेदार्थयत्नादीनामपि खण्डनमागतमिति विज्ञेयम् ।

कश्चिद् ब्रूयात् । सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितम् । कथं दोषवदिति ।। अत्रोच्यते । निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि । परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव । तद्यथा । अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीत्यादि । अग्रणी सर्वोत्तम । अग्रं सर्वोत्तमं । नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति नान्यस्य । कुत । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय. । इति व्याकरणन्यायेन परमेश्वरादग्रणीर्मुख्यः कश्चिदपि नास्तीत्यतो विरोध एव तद्भाष्येऽस्ति । अन्येपि बहवो दोषास्तत्र सन्ति ग्रथभूयस्त्वभयान्नोल्लिख्यन्ते । एतावतैवेदृशानि पूर्वजकृतानि भाष्याण्यासन् । यानि भवन्ति भविष्यन्ति च तेषा खण्डन तावतैव बोध्यम् । अग्रेऽग्रे यद्यदत्यन्तविरुद्ध भाष्यमस्ति तत्तदेवखण्डयिष्यामि नान्यदिति च ।। १ ।।

।। भाषार्थ ।।

(अग्निमीले) अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्राय से प्रमाण के सहित किया जाता है । इस अर्थ में अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि जो यह जलाने और ऊपर चलनेवाला है तथा सब पदार्थों का अलग-अलग करने और बल देनेवाला तथा जिसका रूपगुण है और मूर्तिमान् द्रव्यो का जो प्रकाशक है, ज्वालारूप उसका ग्रहण किया जाता है । मै उस अग्नि की स्तुति करता हूं । उसके गुणो का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हू । अग्नि में कौन गुण हैं और किस-किस विद्या की सिद्धि होती है ? जो-जो कलाकौशल सवारी चालनादि पदार्थविद्याओं की सिद्धि करने के उत्तम गुण हैं सो-सो अग्नि से ही प्राप्त होते हैं । इससे अग्नि ही शिल्पविद्या का मुख्य कारण है । क्योकि विना अग्नि से कोई भी उत्तम गुणवाली पदार्थविद्या सिद्ध नहीं हो सकती । इसी से जो विद्वान् लोग पदार्थविद्या में हो गये, होते हैं और होगे, उन सबों ने पदार्थविद्या में अग्नि को ही मुख्य साधन माना है, मानते है और मानेंगे । इस समय में भी जो पदार्थविद्याओं को किया चाहे सो भी अग्नि के गुणो का खोज करे ।

पहिले आर्य्यों ने अश्वविद्या नाम से जो विमानादि शिल्पविद्या सिद्ध की थी वह अग्निविद्या ही थी । अश्वविद्या जो अग्न्यादि पदार्थों से रसायनविद्या होती है सो शिल्पविद्या ही है । इसमे अनेक प्रमाण है । "ततो देवा एत वज्रं ददृशुः यदश्वमित्यादि" शतपथादि ग्रन्थो का यथालिखित प्रमाण देख लेना । उनमे अश्व जो अग्नि है उसी का ग्रहण किया है । इस प्रकार के अनेक प्रमाणो से अश्वादिक नामो से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है । आशु नाम शीघ्र चलाने का जो हेतु है इससे अग्नि को ही अश्व जानना । शिल्पविद्यारूप यज्ञ का अग्नि ही देव है । इसी अग्नि का वज्र नाम है क्योकि

सब पदार्थों का अलग-अलग करने और प्रकाशनेवाला अग्नि ही है और वह किसी से छेदन में नहीं आता, इससे अग्नि का नाम वज्र है।

वृषः । वृषवत् बैल की नाईं सवारियों को चलाने वाला अग्नि ही है। तथा घोड़े की नाईं भी सवारियों को दौड़ानेवाला अग्नि ही है। तथा तूर्णिः । अग्नि को ही अत्यन्त वेगवाला सवारियों के चलाने में जानना। तथा हव्यवाट् । शिल्पविद्यारूप यज्ञ की प्राप्ति कराने वाला भी अग्नि ही है ॥

(पुरोहितं) इसीसे इस अग्नि को पुरोहित जानना। विमान, कला, कौशल, क्रिया चालनादि गुणों का धारण करनेवाला है। और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम पुरोहित है। (यज्ञस्य देवं) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है सो देव है। (ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है। (होतारम्) जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है। (रत्नधातमम्) जो उस शिल्पविद्या के जानने वाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है। उसी को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें।

चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद तथा तैत्तिरीयोपनिषदादि प्रमाणों से व्यवहारविद्या में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति और वर्त्तमान हो के पुनः प्रलय हो उन सब पदार्थों को संसार में ही जानना चाहिये, इससे भौतिक को अग्नि हो इस अर्थ में जानना। परमेश्वर तो इन जन्मादि धर्मवाले पदार्थों से सदा अलग ही है और सब का आदिकारण है।

पूर्व जो सायणाचार्य आदि वेदभाष्य के करनेवाले हैं और जो उनके भाष्य में दोष हैं उनका खण्डन संक्षेप से दिखाया जाता है। जो रावण, उवट, सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करनेवाले हैं इनमें से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना। और जहाँ-जहाँ उनमें बड़ा दोष है उस-उस का अलग-अलग खण्डन किया जायगा। वैसे ही आर्यभाषा किंवा अन्य भाषा तथा दक्षिणभाषा अंग्रेजी भाषा में किये व्याख्यान का भी खण्डन जानना। उनका दोष संक्षेप से लिखते हैं।

इस मंत्र के अर्थ में सायणाचार्य आदि ने भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है; जिसमें होम करते हैं। इस अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण नहीं किया है। इसका खण्डन संस्कृत में लिखा है वहां समझ लेना। अन्यथा भाष्य बनाने वाले जितने पहले हो गये, इस समय जितने हैं वा आगे जितने होंगे, इन सब का भाष्य खण्डन के योग्य अवश्य है। क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि विद्या विचार बल और पराक्रमादि अधिक न्यून होते ही रहते हैं। इससे विना विचार किये ग्रन्थ का प्रमाण सर्वदा नहीं रहता इसमें कुछ आश्चर्य नहीं ॥१॥

॥ अथ द्वितीयामृचमाह ॥

मू०—अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त । स दे॒वाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

पदपाठ—अ॒ग्निः । पूर्वे॑भिः । ऋषि॑भिः ईड्यः॑ नूत॑नैः । उ॒त । सः । दे॒वान् । आ । इ॒ह । व॒क्ष॒ति ॥ २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निः) अयमग्निः परमेश्वरः । (पूर्वेभिः) पूर्वैस्तथा । (नूतनैरुत) नवीनैरपि (ऋषिभिरीड्यः) मंत्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिस्तर्कैः प्राणैश्च सदैवेड्यः स्तुत्यो वन्द्योऽन्वेषणीयः पूज्यश्चास्ति । स जगदीश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण (देवान्) देवान् दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यर्त्तून् दिव्यभोगांश्च । (एह वक्षति) इहास्मिन् संसारे जन्मन्यात्मनि च । आवक्षति । आवहतु । आसमन्तात्प्रापयतु न इति शेषः ॥ अत्र प्रमाणानि ।

प्राणा वा—ऋषयो दैव्यासः ॥ ऐत० पं० २ । अ० ४ ॥ प्राणा ऋषयः । ऋतवो वै देवाः ॥ श० का० ७ । अ० २ ॥ अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ १ ॥ अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति । स न मन्येतायमेवाऽग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ॥ नि० अ० ७ । खं० १६ ॥ पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मंत्रार्थचिताभ्यूहमभ्यूढम् इति ॥ नि० अ० १३ । खं० १२ ॥

अयमर्थः । पूर्वेभिर्जगत्कारणस्थैर्नूतनैः कार्यशरीरस्थैर्ऋषिभिः प्राणैः सह मनुष्यैरीड्य इत्यर्थः । (अग्निर्य०) योऽग्निः परमेश्वरो भौतिको वास्ति सोऽत्र ग्राह्यः । कुतः ? स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नीउच्येते इत्युक्तत्वात् । परमेश्वरो विद्युदादिदिव्यश्चैतावग्नी उत्तरे ज्योतिषी अत्र ग्रहीतुं योग्ये स्तः । एवमेव तर्क्कैर्वेदशास्त्रादिस्थैः पूर्वेभिरस्मदादिभिरिदानीन्तनैर्नवतरैश्चैवेश्वरः स्तुत्या वन्दनेन वेद्योऽस्ति नान्यथा । 'अविज्ञाततत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क' इति गोतमाचार्येण न्यायशास्त्रे प्रतिपादितत्वात् मनुष्याणां तर्कैर्विना यथार्थज्ञानं नैव कदाचिद्भवत्यत उक्तमृषिभिस्तर्कैरिति ॥ तथेश्वरस्य त्रिकालज्ञत्वात् । नवीनापेक्षया प्राचीनैः प्राचीनापेक्षया नवीनैश्च विद्वद्भिरीड्य इत्युक्ते सति न दोषो भवति वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात् । प्रथममंत्रभाष्ये निरुक्तव्याकरणादिरीत्या देवशब्दार्थ उक्तः सोऽत्र द्रष्टव्यः ।

एतन्मंत्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः । तद्यथा—पुरातनैर्भृग्वंगिरःप्रभृतिभिः । नूतनैरिदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः । देवान् हविर्भुज आवक्षतीत्यन्यथेदं व्याख्यानमस्ति, तद्वद्यूरोपखण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिंगलेंडभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्यानमप्यसमञ्जसम् । कुतः ? ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं व्याख्यानं क्षुद्राशयं गम्यते, तथा निरुक्तशतपथादिग्रन्थाशयविरुद्धं चातः ॥ २ ॥

।। भाषार्थ ।।

(अग्निः) अग्नि जो परमेश्वर (पूर्वेभिर्ऋ०) प्राचीन और नवीन ऋषि जो प्राण, मंत्रार्थ जानने वाले जो विद्वान् और तर्क हैं। अर्थात् स्थूल जगत् का कारण जो ईश्वर की सामर्थ्य प्रकृति और परमाणु रूप है, इनमें जो सूक्ष्म प्राण है उनका नाम प्राचीन है और जो प्राण सदैव निर्विकार बने रहते हैं, जो ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले है उनका 'पूर्वेभिः' इस पद से ग्रहण होता है । और कार्य जो स्थूल जगत् तथा शरीर में जो प्राण हैं तथा पहिले और वर्तमान में जो विद्वान् हैं उन पूर्व हो गए विद्वानों के जो तर्क थे और आत्मा में जो तर्क हैं उनको भी 'पूर्वेभिः' तथा 'नूतनैः' इन पदों से ग्रहण करते हैं। क्योंकि ये सब शरीर के साथ ही उत्पत्ति वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं। इन दोनों प्राणों के साथ अभ्यास करने से इनके बीच ही परमेश्वर प्राप्त होता है। तथा मत्रार्थ जानने वाले प्राचीन और नवीन ऋषियों को भी स्तुति करने के योग्य परमेश्वर ही है। सो जगदीश्वर अपनी कृपा-कटाक्ष से शुद्ध सद्विद्यादि गुण, श्रेष्ठ इन्द्रिय, उत्तम ऋतु और सब प्रकार के जो उत्तम भोग है कि जिन गुणों से परमानन्द मोक्ष प्राप्त होता है। जिन इन्द्रियों से धर्माचरण विद्या और उत्तम सुख होता है। दिव्यऋतु=जिनमें परमार्थ और व्यवहार के दोनों सुख बढ़े। दिव्यभोग जो मोक्ष और व्यवहार में भी होते है। (स देवानेह वक्षति) इस संसार, इस जन्म और हमारे आत्मा में हे परमेश्वर ! कृपा से आप हम लोगों को सब प्रकार से उन सुखों को प्राप्त करो।

प्राण, तर्क और मंत्रार्थ के जानने वाले विद्वानों को ऋषि कहते हैं। सद्विद्यादि जो दिव्यगुण और ऋतु आदि को देव कहते है। इसमें शतपथादि ग्रंथों का लेख संस्कृत में लिखा है सो देख लेना।

इस मंत्र का सायणाचार्य आदि लोगों ने अन्यथा अर्थ वर्णन किया है। इसका खण्डन भी संस्कृत में देख लेना। तद्वत् डाक्टर विलसन साहेब कृत और 'वेदार्थयत्न' में भी इस मंत्र का अर्थ ठीक नहीं किया है। 'वेदार्थयत्न' वाले ने जो यह बात लिखी है कि यह मंत्र लक्ष्य में रखने के योग्य है अर्थात् वेद ईश्वरकृत सनातन नहीं है। उनका ऐसा अभिप्राय देखने में आता है। सो उनकी बुद्धि के अनुसार ही है यह प्रमाणयुक्त नहीं है ।। २ ।।

।। अथ द्वितीयोर्थः ।।

प्राक्तनैर्नवीनैः प्राणैः शिल्पविद्याविद्भिस्तर्क्कैः पूर्वोक्तैर्ऋषिभिरयमेवाग्निरन्वेष्टव्य-गुणोस्ति। कुतः ? सोऽयमग्निरिह पदार्थविद्यायां कलाकौशलस्य विमानादीनां यानानां दिव्यगुणानावक्षति। आवहत्वित्याकांक्ष्येत चेति ।। २ ।।

।। भाषार्थ ।।

(अग्निः) शिल्पविद्या के जानने तथा शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा रखने वाले, उसको पढ़ाने और पढ़नेवाले जो ऋषि अर्थात् कारीगर लोग है वे अग्नि के गुणों के सुनर्कपूर्वक खोज से पदार्थविद्या को सिद्ध करते हैं और करें। क्योंकि पदार्थविद्या में कला-

कौशल विमान आदि सवारियों के परमोत्तम गुणों की प्राप्ति अग्नि से ही होती है । इससे अग्नि के गुणों के खोजने में सब लोग सदा प्रयत्न करें ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयमंत्रस्याह ॥

मू०—अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे । य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

प०—अ॒ग्निना॑ । र॒यिम् । अ॒श्न॒व॒त् । पोष॑म् । ए॒व । दि॒वेऽदि॑वे । य॒शस॑म् । वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निना) विज्ञानानन्दस्वरूपेण दयालुना सद्धर्मानुष्ठानयोगाभ्यासपरमप्रीत्युपासनोपासितेनैवाग्निनेश्वरेण, विद्याधर्मयुक्तः सन् जीवः (रयिं) धर्ममोक्षविद्याचक्रवर्त्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम् । (अश्नवत्) प्राप्नुयात् प्राप्नोति वा नान्यथेति निश्चय. । कथं भूतं तद्धनम् ? आत्ममनःशरीरेंद्रियाणां (दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यम् । (पोषमेव) पुष्टिकरमेव भवति, तथा (यशसं) यशः सत्कीर्त्तिवर्धकं शिष्टाचारादिकीर्त्तिमच्च । तथा (वीरवत्तमम्) प्रतिदिनं बुद्धिबलवीर्यशौर्यधैर्यादिगुणयुक्ताः पुत्रबन्धुमित्रभृत्यादयो वीरा भवन्ति यस्मिन्धने तद्वीरवत्, अतिशयेन वीरवत् इति वीरवत्तमम् ।.

अयमाशयः—परमेश्वरोपासनेन विना स्थिरं नित्यं च सुखं कदाचित्कस्यापि नैव भवतीति । रयिरिति धननामास्ति निघण्टौ ॥

सायणाचार्येण यज्ञहोमसम्बन्धमात्रेणैवेयमृग्व्याख्याता । अत्रेश्वरान्यपदार्थविद्यात्यागात्तद्व्याख्यानं सम्यङ् नास्तीति विज्ञेयम् । तथा वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविलसनाख्यकृतमपि च तादृशमेवास्ति । अस्य स्वल्पविषयत्वात् । मुख्यार्थस्येश्वरस्य त्यागादस्पष्टार्थत्वाच्च विदुषामाह्लादकरमीदृशं व्याख्यानं नैव भवतीति दिक् ॥ ३ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निना) अग्नि जो विज्ञान और आनन्दस्वरूप है और दया करने वाला है, सत्य धर्म का आचरण, योगाभ्यास जो समाधि का करना तथा परमेश्वर मे अत्यन्त प्रीति और विज्ञान से जो दृढ़ विश्वास का यथावत् होना, इस प्रकार की उपासना से जो प्रसन्न होता है, उस अग्नि ईश्वर की कृपादृष्टि से सत्यविद्या और सत्यधर्माचरण से युक्त जो जीव, सो (रयिम्) जो धर्म मोक्षविद्या और चक्रवर्त्ति राज्यादि का होना इस धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है । इससे दूसरे प्रकार से नहीं । वह धन कैसा है ? (पोषमेव दिवेदिवे) आत्मा, मन, शरीर और इन्द्रिय इन को नित्य पुष्टि और आनन्द कराने वाला है, तथा (यशसम्) अर्थात् दिन दिन को प्रति सत्कीर्त्ति का बढ़ाने वाला और जिस धन से शिष्टाचार और सब मनुष्यों का

उपकार हो । तथा (वीरवत्तमम्) बुद्धि, बल, शरीर, पराक्रम शूरता, धीरज आदि गुण- वाले जो हैं वे पुत्र, भाई, मित्र और भृत्यादि वीरपुरुष प्राप्त हों जिस धन से उस धन को वीरवत् कहते हैं। और जो पूर्वोक्त गुणों से अत्यन्त युक्त हो उस धन को वीरवत्तम कहते हैं।

इसका यह अभिप्राय है कि विना परमेश्वर की उपासना से संसार में स्थिर जो सुख और मोक्ष में जो नित्य सुख उस को कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता ॥

सायणाचार्य ने अग्निमीडे आदि मन्त्रों का अग्नि में आहुति डालनामात्र प्रयोजन लिखा है। इस अर्थ में ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थविद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। तथा वेदार्थयत्न में और डाक्टर विलसन साहेब का किया व्याख्यान भी वैसा ही है। तथा सायणाचार्य के व्याख्यान से इन का व्याख्यान बहुत अल्पार्थ है। क्योंकि ये सब व्याख्यान मुख्य अर्थ जो ईश्वर उन के त्याग और निश्चितार्थ नहीं होने से विद्वानों को प्रिय और साधारण को भी यथावत् उपकार नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

भौतिकाग्निनिमित्तेन शिल्पविद्याचिकीर्षुः पुरुषः सुवर्णरत्नादि राज्यादि च पूर्वोक्त- विशेषणयुक्तं रयिं धनमश्नवत् प्राप्नोतु प्राप्तुमिच्छेत् । शिल्पविद्यायामग्नेरेव मुख्यसाधन- त्वात् ॥ ३ ॥

॥ भावार्थ ॥

प्रत्यक्ष जो यह अग्नि इस के विना उत्तर कारीगरी सिद्ध नहीं हो सकती । कारीगरी के विना धन और राज्य के जो उत्तम व्यवहार तथा पदार्थ हैं वे सब मनुष्यों को यथावत् प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि उत्तम कारीगरी के होने में अग्नि मुख्य साधन है। इस अग्नि से विजुली आदि पदार्थों को सिद्ध करके विमानादि विद्या रच लेना चाहिए। इससे पृथिवी जल और आकाशमार्ग में चलने के लिए विमान आदि विद्या रचनी सब मनुष्यों को उचित है ॥ ३ ॥

॥ अथ चतुर्थो मंत्रः ॥

मू०—अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ । स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति ॥ ४ ॥

प०—अग्ने॑ । यम् । य॒ज्ञम् । अ॒ध्व॒रम् । वि॒श्वतः॑ । प॒रि॒ऽभूः । असि॑ । सः । इत् । दे॒वेषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ ॥ ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्ने) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्नग्ने ! त्वं (विश्वतः) सर्वतः । (परभूरसि) व्याप्तः सन् । (यम्) यज्ञम् (अध्वरम्) अहिंसनीयमर्थात्सर्वथा रक्षयितव्यम् जगद्रूपम् । (यज्ञम्)

किं वा अग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं तथा भवत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्यं च, त्वमेव पालितवानसि स एव यज्ञः परिपूर्णः सन्निष्टफलप्रापको भवति । अस्य यज्ञस्यानुष्ठातुर्जनस्य भवानेव रक्षकोऽस्ति । (**सः**) तस्मात् स मनुष्यः । (**देवेषु**) विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु वा प्रवर्त्तमानः सन् । (**इत्**) सुखेनैव । (**गच्छति**) परमानन्दं प्राप्नोति चान्ययेति ॥

(**इत्**) अत्र निश्चयार्थोऽस्ति । अयमपि मंत्रः सायणाचार्यादिभिरन्यथा व्याख्यातः । भौतिकाग्नेर्जडत्वाद्यज्ञरक्षणं न संभवति सर्वव्यापकत्वं चातः ॥ विश्वतः परिभूरसीत्यग्नेरीश्वरस्यैव विशेषणत्वात् । एवमेव डाक्तरविलसनाख्यकृतं वेदार्थयत्नाख्यं च व्याख्यानमस्य मंत्रस्य सम्यङ् नास्तीति गम्यते ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(**अग्ने**) हे परमेश्वर अग्ने ! (विश्वतः परिभूरसि) सब ससार मे परिपूर्ण होके (यं यज्ञमध्वरम) रक्षा करने के योग्य यह जगत्रूप जो यज्ञ, अथवा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो यज्ञ, तथा आप की स्तुति प्रार्थना और उपासना का यथावत् करना जो यज्ञ, इन तीन प्रकार के यज्ञ का रक्षण आप ही कर रहे हो । इस कारण से यज्ञ परिपूर्ण होके सुखरूप फल को सदा करता है । जो मनुष्य इस यज्ञ के अनुष्ठान करने वाला है उसकी भी रक्षा करने वाले आप ही हो । (स इद् देवेषु) सो मनुष्य विद्या मोक्षादि दिव्यगुणों में और श्रेष्ठ विद्वानों के संग करने में प्रवर्त्तमान होके सुखपूर्वक ही आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है अन्य प्रकार मे नहीं ॥

इस मंत्र को भी सायणाचार्य और डाक्तर विलसन साहेब ने तथा वेदार्थयत्नादि में अन्यथा व्याख्यान किया है । क्योंकि जड़ पदार्थ जो रक्षा करने का ज्ञान ही नहीं होता और वह सर्वत्र व्यापक भी नहीं हो सकता । इससे उनका व्याख्यान ठीक नही ॥ ४ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(**अग्ने**) हे परमेश्वर ! भवद्रचितगुणोयमग्निः, शिल्पक्रियामयं (यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभू०ः) सर्वतो व्याप्तवानस्ति, यः परितः सर्वेषां शिल्पविद्यासाधनामुपरि विराजमानः सन् सर्वशिल्पविद्यायाः प्रधानसाधन वर्त्तते तमग्निं त्वं रचितवानसि । एवं तेनाग्निना निमित्तभूतेन यो मनुष्यः शिल्पविद्यां गृह्णाति (स इद्देवेषु) स एव पुरुषो दिव्येषु द्योतमानेषूत्तमेषु भोगेषु स्थिरः सन् परमानन्दं (गच्छति) प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(**अग्ने**) जो कारीगरी क्रिया का मुख्य हेतु है । जिससे विमान आदि यान सिद्ध होते हैं जिनसे मार्ग में शीघ्र गमन कर सके । हे परमात्मन् ! उस अग्नि को अनेक गुणयुक्त आपने ही उत्पन्न किया है । इसी अग्नि के गुणों के ज्ञान से जो मनुष्य पदार्थविद्या को सिद्ध करता है वही दिव्यभोगों में स्थिर होके सदैव अत्यन्त सुखी रहता है ॥ ४ ॥

॥ अथ पंचमी ऋक् ॥

मू०—अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः । दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत् ॥ ५ ॥

प०—अ॒ग्निः । होता॑ । क॒विऽक्र॑तुः । स॒त्यः । चि॒त्रश्र॑वःऽतमः । दे॒वः । दे॒वेभिः॑ । आ ग॒म॒त् ॥ ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निः) पूर्वोक्तविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः । (होता) सर्वोत्तमपदार्थानां दाता पृथिव्यादीनामादाता ग्रहीता यो धारणकर्त्तास्ति । (कविक्रतुः) कविश्चासौ क्रतुश्च स कविक्रतुः । कविः—सर्वज्ञः क्रान्तप्रज्ञः सर्वेषां जीवानां बुद्धेः क्रमिता तदग्रे न कस्यापि बुद्धिः क्रमते सर्वेषां बुद्धेः प्रभुत्वात् । क्रतुः—सर्वजगत्कर्त्ता । (सत्यः) अस्तीति सत् सति साधुः सत्यः सर्वदा विनाशरहितः (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमाश्चर्यं श्रवः श्रवणं यस्य स चित्रश्रवाः । अतिशयेन चित्रश्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः । इत्यत्रार्थे प्रमाणम्—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठोपनि० वल्ली २ ॥ इत्यनेनाश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वरे एव घटते नान्यत्रेति ॥

(देवः) स जगदीश्वरः सर्वजगत्प्रकाशकः । (देवभिरागमत्) दिव्यैः सर्वज्ञपरमानन्दादिभिर्गुणैः सह, अस्माकं हृदयेऽस्मिन्संसारे च प्रकाशमागमत्, आगच्छतु । स्वसामर्थ्येन कृपया च सर्वथा प्रकाशितो भवत्विति प्रार्थ्यतेऽस्माभिः ।

कविसत्यशब्दार्थौ यास्केनाप्येवं व्याख्यातः—कविः क्रांतदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रमित्यादि ॥ नि० अ० १२ खं १३ ॥ कुङ् शब्दे, कु शब्दे, कवते, कौति वा सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रमुपदिशति स कविरीश्वरः । प्रसुवति भद्रं—भद्रैश्वर्योत्पादनदानाभ्याम् ॥

सत्यं कस्मात्सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा इति ॥ नि० अ० १२ । ख० १३ ॥ सत्सु गुणेषु, भोगेषु, पदार्थेषु वा संतानयति पालयति वा सर्वान् जनान् यः । सत्प्रभ०—सता ज्ञानेन योगेन धर्मेण वेदैर्वा प्रभवः प्रकटता यस्य च ॥ अतः स परमेश्वर एव सत्यो भवितुमर्हति नान्यः ।

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्येण तथा तदनुसारिभिरध्यापकविलसनाख्यादिभिश्च न सम्यग्वर्णितः । कुतः ? अस्य मंत्रस्यार्थो होममात्रसंबंधेनैव वर्णितस्तस्मात् । एवमेव प्राकृतभाषाकृतामप्यर्थोऽन्यथैवास्तीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निः) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जो परमेश्वर है। (होता) जो सत्यविद्यादि शुभगुण

और चक्रवर्त्ति राज्य ऐश्वर्य का देने वाला है तथा जो पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला है। (कविक्रतुः) और जो सब का जानने वाला है और सब की बुद्धि का अध्यक्ष है उसको कवि कहते हैं। जिसके सामने सबकी बुद्धि अल्प हो जाती है। क्योंकि वह सबकी बुद्धियों का प्रभु है तथा क्रतुः=जो सब जगत् का करने वाला है। (सत्यः) जिसका नाश कभी नहीं होता। (चित्रश्रवस्तमः) जिसका कथन, श्रवण और स्वरूप अत्यन्त अद्भुत है। (देवो देवेभिरागमत्) उस परमेश्वर की सत्यभाव से हम लोग भक्ति करते हैं वही जगदीश्वर एक अद्वितीय देव है। क्योंकि प्रकाश करने वाले जो सूर्य आदि सब लोक हैं उनका भी प्रकाशक एक वही परमेश्वर है और उसका प्रकाश करने वाला दूसरा कोई नहीं किन्तु वह तो आप ही प्रकाशित है। वह परमेश्वर जो सर्वज्ञ और परमानन्दादि दिव्य उत्तम गुण हैं उनके सह वर्त्तमान हमारे हृदय और इस संसार में कृपा करके प्रकाश को प्राप्त हो। ऐसी प्रार्थना उसकी हम लोग करते हैं जिससे वह अपनी कृपा करके जगत् के बीच में सर्वदा प्रकाशित हो।

श्रवणाया० =जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं परन्तु उनमें से जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं वे ही परमेश्वर को सुन के प्राप्त होते हैं और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुन के भी प्राप्त नहीं होते। क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करने वाले का मिलना कठिन है। तथा ब्रह्म जानने वाले से परमेश्वर को सुन के जाननेवाला भी कठिन है, सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है। क्योंकि इसका जाननेवाला अत्यन्त अद्भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है इस कारण से परमेश्वर को चित्रश्रवस्तम इस मंत्र में विशेषण दिया है।

तथा सत्सु ता० =जो सत्य गुण, सत्य भोग, सत्य पदार्थ और सत्य व्यवहार हैं, इन में ही जो मनुष्य वर्त्तमान हैं उनको जो सुख में विस्तृत करता है, किंवा उनका जो पालनकर्त्ता है इससे परमेश्वर का सत्य नाम है। तथा सत्यप्रभवं० =जो सत्य ज्ञान, सत्य योग, सत्य धर्म और जो वेद हैं, इनसे ही जिसकी प्रकटता होती है इसलिये परमेश्वर का नाम सत्य है।

इस मंत्र का भी सायणाचार्यादि अध्यापक विलसन साहेब ने और 'वेदार्थयत्न' में भी अच्छी रीति से व्याख्यान नहीं किया है॥ ५ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्निर्होता) अग्निर्भौतिकोऽग्निः। होता सर्वशिल्पविद्यागुणधारकोऽस्ति। (कविः) शिल्पविद्यायाः क्रान्तदर्शनः क्रमप्रकाशकः। (क्रतु) शिल्पविद्या क्रियते येन सोऽयं क्रतुः। (सत्यः) सति शिल्पविद्याव्यवहारे साधुर्यः स सत्योग्निः। (चित्रश्रवस्तमः) विद्युदादिस्थगुणानां चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्मिन्स.। अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमः। (देवः) शिल्पविद्यादिगुणद्योतकः सोऽग्निः। (देवेभिः) शिल्पविद्याद्योतकैर्गुणैर्दिव्यैः सह वर्त्तमानो योऽग्निरस्ति सः। हे परमेश्वर! भवत्कृपया (आगमत्) अस्माभिर्ज्ञातो भवतु। येन सर्वां शिल्पविद्यां वयं लभेमहि॥ ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निर्होता) जिस अग्नि का नाम अश्व है और जो सब शिल्पविद्या के गुणों का धारण करनेवाला है। (कविक्रतुः) कवि=जो शिल्पविद्या का प्रकाश करनेवाला और क्रतुः=कि शिल्पविद्या जिससे की जाती है। (सत्यः) कारीगरी में जो साधु उत्तम साधन है। (चित्रश्रवस्तमः) बिजुली आदि में अत्युत्तम जो वेगादि गुण हैं वे जिसमें सुनते हैं और जिसमें अत्यन्त अद्भुत सामर्थ्य ईश्वर ने रक्खा है। (देवो देवभिः०) जो अग्नि वेगादि गुणों का प्रकाश करनेवाला है सो हमारे शिल्पविद्यादिव्यवहार में अत्यन्त उपकार करनेवाला आपकी कृपा से हो। जिससे शिल्पविद्या में जो दिव्यगुण उनको हम लोग यथावत् सिद्ध करके अत्यन्त सुखी हों ॥ ५ ॥

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमो वर्गः ॥

॥ अथ षष्ठो मंत्रः ॥

मू०—यद॒ङ्ग दा॒शुषे॒ त्वमग्ने॑ भ॒द्रं क॑रि॒ष्यसि॑ तवेत्तत्स॒त्यम॑ङ्गिरः ॥६॥

प०—यत् । अ॒ङ्ग । दा॒शुषे॑ । त्वम् । अग्ने॑ । भ॒द्रम् । क॒रि॒ष्यसि॑ । तव॑ । इत् । तत् । स॒त्यम् । अ॒ङ्गि॒रः ॥ ६ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यदंग) हे अग्ने प्रापणीयेश्वर ! हे अंग सर्वमित्र ! तुभ्यं सर्वपदार्थदात्रे परमेश्वराय, यो मनुष्य आत्मप्राणाद्युत्तमपदार्थान्दत्तवानस्ति, तस्मै (दाशुषे) त्वय्यत्यन्तप्रेमकारिणे मनुष्याय। (भद्रं) भजनीयं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं कल्याणं सुखं च। (त्वमग्ने) त्वमेव। (करिष्यसि) करोषि वेति निश्चयो नः। (तवेत्तत्स०) हे अंगिरः प्राणानां रसभूतपरमेश्वरेद सत्यं व्रत शीलं तथैवास्ति न कस्यचिदन्यस्येति, त्वया यद्भद्रं क्रियते तदेव सत्यमविनाशिरूपमस्ति नान्यदीदृशमिति विजानीमः।

यास्काचार्येण भद्रशब्दार्थ एव वर्णितः—भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा इति ॥ नि० अ० ४ । खं० ९ । प्राणो वा अंगिरः ॥ श० का० ६ । अ० १ ॥ आंगिरसो अंगानां हि रसः । प्राणो वा अंगानां रसः ॥ श० कां० १४ । अ० ४ ॥ यजमानो वै दाश्वान् इति ॥ श० कां० ७ । अ० ३ ॥

अयमर्थः। यत्र दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यन्मुक्त्याख्यं परमसुखं सत्यमस्ति तदत्र विज्ञेयम्। परमेश्वरं यजते स यजमानो विद्यादिदानशीलः स दाश्वान्। अंगानां पृथिव्यादीनां सारभूतोऽन्तर्यामी परमेश्वरः सर्वस्य प्राणभूतत्वाद्रसोऽस्तीति बोध्यम्। अतः सायणाचार्येण वेदार्थयत्नकृताध्यापकविलसनादिभिश्चायं मंत्रो यथावन्नैव व्याख्यात इति विज्ञायते ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने) हे प्राप्ति होने के योग्य ईश्वर अग्ने ! (अंग) हे अंग, सब के परममित्र ! (दाशुषे) जो मनुष्य आपको प्राण और आत्मा आदि का समर्पण करता है जो आप में

अत्यन्त प्रेम करने वाला है (भद्रं) परमानन्दस्वरूप जो मोक्ष का सुख, सो उस मनुष्य को आप ही देने वाले हो (अंगिरः) हे प्राणों का प्राण ईश्वर ! जो प्राणवत् प्रिय सुख है सो आपकी कृपा से ही होता है। क्योंकि (तवेत्तत्सत्यम्) वह आप का ही स्वभाव है जो सत्य सुखों को ही देना, यह सामर्थ्य अन्य किसी का नहीं। जो आपका दिया सुख है वही एक नित्य है, इससे दूसरा कोई ऐसा सुख नहीं है ॥

इसकी व्याख्या निरुक्त और शतपथ के भाष्य में लिखी है सो देख लेना। इससे यह जानना कि सायणाचार्य, 'वेदार्थयत्न' तथा डाक्तर विलसन साहेब आदि के व्याख्यान मे इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है ॥ ६ ॥

॥ अथ सप्तमो मंत्रः ॥

मू०—उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥

प०—उप॑। त्वा॒। अ॒ग्ने॒। दि॒वेदि॑वे। दोषा॑ऽवस्तः। धि॒या। व॒यम्। नमः॑। भर॑न्तः। आ। इ॒म॒सि॒ ॥ ७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने पूज्यनमेश्वर ! (दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यम् (धिया) बुद्धया। (त्वा) त्वाम्। वयं (उपैमसि) तव उप सामीप्यम् आ सर्वतः, इमः प्राप्नुमः। तथा (दोषावस्तः) अहर्निशं निरन्तरम् (भरन्तः) ज्ञानेन प्रेमभक्ति धारयन्तः संतो, (वयं) त्वां (नमः) नमस्कुर्मः ! यतो भवान् सद्योऽस्मान्प्राप्नुयात्। भवत्प्राप्त्या वय सुखिनो नित्य भवेम ॥

अत्र मत्रव्याख्याने सायणाचार्याध्यापकविलसनादिभिर्भौतिकाग्निमात्रस्यैव गृहीतत्वात्तद्वयाख्यानमन्यथास्ति। कुतो ? भौतिकाग्नेरनायासेन होममात्रे प्राप्तत्वान्नमस्करणीयाभावाच्चेति ॥ ७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने ईश्वर ! हमको एक पूज्य आप ही हो। हम लोग (धिया) बुद्धि जो ज्ञान है इससे। (दिवेदिवे) सब दिन के लिये, आपके समीप को (त्वामुपैमसि) शरणागति को प्राप्त होते हैं। (दोषावस्तः) तथा दिन और रात्रि में, सत्य भक्तिपूर्वक आप को (वयम्) हम लोग नित्य ही (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हैं, जिससे कृपा करके आप हमको शीघ्र प्राप्त हों। आपकी प्राप्ति से हम लोग निरन्तर सुखी हों ॥

सायण, डाक्तर विलसन और वेदार्थयत्नादि के कर्त्ताओं ने इस अर्थ को जाना भी नहीं ॥ ७ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(उप त्वाग्ने) हे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तेश्वराग्ने ! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च

भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः । भवत्प्रार्थनया त्वद्रचितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद्वायुवृष्टिशुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम । एतदर्थं निरन्तरं नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उप त्वाग्ने) हे परमेश्वर अग्ने । हम लोग आपके शरणागत हैं । नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो २ आपने भौतिकाग्नि में गुण रक्खे हैं उन उन गुणों से हम लोग सुगन्धित आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें तथा शिल्पविद्या को भी प्राप्त हों । इसलिए और मोक्षादि सुख के लिये भी आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

॥ अथाष्टमो मंत्रः ॥

मू०—राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं । स्वे दमे ॥ ८ ॥

प०—राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ ८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

एमसीत्यनुवर्त्तते ॥ (अध्वराणाम्) अग्निष्टोमादियज्ञानां तत्कर्तॄणां धर्मात्मनां मानवानां च । (गोपां) रक्षकम् । तथा (राजन्तम्) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारकान्तर्यामितया राजन्तम् सदा प्रकाशमानम् । (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यामयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च, दीदिविम्=सम्यक् प्रकाशकम् । तथा (स्वे) स्वकीये (दमे) परमोत्कृष्टे पदे । (वर्धमानम्) अत्यन्तवृद्धिमन्तम् । एवंभूतं परमेश्वरमग्निं त्वां वयं सर्वोपेमसि । भवत्परमपदमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवोपाप्नुमः । यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयाऽस्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अध्वराणां गोपाम्) अध्वर जो अग्निष्टोम आदि का यज्ञ और इन यज्ञों के करने वाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं उनकी जो यथावत् रक्षा करनेवाला है । तथा (राजन्तम्) सूर्य आदि जो लोक उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में धारण करने वाला और अन्तर्यामी रूप से प्रकाशमान है । तथा (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करनेवाला है । (वर्धमानं स्वे दमे) स्वे=अपना जो दमे= परमपद है उसमें वर्धमानम्=सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है, और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं उनको अपने उस परमपद में विज्ञान और आनन्दादि गुणों से जो सदा बढ़ानेवाला है, उस परमात्मा को मोक्ष आदि सुखों की प्राप्ति के लिये (उपेमसि) हम लोग प्राप्त होते हैं । अर्थात् हे परमेश्वर ! सत्य प्रेम भक्ति से हम लोग आपको सदा

प्राप्त रहें कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिससे हम लोगों को आप की प्राप्ति से मोक्ष आदि सुख इसी जन्म में प्राप्त हों ॥ ८ ॥

॥ अथ नवमो मन्त्रः ॥

मू०—स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

प०—सः। नः। पिताऽइव। सूनवे। अग्ने। सुऽउपायनः। भव। सचस्व। नः। स्वस्तये ॥ ९ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(सः) यः। अग्निमीडे पुरोहितमित्यादिमंत्रेषु पुरोहितादिविशेषणैः प्रतिपादितोऽग्निसंज्ञः परमेश्वरः सोऽत्र गृह्यते। (अग्ने) हे परमात्मन्! (नः) अस्मान् (सूपायनः) स्वकृपया सुखेनैव प्राप्तस्त्वं भव। तथा हे परमेश्वराभिधाग्ने! (न) (स्वस्तये) ऐहिकपारमार्थिकसुखायास्मान् स्वकृपया। (सचस्व) समवेतान् कुरु। अर्थात् तत्सुखेन सह वर्त्तमानानस्मान् सदा कुरु। एवं तत्सुखस्य यथावत् सिध्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव। कस्मै क इव (पितेव सूनवे) यथा स्वसन्तानाय स्वप्रजायै अत्यन्तप्रेम्णानुकम्पयमानः संतानसुखाय प्रवर्त्तमानः पिता इव। कुतः? भवानेवास्माकं पितास्त्यतः।

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति, परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रंथेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोऽप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्यः ॥ ९ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सः) अग्निमीडे इत्यादि आठ मंत्रों में पुरोहित आदि जिस विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'स' शब्द से ग्रहण होता है। (अग्ने) परमेश्वर अग्ने! अपनी कृपा से ही (नः) हमको प्राप्त हो। तथा (सूपायनः) इस लोक और परलोक के सुख के लिये। (नः) हमको। (सचस्व) संयुक्त कर। तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो। तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभगुणों में मोक्ष आदि सुख के लिये हमको सदा युक्त कर। जिससे स्वस्ति जो परम सुख सो सदा हमको प्राप्त हो। जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने सन्तानों को सुख देता है वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्दयुक्त करके नित्य पालन करो। क्योंकि आप ही हम लोगों के पिता हो। इससे हमको सुख देनेवाले एक आप ही हो ॥ ९ ॥

इति प्रथमाष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः ॥

प्रथमं सूक्तं समाप्तम् ॥

❀ ओ३म् ❀

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि कृत

वेदभाष्य-परत्व प्रश्न-पुस्तक

का

श्री स्वामी-दयानन्द सरस्वती जी की

ओर से प्रत्युत्तर

जिसको

मुन्शी बखतावरसिंह ऐडीटर आर्यदर्पण

ने

आर्यभूषण प्रेस शाहजहांपुर में मुद्रित किया।

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है कि जो सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है। जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्य्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहाँ-तहाँ लिख दिये हैं कि देखने वालों को सुगमता हो और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे कि जिससे देशभर की हानि हो और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देखकर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देखकर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख-दुःख हैं तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन, मन, धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझको चक्रवर्त्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे। किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान्, सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अव-लम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रन्थ के विषय में शङ्का होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करने वालों की होंगी। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े और इतना न हुआ कि आंख खोलकर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है। नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेदभाष्य के विषय में पहले आर० ग्रिफिथ साहब, सी० एच० टानी और पं० गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं-कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी। सो उन का उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो

आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते, में के संस्कृत कालेज के हैं उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये परन्तु दो बातों की सिद्धि समझकर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूं। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को सब मनुष्यों को प्रकट हो जाय कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शङ्का तो मेरे बनाए ग्रन्थों ही के ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध मे जब अच्छे अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे। विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूटकर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने-अपने हाथ से छाने की फिकर की और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिसमे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया। और तमाम अपने देश को भी घर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आंखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि उनको जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रंथों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समान दृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ-कुछ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आज तक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता तो किसी को शङ्का, भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता। जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र का गुमान है यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनकी भ्रान्ति निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है।

—दयानन्द सरस्वती

* ओ३म् *

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की ओर से उत्तर

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने विरुद्ध पण्डितों के साथ में अपनी राय दी है तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वती जी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्सन्देह प्रशंसा योग्य हैं परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

स्वामी जी—सम्मति देने वालों की निष्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिसको छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पण्डितजी लिखते हैं कि 'स्वामी जी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशसा योग्य हैं परन्तु कुछ फल-दायक नहीं'। तो उनका यह कथन पूर्वापर विरोधी है और इसमें उनका हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

प० महेश०—स्वामी जी का गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है तथा सब संसारी विद्या और वर्तमान काल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उनका काम मट्टी कर देती हैं।

स्वामी जी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूं। जब पण्डित जी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है तो उनको उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मंत्र वेदों में से लिखकर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिए नहीं लिखा। इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया और उनकी विद्या की थाह मिल गई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है। ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री हल्दी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे कि जिस में वृथा कीर्ति देश में हो जावे।

सो पण्डित जी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी।' और मैं तो अपनी थोड़ी सी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालूम होता जावेगा और जितना कर चुका वह जान लिया होगा और कदाचित पण्डित जी ने भी समझ लिया होगा। परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झापने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिस को कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उन को यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डालकर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं। और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो। नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है कि जिस के अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं। और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादि की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं सो कब हो सकता है। और भूषण को दूषण करके मानते हैं तो माना करो। परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों को ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्व मीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूं। तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है सब को मानता हूं उस से विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्य ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद, युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो जो संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेद भूमिका अङ्क ३ में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि 'वेदों को भी एक तरफ धर दें, केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें' तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है। परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम 'वेदोत्पत्ति प्रकरण' में देख लेना चाहिए। परन्तु इतना यहाँ भी मैं कहता हूं कि आर्य्य लोग सनातन से युक्तिप्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत बराबर मानते चले आये हैं। इस का ठीक-ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं। हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतः प्रमाण हैं कि उनमें बहुधा होम, बलिदान आदि का विधान है। तथा इसका प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिनको स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्र-भाष्य की रचना करे। देखना चाहिए कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उनके भाष्य की परीक्षा करूंगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सब को प्रमाण और युक्ति सिद्ध होने के कारण मैं मानता हूं। और सब को अवश्य मानना चाहिये। जैसे कि वेद-भूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण' में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आज-कल के लोगों ने समझ रक्खा है यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडितजी का जो कथन है सो केवल अप्रमाण है। और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है किन्तु उन के लिखने की रीति और व्याकरण भी पंडितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं तथा कई अशुद्धियाँ जो उनके परीक्षकों ने निकाली हैं वे इस बात को साफ-साफ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते किन्तु अपनी कीर्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपचक्रे' शब्द को पाणिनि के 'गन्धनावक्षे०' सूत्र से सिद्ध करते हैं यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्रे' में आत्मनेपद लाया गया है, साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पंडित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखंडन' के साथ दे चुका

हैं। और पंडितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

भाषार्थ में जो शब्द **'किया है'** लाया गया तो इसका कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है; केवल शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है उनको बिना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और **'उप कृञ्'** धातु का अर्थ है **'उपकार और किया'**। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक ठीक घट सकता है।

पं० महेश०—*खैर ये तो साधारण बातें थीं परन्तु अब मैं भारी-भारी दोषों पर आता हूँ। मन्त्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखंड में अग्निमीडे पुरोहितम् इसके भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।*

स्वामी जी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो जो शब्द उनमें ईश्वरार्थ में लिखे हैं उनमें अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पक्ष में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—**"अग्निर्वै सर्वा देवताः** ॥ ऐ० १। पं० १॥" जिस का यहां कुछ सम्बन्ध नहीं है किन्तु दीक्षा-स्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीका सहित लिखता हूं।

स्वामीजी—अब पंडितजी की ऐसी पकड़ से मालूम हो गया कि उनको संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है और विद्वानों को चाहिये कि पंडितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे और उनको ठीक ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं उनको ठीक ठीक विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि 'अग्नि शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—

१—'इन्द्रं मित्रं वरुण०॥' २—'तदेवाग्निस्तदादित्य०॥' ३—'अग्नि-र्होता कविः०'॥ ४—'ब्रह्म ह्यग्निः॥' ५—'आत्मा वा अग्निः॥'

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। **'अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च॥'** और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार

'संवत्सरोऽग्निः ॥' इत्यादि प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से ठीक ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है।

तथा **'अग्निर्वै सर्वा देवताः ॥'** इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहां उपास्य उपासक प्रकरण में सर्वदेवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें मनु का प्रमाण दिया है। क्योंकि—

'यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव प्राहुः ॥'

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो **'अग्रणीः'** इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है इसमें कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि 'इतात्' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि **'इण् गतौ'** इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। **'दग्धात्'** इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायेगा; परमेश्वर नहीं। तथा **'अक्तात्'** और **'नीतात्'** इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि **'इण्'** धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता तो **'अक्तात्, दग्धात् नीतात्'** ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता तो पृथक् पृथक् धातुओं को नहीं गिनाते। और **'अग्निर्वै सर्वा देवताः इति निर्वचनाय'** इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिसको बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं। जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा है उसी को 'अग्नि' कहते हैं।

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञानप्रकाशयुक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सबसे सूक्ष्म तथा आधार है उसका, और जो विद्युत्रूप गुण वाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है।

इसी प्रकार **'अग्निः पवित्रमुच्यते ॥'** इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा **'प्रशासितारं०'** जो सब को शिक्षा करने वाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है; विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर **'एतमेके वदन्त्यग्नि०'** विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक-ठीक घटते हैं। परन्तु जो पंडित जी के घर के निराले ग्रन्थ हैं उनमें न होगा। और कदाचित्

वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उन में अग्नि शब्द नहीं आता। इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं। तो समझना चाहिये कि जैसे—निघण्टु के अ० २। खं० २२। में जो **'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान्, इनः'** ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायं। औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझने? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं? यह पण्डित जी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के बिना लिखे भी लिये जाते हैं वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्व पक्ष में जो कुछ अवश्य था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क में विस्तार-पूर्वक सिद्ध कर दी है वहां देख लेना।

पंडितजी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे पीछे चलते हैं। सो इस का कारण यह है कि पंडितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अंग्रेजी में देख लिये होंगे। उनसे क्या हो सकता है। जबतक सत्य ग्रन्थों और मूलमंत्रों को न देखें, समझें, तबतक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक ठीक जान लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पण्डित जी का और कथन भी है। इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं।

'अग्निर्वै सर्वा देवताः देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' इत्यादि पर जो पंडितजी ने लिखा है सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेदमन्त्रादि प्रमाणों को छोड़कर **'अग्निर्वै सर्वा०'** इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पंडित जी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पंडितजी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि—सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होमक्रिया में अग्नि-मंत्र प्रथम और विष्णु-मंत्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा **"अग्निर्देवता०"** इस मन्त्र में भी अग्नि का प्रथम और विष्णु का अन्त में ग्रहण किया है। सो **ऐतरेय ब्राह्मण के पं० १, अ० २, कं० १०** में लिखा है कि—**'त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव'** इत्यादि।

तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अंक ३ के पृष्ठ ५६ की पंक्ति ३१ में देवता शब्द से किस-किस को किस-किस से ग्रहण करना लिखा है, वहां देख लेना। तथा उसी अंक ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७ में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण कर दी है। इसलिये **'अग्निर्वै०'** इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायेगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडित जी की यह भी शंका निवृत्त हो जावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है किन्तु जिस २ पदार्थ का नाम देव धरा है उस उसको वहां अर्थात् अंक ३ में देख लेना।

और डाक्टर एम० हाग साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं तो यह पंडितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० हाग साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके वह बिना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य मुनियों से बढ़कर हैं कि जिनको हम सर्वोपरि मान निश्चय कर लें और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें जैसा कि पंडित जी ने किया है। उन्होंने ऐसा किया तो किया करो। मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका में भी **'यज्ञस्यान्ते'** वचन मे आदि में अग्निमन्त्र और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है। फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मन्त्र देवते गिने हैं। अग्नि को प्रथम इसलिए गिना है कि प्रथम जिन जिन द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतरकर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं उन सभों को लाभ पहुँचाते हैं। इस अभिप्राय को पंडितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं किन्तु निःस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है किन्तु उसमें ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं—**'यत्रोपास्यत्वेन०'** अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इसकी पुष्टि में स्वामी जी मनु का प्रमाण देते हैं—**'आत्मैव देवताः सर्वा०:'** अर्थात् आत्मा सब देव है और आत्मा ही में सब संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकता है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़के विद्या की आंख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है। उसका उत्तर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अंक ३ के 'देवता-विधान प्रकरण' को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है उसको देख लेना चाहिये। क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। परन्तु चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है। और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है किन्तु उनकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पंडितजी लिखते हैं—कि 'अग्नि' शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इसका उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं किन्तु इसमें पंडितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा उस के उल्टे ज्ञान हो जाने का सम्भव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अंक ४ में ८९ के पृष्ठ से ९२ तक 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्तिपर्यन्त देखना चाहिये।

'आत्मैव देवताः सर्वा०:' इसका अभिप्राय पंडितजी ने ठीक ठीक नहीं समझा है। क्योंकि इसका मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि व्यवहार के देवताओं का वचन, पालन और विनाश करने वाला है तथा **'अग्निर्देवता:०'** इत्यादि-प्रकरण में व्यवहार के देवता और और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है। क्योंकि **'सर्वमात्मन्यवस्थितम्'** इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है उसी में स्थिर है और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का नाम है। इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

प० महेश०—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं। क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं। जिनके द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुँचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं सो उनके कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पंडित जी **'अग्निर्वै सर्वा देवताः'** इसमें भ्रान्त हुए हैं सो ठीक नहीं और जो **'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'** ॥ इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है। इसका अर्थ ठीक ठीक पंडितजी नहीं समझे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः' इसका भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहाँ भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्य-यज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं तब वे हलके होके सूर्य्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघ-मण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथिवी आदि मध्य-स्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इसका नाम 'भाग' और 'बलिदान' है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मण में लिखी है। जिसको पंडितजी ने न जानकर मेरे लेख पर विरुद्ध सम्मति दी है।

पं० महेश०—*निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी **'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०'** इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं कि जिस में अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं और स्वामी जी भी इस*

बात को मानते हैं और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है। और यह अर्थ 'अग्रणी:' शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द 'अग्र नी' से मिलकर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिसको स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही सम्मति देता है सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर' और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उसमें अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिए उसमें रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसे कि **'इतात् अक्तात् दग्धात् वा नीतात्'** इनमें **'इण्'** धातु गत्यर्थक **'अञ्जू'** व्यक्तार्थ, **'दह'** भस्मीकरणार्थ, **'णीञ्'** प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि **'इण्'** और **'अञ्जू'** इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति, ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इनमें ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और **'अग्रणी'** शब्द तथा **'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽगं नयति।'** इसके अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर और **'न क्नोपयति न स्नेहयति'** इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है। मन्त्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक ठीक लिख दिया गया है। जो उसको पंडितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते उन को उसके विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—**'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०'** हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें किन्तु मैं यह बताता हूं कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वामीजी—पंडितजी का कथन कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं। सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है उसका हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली अग्नि को सुनते और देखते आये हैं। इसलिये वहीं तक उनकी दौड़ है।

परन्तु मैं उन से मित्र भाव से कहता हूं कि वेद, वेदांङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिससे ऐसी ऐसी तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में धरे हैं वे क्या शतपथ के नहीं हैं? जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है उसमें का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये कि **'तद्यदेनं मुखादजनय-तस्मादन्नादोऽग्निः यो हैवमेतमग्निमन्नाद् वेदान्नादो हैव भवति ॥'** इसमें 'अन्नाद्' शब्द अग्नि का वाची है। और—**'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ॥'** यह तैतिरीय उपनिषद् का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं इससे यहां भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि से परमेश्वर लिया है उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

"प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चये नैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति ॥"

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पण्डित जी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जानते। और जितना जानते हैं उसमें भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पण्डित जी को विदित हो कि यहाँ पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर-लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इससे जो कुछ वे लिखें सो विचारपूर्वक होना चाहिए कि उनको किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो-जो शतपथ के प्रमाण मैंने वहां लिखे हैं उसका अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है उनको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—**'अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥'** पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिए कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामी जी—फिर जो पण्डित जी ने **'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः'** इसमें अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है? इसमें पण्डित जी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता?

और उनको विचारना चाहिये कि **'पृथिवीस्थान यस्य सः परमेश्वरोऽग्नि-र्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्।'** इस वचन के अर्थ पर उनका अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध

होता। क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है जब कि यहाँ पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है। तथा कार्य्य और कारण रूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर इनका अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है और न केवल चूल्हे वा वेदी में धरा हुआ।

तथा पृथिवी-स्थान शब्द के होने से अग्नि शब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तरोऽयमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः ॥"

यह वचन शत० कां० १४ श० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है कि जिसमें पृथिवी स्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहाँ कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—**"स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥"** अर्थात् गोतम ऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गोतम जी! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है। तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती; जिसके शरीर के समान पृथिवी है; जो पृथिवी मे व्यापक होकर उसको नियम में रखता है वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है।

इतने ही मे बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डित जी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं?

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उसका कैसा विचार था आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं—**"यत्काम ऋषिर्यस्यां०"** जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है वही उस मन्त्र का देवता है। **"महाभाग्याद्देवतायाः०"** अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उसमें बहुत-सी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है। उसके सिवाय और देव उसके अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न-भिन्न मन्त्रों के पृथक्-पृथक् देवता विभाग करता है। और इसका प्रमाण स्वामी जी ने माना है। देखो पृष्ठ १ प० २ तथा पृष्ठ २३ पं० १४ इसी विषय की।

परन्तु बात काट के उसके असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मन्त्रो का देवता परमेश्वर है; अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि जिसको स्वामी जी भी मानते हैं। जैसे—**"निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तं मनसीत्ययोत्तर-प्रश्नमनुब्रूहीति० इत्यादि ॥ ४। ५। ६ ॥**

स्वामी जी—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ॥" इसका उत्तर भूमिका अङ्क ३ के देवता विषय में देख

लेना। वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है। पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न भिन्न देवता मानता है सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मन्त्र का अग्निदेवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहां केवल नाममात्र का प्रकाश है; विशेष अर्थ नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है; वहां देख लेना कि व्यावहारिक अग्नि, वायु को देवता किस लिए और किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना यह हिन्दुओ की बात होगी; आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये है कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार, अज, अनादिस्वरूप जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन, पालन और विनाश करने वाला है। और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले। इसमें पंडितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण धरा है सो भी विना अर्थ जाने हुए लिखा है। क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा—

"यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह। यः सुयुक्तोजस्र चिन्तयति तस्माद्विद्यया तपसा चिंतया चोपलभ्यते ब्रह्म। स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यपक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वानमेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते॥"

जो पंडित जी इस प्रकरण का अर्थ ठीक ठीक समझ लेते तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहाँ भी है। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य व्यापक सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देख लेना।

उसी शतपथ में पांचवें ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में **"अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।"** व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला दिया है। इस से—

"ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्। इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनामात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है' तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण मे दूसरे धातु का मेल नही। इसी प्रकार जैसे कार्य्यजगत् के संघातों में अनेक तत्त्व का मेल है वैसे ब्रह्म नहीं किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि—

"या वास्याप्रयास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः स हैवोपर्य्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य ॥"

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्च्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता इस के उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषो के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है ।

इस के आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी **"त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः"** इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इस से यह बात पाई गई कि यद्यपि पंडित जी प्रोफेसर ग्रिफिथ, टानी साहब के वकील भी हुए तथापि मुकद्दमा में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं ।

पं० महेश०—"त्तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः ॥" जो लोग निरुक्त के समझने वाले है वे कहते हैं कि देवता तीन ही है। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् पृथक् होने से उन को कई नामों से बोलते है ।

"अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाःस्युरित्येके चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ॥"

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे है कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य पृथिवी और चन्द्रमा तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्का, वनस्पति आदि ।

'तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः' ॥

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु और सूर्य जिन के गुणों की व्याख्या कर दी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है तथा उनको यज्ञ में बुलाता है ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं ।

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥"

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इसका अग्नि नाम क्यों हुआ ? क्योंकि वह प्रथम ही आता है। देखो **'अग्निमीडे'** इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है। यह ब्रा० और नि० से स्वामी जी का कथन ठीक नही। श्रौत सूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है; यद्यपि स्वामी जी ने उसका कोई प्रमाण नही दिया। परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूँ—सू० २९। कण्डिका १। अ० १। तथा सू० ७। क० १३। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि **'अग्निमीडे०'** यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है ।

स्वामी जी—इसके आगे पंडितजी **"तिस्र एव देवता०"** इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इसका भी अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं। अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता है। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक देखने से ठीक ठीक उत्तर मिल जायगा।

और इसके आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस जिस पदार्थ में जो. जो गुण होते हैं उनका यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में **"एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथगिव स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि ॥"** इस पंक्ति का अर्थ पंडितजी ने न विचारा होगा। नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते ? क्योंकि देखो—

"तासां महाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्यगुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिए वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं उन्हीं पृथक् पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदो मे सर्वसुखदायक, स्वयंप्रकाश, सत्य ज्ञानप्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है; केवल एक का नहीं। और—

"तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन, साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक समवाय सम्बन्ध दूसरा संयोग सम्बन्ध। समवाय नित्य गुण गुणी आदि में होता है और संयोग सम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है वैसे ही परमेश्वर मे भी जान लेना कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य-व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुँचाना है तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुँचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

"अग्निः पृथिवीस्थान०" इसकी व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और **"अग्निमीडे"** इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मन्त्र के भाष्य में लिख दी है परन्तु वहां भी दो

ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है। तथा "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः०" इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

"स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ॥"

इसका अर्थ यह है कि वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है; चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्‌रूप और जो उत्तर अर्थात् कारण-रूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक है तथा जो परमेश्वर का अग्नि शब्द से ग्रहण करना कहा है; एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है। जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं; मेरी बात की पुष्टि करते हैं या नहीं। तथा पण्डित जी की पकड़ ठीक है वा नहीं ?

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होमक्रिया करने का प्रसङ्ग है और होता आदि आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक् पृथक् लिखे हैं। इसलिए वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिसका काम है उसको वही करे। यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए उसका लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहाँ भी पंडितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं कर सकते। किसलिए कि वहां मन्त्र ही देवता है। और सब शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सबको उचित है। वहाँ मन्त्र का पाठातिदेश किया है; अर्थ नहीं। इससे सूत्र का लिखना पंडितजी को योग्य नहीं था क्योंकि वहां तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—'अग्निमीडे' इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामी जी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धर के कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है। सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामी जी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र 'इन्द्रं मित्रम्०' वे उसको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किसको सम्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर; कुछ ही हो परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और २ देवताओं के नाम से लाते हैं उसके बल आदि गुण बताने के लिये। तदेवाग्नि०' शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्तिरीय-आरण्यक प्र० १। प्र०।' इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा, जिसका तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं, जिस के मन से

चन्द्रमा नेत्रों से सूर्य कानों मे वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते है। जैसे—'**तदेवाग्नि०**' अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते। सिवाय इसके जो '**तदेवाग्नि०**' पद-भेद का विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामी जी का अग्नि शब्द परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा सम्भव होगा जैसे कह दे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

'**अग्निर्होता कविक्रतुः०**' स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते है तथा सत्य का विनाशरहित। परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामीजी भी जब मन्त्र को शास्त्रसम्बन्धी अर्थ में लेते है तो कई प्रकार के अर्थ करते है। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी ले तो वह उनके अभिप्राय को अग्नि ईश्वर का नाम है; नही खोलना। क्योकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने मे सब प्रकार के विशेषण लाते है।

स्वामी जी—अब पण्डित जी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले है। क्योकि मैंने 'अग्नि' शब्द मे परमेश्वर के ग्रहण विषय मे वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण मन्त्रभाष्य के प्रारम्भ में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूदकर चले गये है। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मन्त्रों का अर्थ मालूम नहीं और बिना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं? उन का यह भी लिखना ठीक नही कि इस प्रमाणो से स्वामी जी का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पण्डित जी के लेख की परीक्षा करे। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि '**इन्द्रं मित्रं**' इस मन्त्र में 'उसको' शब्द किसके लिए आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिए आया है इत्यादि। सो पण्डित जी को जानना चाहिये कि बिना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालको का खेल नहीं। इस मन्त्र में भी अग्नि का पाठ दो बार है।

(एक) '**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः**·········

(दूसरा) **अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।**'

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते है अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते है।

'**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्**'

अर्थात् एक शब्द मे परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ मे लिख दिया है उसका भी अर्थ पण्डित जी ने नहीं जाना। क्योंकि वहा भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'

इसका यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा **'इममेवाग्निं०'** इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि बिना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो; गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है।

इस मन्त्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते और उन मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उल्टा समझते हैं; क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार २ यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं वैसे ही **'तदेवाग्नि०'** जो इसमें तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डित जी ने ठीक २ नहीं जाना। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत, भविष्यद् वर्तमान तीनों काल में एकरस रहता है अर्थात् जब जब जगत् हुआ था, है और होगा तब २ वह—

'तदक्षरे परमे व्योमन् ।'

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृत खं च दिवं महीं च० इत्यादि ।'

जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम् ।'

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिए भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयमस्ति ।'

जिससे सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है तथा जो सब से परे एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषण युक्त है।

'तदेवावर्त्ततदु सत्यामहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।'

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है। वही सत्य, वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्टदेवता है।

और **'तदेवाग्नि०'** अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिर इत्यादि ।'

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

**'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥'**

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता। अर्थात् कोई उसको आंख से नहीं देख सकता किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पण्डित जी ने नाम लिखा है उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उनकी समझ में ठीक २ नहीं आया क्योंकि उनके मन में ऐसा भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं किन्तु परमेश्वर ही जगत् रूप बन गया है क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अशमात्र है। जिससे घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इससे उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् रूप बन गया है।

यह भ्रान्ति उनको वेदादि शास्त्रों के ठीक २ न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो 'अद्वैत' शब्द परमेश्वर का विशेषण है कि जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है; वैसा परमेश्वर नहीं। किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ६० की पंक्ति २० में मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः ॥'

इत्यादि में देखलेना। तथा—

'पुरुष एवेद ꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥'

इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अङ्क ५ के ११८ पृष्ठ में '**सहस्रशीर्षा०**' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ के १३४ पृष्ठ की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा। और—'**अग्निर्होता कविः क्रतुः० ॥**'

इसके अर्थ विषय में जो पडितजी को शङ्का हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है, इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में देख लेना—क्रतुः सब जगत् का करने वाला सत्यश्चित्रश्रवस्तमः—इत्यादि पदों का अर्थ वहींदेख लेना। जब आग्रह छोड़के विद्या की आंख से मनुष्य देखता है तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक २ विद्या ही नहीं तो उसको सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

तथा निघं० अ० ३ ख० १५ में 'मेधावी' का नाम कवि लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। म० ८—'सपर्यगाच्छुक्र० ।' इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभि-

प्राय को ठीक २ सिद्ध करते हैं तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उनकी न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः' जो कि आगे की संस्कृत से आता है। जैसे—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति० ॥' इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुँचाता है। शत० का० १ । अ० ४ । ब्रा० ४।२ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं।

,आत्मा वा अग्निः।' यह शत० कां० ७ । अ० ३ । ब्रा० ३ । कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

'यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः आत्मानं ततः प्राण मध्यतो दधाति'।

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।' यहाँ आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है। तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिए सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिसमें इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खें हैं वे बराबर होमादि का विधान करते हैं। और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि। ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है। इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय 'अग्निरिवाग्निनापिहितः' ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं जो कह दिये गये।

स्वामी जी—इसके आगे जो जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं उनको तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्नि' इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है तथा—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति।'

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं। क्योंकि वहा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह नियम कहीं नहीं लिखा—

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येव हि देवेभ्यो हव्य भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उवा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्मादेवाह भारतेति ।'

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे। क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर ! आप महान्—सब से बड़े हैं और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा सब प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं। और विद्वानों के लिए सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं। इसलिए भी आपका नाम भारत है। इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं।

और जो **'आत्मा वा अग्निः'** इसमें अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है। इससे दोष नहीं आ सकता। यही मेरा अभिप्राय है। इसको पण्डितजी ठीक-ठीक नहीं समझे और—**'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः ।।**

इसका यह अर्थ है कि—'(अयम्) यह होम करने वाला परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है। क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे है। इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है। परन्तु—**'स उ प्राणस्य प्राणः ।।'** इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है। इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है।

और आत्मा का नाम अग्नि अलंकार से नही किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है। क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं। और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है और जहां-जहां से प्रमाण लिखे हैं वहां-वहां सर्व होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है। यह केवल उनका आग्रह है। इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका।

और—**'प्राणो अग्निः परमात्मेति'** यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और 'सब वस्तु ब्रह्म है' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जानकर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ बिना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि 'पञ्चवायुः' इस शब्द से पण्डित जी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो 'पञ्चवायुः परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं। इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं।

'य एष तपति अग्निरिवाग्निनापिहितः। एको वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवं विद्वात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।'

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिस को सब लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं तथा सब प्राणियों को अभयदान दे के विषयों में इन्द्रियों को रोक के एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं वह परमेश्वर विश्वरूप है अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं। वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप, एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उसका पूजन करता है वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से—**'उपलभेतैनमिति।'** मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अयन्था नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है यह मैं भी जानता और मानता हूँ। परन्तु पंडितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा। यह बड़ा आश्चर्य है।

प० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते' पवित्र शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूँ कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उन की चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट-अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये। आत्मा सर्व देवता है। सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई-कोई उसको नित्य ब्रह्म करके समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है; स्वीकार करता है सब समान हैं। वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है—

'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहिता। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।'

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामी जी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं सो कैसे वृथा हैं ।

स्वामी जी—'अग्निः पवित्रमुच्यते' इसका उत्तर हम दे चुके और मनु के प्रमाण के विषय में पंडितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पण्डितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूँ। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है परन्तु पंडितजी की चतुराई नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा। **'प्रशासितारं सर्वेषां०'** इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति **'एतमेके वन्दन्त्यग्निम्०**। इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—**'अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।'** इस वचन से भी ठीक-ठीक निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पडिजी ने नहीं समझा। यह बड़े आश्चर्य की बात है और—

'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नधर्मे कुरुते मनः॥ १॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ २॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ ३॥

इन श्लोकों से पंडितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता है और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पण्डित जी का जानना बिलकुल मिथ्या है क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। **'समाहितः'** इस पद को अशुद्ध करके **'समाहितम्'** यह पंडितजी ने लिखा है। जो सावधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे वह कभी अपने मन को अधर्म युक्त नही कर सकता। क्योकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं का रचने वाला और जिसमें सब जगत् स्थित है वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा जीवों को पाप, पुण्य के फलों का देनेहारा है ॥ २ ॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव मे देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर विना समझे जो पंडितजी ने तर्क लिखे हैं वे सब मिथ्या हैं। क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

प० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्,

न्यायकारी, पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि जीव ? तू इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूं। तिस पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूं जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध, अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है; दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नही देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनकी ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

अब 'अग्निमीडे०' पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता है और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामी जी 'हित' शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं जिससे आगे 'क्त' है। इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं—

'पुरोहितः पुर एनन्दधाति० ।'

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं। स्वामीजी लेते हैं कि जो कि कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गोण क्रिया है सकर्मक गोण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है उसके प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं। वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेगे। तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है सो भी वहां देखने से ठीक २ मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी 'पुरोहित' शब्द को कर्म-वाच्य कृदन्त मानते हैं किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं। यह उनका कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत अर्थात् किसी ने किसी ने प्रयाग का मार्ग—पूछा उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

'पुरोहित' शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

'आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ।। अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू० ७१ ।।

इससे आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेद द्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह पर-मेश्वर का आदि कर्म है। इसके न होने से सत्यासत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के ज्ञान न होने से उसकी भक्ति होना ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने 'पुरोहित' शब्द में 'डुधाञ्' धातु से कर्त्ता में 'क्त' प्रत्यय मानकर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहाँ अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब

जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मानकर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

'विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः ।। ऋ० मं० १। सू० ५५। मं० ३ ।।' यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पण्डितजी 'यद् वापिः०' इस मन्त्र में पुराण की झूठी आख्यायिका कहते हैं; उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मन्त्र के अर्थ की खबर नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है उसका भी ठीक २ अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने 'शन्तनु' शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है। जो 'शन्तनु' शब्द का निरुक्त मे अर्थ लिखा है उस की खबर भी नहीं है—

'शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ।।'

जिस का यह अर्थ है कि (श) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर 'शन्तनु' कहाता है और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है इसलिए उस जीव का नाम भी 'शन्तनु' है। इस से पंडित जी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब 'यज्ञ' शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यन्त्रालय का दोष है। 'यज्ञस्य' यह शैषिकी षष्ठी है। पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातमं ये सब यज्ञ के सम्बन्धी है और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गौ' शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है और जो 'देव' के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहाँ से वा कैसे लिये हैं। इसका उत्तर यह है कि 'दिवु' का धात्वर्थ विजिगीषा भी है और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु है उन का जीतनेवाला वही परमेश्वर देव है क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक, इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च ।।' इसके अर्थ में पण्डितजी की बहुत भूल है क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या कर दी है और पंडितजी कहते हैं कि निरुक्तकार के तीसरे अध्याय के १६ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है सो झूठा है। क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है; सिद्धि कुछ भी नहीं। और जो निघण्टु के अ० ३ खं, १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता। यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है। क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है। इसके साथ उनको मिलाकर देखो।

और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि 'देव' शब्द के अर्थ देने वाला प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्द विषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ पंक्ति से देख लेना चाहिये। निरुक्त-कार—'यो देव: सा देवना०' इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं उन को पण्डितजी ठीक २ नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इसमें पंडितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्त-कार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों के कई २ अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं। परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य', 'देवं' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूं इसलिए विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विज्' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेंट करने वाले के हैं और न कि किस को भेंट चढ़ाई जाय। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिस का स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी 'ऋत्विज्' शब्द पर लेख करते हैं सो भी ठीक २ नहीं वे समझे।

'कृल्ल्युटो बहुलम् ॥' इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे। क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिए इस वेदभाष्य में जो इसका अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है परंतु पंडितजी 'ऋत्विज्' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामीजी 'होतारं' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं उन में एक 'आधा-तारं' अर्थात् ग्रहण करने वाले के हैं। यह भिन्न पद है कि जिन से यह अर्थ लिये जाते हैं। 'होतारं' जो 'हु' से बनता है जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामी जी मानते हैं। जैसे—'हु दानादनयोरादाने चेत्येके।' 'हु' धातु के अर्थ दान, अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना अदन का अर्थ ग्रहण वा आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्त दर्शन का एक सूत्र है—

'अत्ता चराचरग्रहणात्।'

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते। किन्तु उस के अर्थ कुछ और ही हैं नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्येके' कैसे बन सकता। किसी के मत में ही धातु का अर्थ भी आदान होता है। इससे मालूम हो गया कि धातुपाठ कार ने अदन, आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन, आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना; फिर भी वह धातुपाठ के

नियम की वृत्ति मे नहीं लग सकता तथा पंडितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी भी नहीं कर सकता।

अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्त सूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं; अदन को आदान अर्थ सिद्ध नहीं कर सकता है। यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने 'हु' धातु मे अर्थ लेने की अनेक युक्तियां घूम २ कीं। परन्तु न मालूम स्वामीजी होतारम्' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों हो गये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिसको पढ़ने वाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब 'होना' शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूं। पंडित जी को यह शंका हुई कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शंका न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता नाम वाला होने से जगत् का भक्षण-कारक होगा। इसकी निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हां! धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिये इस शंका का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता।

और जो पण्डितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है सो भी पण्डितजी की समझ उलटी है। क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो तब यह दोष 'देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः' ऐसे वाक्य में 'अदन' शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है। 'आदाने चेत्येके' इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातु-पाठकार के मत में 'हु' धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं, धातु-पाठकार नहीं। इसलिए आदान अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है। इनसे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक २ मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है पण्डितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की कुछ भी नहीं क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। 'आदान' शब्द के अर्थ के लिये नहीं क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के विना 'अत्ता' शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं

ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पण्डितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से यत्न करते हैं परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है।

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। अब सब सज्जन लोग पूर्व लिखित साहिबों और पण्डित महेश० न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों की वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमे हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते ? हां मैं यह कहता हूं कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं वे ऐसे दृष्टांत के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जंगली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहनकर फूला फूला फिरे। वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं। क्या इस पत्र को जो जो बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पडितजी की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूँ कि ग्रिफिथ साहब आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठकर वेदविषय में वार्तालाप करें तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक ठीक नहीं आता। यह बात सबको दिदित हो जावे। मैं चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक-ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है और कौन नहीं। क्योंकि—'**विद्यादम्भः क्षणस्थायी।**' सब का दम्भ कुछ दिन चलना जाता परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशंकासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात्॥
संवत् १९३४, कार्तिक शुक्ला २॥

प्रतिलिपि

॥ ओ३म् ॥

अथ पञ्चमहायज्ञविधिः

छन्द शिखरिणी

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः

सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।

इयं ख्यातिर्यस्य प्रकटसुगुणा वेदशरणा-

स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितः

वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृत भाषार्थसहितः

श्रीयुतविक्रमादित्यमहाराजस्य चतुस्त्रिंशोत्तरे एकोनविंशे

संवत्सरे भाद्रपौर्णिमायां समापितः ॥

सन्ध्योपासनाग्निहोत्रपितृसेवाबलिवैश्वदेवातिथिपूजानित्यकर्मानुष्ठानाय

संशोध्य यन्त्रयितः

ई० जे० लाजरसकंपन्याख्यस्य यन्त्रालये मुद्रितः

संवत् १९३४

मूल्यम् ।=)

अथ सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः

यह पुस्तक नित्यकर्मविधि का है। इसमें पञ्चमहायज्ञ का विधान है जिनके ये नाम हैं कि—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। उनके मन्त्र, मन्त्रों के अर्थ और जो-जो करने का विधान लिखा है, सो-सो यथावत् करना चाहिये। एकान्त देश में अपने आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके उस-उस कर्म में चित्त लगा के तत्पर होना चाहिये। इन नित्यकर्मों के फल ये हैं कि—ज्ञानप्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्य्यों की सिद्धि होना। उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सिद्ध होते हैं। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है।

अथ तेषां प्रकारः। तत्रादौ ब्रह्मयज्ञान्तर्गतसन्ध्याविधानं प्रोच्यते। तत्र **सन्ध्याशब्दार्थः**—'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'। तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्य्याः।

आदौ शरीरशुद्धिः कर्त्तव्या—सा बाह्या जलादिना, आभ्यन्तरा रागद्वेषासत्यादित्यागेन। अत्र प्रमाणम्—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

इत्याह मनुः। अ० ५। श्लोक० १०९॥

शरीरशुद्धेस्सकाशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यं सर्वैस्सम्पादनीया। तस्यास्सर्वोत्कृष्टत्वात् परब्रह्मप्राप्त्येकसाधनत्वाच्च।

ततो मार्जनं कुर्यात्—

नैवेश्वरध्यानादावालस्यं भवेदेतदर्थं शिरोनेत्राद्युपरि जलप्रक्षेपणं कर्त्तव्यम्। नो चेन्न।

भावार्थ—अब सन्ध्योपासनादि पाँच महायज्ञों की विधि लिखी जाती है। और उसमें के मन्त्रों का अर्थ भी लिखा जाता है। पहिले 'संध्या' शब्द का अर्थ यह है कि—(सन्ध्यायन्ति०) भलीभांति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें, वह 'संध्या'। सो रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

पहिले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनुजी ने अध्याय ५ के १०९ श्लोक (अद्भिर्गात्राणि इत्यादि) में यह लिखा है कि शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान

से शुद्ध होती है। परन्तु शरीरशुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है।

तब कुशा वा हाथ से मार्जन करे अर्थात् परमेश्वर का ध्यान आदि करने के समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे इसलिये शिर और नेत्र आदि पर जल प्रक्षेप करे आलस्य न हो तो न करना।

पुनर्न्यूनान्न्यूनांस्त्रीन् प्राणायामान् कुर्य्यात्।

आभ्यन्तरस्थं वायुं नासिकापुटाभ्यां बलेन बहिर्निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भ- ... शनैश्शनैर्गृहीत्वा किंचित् तमवरुध्य पुनस्तथैव बहिर्निस्सारयेदवरोधयेच्च। एवं त्रिवारं न्यूनातिन्यूनं कुर्य्याद्। अनेनात्ममनसोः स्थितिं सम्पादयेत्।

ततो गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा रक्षाञ्च कुर्य्यात्।

इतस्ततः केशा न पतेयुरेतदर्थं शिखाबन्धनम्। प्रार्थितस्सन्नीश्वरस्सत्कर्मसु सर्वत्र सर्वदा रक्षेन्नः, एतदर्थं रक्षाकरणम्।

भावार्थ—फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे। अर्थात् भीतर के वायु को बल से निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोक दे। फिर शनैः-शनैः ग्रहण करके कुछ चिर भीतर ही रोक के बाहर निकाल दे और वहाँ भी कुछ रोके। इस प्रकार कम से कम तीन वार करे। इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे।

इसके अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा को बाध के रक्षा करे। इसका प्रयोजन यह है कि इधर-उधर केश न गिरें सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे। और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों मे सदा सब जगह मे हमारी रक्षा करे।

अथाचमनमन्त्रः ॥

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ यजु० अ० ३६। मं० १२ ॥

भाष्यम्—'**आप्लृ व्याप्तौ**' अस्माद्धातोरप्शब्दः सिध्यति। अप्शब्दो नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। '**दिवु क्रीडाद्यर्थः**'। (शन्नो दे०) देव्य आपः सर्वप्रकाशस्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापक ईश्वरः (अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये (नः) अस्मभ्यम् (शम्) कल्याणम्, (भवन्तु) अर्थात् भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरः (नः) अस्मभ्यम्, (शंयोः) शम् (अभिस्रवन्तु) अर्थात् सुखस्याभितः सर्वतो वृष्टिं करोतु।

अप्शब्देनेश्वरस्य ग्रहणम्। अत्र प्रमाणम्—

यत्र॑ लो॒कांश्च॒ कोशां॒श्चापो॒ ब्रह्म॒ जना॑ वि॒दुः।
अस॑च्च॒ यत्र॒ सच्चा॒न्तः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥

अथ० कां० १०। सू० ७। म० १० ॥

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्शब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणं क्रियते ॥

एवमनेन मन्त्रेणेश्वरं प्रार्थयित्वा त्रिराचामेत् । जलाभावश्चेन्नैव कुर्यात् । आचमनमप्यालस्यस्य कण्ठस्थकफस्य निवारणार्थम् ।

भाषार्थ—अब आचमन करने का मन्त्र लिखते हैं ।

(ओं शन्नो देवी इत्यादि) इसका अर्थ यह है कि 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है । 'दिवु' धातु अर्थात् जिसके क्रीडा आदि अर्थ हैं, देवी शब्द सिद्ध होता है । (देवीः आपः) सबका प्रकाशक, सबको आनन्द देनेवाला और सर्वव्यापक ईश्वर (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिये और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो अर्थात् हमारा कल्याण करे । वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) सर्वदा वृष्टि करे ।

यहां 'अप्' शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण—(यत्र लोकाश्च०) जिसमें सब लोक लोकान्तर, कोश अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खजाना जिसमे असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं, उसी का नाम अप् है । और वह नाम ब्रह्म का है तथा उसी को स्कम्भ कहते हैं । वह कौनसा देव और कहा हैं ? इसका यह उत्तर है कि जो (अन्तः) सबके भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है उसी को तुम उपास्य पूज्य और इष्टदेव जानो । इस वेदमन्त्र के प्रमाण से अप् नाम ब्रह्म का है ॥

इस प्रकार इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे । यदि जल न हो तो न करे । आचमन से गले के कफादि की निवृत्ति होना प्रयोजन है ।

अथेन्द्रियस्पर्शः ॥

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः । ओं चक्षुः चक्षुः । ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम् । ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्यां यशोबलम् । ओं करतलकरपृष्ठे ॥

भाष्यम्—एभिः सर्वत्रेश्वरप्रार्थनया स्पर्शः कार्य्यः । सर्वेश्वरकृपयेन्द्रियाणि बलवन्ति तिष्ठन्त्वित्यभिप्रायः ॥

अथेश्वरप्रार्थनापूर्वकमन्त्राः ॥

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः । ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि । ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।

भाष्यम्—ओमित्यस्य, भूर्भुवः स्वरित्येतासां चार्था गायत्रीमन्त्रार्थे द्रष्टव्याः । महरर्थात् सर्वेभ्यो महान्, सर्वैः पूज्यश्च । सर्वेषां जनकत्वाज्जनः परमेश्वरः । दुष्टानां सन्ताप-

कारकत्वात् स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वात्, 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इति वचनस्य प्रामाण्यात् तप ईश्वरः । यदविनाशि यस्य कदाचिद् विनाशो न भवेत् तत्सत्यम् । ब्रह्म व्यापकमिति बोध्यम् ॥

इतीश्वरनामभिर्मार्जनं कुर्य्यात् ।

अथ प्राणायाममन्त्राः ॥

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् । तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ७१ ॥

इति प्राणायाममन्त्राः

भाष्यम्—एतेषामुच्चारणार्थविचारपुरस्सरं पूर्वोक्तप्रकारेण प्राणायामान् कुर्य्यात् ॥

भाषार्थ—अथेन्द्रियस्पर्शः–(ओं वाक् वागित्यादि) इस प्रकार से ईश्वर की प्रार्थना पूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रिय बलवान् रहें ।

अब ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक मार्जन के मन्त्र लिखे जाते हैं—

(ओं भूः पुनातु शिरसीत्यादि) । ओंकार, भूः, और भुवः और स्वः इनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देख लेना । (महः) सबसे बड़ा और सबका पूज्य होने से परमेश्वर को 'मह' कहते हैं । (जनः) सब जगत् के उत्पादक होने से परमेश्वर का 'जन' नाम है । (तपः) दुष्टों को संतापकारी और ज्ञानस्वरूप होने से ईश्वर को 'तप' कहते हैं, क्योंकि 'यस्येत्यादि' उपनिषद् की श्रुति इसमें प्रमाण है । (सत्यम्) अविनाशी होने से परमेश्वर का 'सत्य' नाम है और व्यापक होने से ब्रह्म नाम परमेश्वर का है अर्थात् पूर्व मन्त्रोक्त सब नाम परमेश्वर ही के हैं ॥

इस प्रकार ईश्वर के नामों के अर्थों का स्मरण करते हुये मार्जन करे ।

अब प्रणायाम के मन्त्र लिखते हैं—(ओं भूरित्यादि) । इनके उच्चारण और अर्थ विचारपूर्वक पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार प्राणायामों को करे ॥

अथाघमर्षणमन्त्राः ॥

अथेश्वरस्य जगदुत्पादनद्वारा स्तुत्याऽघमर्षणमन्त्रा अर्थात् पापदूरीकरणार्थाः ।

ओम् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४८ । म० १-३ ॥

भाष्यम्—(धाता दधाति सकलं जगत् पोषयति वा स धातेश्वरः (वशी) वश कर्तुं शीलमस्य सः (यथापूर्वम्) यथा तस्य सर्वज्ञे विज्ञाने जगद्रचनज्ञानमासीत्, पूर्वकल्पसृष्टौ यथा रचनं कृतमासीत्तथैव जीवानां पुण्यपापानुसारतः प्राणिदेहानकल्पयत् (सूर्याचन्द्रमसौ) यौ प्रत्यक्षविषयौ सूर्यचन्द्रलोकौ (दिवम्) सर्वोत्तमं स्वप्रकाशमग्न्याख्यम् (पृथिवीं) प्रत्यक्षविषयां (अन्तरिक्षम्) अर्थात् द्वयोर्लोकयोर्मध्यमाकाशं तत्रस्थाँल्लोकांश्च (स्वः) मध्यस्थं लोकम् (अकल्पयत् यथापूर्वं रचितवान् ।

ईश्वरज्ञानस्यापरिणामित्वात्, पूर्णत्वादनन्तत्वात्, सर्वदैकरसत्वाच्च नैव तस्य वृद्धिक्षयव्यभिचाराश्च कदाचिद् भवन्ति । अत एव 'यथापूर्वमकल्पयद् इत्युक्तम ।

स एव वशीश्वरः (विश्वस्य मिषतः) सहजस्वभावेन (अहोरात्राणि) रात्रेर्दिवसस्य च विभाग यथापूर्वं (विदधत्) विधानं कृतवान् । तस्य धातुर्वशिनः परमेश्वरस्यैव (अभीद्धात्) अभितः सर्वत इद्धात् दीप्तात् ज्ञानमयात् (तपसः) अर्थादनन्तसामर्थ्यात् (ऋतम्) यथार्थं सर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रं, (सत्यम्) त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणं च (अध्यजायत) यथापूर्वमुत्पन्नम् ।

(ततो रात्री) या तस्मादेव सामर्थ्यात् प्रलयानन्तर भवति सा रात्रिः (अजायत) यथापूर्वमुत्पन्नासीत् । "**तम आसीत्तमसा गूढमग्रे** ॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ । व० १७ । म० ३ ॥ अग्रे सृष्टेः प्राक् तमोऽन्धकार एवासीत्, तेन तमसा सकलं जगदिदमुत्पत्तेः प्राग् गूढ गुप्तमर्थाददृश्यमासीत् ।

(ततः समु०) तस्मादेव सामार्थ्यात् पृथिवीस्थोऽन्तरिक्षस्थश्च महान् समुद्रोऽजायत, यथापूर्वमुत्पन्न आसीत् । (समुद्रादर्णवात्) पश्चात् (संवत्सरः) क्षणादिलक्षणः कालोऽध्यजायत । यावज्जगत् तावत् सर्वं परमेश्वरस्य सामर्थ्यादेवोत्पन्नमित्यवधार्य्यम् ॥ १-३ ॥

एवमुक्तगुणं परमेश्वर संस्मृत्य पापाद्भीत्वा ततो दूरे सर्वैर्जनैः स्थातव्यम् । नैव कदाचित् केनचित् स्वल्पमपि पापं कर्त्तव्यमितीश्वराज्ञास्तीति निश्चेतव्यम् । अनेनाघमर्षणं कुर्य्याद्यतात्पापानुष्ठानं सर्वथा परित्यजेत् ।

भाषार्थ—अब अघमर्षण—अर्थात् हे ईश्वर! तू जगदुत्पादक है, इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश के मन्त्र लिखते हैं । (ओं ऋतञ्च सत्यमित्यादि) । इनका अर्थ यह है कि—

(धाता) सब जगत् का धारण और पोषण करनेवाला और (वशी) सब को वश करने वाला परमेश्वर (यथापूर्वम्) जैसा कि उस के सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी, और जैसे जीवों के पुण्य पाप थे,

उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं। (सूर्याचन्द्रमसौ) जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र लोक रचे थे वैसे ही इस कल्प मे भी रचे हैं (दिवम्) जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था वैसा ही इस कल्प में भी रचा है। तथा (पृथिवीम्) जैसी प्रत्यक्ष दीखती है (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में पोलापन है (स्वः) जितने आकाश के बीच में लोक हैं उनको (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है।

जैसे अनादिकाल से लोक लोकान्तर को जगदीश्वर बनाया करता है वैसे ही अब भी बनाये हैं और आगे भी बनावेगा। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है। उस में वृद्धि, क्षय और उलटापन कभी नहीं होता। इसी कारण से **'यथापूर्वमकल्पयत्'** इस पद का ग्रहण किया है।

(विश्वस्य मिषतः) उसी ईश्वर ने सहजस्वभाव से जगत् के रात्रि, दिवस, घटिका, पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व थे वैसे ही (विदधत्) रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से जगत् को रचा है? उसका उत्तर यह है कि (अभीद्धात् तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है। (ऋतम्) उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या का खजाना वेदशास्त्र को प्रकाशित किया, जैसा कि पूर्व सृष्टि मे प्रकाशित था। और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार वेदों का प्रकाश करेगा। (सत्यम्) जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त है, जिसके नाम अव्यक्त, अव्याकृत, सत्, प्रधान प्रकृति हैं जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी (अध्यजायत) अर्थात् कार्यरूप होके पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है। (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पीछे हजार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद का प्रमाण है कि—"जब २ विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकाररूप रहता है और उसी अन्धकार मे सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुये रहते हैं, उसी का नाम महारात्रि है।" (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और मेघमण्डल में जो महासमुद्र है सो भी पूर्व सृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है।

(समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात् क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल भी पूर्व सृष्टि के समान उत्पन्न हुआ है। वेद से लेके पृथिवी पर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है। और ईश्वर सबको उत्पन्न करके, सब में व्यापक होके, अन्तर्यामी रूप से सबके पाप पुण्यों को देखता हुआ, पक्षपात छोड़ के सत्य न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है॥ १-३॥

ऐसा निश्चित जानके ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, कर्म और वचन से पापकर्मों को कभी न करें। इसी का नाम अघमर्षण है अर्थात् ईश्वर सबके अन्तःकरण के कर्म्मों को देख रहा है। इससे पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ देवें।

'शन्नो देवी' रिति पुनराचमेत् । ततो गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत् । पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिक सकलं जगद्रचितमिति परमार्थस्वरूप ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत् ।

भाषार्थ—'शन्नोदेवीरिति' इस मन्त्र से तीन आचमन करे। तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति, अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर, पश्चात् प्रार्थना करें। अर्थात् सब उत्तम कामों मे ईश्वर का सहाय चाहे और सदा पश्चात्ताप करे कि मनुष्यशरीर धारण करके हम लोगो से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सब का उपकार करे। इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिससे हम लोग सबको सदा सुख देते रहें।

तदनन्तर ईश्वर की उपासना करे। सो दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी सब का उत्पादक, धारण करनेहारा, मङ्गलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का देनेवाला सबका पिता, माता, बन्धु, मित्र राजा न्यायाधीश है। इत्यादि ईश्वर के गुण विचारपूर्वक उपासना करने का नाम सगुणोपासना है।

तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिये कि ईश्वर अनादि अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नहीं। अजन्मा, अमृत्यु जिसका जन्म और मरण नही। निराकार, निर्विकार जिसका आकार और जिसमे कोई विकार नही। जिसमे रूप रस, गन्ध स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलीनता नही है। जिसका परिमाण छेदन, बन्धन, इन्द्रियो से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नही होता। जो ह्रस्व, दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता। जिसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नही होते। जो उलटा काम कभी नहीं करता, इत्यादि जो जगत् के गुणो से ईश्वर को अलग जान के ध्यान करना, वह निर्गुणोपासना कहाती है।

इस प्रकार प्राणायाम करके अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के यथाशक्ति बाहर ही रोकके पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके, पुन बल से बाहर फेंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके आत्मा बीच मे जो अन्तर्यामीरूप से ज्ञान और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके, अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसा गोताखोर जल में डुबकी मार के शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध, ज्ञान, आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर मे मग्न करके नित्य शुद्ध करें॥

अथ मनसा परिक्रमा मन्त्राः॥

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो

नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ :०:

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥ अथर्व० । का० ३ । सू० २७ । म० १—६ ॥

भाष्यम्—(प्राची दि०) सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं सन्ध्यायामग्न्यादिभिर्नामभिः प्रार्थयेत्। यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक्। तथा यस्यां सूर्य उदेति सापि प्राची दिगस्ति। तस्या अधिपतिरग्निरर्थात् ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (असितः) बन्धनरहितोऽस्माकं सदा रक्षिता भवतु। यस्यादित्याः प्राणाः किरणाश्चेषवः यैः सर्वं जगद् रक्षति, तेभ्य इन्द्रियाधिपतिभ्यः शरीररक्षितृभ्य इषुरूपेभ्यः प्राणेभ्यो वारं वारं नमोऽस्तु। कस्मै प्रयोजनाय ? यः कश्चिदस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं (वः) तेषां प्राणानां (जम्भे) अर्थाद्वशे दध्मः। यतस्सोऽनर्थान्निवर्त्य स्वमित्रं भवेत्। वयं च तस्य मित्राणि भवेम ॥ १ ॥

(दक्षिणा०) दक्षिणस्या दिश इन्द्रः परमैश्वर्य्ययुक्तः परमेश्वरोऽधिपतिरस्ति, स एव कृपयाऽस्माकं रक्षिता भवतु। अग्रे पूर्ववदन्वयः कर्त्तव्यः ॥ २ ॥

०· मन्त्र मे तीन संख्या प्लुत की द्योतक नहीं। अतः 'ओ' को प्लुत स्वर से अर्थात् अधिक लम्बा करके नहीं बोलना चाहिये। ऐसे ही अगले पाँच मन्त्रो मे भी।

तथा (प्रतीची दिग्०) अस्य वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमेश्वरोऽस्माकं रक्षिता भवेदिति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

(उदीची०) सोमः सर्वजगदुत्पादकोऽधिपतिरीश्वरोऽस्माकं रक्षिता स्यादिति ॥ ४ ॥

(ध्रुवा दिक्) अर्थादधो दिक्, अस्या विष्णुर्व्यापक ईश्वरोऽधिपतिः, सोऽस्यास्मान् रक्षेत्। अन्यत् पूर्ववत् ॥ ५ ॥

(ऊर्ध्वा दिक्०) अस्या बृहस्पतिरर्थाद् बृहत्या वाचो, बृहतो वेदशास्त्रस्य, बृहतामाकाशादीनां च पतिर्बृहस्पतिर्यः सर्वजगतोऽधिपतिः स सर्वतोऽस्मान् रक्षेत् अग्रे पूर्ववद्योजनीयम् ।

सर्वे मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं सर्वगुरुं न्यायकारिणं दयालुं पितृवत्पालकं सर्वासु दिक्षु सर्वत्र रक्षकं परमेश्वरमेव मन्येरन्नित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

भावार्थ—(प्राची दिगग्निरधिपतिः) जो प्राची दिक् अर्थात् जिस ओर अपना मुख हो उस ओर अग्नि जो ज्ञानस्वरूप अधिपति, जो सब जगत् का स्वामी (असितः) बन्धन रहित (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करनेवाला (आदित्या इषवः) जिसके बाण आदित्य की किरणें हैं। उन सब गुणों के अधिपति ईश्वर के गुणों को हम लोग वारंवार नमस्कार करते हैं। (रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु) जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं और पापियों को बाणों के समान पीड़ा देनेवाले हैं उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिये कि जो प्राणी अज्ञान से हमारा द्वेष करता है और जिस अज्ञान से धार्मिक पुरुष का तथा पापी पुरुष का हम लोग द्वेष करते हैं, उन सब की बुराई को उन बाणरूप किरण मुखरूप के बीच में दग्ध कर देते हैं। कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें और कोई भी प्राणी हम से वैर न करे किन्तु हम सब लोग परस्पर मित्रभाव से वर्त्तें ॥ १ ॥

(दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) जो हमारे दाहिनी ओर दक्षिण दिशा है, उसका अधिपति इन्द्र अर्थात् जो पूर्ण ऐश्वर्यवाला है। (तिरश्चिराजी रक्षिता) जो जीव कीट पतंग वृश्चिक आदि तिर्य्यक् कहाते हैं, उनकी राजी जो पंक्ति है उनसे रक्षा करनेवाला एक परमेश्वर है। (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे का अर्थ पूर्व के समान जान लेना ॥ २ ॥

(प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः) जो पश्चिम दिशा अर्थात् अपने पृष्ठ भाग में है, उसमें वरुण जो सबसे उत्तम सब का राजा परमेश्वर है, (पृदाकू रक्षितान्नमिषवः) जो बड़े बड़े अजगर-सर्पादि विषधारी प्राणियों से रक्षा करने वाला है। जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ बाणों के समान हैं, जो श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के निमित्त हैं। (तेभ्यो नमो०) इसका अर्थ पूर्व मन्त्र के समान जान लेना ॥ ३ ॥

(उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः) जो अपनी बाईं ओर उत्तम दिशा है, उसमें सोम नाम से अर्थात् शान्त्यादि गुणों से आनन्द करनेवाले जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिये।

(स्वजो रक्षिताऽशनिरिषव:) जो अच्छी प्रकार अजन्मा और रक्षा करनेवाला है। जिसके बाण विद्युत् हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥ ४ ॥

(ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपति:) ध्रुवा दिशा अर्थात् जो अपने नीचे की ओर है, उसमें विष्णु अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का ध्यान करना। (कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषव:) जिसके हरित रङ्गवाले वृक्षादि ग्रीवा के समान हैं। जिसके बाण के समान सब वृक्ष हैं। उनसे अधोदिशा में हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥ ५ ॥

(ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपति:) जो अपने ऊपर दिशा है, उसमें बृहस्पति जो कि वाणी का स्वामी परमेश्वर है, उसको अपना रक्षक जानें। जिसके बाण के समान वर्षा के बिन्दु हैं, उनसे हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥ ६ ॥

इति मनसा परिक्रमा मन्त्रा: ॥

अथोपस्थानमन्त्रा: ॥

ओम् उद् वयं तमसस्परि स्व: पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १ ॥

य० अ० ३५। मं० १४ ॥

भाष्यम्—हे परमात्मन्! (सूर्यम्) चराचरात्मानं त्वां (पश्यन्त:) प्रेक्षमाणास्सन्तो वयम् (उदगन्म) अर्थात् उत्कृष्टश्रद्धावन्तो भूत्वा वयं भवन्तं प्राप्नुयाम। कथंभूतं त्वां? (ज्योति:) स्वप्रकाशम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् (देवत्रा) सर्वेषु दिव्यगुणवत्सु पदार्थेषु ह्यनन्त-दिव्यगुणैर्युक्तं (देवम्) धर्मात्मनां मुमुक्षूणां मुक्तानां च सर्वानन्दस्य दातारं मोदयितारं च (उत्तरम्) जगत्प्रलयानन्तरं नित्यस्वरूपत्वाद् विराजमानम् (स्व:) सर्वानन्दस्वरूपम्, (तमसस्परि) अज्ञानान्धकारात् पृथग्भूतं भवन्तं प्राप्तुं वयं नित्यं प्रार्थयामहे। भवान् स्वकृपया सद्य: प्राप्नोतु न इति ॥ १ ॥

भाषार्थ— अब उपस्थान के मन्त्रों का अर्थ करते हैं जिनसे परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना की जाती है।

हे परमेश्वर! (तमसस्परि स्व:) सब अन्धकार से अलग प्रकाशस्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्तमान (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करने वालों में प्रकाशक (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिरुत्तमम्) ज्ञानस्वरूप और सबसे उत्तम आप को जानके (वयम् उदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए है। हमारी रक्षा करनी आपके हाथ है क्योंकि हम लोग आपके शरण हैं ॥ १ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतव: ।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ २ ॥ यजु० अ० ३३। मं० ३१

भाष्यम्— *(केतवः) किरणा विविधजगतः पृथक् पृथग्रचनादिनियामका ज्ञापकाः* प्रकाशका ईश्वरस्य गुणाः (दृशे विश्वाय) विश्वं द्रष्टुं (त्यम्) तं पूर्वोक्तं (देवं सूर्यम्) चराचरात्मानं परमेश्वरम् (उद्वहन्ति) उत्कृष्टतया प्रापयन्ति ज्ञापयन्ति प्रकाशयन्ति वै। (उ) इति वितर्के, नैव पृथक् पृथक् विविधनियमान् दृष्ट्वा नास्तिका अपीश्वरं त्यक्तुं समर्था भवन्तीत्यभिप्रायः। कथं भूतं देवम्? (जातवेदसम्) जाता ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदा सर्वज्ञानप्रदा यस्मात्, तथा जातानि प्रकृत्यादानि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति, यद्वा जातं सकलं जगद्वेत्ति जानाति यः स जातवेदाः' तं जातवेदसं सर्वे मनुष्यास्तमेवैकं प्राप्तुमुपासितु-मिच्छन्त्वित्यभिप्रायः॥ २॥

भाषार्थ—(उदुत्यं० जातवेदसं) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर जातवेदा नाम मे प्रसिद्ध है। (देवम्) जो सब देवों का देव और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है। (त्यम्) उस परमात्मा को दृशे विश्वाय विश्वविद्या की प्राप्ति के लिए हम लोग उपासना करते हैं (उद्वहन्ति केतवः) अर्थात् वेद की श्रुति और जगत् के पृथक् २ रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जनाते और प्राप्त कराते हैं। उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना सदा करें अन्य किसी की नहीं॥ २॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ ३॥

य० अ० ७। मं० ४२॥

भाष्यम्—स एव देवः सूर्य्यः (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य च (आत्मा) अतति नैरन्तर्य्येण सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा। तथा (आप्रा०) द्यौः पृथिवी अन्तरिक्षं चैतदादि सर्वं जगद् रचयित्वा आसमन्ताद् धारयन् सन् रक्षति। (चक्षुः) एष एवैनेषां प्रकाशकत्वाद् बाह्याभ्यन्तरयोश्चक्षुः प्रकाशको विज्ञानमयो विज्ञापकश्चास्ति। अत एव (मित्रस्य) सर्वेषु द्रोहरहितस्य मनुष्यस्य सूर्य्यलोकस्य प्राणस्य वा (वरुणस्य) वरेषु श्रेष्ठेषु कर्मसु गुणेषु वर्त्त-मानस्य च (अग्नेः) शिल्पविद्याहेतो रूपगुणदाहप्रकाशकस्य विद्युतो भ्राजमानस्यापि चक्षुः सर्वसत्योपदेष्टा प्रकाशकश्च। (देवानाम्) स दिव्यगुणवतां विदुषामेव हृदये (उदगात्) उत्कृष्टतया प्राप्तोऽस्ति प्रकाशको वा। तदेव ब्रह्म (चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम्। देवम् अत्र प्रमाणम्—

आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

कठोपनि० वल्ली २॥

आश्चर्य्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः। तदेव ब्रह्म सर्वेषां चास्माकं (अनीकम्) सर्वदुःख-नाशार्थं कामक्रोधादिशत्रुविनाशार्थं बलमस्ति। तद्विहाय मनुष्याणां सर्वसुखकरं शरणमन्यन्ना-स्त्येवेति वेद्यम्।

(स्वाहा) अथात्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणम् । निरुक्तकारा आहुः—

"स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा ।। निरु० अ० ८। खं० २० ।।

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् । (स्वा वागाहेति वा) या स्वकीया वाग् ज्ञानमध्ये वर्त्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यम्, न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं ह०) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः । स्वमेव पदार्थं प्रति वयं सर्वदा सत्यं वदाम इति; न कदाचित् परपदार्थं प्रति मिथ्या वदेमेति ।। ३ ।।

भाषार्थ—(चित्रं देवाना०) । (सूर्य्य आत्मा०) प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है उसको सूर्य कहते हैं । (आप्रा द्या०) जो सूर्य और अन्य सब लोकों को बनाके धारण और रक्षण करनेवाला है (चक्षुर्मित्रस्य) जो मित्र अर्थात् रागद्वेषरहित मनुष्य तथा सूर्यलोक और प्राण का चक्षु प्रकाश करनेवाला है (वरुणस्या०) सब उत्तम कामों में जो वर्त्तमान मनुष्य प्राण अपान और अग्नि का प्रकाश करनेवाला है, (चित्रं देवाना) जो अद्भुतस्वरूप विद्वानों के हृदय में सदा प्रकाशित रहता है (अनीकम्) जो सकल मनुष्यों के सब दुःख नाश करने के लिये परम उत्तम बल है वह परमेश्वर (उद्गात्) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे ।। ३ ।।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।। ४ ।। यजु० अ० ३६ । मं० २४ ।।

भाष्यम्—(तच्चक्षुः) यत् सर्वद्रष्टृ (देवहितम्) देवेभ्यो हितं दिव्यगुणवतां धर्मात्मनां विदुषां स्वसेवकानां च हितकारी वर्त्तते । यत् (पुरस्तात्) सृष्टेः प्राक् (शुक्रम्) सर्वजगत्कर्त्तृ शुद्धमासीद्; इदानीमपि तादृशमेव चास्ति । तदेव (उच्चरत्) अर्थात् उत्कृष्टतया सर्वत्र व्याप्तं विज्ञानस्वरूपम् (उद्) प्रलयादूर्ध्वं सर्वसामर्थ्यं स्थास्यति । (तत्) ब्रह्म (पश्येम शरदः शतम्) वयं शतं वर्षाणि तस्यैव प्रेक्षणं कुर्महे । तत्कृपया (जीवेम शरदः शतम्) शतं वर्षाणि प्राणान् धारयेमहि । (शृणुयाम शरदः शतम्) तस्य गुणेषु श्रद्धाविश्वासवन्तो वयं तमेव शृणुयाम । तथा च तद् ब्रह्म तद्गुणांश्च (प्रब्रवाम श०) अन्येभ्यो मनुष्येभ्यो नित्यमुपदिशेम । (अदीनाः स्याम श०) एवं च तदुपासनेन, तद्विश्वासेन, तत्कृपया च शतवर्षपर्यन्तमदीना स्याम भवेम । मा कदाचित्कस्यापि समीपे दीनता कर्तव्या भवेन्नो दारिद्र्यं च । सर्वदा सर्वथा कृपया स्वतन्त्रा वयं भवेम । तथा (भूयश्च श०) वयं तस्यैवानुग्रहेण भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं पश्येम, जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम अदीनाः स्याम चेत्यन्वयः ।

*अर्थान्नैव मनुष्यास्तमतिकृपालुं परमेश्वरं त्यक्त्वाऽन्यमुपासीरन्, याचेरन्नित्यभिप्रायः । "**योऽन्यां देवतामुपास्ते पशुरेव स देवानाम्॥** श० कां० १४। अ० ४।२।२२।" सर्वे मनुष्याः परमेश्वरमेवोपासीरन् । यस्तस्मादन्योपासनां करोति स इन्द्रियारामो गर्द्दभवत् सर्वैशिष्टैर्विज्ञेय इति निश्चयः ॥ ४ ॥*

कृताञ्जलिरत्यन्तश्रद्धालुर्भूत्वैतैर्मन्त्रैः स्तुवन् सर्वकालसिध्यर्थं परमेश्वरं प्रार्थयेत् + ।

भाषार्थ—(तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा, धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्यस्वरूप से वर्त्तमान रहता और सब जगत् का करनेवाला है। (पश्येम शरदः शतम्) उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्य्यन्त देखें। (जीवेम शरदः शतम्) जीवें (शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें (प्रब्रवाम शरदः,) उसी ब्रह्म का उपदेश करें (अदीनाः स्याम०) और उसकी कृपा से किसी के आधीन न रहें। (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें।

अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़, इन्द्रिय शुद्ध मन और आनन्द सहित हमारा आत्मा सदा रहे। यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्यदेव है। 'जो मनुष्य इसको छोड़के दूसरे की उपासना करता है वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है' ॥४॥'

इसलिये प्रेम में अत्यन्त मग्न होके अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़के, इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें।

अथ गुरुमन्त्रः ॥

ओ३म्, (यजु० अ० ४० मं० । १७) भूर्भुवः स्वः ।
तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

य० अ० ३६ । मं० ३ ॥ ऋ० मण्ड० ३ । सू० ६२ । मं० १० ॥

एवं चतुर्षु वेदेषु समानो मन्त्रः ॥

भाष्यम्—अस्य सर्वोत्कृष्टस्य गायत्रीमन्त्रस्य संक्षेपेणार्थ उच्यते—'अ उ म्' एतत्त्रयं मिलित्वा 'ओ३म्' इत्यक्षरं भवति । यथाह मनुः—

"अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥" मनु० अ० २ । श्लो० ७६ ॥

एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति । एतेनैकेनैव नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम् । तद्यथा ।

अकारेण विराडग्निविश्वादीनि—(विराट्) विविधं चराचरं जगद् राजयते प्रकाश-

+ १, २, ३, आर्यभाषार्थानुसारेण बहुवचनेन भाव्यम् । तच्चेत्थम् श्रद्धालवो, स्तुवन्तः, प्रार्थयत । सं० ।

यते स विराट् सर्वात्मेश्वरः। (अग्निः) अञ्च्यते प्राप्यते सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः। (विश्व) विष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् स विश्वः। यद्वा विष्टोऽस्ति प्रकृत्यादिषु यः स विश्व.। एतदाद्यर्था अकारेण विज्ञेयाः।

उकारेण हिरण्यगर्भवायुतैजसादीनि। **तद्यथा**—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्य्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य, तथा सूर्य्यादीनां तेजसां यो गर्भोऽधिष्ठानं हिरण्यगर्भः। अत्र प्रामाणम्—

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतं हिरण्यम् ॥ श०कां०६।अ० ७।ब्रा०१।कं० २॥
'यशो वै हिरण्यम् ॥ ऐ० प० ७। ख १८॥'

(वायुः) यो वाति जानाति धारयत्यनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् वायुः। स चेश्वर एव भवितुमर्हति नान्यः। 'तद्वायुः' इति मन्त्रवर्णादर्थाद् ब्रह्मणो वायुसंज्ञास्ति। (तैजसः) सूर्य्यादीनां प्रकाशकत्वात्स्वयप्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः। एतदाद्यर्था उकाराद् विज्ञातव्याः।

मकारेणेश्वरादित्यप्राज्ञादीनि नामानि बोध्यानि। तद्यथा—(ईश्वरः) ईष्टेऽसौ सर्वशक्तिमान् न्यायकारीश्वरः। (आदित्यः) अविनाशित्वादादित्य. परमात्मा। (प्राज्ञः) प्रजानाति सकलं जगदिति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञश्च परमात्मैवेति। एतदाद्यर्था मकारेण निश्चेतव्या ध्येयाश्चेति।

अथ महाव्याहृत्यर्थाः संक्षेपतः—"भूरिति वै प्राणः। भुवरित्यपानः। स्वरिति व्यानः॥ इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्। प्रपा० ७। अनु० ६॥"

(भूः) प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः, स प्राणः प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव। अयमर्थो भूशब्दस्य ज्ञेयः। (भुवः) यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वमेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति। अथ भुवःशब्दार्थोऽस्तीयि बोध्यम्। (स्वः) यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकल जगत् स व्यानः, सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति। खल्वयं स्वःशब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम्। एतदाद्यर्था महाव्याहृतीनां ज्ञातव्याः।

(सवितुः) सुनोति, सूयते, सुवति वोत्पादयति सृजति सकल जगत् स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्य, 'सवितुः प्रसवे' इति मन्त्रपदार्थाद्युत्पत्ते. कर्त्ता योऽर्थोऽस्ति स सवितेत्युच्यत इति मन्तव्यम्। (वरेण्यम्) यद्वर वर्त्तमहंमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् (भर्ग.) यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्ध सकलदोषरहितं पक्व परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद्भर्ग.। (देवस्य) यो दीव्यति प्रकाशयति खल्वानन्दयति सर्वं विश्वं स देव., तस्य देवस्य (धीमहि) तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि। कस्मै प्रयोजनाय? तस्य धारणेन विज्ञानादिबलेनैव वयं पुष्टा दृढा सुखिनश्च भवेमेत्यस्मै प्रयोजनाय। तथा च (य) परमेश्वर (न) अस्माकं (धियो) धारणवतीर्बुद्धी (प्रचोदयात्) प्रेरयेत्।

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अज हे निराकार सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यद्वरेण्यं भर्गस्तद्वय धीमहि। कस्मै प्रयोजनाय? यः सविता देवः परमेश्वरः, स नो नोऽस्माक धियो बुद्धीः प्रचोदयात्।

यो हि सम्यग्ध्यातः प्रार्थितः सर्वेष्टदेवः परमेश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण स्वशक्त्या च ब्रह्मचर्य-विद्याविज्ञानसद्धर्मजितेन्द्रियत्वपरब्रह्मानन्दप्राप्तिमतीरस्माकं धीः कुर्य्यादस्मै प्रयोजनाय। तत्-परमात्मस्वरूपं वयं धीमहीति संक्षेपतो गायत्र्यर्थो विज्ञेयः॥

एवं प्रातः सायं द्वयोः सन्ध्ययोरेकान्तदेशं गत्वा शान्तो भूत्वा यतात्मा सन् परमेश्वरं प्रतिदिनं ध्यायेत्।

भावार्थ—अथ गुरुमन्त्रः—(ओम् भूर्भुवः स्वः०)। जो अकार, उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है। सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है। जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।

जैसे अकार से—(विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करने वाला है। (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है और जो सर्वत्र प्रविष्ट है। इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये।

उकार से—(हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करने वाले सूर्य्यादि लोक हैं, और जो प्रकाश करनेहारे सूर्य्यादि लोकों का अधिष्ठान है। इससे ईश्वर को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। हिरण्य के अर्थ ज्योति, अमृत और कीर्ति हैं। (वायुः) जो अनन्त बलवाला और सब जगत् का धारण करनेहारा है। (तैजसः) जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है। इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिये।

तथा मकार से—(ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक, सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। (आदित्यः) जो नाशरहित है (प्राज्ञः) ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है। इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना। यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया।

अब संक्षेप से महाव्याहृतियों का अर्थ लिखते हैं—(भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीने का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है। (भुवरित्यपानः) जो मुक्ति की इच्छा करनेवालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है इसलिये परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सबको नियम में रखता और सब का ठहरने का स्थान तथा सुख-स्वरूप है इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह व्याहृतियों का संक्षेप से अर्थ लिख दिया।

अब गायत्री मन्त्र का अर्थ लिखते हैं–(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करने हारा और ऐश्वर्य का देनेवाला है (देवस्य) जो सब के आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है उसका (वरेण्यम्) जो अत्यन्त ग्रहण करने के योग्य (भर्गः) जो शुद्ध विज्ञान स्वरूप है (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। किस प्रयोजन के लिये? कि (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है वह (नः) हमारी (धियः) बुधियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

इसलिए सब लोगों को चाहिये कि सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, नित्य-ज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करनेहारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें कि जिसमे धर्म, अर्थ, काम मोक्ष जो मनुष्यदेह रूप वृक्ष के चार फल है, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों। यह गायत्री मन्त्र का अर्थ सक्षेप मे हो चुका ॥

अत्र समर्पणम् ॥

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाम-मोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ॥

तत ईश्वरं नमस्कुर्यात् ।

भाषार्थ—इस प्रकार से सब मन्त्रों के अर्थों मे परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करे—कि हे ईश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण है। जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म—सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ—जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम—जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है, और मोक्ष—जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो ॥

इति समर्पणम् ॥

इसके पीछे नमस्कार करे—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च । य० अ० १६ । मं० ४१ ॥

भाष्यम्—(नमः शम्भवाय च) यः सुखस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति त वयं नमस्कुर्महे । (मयोभवाय च) यः संसारे सर्वोत्तमसौख्यप्रदातास्ति, तं वय नमस्कुर्महे । (नमः शङ्कराय च) यः कल्याणकारकः सन् धर्मयुक्तानि कार्य्याण्येव करोति, तं वयं नमस्कुर्महे । (मयस्कराय च) यः स्वभक्तान् सुखकारकत्वाद् धर्मकार्य्येषु युनक्ति तं वयं नमस्कुर्महे । (नमः शिवाय च शिवतराय च) योऽत्यन्तमङ्गलस्वरूपः सन् धार्मिकमनुष्येभ्यो । मोक्षसुखप्रदातास्ति तस्मै परमेश्वराय-यास्माकमनेकधा नमोऽस्तु ॥

भाषार्थ—(नमः शंभवाय च) जो सुखस्वरूप (मयोभवाय च) संसार के उत्तम सुखों का देनेवाला (नमः शंकराय च) कल्काण का कर्त्ता, मोक्षस्वरूप, धर्मयुक्त कामो को ही करने वाला (मयस्कराय च) अपने भक्तों को सुख का देनेवाला और धर्म्म कामों मे युक्त करनेवाला (नमः शिवाय च शिवतराय च) अत्यन्त मङ्गलस्वरूप और धार्मिक मनुष्यो को मोक्ष-सुख देनेहारा है उसको हमारा बारम्बार नमस्कार हो ॥

इति सन्ध्योपासनविधिः ॥

अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनयोः प्रमाणानि—

सा॒यंसा॑यं गृ॒हप॑तिर्नो अ॒ग्निः प्रा॒तःप्रा॑तः सौमन॒सस्य॑ दा॒ता ।
वसो॒र्वसो॑र्वसु॒दान॑ एधि व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम ॥ १ ॥
प्रा॒तःप्रा॑तर्गृ॒हप॑तिर्नो अ॒ग्निः सा॒यंसा॑यं सौमन॒सस्य॑ दा॒ता ।
वसो॒र्वसो॑र्वसु॒दान॑ ए॒धीन्धा॑नास्त्वा श॒तंहि॑मा ऋधेम ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ३, ४ ॥

तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते । स ज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः, कालः, सा सन्ध्या । तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम् ॥ ३ ॥

षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४ । खं० ५ ॥

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आ० २ । प्रपा० १ । अनु २ ॥

[पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ ५ ॥]
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ६ ॥

मनु० अ० २ । श्लो० [१०१,] १०३ ॥

भाष्यम्—अयं (नः) अस्माकं (गृहपतिः०) गृहात्मपालकोऽग्निः भौतिकः परमेश्वरश्च (प्रातः-प्रातः) तथा (सायं-सायं) च परिचरितस्सूपासितः सन् (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दाता भवति । तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च । अतएव परमेश्वरः (वसुदानः) वसुप्रदातास्ति । हे परमेश्वर ! एवंभूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः । (वयं) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वाम् (इन्धानाः) प्रकाशयितारस्सन्तो वयं (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्येम ॥ १ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । परन्त्वयं विशेषः—वयमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्द्धेमहि । एवं कृतेन कर्म्मणा नोऽस्माकं नैव कदाचिद्धानिर्भवेदितीच्छामः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सायंसायं०) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देने वाला है उसी प्रकार उत्तम से उत्तम वस्तु का देने वाला है । इसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देने वाला प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित

रहिये। तथा इस मन्त्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिए भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। (वय त्वे०) हे परमेश्वर! पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको प्रकाश करते हुये अपने शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें। इसी प्रकार भौतिक अग्नि को प्रज्वलित करते हुए सब संसार की पुष्टि करके पुष्ट हों ॥ १ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु यह विशेष है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतं हिमाः) सौ हेमन्त ऋतु बीत जायं जिन वर्षों में, अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें। और पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी हानि कभी न हो, ऐसी इच्छा करते हैं ॥ २ ॥

(तस्माद् ब्राह्मणो०) ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अप्रकाश का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना। और उस समय में जो सन्ध्योपासन की ध्यान क्रिया करनी होती है, वही सन्ध्या है। और जो एक ईश्वर को छोड़के दूसरे की उपासना न करनी तथा सान्ध्योपासन कभी न छोड़ देना, इसी को सान्ध्योपासन कहते हैं ॥ ३ ॥

(उद्यन्तमस्तं यन्त०) जब सूर्य्य के उदय और अस्त का समय आवे उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय में परमेश्वर की नित्य उपासना किया करे ॥ ४ ॥

इसमें मनुस्मृति की भी साक्षी है कि दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्य्योदय पर्य्यन्त प्रातः सन्ध्या, और सूर्य्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्य्यन्त सायंकाल मे सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ॥ ५ ॥

(न तिष्ठति तु०) जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नही करता, उसको शूद्र के समान समझकर द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिये। वह सेवाकर्म किया करे और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रहना चाहिए। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि सब कामो से इस काम को मुख्य जानकर पूर्वोक्त दो समयो मे जगदीश्वर की उपासना नित्य करते रहें ॥ ६ ॥

इत्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनप्रमाणानि ॥

इति प्रथमो ब्रह्मयज्ञः समाप्तः ॥

———

अथ द्वितीयोऽग्निहोत्रो देवयज्ञः प्रोच्यते

उसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिए कि सन्ध्योपासन करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिए सोना, चांदी, तांबा, लोहा व मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये। जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौडा, सोलह अंगुल गहिरा और उसका तला चार अंगुल का लम्बा चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डंडी सोलह अंगुल और उसके अग्रभाग में अंगूठा की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवे। सो भी सोना चांदी वा पलाशादि लकडी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चांदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकडी समिधा के लिये रख लेवे।

पुनः घृत को गर्म कर छान लेवे। और एक सेर घी मे एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर पीस के मिलाकर उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र मे रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे तब शुद्ध स्थान में बैठ के पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो, उतने शोधे हुए घी को निकालकर अग्नि मे तपा के सामने रख लेवे। तथा चमसे को भी रख लेवे। पुन. उन्ही पलाशादि वा चन्दनादि लकड़ियों को वेदि में रखकर उनमें आगी धरके पखे से प्रदीप्त कर नीचे लिखे मन्त्रों मे से एक २ मन्त्र से एक २ आहुति देता जाय, प्रात.काल वा सायकाल मे। अथवा एक समय मे करे तो सब मन्त्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोत्रहोमकरणार्थाः मन्त्राः ॥

ओं सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ १ ॥

ओं सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

एते चत्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम् ।

ओमग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

ओमग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

'अग्निर्ज्योतिः०' ॥ ३ ॥ इति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥ य० अ० ३ । मं० ९. १० ॥

एते सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥

ओं भुववर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥

ओं भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यःप्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

ओम् आपो ज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥ ६ ॥

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषा प्रकाशकानामपि ज्योतिः प्रकाशकः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्वजगदुपकारायैकामाहुतिं दद्मः ॥ १ ॥

(सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविद यो ज्योतिषा ज्ञानवता जीवानामपि वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

(ज्योतिः सूर्य्यः०) यः स्वयंप्रकाशः, सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाऽथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) संप्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै० ॥ ४ ॥

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्तु ।

अथ सायंकालाहुतयः—(अग्नि०) योऽग्निर्ज्ञानस्वरूपो ज्ञानप्रदश्च, ज्योतिषा ज्योतिः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै ॥ १ ॥

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निरनन्तविद्य, आत्मप्रकाशकः, सर्वपदार्थप्रकाशकश्च सूर्यादिद्योतकोऽस्ति, तस्मै ॥ २ ॥

(अग्निर्ज्योतिः) इत्येनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति । यश्चन्द्रवत्या वायुश्चन्द्रवत्या रात्र्या सह सजूर्वर्त्तते, सोऽग्निः (जुषाणः) संप्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु । तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

एताभिः सायकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा ।

(ओं भूर०) एतानि सर्वाणीश्वरनामान्येव वेद्यानि । एतेषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः ॥ ॥ १—५ ॥

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते, भवत्कृपया परोपकारायाल भवत्विति । एतदर्थमेतत्कर्म्म तुभ्यं समर्प्यते ॥ ६ ॥

एवं प्रातःसायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽग्रे यावदिच्छा तावद्गायत्रीमन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात् ।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्र हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते 'तदग्निहोत्रम्' । सुगन्धपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यधैर्य्यबलकरै रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्धया पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगादत्यन्तोत्तमतया सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकारतयाऽत्यन्तसुखलाभो भवतीश्वरप्रसन्नता चेत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ—(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्यादिप्रकाशक लोकों का भी प्रकाशक है उसकी प्रसन्नता के लिए हम लोग होम करते है ॥ १ ॥

(सूर्य्यो व०) जो सूर्य परमेश्वर हम को सब विद्याओं का देने वाला, और हम लोगों से उनका प्रचार कराने वाला है उसी के अनुग्रह के लिये हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥

(ज्योतिः सूर्य्य०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला, सूर्य्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते है ॥ ३ ॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्यापक, वायु और दिन के साथ परिपूर्ण सब पर प्रीति करनेवाला और सबके अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त है । वह अग्नि परमेश्वर हम को विदित हो । उसके अर्थ हम होम करते हैं ॥ ४ ॥

इन चार आहुतियों को प्रातःकाल अग्निहोत्र में करना चाहिये ।

(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो परमेश्वर ज्योतिःस्वरूप है उसकी आज्ञा से हम परोपकार के लिये होम करते हैं । और उसका रचा हुआ जो यह भौतिकाग्नि है, जिसमें द्रव्य डालते हैं सो इसलिए है कि उन द्रव्यों को परमाणु करके जल और वायु, वृष्टि के साथ मिलाके उन को शुद्ध करदे । जिससे सब संसार सुखी होके पुरुषार्थी हो ॥ १ ॥

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि जो परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का हेतु है । इसलिये हम लोग होम करके परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं । यह दूसरी आहुति हुई ॥ २ ॥

तीसरी आहुति प्रथम मन्त्र मे मौन करके करनी चाहिये ॥ ३ ॥

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर प्राणादि में व्यापक, वायु और रात्रि के साथ पूर्ण, सब पर प्रीति करनेवाला और सब के अंग-अंग में व्याप्त है, वह अग्नि परमेश्वर हमको प्राप्त हो । जिसके लिये हम होम करते हैं ॥ ४ ॥

अब जिन मन्त्रों से दोनों समय में होम किया जाता है, उनको लिखते हैं—(ओ मू०) इन मन्त्रों में जो २ नाम है वे सब ईश्वर के ही जानो। उनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देखने योग्य हैं ॥ १—४ ॥

और (आपो०) 'आपः' जो प्राण परमेश्वर के प्रकाश को प्राप्त होके रस अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप है, उस ब्रह्म को प्राप्त होकर तीनों लोको में हम लोग आनन्द से विचरें ॥ ५ ॥

[(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! हम परोपकार के लिये जिस कर्म को करते हैं वह कर्म आपकी कृपा से परोपकार के लिये समर्थ हो। इस लिये यह कर्म आप के समर्पण है ॥ ६ ॥]*

इस प्रकार प्रातः और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे इन पूर्वोक्त मन्त्रो से होम करके अधिक होम करने की जहां तक इच्छा हो वहां तक 'स्वाहा' अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करे।

अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि, वा ईश्वर की आज्ञा-पालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते है उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्ध, घृत, दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़-शर्करा आदि मिष्ट तथा सोमलतादि औषधि रोगनाशक, जो ये चार प्रकार के बुद्धि-वृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य करनेवाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म्म करनेवाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अत्यन्त सुख का लाभ होता है। तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे-ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

* यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है ॥

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितृंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् 'तर्पणम्'। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तदेतत् कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटते, नैव मृतकेषु। कुतः? तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात्। मृतकोद्देशेन यत्क्रियते, नैव तेभ्यस्तत्प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति।

तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च। तत्र
देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥ २॥

य० अ० १९। म० ३९॥

द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्धि वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यं, तस्मात् तं यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ २॥ शतं० कां० १। अ० १। ब्रा० १। कं० ४, ५॥

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ ३॥ श० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ६। कं० १०॥

भाष्यम्—हे (जातवेदः) परमेश्वर! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु तथा (पुनन्तु मनसा धियः) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयध्यानेन वा नो बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु॥ १॥

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवाः, मनुष्याश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः। (सत्यमेव०) यत् सत्यवचनं सत्यमानं सत्य कर्मैतद्देवानां लक्षणं भवति। तथैतदनृत वचनमनृतं मानमनृतं कर्म चेति मनुष्याणाम्। योऽनृतात् पृथग्भूत्वा सत्यमुपेयात्, स देवजातौ परिगण्यते। यश्च सत्यात् पृथग्भूत्वाऽनृतमुपेयात्' स मनुष्यसंज्ञां लभते। तस्मात्सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च। यत् सत्यं व्रतमस्ति, तदेव देवा आचरन्ति। स यशस्विनां मध्ये यशस्वीति देवो भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च॥ २॥

तस्मादत्र विद्वांस एव देवास्सन्तीति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—अब तीसरा 'पितृयज्ञ' कहते है। उसके दो भेद हैं—एक तर्पण दूसरा श्राद्ध। 'तर्पण' उसे कहते है, जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहाता है।

यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मृतकों में नहीं। क्योंकि उसकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिये मृतको को सुख पहुँचाना सर्वथा असम्भव है। इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करनेवाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है।

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर। उनमें से देवों में प्रमाण—

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार से मुझको पवित्र करे। जिनका चित्त आप में है, तथा जो आपकी आज्ञा पालते है वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भी विद्यादान से मुझ को पवित्र करें। उसी प्रकार आपका दिया जो विशेष ज्ञान वा आपके विषय का ध्यान उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो। (पुनन्तु विश्वा भूतानि) और संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र आनन्दयुक्त हों ॥ १ ॥

(द्वयं वा०) दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञा होती है अर्थात् देव और मनुष्य। वहां सत्य और झूठ दो कारण है। (सत्यमेव०) जो सत्य बोलने, मानने और सत्य कर्म करने वाले है वे 'देव' और वैसे ही झूंठ बोलने, झूंठ मानने और झूंठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूंठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवे वे देवजाति में गिने जाते हैं। और जो सत्य से अलग होके झूठ को प्राप्त हो वे मनुष्य असुर और राक्षस कहे है। इसमें सब काल में सत्य ही कहे, माने और करें। सत्यव्रत का आचरण करने वाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से देव और उससे उलटे कर्म करने वाला असुर होता है ॥ २ ॥

इसी कारण से यहां विद्वान् देव हैं ॥ ३ ॥

अथर्षिप्रमाणम्—

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः ।
तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥ १ ॥

य० अ० ३१ । मं० ९ ॥

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्धयेभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ २ ॥ शत० कां० १ । अ० ७ । कं० ३ ॥

अथार्षेयं प्रवृणीते ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

शत० कां० १ । प्रपा० ३ । अ० ४ । कं० ३ ॥

भाष्यम्—(तं यज्ञम्०) इति मन्त्रः सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः ॥ १ ॥

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं यत् सर्वविद्यां पठित्वानुवचनमध्यापनं कर्मास्ति, तदृषिकृत्यमस्ति । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणर्षिभ्यो देयमृणं जायते । यत् तेषामृषीणां सेवनं करोति, तदेतेभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद् भूत्वाध्यापयति तमनूचानमृषिमाहुः ॥ २ ॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) यो मनुष्यः पठित्वा पाठनाख्यं कर्म प्रवृणीते, तदार्षेयं कर्मास्ति । य एवं कुर्वन् तेभ्य ऋषिभ्यो देवेभ्यश्चैतत् प्रियकरं वस्तुसेवनं च निवेदयति, सोऽयं विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं प्रापत् प्राप्नोति । ते चैनं विद्यार्थिनं विद्वांसं कुर्युः । यश्च विद्वानस्ति यश्चापि विद्यां गृह्णाति, स ऋषिसंज्ञां लभते । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका—के सृष्टिविद्या विषय में कह दिया है ॥ १ ॥

(अथ यदेवा०) अब इसके अनन्तर सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है वह 'ऋषिकर्म' कहाता है । उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है वह उनको सुखी करनेवाला होता है यही व्यवहार अर्थात् विद्या कोश की रक्षा करनेवाला होता है । जो सब विद्याओं को जानके सबको पढाता है, उसको 'ऋषि' कहते हैं ॥ २ ॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है । जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियो और देवों के लिये प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करनेवाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है । इस कारण से इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥ ३ ॥

अथ पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३ ॥ य० । अ० २ । मं० ३४ ॥

भाष्यम्—ईश्वर सर्वान् प्रत्याज्ञां ददाति—सर्वे मनुष्या जानीयुर्वदेयुश्चाज्ञापयेयुरिति—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीन् आचार्यादींश्च यूयं सर्वे मनुष्याः (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुत । तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीया इत्याह—(ऊर्ज्जं वहन्तीः) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिता हृद्या अपस्तेभ्यो नित्यं दद्युः । (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधरसम् (घृतम्) आज्यम् (पयः) दुग्धम् (कीलालम्) अनेक-

विषसंस्कारैः सम्पादितमन्नं माक्षिकं मधु च (परिस्रुतम्) कालपक्वं फलादिकं च दत्त्वा पितृन् प्रसन्नान् कुर्युः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जं वहन्ती०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र स्त्री नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत मे पितृन्) जो मेरे पिता पितामहादि, माता मातामहादि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सब के आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं—

(ऊर्ज वहन्ती०) जो उत्तम उत्तम जल (अमृतम्) अनेकविध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो। जिससे उनका आत्मा प्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देता रहे कि उससे तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो। (स्वधास्थ०) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो। और जिस जिस पदार्थ की तुमको अपने लिये इच्छा हो, जो जो हम लोग कर सकें, उस उस की आज्ञा सदा करते रहो। हम लोग मन वचन कर्म से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं। तुम लोग किसी प्रकार का दुःख मत पाओ। जैसे तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये जिससे हमको कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥

अथ पितृणां परिगणनम्—

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च ते क्रमशो लिख्यन्ते—१—**सोमसदः**। २—**अग्निष्वात्ताः**। ३—**बर्हिषदः**। ४—**सोमपाः**। ५—**हविर्भुजः**। ६—**आज्यपाः**। ७—**सुकालिनः**। ८—**यमराजाश्चेति**।

भाष्यम्—(सो०) सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च ते 'सोमसदः'। (अ०) अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते 'अग्निष्वात्ताः'। यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी-जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते। (ब०) बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते 'बर्हिषदः'। (सो०) यज्ञेनोत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा ते 'सोमपाः' ॥ १ ॥

(ह०) हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां ते 'हविर्भुजः'। (आ०) आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज गतिक्षेपणयोः धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम् तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसस्ते 'आज्यपाः'। (सु०) ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां ते 'सुकालिनः' (य०) ये पाक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारस्सन्ति ते 'यमराजाः' ॥ ५—८ ॥

भाषार्थ—(सो०) जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और जो शान्त्यादिगुण सहित हैं वे 'सोमसद्' कहाते हैं। (अ०) अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक उनके गुण ज्ञात करके जिन ने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं। (ब०) जो सबसे

उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम-दम-सत्य-विद्यादि उत्तमगुणों में वर्त्तमान हैं उनको 'बर्हिपद्' कहते हैं। (सो०) जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम ओषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं तथा जो सोमविद्या को जानते हैं उनको 'सोमपा' कहते हैं ॥ १—४ ॥

(ह०) जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीनेवाले है उनको 'हविर्भुजः' कहते हैं। (पा०) आज्य कहते है घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को, जो उसके दान से रक्षा करने वाले हैं, उनको 'आज्यपा' कहते है। (मु०) मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्त्तमान है उनको 'सुकालिनः' कहते है। (य०) जो पक्षपात को छोडके सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं उनको 'यमराज' कहते हैं ॥ ५—८ ॥

९—पितृपितामहप्रपितामहाः । १०—मातृपितामहीप्रपितामह्यः । ११—सगोत्राः । १२—[आचार्यादि] सम्बन्धिनः ॥

भाष्यम्—(पि०) ये मुख्यतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तस्तत्र वसन्तश्च, विज्ञानाद्यनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च, चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरो 'वसवो' विज्ञेया ईश्वरोऽपि । (पिता०) ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासास्ते 'रुद्राः' स्वे पितामहाश्च ग्राह्यास्तथा रुद्र ईश्वरोऽपि । (प्रपि०) आदित्यवदुत्तमगुणप्रकाशका विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशद्वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवद्विद्याप्रकाशकाः त आदित्याः स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्यास्तथाऽऽदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते ।

(मा०) पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः ॥ ९—१० ॥

(स०) ये स्वसमीप प्राप्ताः पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः ।

(आ० स०) ये गुर्वादिसम्बन्धिनस्सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः ॥ ११—१२ ॥

भावार्थ—(पि०) जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे, और चौबीस वर्षपर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' और 'वसु' है। (पिता०) जो पिता का पिता हो, और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त [ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपात रहित होकर दुष्टों को रुलानेवाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। (प्रपितामहः) जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त :०:] ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़ के जब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' और 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष है उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये ।

(मा०) पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों को भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये ॥ ९—१० ॥

:०: यह पाठ प्रथम सं० में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है ॥

(सगो०) जो समीपवर्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं ॥

(आचार्य्यादिसं०) जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ ११—१२ ॥

एतेषां विद्यमानानां सोमसदादीनां सुखार्थं प्रीत्या यत् सेवनं क्रियते तत् तर्पणम्, श्रद्धया यत् सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धम् । ये सत्यविज्ञानदानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति ते पितरो विज्ञेयाः ।

अत्र प्रमाणानि—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः' इत्यादीनि यजुर्वेदस्यैकोनविंशतितमेऽध्याये सप्तसु सोमसदादिषु पितृषु द्रष्टव्यानि । तथा **'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्य'** इत्यादीनि यमराजेषु । **पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः'** इत्यादीनि पितृपितामहप्रपितामहादिषु । **एवं नमो वः पितरो रसाय'** इत्यादीनि पितॄणां सत्कारे च । इति ऋग्यजुरादिवचनानि सन्तीति बोध्यम् । अन्यच्च—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ म० अ० ३ । श्लो० २८४ ॥

भावार्थ—जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवते हों, उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना 'तर्पण' और श्रद्धा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवन करना है सो 'श्राद्ध' कहाता है । जो सत्य विज्ञान-दान से जनों को पालन करते हैं वे 'पितर' हैं इस विषय में प्रमाण—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः' इत्यादि मन्त्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं । 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये' इत्यादि मन्त्र यमराजों 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इत्यादि मन्त्र पिता पितामह प्रपितामहादिकों तथा **'नमो वः पितरो रसाय'** इत्यादि मन्त्र पितरों की सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं । ये ऋग्-यजुर्वेद आदि के वचन हैं ।

और मनुजी ने भी कहा है कि—पितरों को वसु पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं; यह सनातन श्रुति है । मनु० अ० ३ । श्लो० २८४ ॥

इति पितृयज्ञविधिः समाप्तः ॥



अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ८४)

भाषार्थ—[अब चौथे बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़कर घृत-मिष्टयुक्त अन्न जो कुछ पाकशाला में सिद्ध हो, उसको दिव्यगुणों के अर्थ पाकाग्नि में विधिपूर्वक नित्य होम करे ।]+

अथ बलिवैश्वदेवकर्म्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ७१ ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ २ ॥

य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

भाष्यम्—हे (अग्नि) परमेश्वर ! ये (अहरहर्बलि०) भवदाज्ञया बलिवैश्वदेवं नित्यं कुर्वन्तो मनुष्यास्ते (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या घृतदुग्धादिपुष्टिकारक-पदार्थप्राप्त्या च सम्यक् शुद्धेच्छया (मदन्त) नित्यानन्दप्राप्ताः सन्तः, मातुः पितुराचार्य्यादीनां चोत्तमपदार्थैः प्रीतिपूर्विकां सेवां नित्यं कुर्युः । (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) यथाऽश्वस्य सन्मुखे तद्भक्ष्यं तृणव्रीह्यादि वा तत्पानार्थं जलादि पुष्कलं स्थाप्यते, तथा सर्वेषां सेवनाय बहून्युत्तमानि वस्तूनि दद्युर्यतस्ते प्रसन्ना भवेयुः । (मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम) हे परमगुरो अग्ने परमेश्वर ! भवदाज्ञातो ये विरुद्धव्यवहारास्तेषु वयं कदाचिन्न प्रविशेम । अन्यायेन कदाचित्प्राणिनः पीडां न दद्याम । किन्तु सर्वान् स्वमित्राणीव स्वयं सर्वेषां मित्रमिवेति ज्ञात्वा परस्परमुपकारं कुर्य्यामेतीश्वराज्ञास्ति ॥ १ ॥

(पुनन्तु०) अस्यार्थो देवप्रकरणे* उक्तः ॥ २ ॥

+ यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम सं० में नहीं है । संस्कृतानुसार पूरा किया है ॥

* पितृयज्ञान्तर्गते इति शेषः ॥ पञ्चमहा० पृ० १४६ ॥

भावार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर! आपकी आज्ञा से (अहरहर्बलि०) नित्यप्रति बलिवैश्वदेव कर्म करते हुए हमलोग (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी, घृत-दुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति और सम्यक् शुद्ध इच्छा से (मदन्तः) नित्य आनन्द में रहें। तथा माता, पिता, आचार्य्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीतिपूर्वक सेवा करते रहें। (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) जैसे घोडे के सामने बहुत से खाने वा पीने के पदार्थ धर दिये जाते हैं, वैसे सबकी सेवा के लिये बहुत से उत्तम-उत्तम पदार्थ देवें। जिनमे वे प्रसन्न होके हम पर नित्य प्रसन्न रहें। (मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम) हे परम-गुरु अग्नि परमेश्वर! आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध व्यवहारों में हमलोग कभी प्रवेश न करें, और अन्याय से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचावें किन्तु सब को अपना मित्र और अपने को सबका मित्र समझके परस्पर उपकार करते रहें॥ १॥

(पुनन्तु०) इसका अर्थ देवतर्पणविषय + में कर दिया है॥ २॥

अथ होममन्त्राः—

ओमग्नये स्वाहा॥ १॥ ओं सोमाय स्वाहा॥ २॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ ३॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ४॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा॥ ५॥ ओं कुह्वै स्वाहा॥ ६॥ ओमनुमत्यै स्वाहा॥ ७॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ८॥ ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥ ९॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा॥ १०॥

भाष्यम्—(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः। (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः। [ओमग्नी०—प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः।] (ओं वि०) विश्वेदेवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा। (ओं धन्व०) सर्वरोग-नाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते। (ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः। अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा॥ १-६॥

(ओम०) पौर्णमासेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः. विद्यापठनान्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चिति-शक्तेः सा चितिरनुमतिर्वा। (ओं० प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः। (ओं सह) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादितयोः पुष्टिकरणाय। (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्ट-सुखं करोति स चेश्वरः॥ ७—१०॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिदानं कुर्यात्—

भावार्थ—(ओम०) अग्नि शब्दार्थ कह आये हैं। (ओं सो०) जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देनेहारा है उसको 'सोम' कहते हैं। (ओमग्नी०) जो प्राण सब प्राणियों के जीवन का हेतु, और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है इन दोनों को 'अग्नीषोम' कहते हैं। (ओं वि०) यहां संसार को प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण, अथवा विद्वान् लोगों का 'विश्वेदेव' शब्द से ग्रहण होता है। (ओं ध०) जो जन्ममरणादि रोगों का नाश करने हारा परमात्मा है वह 'धन्वन्तरि' कहाता है। (ओं कु०) जो अमा-वास्येष्टि का करना है॥ १—६॥

+ पञ्चमहा० पृ० १४७॥

(ओम०) जो पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति है, यहां उसका ग्रहण है। (ओं प्र०) जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर है वह 'प्रजापति' कहाता है। (ओं स०) ईश्वर से उत्पादित अग्नि और पृथिवी की पुष्टि करने के लिए (ओं स्वि०) जो इष्ट सुख करनेहारा परमेश्वर है, वही 'स्विष्टकृत्' कहाता है। ये दश अर्थ मन्त्रों के हैं॥ ७—१०॥

अत्र बलिदान के मन्त्रों को लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः॥ ओं सानुगाय यमाय नमः॥
ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः॥
ओं मरुद्भ्यो नमः॥ ओंअद्भ्यो नमः॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः॥
ओं श्रियै नमः॥ ओं भद्रकाल्यै नमः॥ ओं ब्रह्मपतये नमः॥
ओं वास्तुपतये नमः॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः॥
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। ओंनक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः॥
ओं सर्वात्मभूतये नमः॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥१-६॥

भाष्यम्—(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैस्सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्रेन्द्रशब्देन गृह्यते। (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्मात्र यमशब्दार्थेन वेद्यः। (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र वरुण शब्देन ग्रहीतव्यः। (ओं सानुगाय सो०) अस्यार्थः उक्तः॥

(ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्व धारयन्ति चेष्टयन्ति ते अत्र मरुतो गृह्यन्ते। (ओं अद्भ्य०) अस्यार्थः 'शन्नोदेवी' रित्यत्रोक्तः (ओं व०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरगुणाः परमेश्वरो वा। बहुवचनमत्रादरार्थम्। यद्वोत्तमगुणयोगेनश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चेति बोध्यम् (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सः श्रीरीश्वरस्सर्वसुखशोभावहत्वाद् गृह्यते। यद्वा तेनोत्पादिता विश्वशोभा च। (ओं भ०) भद्रं कल्याणं सुख कालयितुं शीलमस्या सा भद्रकालीश्वरशक्तिः।

(ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः। (ओं वा०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः। (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः। (ओं दि०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेद् दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तान्यस्मासु विघ्नं मा कुर्वन्तु। तैः सहास्माकमविरोधोऽस्तु। एतदर्थोऽयमारम्भः। (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरो नान्यः। (ओं पि०) अस्यार्थः पितृतर्पणे प्रोक्तः। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः। परस्योत्कृष्टतया मान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः॥ १—१६॥

भाषार्थ—(ओं सा०) जो सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और जो उसके गुण हैं वे 'सानुग इन्द्र' शब्द से ग्रहण होते हैं (ओं सा०) जो सत्य न्याय करने वाला ईश्वर और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद् हैं वे 'सानुग यम' शब्दार्थ से ग्रहण होते हैं। (ओं सा०) जो सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं वे 'सानुग वरुण' शब्दार्थ से

जानने चाहिएं। (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाला और जो पुण्यात्मा लोग हैं वे 'सानुग सोम शब्द से ग्रहण किये हैं।

(ओं मरु०) जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनको 'मरुत्' कहते हैं। इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। (ओमद्भ्यो०) इसका अर्थ 'शन्नोदेवी' इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है। (ओं व०) जिनसे वर्षा अधिक होती और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है उनकी भी रक्षा करनी योग्य है। (ओं श्रि०) जो सब के सेवा करने योग्य परमात्मा है उसकी सेवा से राज्यश्री की प्राप्ति के लिए सदा उद्योग करना चाहिये। (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना चाहिये।

(ओं ब्र०) जो वेद का स्वामी ईश्वर है उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्या प्रचार के लिये अवश्य करना चाहिये। (ओं वा०) वास्तुपति गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेहारा मनुष्य अथवा ईश्वर है इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये। (ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया है। (ओं दि०) जो दिन में विचरने वाले प्राणियों से उपकार लेना और उनको सुख देना है सो मनुष्यजाति का ही काम है। (ओं नक्तं०) जो रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं उनसे भी उपकार लेना और जो उनको सुख देना है, इसलिये यह प्रयोग है। (ओं सर्वात्म०) सबमें परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिये। (ओं पि०) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिये। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है। और 'नमः' शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होके दूसरे का मान्य करना। ९—१६॥

इसके पीछे छः भागों को लिखते हैं—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां संपादयेत्।

भाषार्थ—कुत्तों, कङ्गालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये छः भाग अलग-अलग बांटके दे देवे और उनकी प्रसन्नता सदा करना।

यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव की विधि लिखी॥

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते

अत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते, तत्रैव कल्याणं भवति। ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्सन्ति तानतिथीन् कथयन्ति। अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्रास्सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १५। सू० ११। मं० १, २ ॥

भाष्यम्—(तद्य०) यस्य गृहे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यो) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियतितिथिर्न यस्य काचिन्नियता तिथिर्भवति किन्तु स्वेच्छयाऽकस्मादागच्छेच्च, स यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् ॥ १ ॥

(स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च त महोत्तमासने निषादयेत्। तदनन्तरं पृच्छेद् भवतां जलादेरन्यस्य वा वस्तुन इच्छास्ति चेत्तद् ब्रूहि। सेवां कृत्वा तत्प्रसन्नतां संपाद्य स्वस्थचित्तस्सन्नेवं पृच्छेत्—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य पुरुषोत्तम ! त्वमितः पूर्वं क्व आवात्सीः कुत्र निवासं कृतवान् (व्रात्योदकम्) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण। (व्रात्य तर्पयन्तु) भवान् स्वकीयसत्योपदेशेनास्मांश्च तर्पयतु प्रीणयतु, यथा भवत्सत्योपदेशेन तत्सर्वाणि मम मित्राणि भवन्तं तर्पयित्वा विज्ञानवन्तो भवन्तु। (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवना प्रसन्नता स्यात्तथा वय कुर्य्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु। (व्रात्य यथा ते०) हे अतिथे ! यथेच्छन् भवान् तदनुकूलानस्मान् भवत्सेवाकरणे निश्चिनोतु। (व्रात्य यथा ते०) यथा भवदिच्छापूर्तिस्स्यात् तथा भवत्सेवां वय कुर्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्धया सदानन्दे तिष्ठेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब जो पांचवां अतिथियज्ञ कहाता है, उसको लिखते हैं जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है। जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक सत्यवादी छल-कपट-रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं उनको 'अतिथि' कहते हैं। इसमें अनेक वैदिक मन्त्र प्रमाण हैं। परन्तु यहां संक्षेप के लिए दो मन्त्र लिखते हैं—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त गुणयुक्त विद्वान् (व्रात्यो०) उत्तम गुण-

विशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि अर्थात् जिसकी आने जाने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो जो अकस्मात् आवे और जावे, जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो ॥ १ ॥

(स्वयमेनम०) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठाके, पश्चात् पूछे कि आपको कुछ जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे कि—(व्रात्य क्वावात्सी:) हे व्रात्य उत्तम पुरुष ! आपने यहां आने के पूर्व कहां वास किया था ? (व्रात्योदकम्) हे अतिथि ! यह जल लीजिये। (व्रात्य तर्पयन्तु) और हम लोग अपने सत्य प्रेम से आपको तृप्त करते हैं और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके उपदेश से विज्ञानयुक्त होके सदा प्रसन्न हों। (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् व्रात्य ! जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो वैसे ही हम लोग काम करें और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिए। (व्रात्य यथा०) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें। जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतोऽतिथियज्ञः ॥

इति पञ्चमहायज्ञविधिः समाप्तः ॥

प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

आर्योद्देश्यरत्नमाला

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिता ॥
ईश्वरादितत्त्वलक्षणप्रकाशिका ॥
आर्यभाषाप्रकाशोज्ज्वला ॥
आर्यादिमनुष्यहितार्था ॥

आर्यावर्त्तान्तर्गतपञ्जाबदेश नगर अमृतसर में छापेखाने
चश्मनूर में छपवा के प्रसिद्ध किया ॥

मूल्य—)॥

वेदरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम् ॥

श्रीयुत महाराज विक्रमादित्य जी के १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्ल पक्ष ७ सप्तमी बुधवार के दिन उक्त स्वामी जी ने आर्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह आर्योद्देश्यरत्नमाला पुस्तक प्रकाशित किया ॥

आर्योद्देश्यरत्नमाला

१. **ईश्वर**—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुण वाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है। जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्वजीवों को पाप, पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है; उसको ईश्वर कहते हैं।

२. **धर्म**—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात रहित न्याय सर्वहित करना है। जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक धर्म मानना योग्य है; उसको 'धर्म' कहते हैं।

३. **अधर्म**—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपात सहित अन्यायी होके विना परीक्षा करके अपना ही हित करना है। जिसमें अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है, इसलिये यह अधर्म सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, इससे यह 'अधर्म' कहाता है॥

४. **पुण्य**—जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है, उसको 'पुण्य' कहते हैं।

५. **पाप**—जो पुण्य से उलटा और मिथ्याभाषणादि करना है, उसको 'पाप' कहते हैं।

६. **सत्यभाषण**—जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा सत्य ही बोले; उसको 'सत्यभाषण' कहते हैं॥

७. **मिथ्याभाषण**—जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है; उसको 'असत्यभाषण' कहते हैं।

८. **विश्वास**—जिसका मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो; उसका नाम 'विश्वास' है।

९. **अविश्वास**—जो विश्वास से उल्टा है। जिसका तत्त्व अर्थ न हो वह 'अविश्वास' कहाता है॥

१०. **परलोक**—जिसमें सत्यविद्या करके परमेश्वर की प्राप्ति पूर्वक इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परम सुख प्राप्त होना है; उसको 'परलोक' कहते हैं।

११. **अपरलोक**—जो परलोक से उलटा है जिसमें दुःखविशेष भोगना होता है; वह 'अपरलोक' कहाता है ॥

१२. **जन्म**—जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है; उसको 'जन्म' कहते हैं ॥

१३. **मरण**—जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है; उसको 'मरण' कहते हैं ॥

१४. **स्वर्ग**—जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है; वह 'स्वर्ग' कहाता है ॥

१५. **नरक**—जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है; उसको नरक कहते हैं ॥

१६. **विद्या**—जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है; इसका 'नाम' विद्या है ।

१७. **अविद्या**—जो विद्या से विपरीत है भ्रम, अन्धकार और अज्ञानरूप है; इसलिये इसको 'अविद्या' कहते हैं ॥

१८. **सत्पुरुष**—जो सत्यप्रिय, धर्मात्मा, विद्वान्, सबके हितकारी और महाशय होते हैं; वे 'सत्पुरुष' कहाते हैं ॥

१९. **सत्सङ्ग**—जिस करके झूठ से छूटके सत्य की ही प्राप्ति होनी है उसको 'सत्सङ्ग' और जिस करके पापों में जीव फंसे उसको 'कुसङ्ग' कहते हैं ॥

२०. **तीर्थ**—जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का सङ्ग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि, उत्तम कर्म हैं, वे सब 'तीर्थ' कहाते हैं क्योंकि जिन करके जीव दुःखसागर से तर जा सकते हैं ॥

२१. **स्तुति**—जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुणज्ञान, कथन, श्रवण और सत्यभाषण करना है; वह 'स्तुति' कहाती है ॥

२२. **स्तुति का फल**—जो गुण ज्ञान आदि के करने से गुण वाले पदार्थों में प्रीति होती है; यह 'स्तुति का फल' कहाता है ॥

२३. **निन्दा**—जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया का नाम 'निन्दा' है कि जिससे गुण छोड़कर उनके स्थान में अवगुण लगाना होता है ॥

२४. **प्रार्थना**—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य का सहाय लेने को 'प्रार्थना' कहते हैं ॥

२५. **प्रार्थना का फल**—अभिमान नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ, और अत्यन्त प्रीति का होना 'प्रार्थना का फल' है ॥

२६. **उपासना**—जिस करके ईश्वर ही के आनन्द स्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है; उसको 'उपासना' कहते हैं ।

२७. **निर्गुणोपासना**—शब्द, स्पर्श और रूप, रस, गन्ध, संयोग-वियोग, हलका, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है, उसको 'निर्गुणोपासना' कहते हैं।

२८. **सगुणोपासना**—जिसको सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मङ्गलमय, सर्वानन्दप्रद सर्वपिता सब जगत् का रचनेवाला न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो 'सगुणोपासना' कहाती है।

२९. **मुक्ति**—अर्थात् जिससे सब बुरे कामों और जन्म मरणादि दुःख सागर से छूटकर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना 'मुक्ति' कहाती है॥

३०. **मुक्ति के साधन**—अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की कृपा, स्तुति प्रार्थना और उपासना का करना तथा धर्म का आचरण, पुण्य का करना, सत्सङ्ग विश्वास, तीर्थसेवन सत्पुरुषों का सङ्ग, परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना और सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब 'मुक्ति के साधन' कहाते हैं।

३१. **कर्त्ता**—जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करने वाला है अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं वह 'कर्त्ता' कहाता है।

३२. **कारण**—जिसको ग्रहण करके ही करने वाला किसी कार्य वा चीज को बना सकता है अर्थात् जिसके बिना कोई चीज बन ही नहीं सकती, वह 'कारण' कहाता है, सो तीन प्रकार का है॥

३३. **उपादान कारण**—जिसको ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे वा कुछ बनाया जाय जैसा कि मट्टी से घड़ा बनता है उसको 'उपादान' कहते हैं॥

३४. **निमित्त कारण**—जो बनाने वाला है जैसा कि कुम्भार घड़े को बनाता है इस प्रकार के पदार्थों को 'निमित्त कारण' कहते हैं॥

३५. **साधारण कारण**—जैसे चाक दण्ड आदि और दिशा, आकाश तथा प्रकाश हैं; इनको 'साधारण कारण' कहते हैं॥

३६. **कार्य**—जो किसी पदार्थ के संयोग विशेष से स्थूल होके काम में आता है अर्थात् जो करने के योग्य है, वह उस कारण का 'कार्य' कहाता है।

३७. **सृष्टि**—जो कर्त्ता की रचना करके कारण द्रव्य किसी संयोग से विशेष अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्तमान में व्यवहार करने के योग्य है; वह 'सृष्टि' कहाती है॥

३८. **जाति**—जो जन्म से लेके मरण पर्यन्त बनी रहे। जो अनेक व्यक्तियों में एक रूप से प्राप्त हो। जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे 'जाति' शब्दार्थ से लिये जाते हैं॥

३९. **मनुष्य**—अर्थात् जो विचार के बिना किसी काम को न करें; उसका नाम 'मनुष्य' है॥

४०. **आर्य**—जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा परोपकारी, सत्य विद्यादि गुणयुक्त और आर्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं, उनको 'आर्य' कहते हैं ॥

४१. **आर्यावर्त्त देश**—हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्रा नदी इन चारों के बीच और जहां तक उनका विस्तार है उनके मध्य में जो देश है; उसका नाम 'आर्यावर्त्त है ॥

४२. **दस्यु**—अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक कि जो दुष्ट मनुष्य है, वह 'दस्यु' कहाता है ॥

४३. **वर्ण**—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है; वह 'वर्ण' शब्दार्थ मे लिया जाता है ॥

४४. **वर्ण के भेद**—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं; वे 'वर्ण' कहाते हैं ॥

४५. **आश्रम**—जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायं उनको 'आश्रम' कहते है ॥

४६. **आश्रम के भेद**—जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचारी; जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये गृहाश्रम; जो विचार के लिए वानप्रस्थ; और सर्वोपकार करने के लिये संन्यासाश्रम होता है; ये 'चार आश्रम' कहाते हैं ॥

४७. **यज्ञ**—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो शिल्प व्यवहार और जो पदार्थ विज्ञान है; जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है; उसको 'यज्ञ' कहते हैं ॥

४८. **कर्म**—जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है सो 'कर्म' कहाता है । वह शुभ, अशुभ और मिश्रभेद से तीन प्रकार का है ॥

४९. **क्रियमाण**—जो वर्त्तमान में किया जाता है 'क्रियामाण कर्म' कहाता है ॥

५०. **संचित**—जो क्रियमाण का सस्कार ज्ञान में जमा होता है; उस को 'संचित कहते हैं ॥

५१. **प्रारब्ध**—जो पूर्व किये हुये कर्मों के सुख-दुःख रूप फल भोग किया जाता है' उसको 'प्रारब्ध' कहते हैं ॥

५२. **अनादि पदार्थ**—जो ईश्वर जीव और सब जगत् का कारण है ये तीन पदार्थ स्वरूप से 'अनादि' हैं ॥

५३. **प्रवाह से अनादि पदार्थ**—जो कार्य जगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग-वियोग है; ये तीन परम्परा से 'अनादि' हैं ॥

५४. **अनादि का स्वरूप**—जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न हो, जो सदा से स्वयं सिद्ध होके सदा वर्त्तमान रहे वह अनादि कहाता है ॥

✓५५. **पुरुषार्थ**—अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से अत्यन्त उद्योग करना है; उसको 'पुरुषार्थ' कहते हैं ॥

५६. **पुरुषार्थ के भेद**—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी; प्राप्त का अच्छी प्रकार रक्षण करना; रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुये पदार्थों का सत्यविद्या की उन्नति में तथा सबके हित करने में खर्च करना है; इन चार प्रकार के कर्मों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं ॥

५७. **परोपकार**—अर्थात् अपने सब सामार्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिए जो तन, मन, धन से प्रयत्न करना है; वह 'परोपकार' कहाता है ॥

५८. **शिष्टाचार**—जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है; वह 'शिष्टाचार' कहाता है ॥

५६. **सदाचार**—जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है; उसको 'सदाचार कहते हैं ॥

६०. **विद्यापुस्तक**—जो ईश्वरोक्त, सनातन, सत्यविद्यामय चार वेद हैं; उनको 'विद्यापुस्तक' कहते हैं ॥

६१. **आचार्य**—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे; उसको 'आचार्य' कहते हैं ॥

६२. **गुरु**—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है; इससे पिता को 'गुरु कहते हैं और जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञान रूपी अन्धकार मिटा देवे उसको भी 'आचार्य' कहते हैं ॥

६३. **अतिथि**—जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है; उसका 'अतिथि' कहते हैं ॥

६४. **पञ्चायतन पूजा**—जीते माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है; उसको 'पञ्चायतन पूजा' कहते हैं ॥

६५. **पूजा**—जो ज्ञानादि गुण वाले का यथायोग्य सत्कार करना है; उसको 'पूजा' कहते हैं ॥

६६. **अपूजा**—जो ज्ञानादि रहित जड़ पदार्थ और जो सत्कार के योग्य नहीं है; उसको जो सत्कार करना है; वह 'अपूजा' कहाती है ॥

६७. **जड़**—जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है; उसको 'जड़' कहते हैं ॥

६८. **चेतन**—जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है; उसको 'चेतन' कहते हैं ॥

६९. **भावना**—जो जैसी चीज हो उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रमरहित हो अर्थात् जैसे को तैसा ही समझ लेना; उसको 'भावना कहते हैं ॥

७०. **अभावना**—जो भावना से उल्टी हो अर्थात् जो मिथ्या ज्ञान से अन्य में अन्य

निश्चय मान लेना है जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेते हैं; उसको 'अभावना' कहते हैं ।।

७१. **पण्डित**—जो सत् असत् को विवेक से जानने वाला, धर्मात्मा सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको 'पण्डित' कहते हैं ।।

७२. **मूर्ख**—जो अज्ञान,हठ, दुराग्रहादि दोष सहित है उसको 'मूर्ख' कहते हैं ।।

७३. **ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार**—जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है; उसको 'ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार कहते हैं ।।

७४. **सर्वहित**—जो तन, मन और धन से सबके सुख बढाने मे उद्योग करना है; उसको 'सर्वहित' कहते हैं ।।

७५. **चोरी त्याग**—जो स्वामी की आज्ञा के विना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह 'चोरी' और उसका छोडना 'चोरी त्याग कहाता है ।।

७६. **व्यभिचार त्याग**—जो अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के विना वीर्यदान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के विना विवाह करना है; यह सब 'व्यभिचार' कहाता है । उसको छोड देने का नाम 'व्यभिचार त्याग' है ।।

७७. **जीव का स्वरूप**—जो चेतन. अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुण वाला तथा नित्य है वह 'जीव कहाता है ।।

७८. **स्वभाव**—जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है जैसे कि अग्नि में रूप, दाह अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता इसलिये इसको 'स्वभाव' कहते हैं ।

७९. **प्रलय**—जो कार्य जगत् का कारण रूप होना अर्थात् जगत् का करने वाला ईश्वर जिन-जिन कारणों से सृष्टि बनाना है कि अनेक कार्यों को रचके यथावत् पालन करके पुनः कारण रूप करके रखना है उसका नाम 'प्रलय' है ।

८०. **मायावी**—जो छल, कपट, स्वार्थ में ही प्रसन्नता दम्भ, अहंकार, शठतादि दोष हैं; इसको 'माया' कहते हैं । और जो मनुष्य इससे युक्त हो; वह 'मायावी' कहाता है ।

८१. **आप्त**—जो छलादि दोष रहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि मे वर्त्तमान होकर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे: उसको 'आप्त' कहते हैं ।।

८२. **परीक्षा**—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचार सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है; उसको 'परीक्षा' कहते हैं ।।

८३. **आठ प्रमाण**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये 'आठ प्रमाण' हैं । इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है ।।

८४. **लक्षण**—जिससे लक्ष्य जाना जाय जो कि उसका स्वाभाविक गुण है। जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है इसलिये इसको 'लक्षण' कहते हैं।

८५. **प्रमेय**—जो प्रमाणों से जाना जाता है जैसा कि आंख का प्रमेय रूप अर्थ है। जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है; उसको 'प्रमेय' कहते हैं ॥

८६. **प्रत्यक्ष**—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है; उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

८७. **अनुमान**—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के अङ्ग को प्रत्यक्ष देखके पश्चात् उसके अदृष्ट अङ्गी का जिससे यथावत् ज्ञान होता है; उसको 'अनुमान' कहते हैं ॥

८८. **उपमान**—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के समतुल्य नील गाय होती है; जो कि सादृश्य उपमा से ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते हैं ॥

८९. **शब्द**—जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और पूर्वोक्त आप्त मनुष्य का उपदेश है; उसी को 'शब्द प्रमाण' कहते हैं ॥

९०. **ऐतिह्य**—जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो; जो कि असम्भव और झूठा लेख न हो; उसी को 'इतिहास' कहते हैं ॥

९१. **अर्थापत्ति**—जो एक बात के कहने से दूसरी बात विना कहे समझी जाय उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं ॥

९२. **सम्भव**—जो बात प्रमाण युक्ति और सृष्टि क्रम से युक्त हो; वह 'सम्भव' कहाता है ॥

९३. **अभाव**—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ। उसने वहां देखा कि यहां जल नहीं है परन्तु जहां जल है वहां से ले आना चाहिये। इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है; उसको 'अभाव' प्रमाण कहते हैं।

✓ ९४. **शास्त्र** जो सत्यविद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो और जिस करके मनुष्यों को सत्य सत्य शिक्षा हो; उसको 'शास्त्र' कहते हैं ॥

९५. **वेद**—जो ईश्वरोक्त, सत्यविद्याओं से ऋक्संहितादि चार पुस्तक हैं कि जिनसे मनुष्यों को सत्य सत्य ज्ञान होता है; उनको 'वेद' कहते हैं ॥

९६. **पुराण**—जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि मुनिकृत सत्यार्थ पुस्तक हैं; उन्हीं को 'पुराण' 'इतिहास', 'कल्प' 'गाथा', 'नाराशंसी' कहते हैं ॥

✓ ९७. **उपवेद**—जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्र विद्या, राजधर्म, जो गान्धर्व वेद गानशास्त्र और अर्थवेद जो शिल्पशास्त्र है; इन चारों को 'उपवेद' कहते हैं ॥

९८. **वेदाङ्ग**—जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष आर्ष सनातन शास्त्र हैं; इनको 'वेदाङ्ग' कहते हैं ।

९९. **उपाङ्ग**—जो ऋषि मुनिकृत मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, साङ्ख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, इनको 'उपाङ्ग' कहते हैं ।।

१००. **नमस्ते**—मैं तुम्हारा मान्य करता हूं ।।

इति आर्योद्देश्यरत्नमाला समाप्ता ।।

प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

तत्रत्यः

तृतीयो भागः ।।

व्यवहारभानुः

श्रीमत्स्वामीदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः ।।

पठनपाठनव्यवस्थायाम्

तृतीयं पुस्तकम् ।।

वैदिक यंत्रालय काशी में लक्ष्मी कुण्ड पर ।।

श्रीयुतमहाराजे विजयनगराधिपति के स्थान में ।।

मुंशी बखतावर सिह के प्रबन्ध से छप के प्रकाशित हुई ।।

संवत् १९३६

मूल्य ।) और बाहर के मंगाने वालों को)।। दो पैसे

महसूल देना होगा ।

भूमिका

मैंने इस संसार में परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो मनुष्य धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक २ वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार 'नमस्ते' आदि नम्रतापूर्वक करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं।

जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। इससे जो थोड़ी विद्या, वा लोभी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर, सुशील होता है उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता। इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादिशास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस 'व्यवहारभानु' ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूँ कि जिसको देख दिखा, पढ़-पढ़ाकर मनुष्य अपनी २ सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।

इस ग्रन्थ में कहीं २ प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना २ स्वभाव सुधारके सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें॥

फाल्गुन शुक्ला १५ }
काशी

दयानन्दसरस्वती

॥ अथ वेदाङ्गप्रकाश ॥

तत्रत्य.

तृतीयो भाग: ॥

व्यवहारभानुः

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः ।

॥ पठनपाठनव्यवस्थायां तृतीयं पुस्तकम् ॥

यह पठन-पाठन की व्यवस्था मे तीसरा पुस्तक है

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखो को सिद्ध करने वाले व्यवहारो को छोडकर उलटा आचरण करने मे प्रसन्न होता है । क्या यथायोग्य व्यवहार किये विना किसी को सर्व सुख हो सकता है ? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलो, को सिद्ध नही कर सकता और इसके विना पशु के समान होकर दुःखी नही रहता है ? जिस लिये सब मनुष्यो को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यंत मनुष्यो के सुधार के अर्थ व्यवहारसम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है ।

(प्रश्न) कैसे पुरुष पढाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहिये ?

(उत्तर) पढानेवालो के लक्षण –

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १ ॥

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोडकर सदा उद्योगी सुखदुःखादि का सहन धर्म का नित्य सेवन करनेवाला हो जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुडा अधर्म की ओर न खींच सके वह 'पण्डित' कहाता है ॥ १ ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिक: श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ २ ॥

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मो का करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्म्मो का कभी न सेवनेहारा न कदापि ईश्वर, वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म मे दृढ विश्वासी है वही मनुष्य 'पण्डित के लक्षणयुक्त होता है ॥ २ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ३ ॥

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्य्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक २ समझ निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने; परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को जानके उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्टगुणों से पृथक् वर्त्तमान; किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में बिना प्रसंग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करने वाला मनुष्य है, यही 'पण्डित' का प्रथम बुद्धिमत्ता का लक्षण है ॥ ३ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते; अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े २ दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं वे मनुष्य पंडितों की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशुग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलने वाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथाओं को करने, बिना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने-जनाने, सुनी विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ाने वाला मनुष्य है, वही पंडित कहाता है ॥ ५ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्य्यमर्य्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ ६ ॥

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है वही पण्डित नाम धराने के योग्य होता है ॥ ६ ॥

जहां ऐसे २ सत्य पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़नेवाले होते हैं वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ानेहारे होते हैं वहां अविद्या और अधर्म्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है ॥

(प्र०) कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें ?

मूर्ख के लक्षण ॥

(उ०) **अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।**
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी, दरिद्र होकर धनसम्बन्धी बड़े २ कामों की इच्छा वाला और बिना किये बड़े २ फलों की इच्छा करनेहारा है ॥ १ ॥

दृष्टांत

जैसे—एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था। वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था। वह घी लेकर घड़े में भर किसी मजूर के खोज में था। वहां शेखचिल्ली आ निकला। उससे पूछा कि इस घडे को तीन कोस पर ले जाने की क्या मजूरी लेगा। उसने कहा कि आठ आने। आगे बनिये ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले। उसने कहा—अच्छा। शेखचिल्ली घड़ा ले चला और बनिया पीछे २ चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे। दश रुपया सेठ को दूंगा और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी। वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायंगे। इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़ फिर सब जगह कोठियां करूंगा और सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायंगे। इत्यादि बड़े २ मनोरथ करने लगा और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रूई ले सूत कातकर बेचूंगा आठ आने मिलेंगे। फिर आठ आने से एक रुपया हो जायगा फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे। उनसे एक बकरी लूंगा। जब उसके कच्चे बच्चे होंगे तब उनको बेच एक गाय लूंगा। उसके कच्चे बच्चे बेच भैंस लूंगा। उसके कच्चे बच्चे बेच एक घोड़ी लूंगा। उसके कच्चे बच्चे बेच एक हथिनी लूंगा और उसके कच्चे बच्चे बेच दो बीबियां ब्याहूंगा। एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम बेप्यारी रक्खूंगा। जब प्यारी के लड़के गोद मे बैठने आवेंगे तब कहूंगा बच्चे आओ बैठो और जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठे तब कहूंगा नहीं नहीं। ऐसा कहकर शिर हिला दिया। घड़ा गिर पड़ा, फूट गया और घी भूमि पर फैल के धूलि में मिल गया। बनिया रोने लगा और शेखचिल्ली भी रोने लगा। बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया और रोता क्यों है ? तेरा क्या नुकसान हुआ ? (शेखचिल्ली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ ? तू क्यों रोता है ? (बनिया) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था उस पर बड़े २ लाभ का विचार किया था। वह मेरा सब बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं ! (शेखचिल्ली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं ? (बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायगा ? (शेखचिल्ली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायगा ! तू बड़ा मूर्ख है। (बनिया) तू मूर्ख, तेरा बाप। दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे। फिर मारपीट कर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया और उस बनिये ने धूलि मिले हुए घी को ठीकरे में उठाकर अपने घर की राह ली।

ऐसे ही स्वसामर्थ्य के बिना अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है और जो बिना परिश्रम के कार्यों की प्राप्ति में उत्साही होता है उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ २ ॥

(महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर, अ० ३२)

जो विना बुलाये जहां-तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके और अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुख की हानि कर लेवे वही मनुष्य मूढ़बुद्धि और मनुष्यों में नीच कहाता है ॥ २ ॥

जहां ऐसे-ऐसे मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं वहां सुखों का तो दर्शन कहां ? किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे-ऐसे मूढों का प्रसंग या इनके साथ पठनपाठनक्रिया को व्यर्थ समझकर पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसंग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें । विद्वान् और मूर्ख के लक्षण विधायक श्लोक विदुरप्रजागर के ३२ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं ॥

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥

आलस्य, अभिमान, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर-उधर की अण्डबण्ड बातें करना, जड़ता कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं । क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है उसको विषयसम्बन्धी सुख चैन कहां ? इसलिये विषयसुखार्थी विद्या को छोड़ें और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे । नहीं तो परमधर्मरूप विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा ।

ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ३९ में लिखे हैं ।

(प्र०) कैसे-कैसे मनुष्य सब विद्याओं की प्राप्ति करा सकते हैं ॥

(उ०) **ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप !**

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ॥ १ ॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥ २ ॥
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ ३ ॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि—हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य्य के गुण सुन। जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेकर मरणपर्य्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥ १ ॥

उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता ऐसा तू जान कि जिसके प्रताप से अनेक क्रोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा उत्कृष्ट, शुभगुण स्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर, ब्रह्मचर्य्य अर्थात् वेदादि और सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्म्मादि करते हैं उनके वे सब बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्म्मयुक्त कर्म्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते हैं। और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ॥ ३ ॥

(प्रश्न) शूरवीर किसको कहते हैं ?

(उ०) **वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः।**
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ॥ १ ॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे।
अरण्यगृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ॥ २ ॥

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक की सेवा करके शूरवीर ॥ १ ॥

जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त, अतिथिरूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म्म और जो गृहाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं वे ही सब सुखों के लाभ करने-कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभ गुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ॥ २ ॥

(प्र०) शिक्षा किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें वह शिक्षा कहाती है।

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है।

(प्र०) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या-क्या कर्म करना चाहिये ?

(उ०) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य हैं।

(प्र०) ब्रह्मचारी किसको कहते हैं ?

(उ०) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये आचार्य्य-कुल में जाकर विद्या ग्रहण के लिये प्रयत्न करे वह ब्रह्मचारी कहाता है।

(प्र०) आचार्य्य किसको कहते है ?

(उ०) जो विद्यार्थियो को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको 'आचार्य' कहते है।

(प्र०) अपने सन्तानों के लिये माता, पिता और आचार्य क्या-क्या शिक्षा करे ?

(उ०) **मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥** शतपथब्राह्मण ॥

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता-पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो। क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियो को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्रधारण करने, माता-पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करे और जैसा-जैसा उसका सामर्थ्य बढता जाये वैसी-वैसी उत्तम बाते सिखलाते जाये। इसी प्रकार लड़के और लडकियो को पाच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता-पिता और इनके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

(प्र०) क्या जैसी चाहे वैसी शिक्षा करे ?

(उ०) नही, जो अपने पुत्र, पुत्री और विद्यार्थिया को सुनावे कि सुन मेरे बेटे-बेटिया और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी दाढी मूंछ पकड ले, इसकी जटा पकडके ओढनी फेंक दे धोल मार, गाली दे इसका कपडा छीन ले, पगडी वा टोपी फेंक दे, खेल, कूद, हँस, रो, तुम्हारे विवाह मे फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते है उनको माता-पिता और आचार्य न समझना चाहिये किन्तु सन्तान और शिष्यो के पक्के शत्रु और दुःखदायक है क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लडको को न घुड़कने और दण्ड देते है वे क्योंकर माता-पिता और आचार्य हो सकते है क्योंकि जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभगुणो के लिए उपदेश नही करते, न तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानो को सदा श्रेष्ठ करते जाते है वे माता-पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते और जो अपने-अपने सन्तान और शिष्यो को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रो के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जनादेवें कि जिससे विद्या-प्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हो वे ही माता-पिता और आचार्य कहाते है ॥

(प्र०) विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है ?

(उ०) **चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥**

महा० अ० १ । १ । १ । आ० १ ॥

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल ।

"आगमकाल" उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें ।

"स्वाध्याय" उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों उनकी एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक-ठीक हृदय में दृढ़ कर सके ।

"प्रवचनकाल" उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना ।

"व्यवहारकाल" उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है तब यह करना यह न करना वही ठीक-ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके । ये चार प्रयोजन हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार ।

'श्रवण' उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो-जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना ।

'मनन' उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या-क्या हानि होती है । इत्यादि ।

'निदिध्यासन' उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक-ठीक हैं वा नहीं ? इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना ।

और 'साक्षात्कार' उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं ।

(प्र०) आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा-कैसा वर्ताव करें और कैसा-कैसा न करें ?

(उ०) मिथ्या को छोडके सत्य बोले, सरल रहें, अभिमान न करें आज्ञा पालन करें, स्तुति करें, निन्दा न करें, नीचे आसन पर बैठें, ऊँचे न बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें, जब कुछ वे पूछें तो हाथ जोड़ के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें ।

शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले कभी न रक्खे। जो कुछ प्रतिज्ञा करे उसको पूरी करे। जितेन्द्रिय होवे। लम्पटपन व्यभिचार कभी न करे। उत्तमों का सदा मान करें अपमान कभी न करें। उपकार मान के कृतज्ञ होवे, किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवे। पुरुषार्थी रहे, आलसी कभी न हों। जिस-जिस कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस-उस को करते जायं। जो-जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हो उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणो की कामना करे। बुरे कामो पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों मे मोह, बुरे कामो से भय, अच्छे काम न होने मे शोक करके विद्यादि शुभगुणो से आत्मा और वीर्य आदि धातुओ की रक्षा से जितन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढाते जाये ॥

(प्र०) आचार्य विद्यार्थियो के साथ कैसे वर्त्ते ?

(उ०) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमान, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता-पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा आदि के प्रियकारी हो। जब किसी से बातचीत करे तब जो-जो उसके मुख से अक्षर, पद, वाक्य निकले उसको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवे। जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता मैले वस्त्रधारण, बैठने उठने मे विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लडाई, बखेडा, चुगली किसी पर मिथ्यादोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अट्ट-सट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारो की कथा करना वा सुनना, दुष्टो के सग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथाऽपराध कठिन दण्ड देवे। इसमे प्रमाण—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥ १ ॥

महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू० ८। आ० १ ॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियो को विद्या और सुशिक्षा होने के लिए प्रेमभाव से अपने हाथो से ताडना करते है क्योकि सन्तान और विद्यार्थियो का जितना लाडन करना है उतना ही उनके लिए बिगाड और जितनी ताडना करनी है उतना ही उनके लिये सुधार है परन्तु ऐसी ताडना न करे कि जिसम अङ्गभङ्ग वा मर्म मे लगने से विद्यार्थी वा लडके-लडकी लोग व्यथा को प्राप्त हो जाय ॥

(प्र०) पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं
दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ?

हुडदङ्ग उवाच—हुडदङ्गा कहता है कि जो पढता है वह भी मरता है और जो नहीं नही पढता वह भी मरता है फिर पढने-पढाने में दन्त कटाकट क्यो करना ॥

(उ०) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥ १ ॥

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुडदगे जो तू जानता है सो विद्या

का फल नहीं कि विद्या के पढने से जन्म-मरण आंख से देखना कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा होजायं किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना विद्या का फल है। क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता क्या-क्या किसी को क्षण भर सुख हुआ न हुआ सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर मके। इसलिये सबको उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन मन, धन से किया और कराया करे॥ १॥

(हुडदङ्गा) हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढे हुये दरिद्र और भीख मागते तथा विना पढे हुये राज्य धन का आनन्द भोगते हैं।

(सज्जन) सुनो प्रिय! सुख-दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहां विद्यारूप सूर्य्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है वहां दु.खों की तो भरमार, सुख की क्या कथा कहता है? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दु ख को ठिकाना भी नही मिलता है। हुडदंगा शिर धुनकर चुप हो गया॥

(प्र०) आचार्य किस रीति से वि[illegible] और सुशिक्षा का ग्रहण करावे और विद्यार्थी लोग करें?

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी [illegible] से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उ[illegible] ही बढता जाय। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अ[illegible]क होजाय।

दृष्टान्त— हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल, वि[illegible] आदि से विद्यार्थियों के आ[illegible] में पदार्थ इस प्रकार साक्षात करावे कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जाएं। अपने आत्मा मे इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से ससार मे विद्या धर्माचरण की बढती और मेरे पढाए मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरा नि[illegible] के कारण न हो जाये कि मै ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊँ। ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म, स्वभाव से मेरे गुण, कर्म, स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादु ख भोगना हो। परम धन्य वे मनुष्य है कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दु ख मे दुःख अन्य मनुष्यो का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोडते इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जाय। विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों मे आचार्य की प्रसन्नता होती जाये वैसे कर्म करे जिससे उसका आत्मा स[illegible]ष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहे। रात-दिन विद्या ही के विचार में लगाकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को बढाते जावे। जहा विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहा कभी खडे भी न रहे। जहा-जहां विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहा से अलग कभी न रहे। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढे। जो बुद्धि के नाश करनेहारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करे किन्तु जो-जो ज्ञान बढाने और रोगनाश करनेहारे

पदार्थ हों उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो-जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों उनको छोड़कर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें। इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं॥

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है उसका निर्णय करने में क्या-क्या निश्चित साधन हैं?

(उ०) पांच हैं। उनमें प्रथम—ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या। दूसरा—सृष्टिक्रम, तीसरा—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, चौथा—आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त और पांचवां—अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।

"ईश्वरादि से परीक्षा" करना उसको कहते हैं कि जो-जो ईश्वर का न्याय आदि गुण पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि बिना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण, कर्म, स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं।

दूसरा "सृष्टिक्रम" उसको कहते हैं कि जो-जो सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो सत्य कहाता है। जैसे कोई कहे कि बिना मां-बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है। ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या और माता-पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टि क्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

तीसरा 'प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा' करना उसको कहते हैं कि जो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-ठीक ठहरे वह सत्य और जो-जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है? दूसरे ने कहा पृथिवी। यह प्रत्यक्ष है। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना 'अनुमान'। जैसे विना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है यह दृष्टान्त 'उपमान' और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश वह 'शब्द'। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को 'ऐतिह्य'। एक बात को सुनकर विना सुने कहे प्रसंग से दूसरी बात को जान लेना यह 'अर्थापत्ति'। कारण से कार्य होना आदि को 'सम्भव' और आठवां अभाव अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ। उसने वहां जल के अभाव से जानकर तर्क से जाना कि जहां जल है वहां से लाकर देना चाहिए। यह 'अभाव' प्रमाण

कहाता है। इन आठ प्रमाणों से जो विपरीत न हो वह-वह सत्य और जो-जो उलटा हो वह-वह मिथ्या है।

"आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा" करना उसको कहते हैं कि जो-जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपात रहित सबके हितैषी विद्वान् सबके सुख के लिये प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है।

"आत्मा से परीक्षा" उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्मा अपने लिए चाहे सो-सो सबके लिए चाहना और जो-जो न चाहे सो-सो किसी के लिए न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये। इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने पढ़ानेहारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।।

(प्र०) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

(उ०) जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन, परोपकार करना रूप 'धर्म' जो इससे विपरीत वह 'अधर्म' कहाता है। क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा? देखो! किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूं। फिर उसने पूछा और जो वह मानता है वा जो मैं मानता हूं वह क्या है? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचरण अधर्म और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी का नाम धर्म जानो परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है।।

(प्र०) जब २ सभा आदि व्यवहारों में जावें तब २ कैसे २ वर्त्तें।।

(उ०) जब सभा मे जावें तब दृढ़ निश्चय कर लेवें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा। अभिमान न रक्खे। अपने को बड़ा न माने। अपनी बात का कोई खण्डन करे उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे उसके वचन को ध्यान देकर सुनके जो उसमें कुछ असत्य भान हो उस अंश का खण्डन अवश्य करे और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे। बड़ाई छोटाई न गिने। व्यर्थ बकवाद न करे। कभी मिथ्या का पक्ष न करे और सत्य को कदापि न छोड़े। ऐसी रीति से बैठें वा उठें कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर दृष्टि रक्खे। जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो, उसको करे। सज्जनों का संग करे और दुष्टों से अलग रहे। जो-जो प्रतिज्ञा करे वह २ सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे। इत्यादि कर्म्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे।

(प्र०) जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसे कहते हैं ?

(उ०) जो आप तो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे वह **जड़बुद्धि** और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे वह **तीव्रबुद्धि** कहाता है।

यहां महाजड और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो। कहीं एक रामदास वैरागी का चेला भूपालदास पाठ करता २ कुए पर पानी भरने को गया। वहां एक पण्डित बैठा था। उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तू "स्री गनेसायनमः" ऐसा घोकता है सो शुद्ध नहीं है किन्तु "श्री गणेशाय नमः," ऐसा शुद्ध पाठ कर। तब वह बोला कि मेरे महन्तजी बड़े पण्डित हैं। उन्होंने जैसा मुझको बताया है वैसा ही घोखूंगा। उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराजजी ! एक बम्मन मेरे पाठ को अशुद्ध बतलाता है। तब खाकी जी ने चेलो से कहा कि बम्मन को यहां बुलालाओ। वह गुरु का फटकारा मेरे चेले को क्यों बहकाता है और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है ? चेला गया पण्डितजी को बुला लाया। पण्डित से महन्त बोले कि तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ? पण्डित ने कहा कि एक प्रकार का। महन्त जी ने कहा कि तू कुछ भी नही जानता। देख ! मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूं। एक—स्री गनेसाजनम। दूसरा—स्री गनेसापनम। तीसरा—स्री गनेसायनम।

(पण्डित) महन्तजी ! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम श का स। ण का न। शा का सा। य का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना पांच अशुद्धि हैं।

महन्तजी बोले—चलवे गुरु के बड़े घर में सब शुद्ध है। पण्डित चुपकर चले आये क्योंकि "सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्" सबका औषध शास्त्र मे कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का औषध नहीं कहा। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे जो वे सुधरा चाहें तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें।।

(प्र०) जो माता, पिता, आचार्य और अतिथि अधर्म करे और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिए वा नहीं ?

(उ०) कदापि नहीं। कुमाता, कुपिता सन्तानो को बुरे उपदेश करते है कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे किसी की चीज पावे तो उठा लाना। कोई एक गाली दे तो तू उसको पचास गाली दे। लडाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्या भाषण, भाग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम, खाना, पीना आदि कर्म करने में कुछ दोष नही क्योंकि अपनी कुलपरम्परा है। सुनो प्रमाण—कुलधर्म्मः सनातनः" जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है उसके करने में कुछ भी दोष नही।

(सुसन्तान आह) जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म कहे वे दुष्ट मनुष्यों के काम है श्रेष्ठो के नहीं। किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था मे दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना, किसी की

करोड़ों की चीज जंगल में पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने को मन में इच्छा न करना आदि कर्म्म किया करते हैं। जो २ तुम्हारे उत्तम कर्म्म आदि उपदेश हैं उन २ को तो हम ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं। परन्तु तुम कैसे ही हो हमको तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना परमधर्म्म है क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ?

(कुसन्तान आह) श्रेष्ठ माता; पिता, आचार्य्य अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम को ही सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह कर दो। नहीं तो हम इधर उधर लीला करें होंगे। बाग में जाके नाच-तमाशा करेंगे वा वैरागी हो जायेंगे। पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है हमको पढ़के क्या करना है क्योंकि हमारी सेवा करने वाले तुम तो बने ही हो। हमको सैल, सपट्टा, सवारी; शिकारी, नाच, खाने, पीने, ओढ़ने, पहनने के लिये खूब दिया करो नहीं तो हम जब जवान होंगे तब तुमको समझ लेंगे। "दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, युद्धमेव भविष्यत्यन्यत्किम्।" ऐसे २ सन्तान दुष्ट कहाते हैं।

उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि सुनो लड़को ! अभी तुम्हारी पढ़ने, गुणने, सत्संग करने, अच्छी २ बात अभी सीखने वीर्य-निग्रह और आचार्य आदि की सेवा करने विद्वान्, होने, शरीर और आत्मा को पूर्ण युवावस्था, आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है। जो चूकोगे तो फिर पछतावोगे। पुनः ऐसा समय तुम को मिलना अति कठिन है क्योंकि जब तक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रबन्ध करने वाले हैं तब तक तुम सुशिक्षा ग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करो उतना ही अधिक २ बढ़ता जाता है। उसके होने से जहां रहोगे वहां सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे। हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य, धन प्राप्त भी है परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के बिना नष्टभ्रष्ट हो जाते और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ १ ॥

तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठके ७। अनुवाके ११।

जो २ हमारे उत्तम चरित्र हैं सो २ करो और कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो। इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता, पिता, आचार्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं ॥ १ ॥

(प्र०) राजा प्रजा और इष्ट मित्र आदि के साथ कैसा २ व्यवहार करें ?

(उ०) राजपुरुष प्रजा के लिए सुमाता और सुपिता के समान और प्रजापुरुष राज-

सम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र, मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिए आत्मा के समान प्रीति से वर्त्तें परन्तु अधर्म्म के लिए नहीं। पड़ौसी के साथ ऐसा वर्त्ताव करे कि जैसा अपने शरीर के लिए करते हैं। वैसे ही मित्रादि के लिए भी कर्म किया करे। स्वामी सेवक के साथ ऐसा वर्त्ते कि जैसा अपने हस्तपादादि अंगों की रक्षा के लिये वर्तते है। सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्ते कि जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिए होते है॥

(प्र०) ब्रह्मचर्य के क्या २ नियम है?

(उ०) कम से कम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये और अड़तालीसवे वर्ष से अधिक पुरुष और चौवीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करे किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है॥

(प्र०) प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है कि सुनोजी! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नही क्योकि जब पढ जावेगी तो मूर्ख पति का अपमान कर इधर उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेंगी।

(उ०) सज्जनः समाधत्ते—श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है। सुनोजी! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये क्योकि वह भी पढकर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगाड़ी चलाकर इधर उधर अन्य स्त्रियो के साथ सैल सपाटा किया करेगा॥

(प्र०) प्रमादी—हां। पुरुष भी न पढे तो अच्छी बात है क्योकि पढे हुए मनुष्य चतुराई से दूसरो को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते है॥

(उ०) सज्जन—सुनोजी! यह विद्या पढने का दोष नही किन्तु आप जैसे मनुष्यो के संग का दोष है और जो पढना-पढाना धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है सो तो प्राय. बुरे काम का कारण देखने मे आता और जो पढना पढाना उक्त विद्या से सहित है वह तो सबके सुख और उपकार ही के लिये होता है॥

(प्र०) कन्याओ के पढने मे वैदिक प्रमाण कहा है?

(उ०) सुनो प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥

अथर्ववेद का० ११। अ० ३। सू० ५। मं० १८॥

अर्थ—जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य्य करते है वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्य्यन्त शास्त्रो को पढ़कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्थावाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करे॥ १॥

क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे? और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना कल्याण किया चाहे?

(प्र०) विद्या को किस २ क्रम से प्राप्त हो सकता है ?

(उ०) वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषय-कथाप्रसङ्ग का त्याग ,सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय । जिस २ विद्या के लिये जो २ साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं उन २ को पढ़कर वेदादि पढने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं ।।

(प्र०) विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?

(उ०) दो, एक अच्छी और दूसरी बुरी । अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे और वह धर्माचरण किया चाहे तो विद्वानों के सङ्ग और अपने आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है । क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये ?

जब किसी को कोई चोरी वा किसी पर झूंठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता और क्या जिस २ कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का लज्जा और भय नहीं होता वह २ धर्म किसी को विदित नहीं होता ?

क्या जो कोई आत्मविरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया मे विलक्षणता करता है वह अधर्मी और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है वह धर्मात्मा नहीं है ? प्रमाण—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। १ ।।

यजुर्वेद अ० ४० । मं० ३ ।।

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने मानने और करनेहारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य, राक्षस नामवाले मनुष्य हैं और वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं । वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।।

(प्र०) विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह अविद्या कहाती है ।।

(प्र०) न्याय और अन्याय किस को कहते हैं ?

(उ०) जो पक्षपात रहित सत्याचरण करना है वह न्याय और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है वह अन्याय कहाता है ।

(प्र०) धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

(उ०) जो न्यायाचरण सबके हित का करना आदि कर्म हैं उनको धर्म और जो अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं उनको अधर्म जानो ॥

महामूर्ख का लक्षण

एक प्रियदास का चेला भगवानदास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढा। एक दिन उसने पूछा कि महाराज ! मुझ को संस्कृत बोलना नहीं आया ! गुरु बोले सुन बे ! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती किन्तु गुरु की कृपा से आ जाती है । जब गुरु सेवा मे प्रसन्न होता है तब जैसा कुंजियों से ताला खोलकर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते है, वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि हृदय के कपाट खुलजाकर सब पदार्थविद्या तत्क्षण आ जाती है । सुन ! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है ।

(भगवानदास) महराजजी ! वह क्या है ?

(गुरु) ससार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों उन पर एक एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं ।

अच्छा तो महाराजजी लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर बिन्दु धरके कैसे संस्कृत हो जाते हैं ।

देखो—लोंटां । जंलं । रोंटीं । दांलं । शांकं ।

चेला बोला वाह २ गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है ? भगवानदास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया—

बांपं आंजां मंमं स्कृंत्यं पंरं पांजं तंथैंवं चं ।
मंयां भंगंवांनं दांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहंम् ।

जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया तब तो प्रियदास जी भी बहुत प्रसन्न हुए कि जो चेले हों तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी और गुरु हो तो मेरे सदृश हो । ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है ? विना अलग रहने के ॥

(प्र०) विद्या पढते समय वा पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं ?

(उ०) बराबर पढ़ाता जाय क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है । उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है । जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है वैसे देखने हारा कभी नही गिरता और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं ॥

(उ०) यह शब्द अन्य देश की भाषा का है। वहा तो इसका अर्थ पिता और बडे का है परन्तु यहा जो केवल धूर्तता करके अपना मतलब सिद्ध करनेहारा हो उसी का नाम है ॥

(प्र०) जो विद्या पढा हो उसमे धार्मिकता न हो तो उसका विद्या का फल होगा वा नही ?

(उ०) कभी नही क्योकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोडा तो क्या वह चोर के समान नही है ? क्योकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जानके भी नही करता वैसे ही पढके भी अधर्म को नही छोडता और धर्म को नही करनेहारा मनुष्य है ।

(प्र०) जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तो से नही छोड सकता और अच्छे काम को नही कर सकता तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नही ?

(उ०) दोष ही होता क्योकि जो उसने अधर्म्म कर लिया उसका फल अवश्य होगा और जानकर भी धर्म्म को न किया उसको सुखरूप फल कुछ नही होगा। जैसे कोई मनुष्य कुए मे गिरना बुरा जानके भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा और अच्छे मार्ग मे चलना जानकर भी न चले, उसको सुख कभी न होगा इसलिए--

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा कृति ।
सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति ॥ १ ॥

वही सत्पुरुष का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना और जिसका आत्मा मे मन उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है वही असत्पुरुष का लक्षण है ॥ १ ॥

इसलिये मनुष्यो को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हो ॥

✓(प्र०) पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद है ?

(उ०) उद्योग का नाम पुरुषार्थ और उसके चार भेद है। एक—अप्राप्त की इच्छा। दूसरा— प्राप्त की यथावत् रक्षा। तीसरा—रक्षित की वृद्धि और चौथा—बढाये हुए पदार्थों का धर्म मे खर्च करना, पुरुषार्थ के भेद है। जो जो न्याय धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना। उसी प्रकार उसकी सब ओर से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट भ्रष्ट न हो जाय। उसको धर्म्मयुक्त व्यवहार मे बढाते जाना और बढे हुये पदार्थ को उत्तम व्यवहारो मे खर्च करना ये चार भेद है ॥

(प्र०) किस किस प्रकार से किस किस व्यवहार मे तन, मन, धन, लगाना चाहिये ?

(उ०) निम्नलिखित चारो मे विद्या की वृद्धि, परोपकार अनाथो का पालन और अपने सम्बन्धियो की रक्षा ।

विद्या के लिये शरीर का आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी मन से अत्यन्त

(प्र०) क्षुद्रबुद्धिरुवाच—सभी विद्वान् हो जावेंगे तो हमको कौन पूछेगे ? आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे पूजापाठ में न बुलावेंगे। विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है। जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये तो (अल्पबुद्धि) तू कौन है ? क्या काम करता है ? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है ?

(उ०) मैं तो महाराज आपका दास शूद्र हूँ। कुछ जिमीदारी खेतीबाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन देन का भी व्यवहार है।

(नष्टमति) छी ! छी ! छी ! तुझको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा तो क्या नरक में न पड़ेगा ? हाँ ! तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है। जब तेरी सुनने की इच्छा हो तो हमको बुला लेना; सुना देंगे परन्तु आप से आप मत बांच लेना नहीं तो अधर्मी हो जावेगा। जो कुछ भेट पूजा लाया हो सो धरके चला जा और सुन हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी। खूब कमा और हमारी सेवा किया कर। इसी में तेरा कल्याण और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा।

(दास) महाराज मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या का पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जाय ?

(वकवृत्ति) बस-बस तुझको किसी ने बहका दिया है जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है। हाय ! क्या करें कलियुग आगया। विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते। बिगड़ गये।

(दास) क्या महाराज ! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई कर दी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है।

(स्वार्थी) हां हां जो सत्ययुग होता तो तू हमारे सामने, ऐसा बर-बर कर सकता।

(दास) अच्छा तो महाराजजी ! आप जो नहीं पढ़ाते तो हम को जो पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे।

(अन्धकारी) सुन सुन कलियुग में और क्या होना है।

(दास) आपकी हम सेवा करें उसके बदले आप हमको क्या देंगे।

(मार्जारलिङ्गी) आशीर्वाद।

(दास) उस आशीर्वाद से क्या होगा ?

(धूर्त) तुम्हारा कल्याण।

(दास) जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है ?

(पोप उवाच) अब क्या तू हमसे शास्त्रार्थ करता है ?

(प्र०) पोप का क्या अर्थ है ?

विचार करना कराना और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्यादान करना कराना चाहिये ।

परोपकार के लिये—शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार का व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म करके अपना-अपना जीवन सुख से व्यतीत किया करें ।

अनाथ उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी अङ्गभङ्ग आदि हैं । उनको भी तन, मन, धन लगाकर सुखी रखके जिस जिस से जो जो काम बन सके उस उस से वह कार्य्य सिद्ध करना चाहिये कि जिससे कोई आलसी होके नष्टबुद्धि न हों और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन, मन, धन लगाया जाय उतना थोड़ा है परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये ।।

(प्र०) विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे कैसे वर्त्तें ?

(उ०) कभी कोई किसी का अप्रियाचरण अर्थात् जिस जिस व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट होवे सो काम कभी न करें जैसे कि व्यभिचार आदि । एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों एक दूसरे की सेवा करें । पुरुष भोजन, वस्त्र, आभूषण, और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खें और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे । स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन, खान-पान प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे कि जिससे उत्तम सन्तान हो और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय ।।

(प्र०) ऐसा न करे तो क्या बिगाड़ है ?

(उ०) सर्वस्वनाश, क्योंकि परस्पर प्रीति के विना गृहाश्रम का किञ्चित् सुख न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है । सुनो ! मनु जी क्या कहते हैं—

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।। १ ।।

मनु० अ० ३ । ६० ।।

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है उसी में निश्चित कल्याण, स्थित रहता है । परन्तु यह बात कब होगी कि जब ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा-ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करें क्योंकि जितना सुख, विद्या और उत्तम प्रजा की हानि बाल्यावस्था में विवाह से होती है उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य से शरीर आत्मा की पूर्ण युवावस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है । जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते है कि जिन में बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म्म और सुशीलतादि शुभगुण पूर्ण होके महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अति प्रशंसित कर देते हैं ।।

(प्र०) मनुष्यपन किसको कहते हैं ?

(उ०) इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी जाति में नहीं पाया जाता ।।

(प्र० वह कौन-सा है ?

(उ०) जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है— बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है। परन्तु जो निर्बलों पर दया उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्म्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शंका न करके इनको परपीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन, मन और धन से सदा करना है वही मनुष्य जाति का निज गुण है। क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय, शंका, नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं ।।

(प्र०) क्यों जी ! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो ! व्यापार में सत्य बात कह दें किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े करें तो हार हो जाय। इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं ?

(उ०) यह बात महामूर्खता की है। जैसे किसी ग्राम में लालबुझक्कड़ रहता था कि जिसको पांच सौ ग्राम वाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे। एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था। उसके पग के चिह्न जहां-तहां मार्ग में बन रहे थे। उनको देख के खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाई ! यह किसका खोज है ? सबने कहा कि हम नहीं जानते। फिर सबकी सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुलाके पूछा कि तुम्हारे विना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नही कर सकता। कहो यह किसके पग का चिह्न है ? जब वह रोया और रोकर हंसा। तब सबने पूछा कि तुम क्यों रोये और हँसे ? तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊँगा तब ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर विना मेरे कौन दे सकेगा और हँसा इसलिए कि इसका उत्तर तो सहज है सुनो—

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय।
पग में चक्की बाँध के हिरना कूदा होय ।।

जो जंगल में हिरन होता है वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है। तब सुनकर सब लोगों ने वाह-वाह बोलकर उसको धन्यवाद दिया कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई भी पण्डित नहीं है कि ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर दे सके।

जब वह लालबुझक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड के खड़ा था उसको कहा कि बेटा ! बेर ले। तब उसने हाथों की अंजली बांध के बेरों को ले लिया परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुँचा तब लड़का रोने लगा। उसको रोते देखकर उसकी मां और बाप भी रोने लगे कि हाय मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे ३ ! तब उसको सुन अड़ौसी-पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या ! इसके लड़के को खम्भे ने कैसे पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं। तब किसी ने कहा कि लाल-बुझक्कड़ को बुलाओ। उसके विना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया। फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है। तब वह बोला कि सुनो लोगो ! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है एक तो यह है कि कुल्हाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो अभी छूट जाय और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठाकर नीचे धरो फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ। लड़के का बाप बोला कि हम दरिद्र मनुष्य हैं हमारा छप्पर टूट जायेगा तो फिर छाना कठिन है। तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुल्हाड़ा। फिर क्या देख रहे हो। कुल्हाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैयार हुये तब तक दूसरे ग्राम से एक कुछ बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहां पहुँच कर देखके बोली कि इसका हाथ मत काटो। मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूँ। जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जली के नीचे अपनी अञ्जली करके बोली कि बेटा मेरे हाथ में बेर छोड़ दे। तब वह बेर छोड़ के अलग हो गया फिर उसको बेर दे दिये, खाने लगा। तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मर जायेगा। क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसे ही करते तो न मरता तब तो उसके मां-बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिए। तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है और जो हाथ के काटने से अभी यह मर जाता तो तुम क्या करते ? मरण से बचने का कोई औषध नहीं। तब उनका गबराहट छूट गया।

वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझ ले तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट होते जाते और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते है उनको लाभ ही लाभ होते हैं हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम धर्म और विपरीत का अधर्म है। क्या धर्म का सुखलाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता ? प्रमाण—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजु० । अ० १ । मं० ५ ॥
सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

मुण्ड० ३ । खं० १ । मं० ६ ।

नहि सत्यात्परो धर्म्मो नानृतात्पातक परम् ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

अर्थ—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारो को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे ॥ १ ॥

क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है इसलिए जिस सत्य से चलके धार्मिक ऋषि लोग जहा सत्य की निधि परमात्मा है उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करे ॥ २ ॥

यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अध है ॥ ३ ॥

इससे धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारो को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते है ।

दृष्टान्त—एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बजाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा ? वह बोला कि सोलह आने । तुम भी कुछ कहो । बजाज और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते ।

(ग्राहक) छः आने गज दो और सच-सच लेने-देने की बात करो ।

(बजाज) अच्छा तो तुमको दो आने छोड देते है चौदह आने दो ।

(ग्राहक) है तो टोटा परन्तु सात आने ले लो ।

(बजाज) अच्छा तो सच-सच कहूं ।

(ग्राहक) हाँ ।

(बजाज) चलो एक आना टोटा ही सही तेरह आने दो तुमको लेना हो तो लो ।

(ग्राहक) मैं सत्य कहता हूं कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा ।

(बजाज) तुमको लेना हो तो लो न लेना हो तो मत लो परमेश्वर की सौगन्ध बारह आने गज तो मुझको पडा है तुमको भला मनुष्य जानकर मै दे देता हूं ।

(ग्राहक) धर्म की सौगन्ध मैं सच कहता हूँ तुमको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा मैं तो दूसरे की दुकान से ले लूगा, क्या तुम्हारी एक ही दुकान है ? नव आने गज दे दो नहीं तो मैं जाता हूं ।

(बजाज) तुमने कभी ऐसा खरीदा भी है ? नव आने गज लाओ मैं सौ रुपये का लेता हूँ । ग्राहक धीरे-धीरे चला कि मुझको यह बुलाता है वा नही । बजाज तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें यह लौटता है वा नही । जब न लौटा तब बोला सुनो इधर आओ ।

(ग्राहक) क्या कहते हो नव आने पर दोगे ?

(बजाज) ए लो धर्म से कहता हूं कि ग्यारह आने भी दोगे ?

(ग्राहक) साढ़े नव आने लो कहकर कुछ आगे चला। बज़ाज ने समझा कि हाथ से गया, अजी इधर आओ आओ।

(ग्राहक) क्यों तुम देर लगाते हो व्यर्थ काल जाता है।

(बज़ाज) मेरे बेटे की सौगन्ध तुम इसको न लोगे तो पछताओगे अब मैं सत्य ही कहता हूं साढ़े दस आने दे दो नहीं तो तुम्हारी राजी।

(ग्राहक) मेरी सौगन्ध तुमने दो आने अधिक लिये हैं अच्छा दश आने देता हूँ इतने का है तो नहीं।

(बज़ाज) अच्छा सवादश आने भी दोगे ?

(ग्राहक) नहीं-नहीं।

(बज़ाज) अच्छा आओ बैठो, कै गज लोगे।

(ग्राहक) सवा गज।

(बज़ाज) अजी कुछ अधिक लो।

(ग्राहक) अच्छा नमूना ले जाते हैं। अब तुम्हारी दुकान देखली फिर आवेंगे तो बहुत लेंगे। बज़ाज ने नापने में कुछ सरकाया।

(ग्राहक) अजी देखें तो तुमने कैसे नापा ?

(बज़ाज) क्या विश्वास नहीं करते हो हम साहूकार हैं वा ठट्ठा हैं। हम कभी झूठ कहते और करते हैं ?

(ग्राहक) हा जी, तुम बड़े सच्चे हो। एक रुपया कहकर दश आने तक आये, छः आना घट गये, अनेक सौगन्धें खाई।

(बज़ाज) वाह जी वाह ! तुम भी बड़े सच्चे हो, छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो, अनेक सौगन्धे खा-खाकर आये, सौदा झूठ के बिना कभी नहीं हो सकता।

(ग्राहक) तू तो बड़ा झूठा है।

(बज़ाज) क्या तू नहीं है क्योंकि एक गज कपड़े के लिए कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है ?

(ग्राहक) तू झूठा तेरा बाप, हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ?

(बज़ाज) तू झूठा, तेरी सात पीढ़ी भी झूठी। ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया, बज़ाज ने गज चट मारा, अड़ोसी-पड़ोसी दुकानदारों ने जैसे-तैसे छुड़ाया।

(बज़ाज) चल-चल तेरे जैसे लाखों देखें हैं।

(ग्राहक) चल बे तेरे जैसे जुबांजोर, टटपूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं।

(अड़ोसी-पड़ोसी) अजी झूठ के बिना कभी सौदा भी होना है ? जाओ जी तुम अपनी दुकान पर बैठो और जाओ तुम अपने घर को।

(बज़ाज) यह बड़ा दुष्टा मनुष्य है ।

(ग्राहक) अबे मुख सम्हाल के बोल ।

(बज़ाज) तू क्या कर लेगा ?

(ग्राहक) जो मैंने किया सो तैंने देख लिया और कुछ देखना हो तो दिखला दूं ?

(बज़ाज) क्या तू गज से न पीटा जायगा ? फिर दोनों लड़ने को दौड़े । जैसे-तैसे लोगों ने अलग-अलग कर दिये । ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है ।

धार्म्मिकों का दृष्टान्त—

(ग्राहक) इस दुशाले का क्या मूल्य है ?

(बज़ाज) पांच सौ रुपये ।

(ग्राहक) अच्छा लीजिये ।

(बज़ाज) लो दुशाला । सच्चे दुकान वाले के पास कोई झूठा ग्राहक गया । इस दुशाले का क्या लोगे ?

(बज़ाज) अढ़ाई सौ रुपये ।

(ग्राहक) दो सौ लो ।

(सेठ) जाओ यहां तुम्हारे लिये सौदा नहीं है ।

(ग्राहक) अजी कुछ तो कम लो ।

(साहूकार) यहां झूठ का व्यवहार नहीं है, बहुत मत बोलो, लेना हो तो लो नहीं चले जाओ । ग्राहक दूसरी बहुत दुकानों में माल देख मूल्य करके फिर वहीं आके अढ़ाई सौ रुपये देकर दुशाला ले गया । सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाकर बोला कि इस पीताम्बर का क्या लोगे ?

(बज़ाज) पच्चीस रुपये ।

(ग्राहक) बारह रुपये का है देना हो तो दो, कहकर चलने लगा ।

(बज़ाज) अजी अठारह दो ।

(ग्राहक) नहीं ।

(बज़ाज) चौदह दो ।

(ग्राहक) नहीं ।

(बज़ाज) तेरह दो ।

(ग्राहक) नहीं ।

(बज़ाज) अच्छा तो साढ़े बारह ही दो ।

(ग्राहक) नहीं ।

(बज़ाज) सवा बारह दो ।

(ग्राहक) नहीं ।

(बज़ाज) अच्छा बारह का ही ले जाओ ।

(ग्राहक) लाओ, लो रुपये ।

ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ को छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें। जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें ।।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्म्मयुक्त किस-किस कर्म से होता है ?

(उ०) जबतक मनुष्य सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते अर्थात् कोई कर्म्म ऐसा नहीं है जिसको वह न जानता हो। सत्य-विद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का संग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्म्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है वह धर्म्मात्मा कभी नहीं हो सकता क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता वह क्यों कर धर्म्मात्मा हो सकता है ? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्म्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है मनुष्य नहीं और वे जहां एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते वहा तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शङ्का नहीं करते।

दृष्टान्त—जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढाइये। (विद्वान्) अच्छा हम तुमको पढावेंगे परन्तु हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक २ लड़के को एकान्त में ले जाके जहां कोई भी न देखता हो वहां इसका कान पकड़कर दोचार बार शीघ्र उठा बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों को ले के चले। एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता, उक्त काम करके झट चला आया। दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझको लड़का और मैं लड़के को भी देखता ही हूँ फिर वह काम कैसे कर सकता हूँ ? पण्डित के पास आया। तब जो प्रथम आया था उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया ? उस ने कहा—हां, दूसरे को पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं ? उसने कहा नहीं। क्योंकि आपने मुझको कहा था कि जहां कोई न देखता हो वहां यह काम करना सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझको देखता ही था। पण्डित ने कहा तू बुद्धिमान् और धार्मिक है मुझसे पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है; यहां से चला जा।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो। जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं वे ही **धर्मात्मा** कहाते हैं।

(प्र०) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का संभव है वा नहीं ?

(उ०) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें तो सभी हो सकते है। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग

धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उस में निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक २ स्थिर नहीं रह सकते है।

दृष्टान्त—जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था। उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री ने कहा कि आजकल भोजन भी नहीं मिलता, हुत कष्ट है। तुम पहले दानाध्यक्ष के पास जाना। वह राजा के पास लेजाके कुछ जप अनुष्ठान लगवा देगा। उसने वैसा ही किया। जब उस ने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिये।

(दानाध्यक्ष) मुझ को क्या देगा?

(अर्थी) जो तुम कहो।

(दानाध्यक्ष) "अर्द्धमर्द्धं स्वाहा"।

(अर्थी) महाराज मैं नही समझा तुमने क्या कहा?

(दानाध्यक्ष) जो तू आधा हमको दे और आधा तू ले तो तेरी जीविका लगादे।

(स्वार्थी) जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। अच्छा चल राजा के पास।

(स्वार्थी) चलो।

खुशामदियों से सभा भरी थी, वहा दोनों पहुँचे। दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गो-ब्राह्मण है इस की कुछ जीविका कर दीजिये। यह आपका जप, अनुष्ठान किया करेगा।

(राजा) अच्छा जो आप कहें?

(दानाध्यक्ष) दश रुपये मासिक होने चाहिये।

(राजा) बहुत अच्छा।

(दानाध्यक्ष) छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये।

(राजा) अच्छा कोषाध्यक्ष! इसको छः महीने का जोड़ कर देदो।

(कोषाध्यक्ष) जो आज्ञा! जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोषाध्यक्ष बोले मुझ को क्या देगा?

(स्वार्थी) आप भी एक दो ले लीजिये।

(कोषाध्यक्ष) छी छी!! दश से कम हम नहीं लेंगे। नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे। फिर आना। जब तक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उस को हमारे पास ले आओ तब तक कोषाध्यक्षजी ने दश रुपये उड़ा लिये। पचास रुपये लेके चला मार्ग में—

(नौकर) कुछ मुझ को भी दे।

(स्वार्थी) अच्छा भाई तू भी एक रुपया लेले।

(नौकर) लाओ। जब दरवाजे पर आया तब सिपाहियों ने रोका।

कौन ? तुम क्या ले जाते हो ?

(नौकर) मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूं।

(सिपाही) यह कौन है ?

(नौकर) जपानुष्ठानी !

(सिपाही) कुछ मिला ?

(नौकर) यही जाने ! कहो भाई क्या मिला ?

(वार्थी) जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुँचे सो ही मिला।

(सिपाही) हम को भी कुछ देता जा।

(स्वार्थी) लो ।।) आठ आने।

(सिपाही) लाओ।

जब तक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया। दूसरे नौकर से बोला कि देखो वह कहां गया ? तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुंचे। (दानाध्यक्ष) लाओ, रुपये कहां हैं ? (स्वार्थी) ये हैं अड़तालीस। (दानाध्यक्ष) वाह वाह ? बारह रुपये कहां गये ! स्वार्थी ने जैसा हुआ था वैसा कह दिया। (दानाध्यक्ष) अच्छा तो चार मेरे गये और आठ तेरे। (स्वार्थी) अच्छा जैसी आपकी इच्छा हो। तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि मैं घर हो आऊँ कल आ जाऊंगा। वह दूसरे दिन आया। उससे दानाध्यक्ष ने कहा कि तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर और ले यह धोती, अंगोछा पंचपात्र, माला और गोमुखी। वह लेके गङ्गा पर गया। वहां स्नान कर माला लेके जप करने बैठा। विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है। ऐसा वह मूर्ख समझ गया। "सरप माला खटक मणका मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं मैं राजा का जप करूं" जपने लगा।

तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लग गया है तो मेरा भी लग जायगा। चलो। वह गया। वैसा ही हुआ। चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा जैसा वह करता है वैसा करना। वह गया। वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़ने वाले का मन्त्र सुन-कर जपने लगा कि "तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं" वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जा के सब कुछ कर करा लाया। चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह होता दीखे तब तक करना। वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझ के वहां जाकर जप करने को बैठ के जपने लगा कि "ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कबतक"। वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर कराके गङ्गा पर जाने लगा तब दानाध्यक्ष ने कहा कि जबतक निभे तब तक निर्वाह करना। वह भी इसको मन्त्र ही समझ के गङ्गा पर जाके जप करने को बैठ के उन तीनों का मन्त्र सुना तो एक कहता है—"मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं" मैं राजा

का अप करूं। दूसरा—"तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं" तीसरा—"ऐसा निभेगा कबतक, ऐसा निभेगा कबतक, ऐसा निभेगा कबतक"! और चौथा जपने लगा कि "जब तक निभे तबतक जबतक निभे तबतक, जब तक निभे तबतक"।

ध्यान रक्खो कि सब अधर्म्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती हैं कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्म्मान्धकार में गिरके कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते।

यहां किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो

कोई एक विद्वान् धर्मात्मा राजा था। उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने आकर कहा कि मेरी जीविका करा दो। (दानाध्यक्ष) तुमने कौन कौन शास्त्र पढ़ा और क्या-क्या काम करते हो?

(अर्थी) मैं कुछ नहीं पढ़ा और बीस वर्ष तक खेलता कूदता गाय, भैंस चराता खेतों में डोलता रहा और माता-पिता के सामने आनन्द करता था अब सब घर का बोझ पड़ गया है। आपके पास आया हूं; कुछ करा दीजिये।

(दानाध्यक्ष) नौकरी चाकरी करो तो करा देंगे।

(अर्थी) मैं ब्राह्मण साधु जहां तहां बाजारों में उपदेश करने वाला हूँ। मुझ से ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है?

(दानाध्यक्ष) तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु और विज्ञान के के विना उपदेश का काम कैसे कर सकता होगा? इसलिये नौकरी चाकरी करना हो तो कर, नहीं तो चला जा। वह मूर्ख वहां से निराश हो चला कि यहां मेरी दाल न गलेगी, चलो राजा से कहें। जब राजा के पास जाके वैसे ही कहा तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्ष जी ने कहा है वैसा करना हो तो कर; नहीं तो चला जा। वह वहां से चला गया।

इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिल के बातचीत की तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है। जाके राजा से मिल के कहा कि पंडितजी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसा ही किया। तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अति श्रेष्ठ विद्वान् है। ऐसा जानकर उसने कहा कि आपको हजार रुपये मासिक मिलेगा। आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये। वैसा ही हुआ। धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं कि जिनके हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्म रूप सूर्य प्रकाशित होता है॥

(प्र०) दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किसको कहते हैं?

(उ०) जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय वह दाना-

भक्ष और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता है वह दानाध्यक्ष कहाता है ॥

(प्र०) राजा किसको कहते हैं ?

(उ०) जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर अपनी प्रजा को कराकर आनन्दित रहता और सबको सुख से युक्त करता है वह राजा कहाता है।

(प्र०) प्रजा किसको कहते हैं ?

(उ०) जैसे पुत्रादि तन, मन, धन से अपने माता पितादि की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके राजसभा को कर देकर उनको सदा प्रसन्न रक्खे वह प्रजा कहाती है और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है विपरीत की नहीं। जैसे—

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा ॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजा-पालनादि उचित समय में ठीक ठीक करता था। उसकी नगरी का नाम "प्रकाशवती," राजा का नाम "धर्मपाल" व्यवस्था का नाम "यथायोग्य करनेहारी" था। वह तो मर गया। पश्चात् उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था उसने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहां से निकल जाये। तब बड़े २ धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसे आप को भी वर्त्तना चाहिये।

राजा—उनका काम उन के साथ गया अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा।

सभा—जो आप सभा का कहना न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जायेगा।

राजा—मेरा तो जब होगा तब होगा परन्तु तुम यहां से चले जाओ नहीं तो तुम्हारा नाश तो अभी कर दूंगा।

सभासदों ने कहा "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" जिसका शीघ्र नाश होना होता है उसकी बुद्धि पहले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये यहां अपना निर्वाह न होगा वे चले गये और महामूर्ख धूर्त्त खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई। राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम "गवर्गण्ड", नगरी का नाम "अन्धेर" और जो मेरे पिता और सभा करती थी उससे सब काम मैं उलटा ही करूंगा। जैसे मेरा पिता और सभासद् रात में सोते और

दिन में राज्यकार्य्य करते थे वैसे ही उस से विपरीत हम लोग दिन में सोवें और रात में राज्यकार्य करेंगे। उनके सामने उनके राज्य में सब चीज अपने-अपने भाव पर बिकती थी; हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से लेके मिट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी।

जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते. पांच पांच सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में वहाँ दश (१०) टकों से दश (१०) सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे। गुरु ने कहा कि वहा गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिए क्योंकि किसी दिन खाया पिया सब निकल जाएगा किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह से, साथ चला गया। वहां जाके अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया और खूब माल चबाने और कुश्ती किया करते थे। इतने मे कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली लेकर किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीनकर भागे। उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है उसने कहा कि अभी उचक्के मुझमे रुपयों को छीनकर ले जाते हैं। सिपाही धीरे धीरे चलके किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मै फलाने साहूकार का नौकर हूँ चलो पूछ लो।

(सिपाही) हम नहीं पूछते; चल राजा के पास। पकड़ कर राजा के पास ले जाके कहा कि इसने हजार रुपयो की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आस पास वालो मे से किसी ने कुछ न पूछा न गाछा। वह विचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूं परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो। शूली लोह की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है। उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर, नाभि में उस की अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यो न हों? क्योंकि "समानव्यसनेषु मैत्री" जिन का स्वभाव एकसा होता है उन्ही की परस्पर मित्रता होती है। जैसे धर्मात्माओ की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्मात्माओं का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है।

गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है दुबला; अब क्या करना चाहिये। तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इसको छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो उसको पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो। तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचे वाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले ठीक २ तो उसका चेला ही है। जब वहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुझको महाराज का हुक्म है, शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो वह घबड़ा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया।

सिपाही—अपराध तो नहीं किया परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है; हम क्या करें ?

साधु—क्या दूसरा कोई नहीं है ?

सि०—नहीं ! बहुत बर २ मत कर; चल । महाराज का हुक्म है। तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिए ।

गुरु—हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो; तूने नहीं माना । अब हम क्या करें ? जैसे हो वैसा भोग । देख अब सब खाया पिया निकल जावेगा ।

चेला—अब किसी प्रकार बचाओ तो यहा से दूसरे राज्य में चले जावें ।

गुरु—एक युक्ति है बचने की । सो करो तो बचने का उपाय सम्भव है कि शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटा; मैं तुझको हटाऊं । इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा ।

चेला—अच्छा तो चलिये । सब बातें दूसरे देश की भाषा में की इससे सिपाही कुछ भी न समझे। सिपाहियों ने कहा चलो देर मत लगाओ नहीं तो बांध के ले जायेंगे । साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नता पूर्वक चलते हैं; तुम क्यों बांधो ?

सिपाही—अच्छा तो चलो । जब शूली के पास पहुँचे तब दोनों लंगोटे बांध मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे ।

गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूंगा ।

चेला—चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढे ।

गुरु—मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ जाय । हां ! मुझ को मारकर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना । क्यों बकता है ? चुप रह । समय चला जाता है ।

ऐसा कह कर शूली पर चढ़ने लगा । तब चेले ने गुरु को पकड़कर धक्का देकर अलग किया । आप चढने लगा । फिर गुरु ने भी वैसा ही किया । तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे । उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो तब दोनों साधु बोले कि हमसे इस बात को मत पूछो । चढ़ने दो । क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है ।

यह बात तो यहां ऐसे ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी । आप वहां से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सबसे बोला कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है । सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को । बैंगन का शाक चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा कर ली । सुनिये महाराज ? अब बैंगन अच्छा है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है । ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे । तब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया । डौढ़ी

बन्द हुई । तब तक खुशामदी लोगो ने चौकी पहरे वालो से कहा कि जबतक प्रात काल हम न आवे तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना । उसने कहा कि अच्छा आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नही हुई ।

खुशामदी—आज न हुई कल होजावेगी हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा मे निकाल कर अपने घर पहुँचे वही अपना है । जब राजा को नशा और रंडीबाजी आदि खेल मे सब लोग मिलकर लगा देगे तभी अपना गहरा होगा। खजाना अपना ही है और सब आपस मे मिले रहो, फूटना न चाहिये । सबने कहा हा जी हा, यही ठीक है ।

ये तो चले गये । जब गवर्गण्ड सोने गया तब गर्म मसाले पडे हुए बेंगन के शाक ने गर्मी की और जङ्गल की हाजत हुई । ले लोटा जाजरू मे गया रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि मे कोई तीस दस्त हुए । रात्रि भर मे नीद न आई । बडा व्याकुल रहा । उसी समय वैद्यों को बुलवाया वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे ऊटपटाग औषधियाँ दी । उनने और भी बिगाड किया क्योकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योकर ठहर सकते हैं ?

जब प्रात काल हुआ तब खुशामदियो की एक मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियो से पूछा कि महाराज क्या करते है ?

दासी—आज रात भर जुलाब लगा और व्याकुल रहे ।

खुशामदी—क्या रात्रि मे महाराज के पास कोई आया भी था ?

दासी—दस बारह जने आये थे ।

खुशामदी—कौन २ आये थे ? उनके नाम भी जानती हो ?

दासी—हाँ तीन के नाम जानती हू, अन्य के नही ।

तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न करदी हो, इसलिये आज हम में से दो पुरुषो को रात मे भी डौढी मे अवश्य रहना चाहिये । सब ने कहा बहुत ठीक है । इतने मे जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा । तब खुशामदियो ने भी उससे सौगुना मुख बिगाड कर शोकाकृति मुख होकर ऊपर से झुठमूठ अपनी चेष्टा जताई ।

गवर्गण्ड—बेंगन का शाक खाने मे तो स्वादु होता है परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ ।

खुशामदी—वाह वाह जी वाह महाराज ! आपके सदृश न कोई राजा हुआ और न होगा और न कोई इस समय है क्योकि महाराज ने खाते समय उसके गुणो की परीक्षा की और रात्रि भर में उसके दोष भी जान लिये । देखिये महाराज ! जब बेंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारो ओर काटे लगा दिये । ऊपर का वर्ण कोयलो के समान और भीतर का रङ्ग कोढी की चमडी के सदृश किया है ।

गवर्गण्ड—क्यो जी कल रात को तुमने इसकी प्रशंसा मुकुट आदि का अलङ्कार और

इस समय उन्हीं की निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो ? अब हम किसकी बात सच्ची मानें ।

खुशामदी घबरा के बोले कि धन्य धन्य धन्य है आपकी विशालबुद्धि को ! क्योंकि कल संध्या की बात अबतक भी नहीं भूले । सुनिये महाराज ! हमको साले बेंगन से क्या लेना था । हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है । जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झुठ को सत्य कहें; सो सभी ठीक है ।

गवर्गण्ड—हां हां नौकरों का यही धर्म है कि लोभी स्वामी को किसी बात में प्रत्युत्तर न दें किन्तु हां जी हां जी ही करते जायं ।

खुशामदी—ठीक है ! राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें । रात दिन अपने सुख में मग्न रहें । नौकर चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें । बनिये बक्काल के समान हिसाब किताब कभी न देखें । जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रक्खें । जिस दरख्त को लगावें उसको कभी न काटें । जिसको ग्रहण किया उसको कभी न छोड़ें चाहे कितना ही अपराध करें क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है; राजा नहीं ।

गवर्गण्ड—क्योंजी ! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे वा नहीं ?

खुशामदी—नहीं नहीं कदापि नहीं । न हुआ, न होगा और न है ।

गवर्गण्ड—सत्य है । क्या ईश्वर भी हम से अधिक उत्तम होगा ?

खुशामदी—कभी नहीं हो सकता । क्योंकि उसको किसने देखा है, आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं क्योंकि आप की कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से आयोग्य तत्काल ही हो सकता है ।

इतने में नियत किये प्रात:काल को सायंकाल मानकर सोने को सब लोग गये । जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी । इतने में सिपाहियों ने आकर झगड़े की बात कही । सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो ?

साधु—तुम हमसे मत पूछो । चढ़ने दो । समय चला जाता है । ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिलता है ।

गवर्गण्ड—इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा ?

साधु—हम नहीं कहते । जो चढ़ेगा वह फल देख लेना । हमको चढ़ने दो ।

गवर्गण्ड—नही नहीं जो फल होता हो सो कहो । सिपाहियो ! इनको इधर पकड़ लाओ । पकड़ लाये ।

साधु—हमको क्यों नहीं चढ़ने देते ? झगड़ा क्यों करते हो ?

गवर्गण्ड—जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे ।

साधु—दूसरे को कहने की तो यह बात नहीं है परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो । जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठ के आनन्दस्वरूप को प्राप्त होगा ।

गवर्गण्ड—अहो ! ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूं । तुमको न चढ़ने दूंगा ।

ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये । साधु अपने आसन पर आये । चेले ने कहा कि महाराज चलिए; यहां अब रहना न चाहिये । गुरु ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं; जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था वह मर गया । अब धर्मराज्य होगा । क्या चिन्ता है ? यहीं रहो । उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान् पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद और प्रजा में सत्पुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे वे सब आके सुनीन नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उस मुरदे को शूली पर से उतार के जला दिया और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड देके कुछ कैद कर लिए और बहुतों को नौका में बिठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्यधर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे । और पुनः प्रकाशवती नगरी नाम की व्यवस्था चलाने लगे, और पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ, और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे ।

जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी अधर्मी प्रजा का विनाश करने हारे राजा, धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और उनके समान उपद्रवी राजविद्रोही प्रजा भी होती है और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीत के समान धार्मिक विद्वान् पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राजप्रबन्धक में प्रीतियुक्त मङ्गलकारिणी प्रजा होती है । जहां अभाग्योदय वहां विपरीतबुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादि-स्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं और जहां सौभाग्योदय वहां परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं । वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं ।

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने, पीने, बोलने, सुनने, बैठने, उठने, लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के लड़की, इष्ट मित्र, अड़ोसी पड़ोसी और स्वामी भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें ।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीनिर्मितो
व्यवहारभानुः समाप्तः ॥

प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

भ्रमोच्छेदन

जो

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के निवेदन के उत्तर में

श्रीमत्स्वामी-दयानन्द सरस्वती ने

सज्जन आर्यों के हितार्थ निर्माण किया है ॥

इस पुस्तक के छापने का अधिकार किसी को नहीं है ।

॥ वैदिक यंत्रालय काशी में लक्ष्मीकुण्ड पर ॥

। श्रीयुत महाराजे विजयनगराधिपति के स्थान में ।

मुंशी बख्तावर सिंह के प्रबन्ध से छपके प्रकाशित हुआ

संवत् १९३७

मूल्य -)

निवेदन

सब सज्जन आर्यों पर विदित किया जाता है कि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी इस नगर काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग में साढ़े पांच मास रहे। और आते ही एक विज्ञापन लगाया कि पुराणी जैनी कुराणी किराणी आदि में से जिस किसी को शास्त्रार्थ करने की सामर्थ्य हो वह सभा करके लेख द्वारा करे। यहां लोगों ने बहुत-सा गड़बड़ मचाया (कि जो आर्य्य दर्पण में छपेगा) परन्तु शास्त्रार्थ करने को कोई भी उद्यत न हुआ।

जब स्वामी जी के यहां से यात्रा के चार-पांच दिन रह गये तब यहां के बहुत से लोगों ने विचार किया होगा कि स्वामी जी के बार-बार विज्ञापन देने पर भी यहां के पण्डित लोग शास्त्रार्थ न कर सके और कुछ नहीं तो अब इनके चलते समय अवश्य गड़बड़ मिचाना उचित है। तब इस काम पर राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने कमर बांधी और स्वामी जी से कुछ पत्र द्वारा अनुचित व्यवहार करके और उसमें अपनी ओर से बहुत-सा लोन मिर्च भरके उसको मुद्रित कराया और सुना है कि वेदभाष्य के ग्राहकों के पास भी उसका एक-एक पुस्तक भेजा है कि जिसके देखने से ही सब पर राजा जी की बुद्धि और विद्वत्ता प्रगट हो गयी होगी। उसमे जो स्वामी-विशुद्धानन्द जी ने अपनी सम्मति दी है इस कारण स्वामी-दयानन्द सरस्वती जी ने यह विचार कर कि—

उसका उत्तर देना अवश्य जाना। जो यह केवल राजा शिवप्रसाद जी की ओर से होता तो कदाचित् स्वामी जी इसका उत्तर न देते क्योंकि राजा शिवप्रसाद जी न तो संस्कृत ही जानते हैं और उनको किसी ऐसे विद्वान् का ही सत्संग हुआ है कि जो प्राचीन ऋषिमुनि कृत पुस्तकों की बातों को जानता हो, जैसा कि उनके लेख से ज्ञात होता है॥

अब मैं इस "भ्रमोच्छेदन" का एक-एक पुस्तक सब सज्जन ग्राहकों के पास भेजता हूं। आशा है कि सब सज्जन लोग पक्षपात रहित होकर सुहृदयता से इसको देखकर सत्य और असत्य का निर्णय करेंगे।

सब लोग जानते हैं कि इस वैदिक यन्त्रालय का केवल वेदादि सत्य पुस्तकों के प्रकाश के हेतु प्रबन्ध किया गया है। यहां इतना धन नहीं जो राजा जी की नाईं एक-एक पुस्तक बिना दाम भेजे जावे, इसलिये इस पुस्तक का एक आना –) दाम रक्खा है।

सब ग्राहकों को उचित है कि वेदभाष्य के मूल्य के साथ इसका भी –) अधिक मेरे पास भेज दें॥

बखतावर सिंह

॥ ओ३म् ॥

॥ भ्रमोच्छेदन ॥

(अविद्वानों का) +

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि, मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार मे नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीरधारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ?

देखना चाहिये कि जैसा उनको मैं सुनता हूं वैसा ही वे हैं वा नहीं; ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने सवत् १९२६ से लेके पांच बार काशी में जाकर निवास भी किया था परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ :०: कि कुछ वार्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसाद जी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल आलकाट साहब और एच० पी० मेडम व्लेवेस्तकी को मिलने के लिये आनन्द-बाग में आये। उन्होंने मुझ से मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूँ। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजा-साहब की सूचना कराई और जब तक उक्त साहब के साथ राजा जी न उठ गये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुईं परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजा जी पर था वैसा उनको न पाया +। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है सो सब सच नहीं होती।

राजा जी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुन मैं भ्रम में पड़ गया।

यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजा जी को बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है ❀ ?

+. जो राजा शिवप्रसाद जी अपने लेख पर स्वामी-विशुद्धानन्द जी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं सो सब स्वामी-विशुद्धानन्द जी की ओर ही समझा जावे॥

:०:. एक बार सय्यद अहमदखां सदरस्सदूर जी की कोठी पर दूर से देखा था पर वार्तालाप नहीं हुआ था॥

+ राजा जी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।

❀ कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें बिना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, न वह बिना पढे समझ सकता है॥

जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आ के उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख उनके पत्र मे है वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं + किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है ।

देखो ! मार्गशीर्ष मे लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे। क्यो न मिलके सन्देह निवृत्त किये ? जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवा चार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना और मेरे काशी मे चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवा कर काशी में और जहा-तहां भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसाद जी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेगे ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओ मे क्या उनकी अयोग्यता की बात नही है :०: । भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ?

ऐसे कपट छल के व्यवहार न करने मे मनु जी की साक्षी अनुकूल है—

"अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेष वाधिगच्छति ॥"

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से ☐ (पृच्छति) पूछता है (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते है ॥

जब इस वचनानुसार राजा जी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये ❀ तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं ? हाँ ! मैं अपरिचित

+ हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं ॥

:०: जो राजा जी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथारीति जानी तभी उनसे पत्र व्यवहार आगे को न चलाया क्योंकि उनमे संवाद चलाना व्यर्थ देखा ॥

☐ जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे वह 'छली' कहाता है ॥

❀ जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता ॥

मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म से उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर नहीं पूछता और न कहता है तब तक उससे सत्याऽसत्य-निर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां ! जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं अर्थात् जब-जब अयोग्य पुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूं तब-तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछ के निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है—÷ ।

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्द जी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में 'निवेदनपत्र' छपवाके प्रसिद्ध किया है उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहां २ (रा०) चिह्न आवे वहां २ राजा शिवप्रसाद जी का और जहां जहां (स्वा०) आवे वहां २ मेरा लेख जानना चाहिये ।।

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ; निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ९ से ८८ तक देखा। विचित्र लीला दिखाई दी। आधे आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं; शेषार्द्ध को जो प्रतिकूल पाये परित्याग ॐ। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उनके अर्थ पलट दिये; मनमाने लगा लिये + परन्तु आपने याज्ञवल्क्य जी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा ? क्या इसलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ?

÷ कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आंखों की पीडा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये है उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है ।।

ॐ देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उसको मेरे अनुकूल और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं इसीलिये राजा जी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते है क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है ।।

+ जैसी राजाजी की समझ है वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती क्योंकि जो २ व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है इस २ को वे उलटा समझते हैं और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है ? और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते है यह उनकी समझ का दोष है।

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है ? और यह भी सच है कि जब २ अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है तब २ काच के मन्दिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भ्रम २ सुख के बदले दुःख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती तो वहां उस-उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं।*

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रन्थों ही के साथ सम्बन्ध होता है। जब ऐसा है तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है + कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी सम्पूर्ण का लिखना उचित समझते हैं सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़ कर गिराती रहती है अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जो कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं वही आपके "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा" इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली □ तो ऐसी है—

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥"

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा ? तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायेंगे। क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते। चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं।×

* चेत करना चाहिये यह उलटी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों का एक वाक्य समझना॥

+ मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो वहां उतना ही लिखना॥

□ जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है वैसा काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता।

× ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है और न हाथ से लिखा जा सकता है॥

जो ऐसा न समझते तो—"**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टगं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ।।**"

इस वाक्यसमुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा; यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें? उन्होंने न कभी किसी से वाक्य का लक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो 'एवं वा०' इससे ले के 'निःश्वसितानि' इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते☐।

देखिये! यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है—'एकतिङ् वाक्यम्।' जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—'**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति**' एक, और **पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति**' दूसरा वाक्य है। इस प्रकार इस कण्डिका मे २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य 'त्वं विद्धि' इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो, उनको प्रकरणार्थ और ग्रंथ के पूर्व पदार्थ का होने की आशा कभी हो सकती है ×? इसलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र मे मैंने लिखा है सो बहुत ठीक है कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदो मे लेके पूर्वमीमासा पर्यन्त विद्यापुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है ∸। इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ।

क्या अब जिस को थोडी सी भी बुद्धि होगी वह राजासाहब को शास्त्रो के तात्पर्यार्थज्ञानशून्य जानने मे कुछ भी शङ्का रख सकता है? यहां 'चोर कोटपाल को दण्डे' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो "**अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः**" के समान स्वयं राजाजी और

☐ जो राजाजी विद्या मे वास कर अविद्या मे पृथक् होते तो उनके मुख से ऐसी असम्भव वात कभी न निकलती।।

× राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हा 'अन्धाना मध्ये काणो राजा' यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे।।

∸ ईश्वरोक्त चार वेद स्वतः प्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि ऐतरेयब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्षपुस्तक पढ़ना बाकी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण ग्रहण न हो सके। क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुये हैं और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सबसे पीछे बनाया गया है। इसलिये जो राजा जी ने नोट में "स्वामी जी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा" लिखा है सो भ्रम से ही है ।।

उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है ?

इससे मैं सब आर्य सज्जनों को विदित करता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्य जन्म के धर्मार्थ, काम, मोक्ष फलों से रहित होकर दुःख-दुर्गन्ध सागर रूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें। और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्द जी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है सो करनी चाहिये—

रा०—श्रीमत्पण्डितवर ❀ बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं। परमपूजनीय जगद्‌गुरु + श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी के चरणों में पहुँच जो पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे × और पिछले उत्तर पर जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों ? क्या यथा बुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्र-वित् अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें और इससे 'सजातीय प्रवाहपतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूँ कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें ❀। भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादिविद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है। जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझकर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसी लिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूंगा।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान्

❀ काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं; भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं॥

+ जगत् में जो २ उनके शिष्य वर्ग में है उन २ के परमपूजनीय और गुरु होंगे, सबके क्योंकर हो सकते हैं ?

× जो कुछ भी पत्रों में अभिप्राय को समझते तो हास करके अयोग्यपत्र पर-सम्मति क्यों लिख बैठते ?

❀ जो कोई विना विचारे कर बैठता है उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते॥

होते तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते +। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूँ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद् शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से × विस्मृत होगये होंगे तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत के पदवाक्यप्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं। परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

अस्तु जो किया सो किया अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे। जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये ये तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों को विचार शुद्ध लिखकर मुन्शी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मुन्शीजी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं इस निश्चय के लिये पत्र द्वारा आप से सम्मति-पत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेंगे और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्र सहित उनके पास भेज दिया करेंगे।

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हो तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते?

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते✽? जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रहकर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजा जी के

+यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है॥

× सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भाग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं वे सब बुद्धिनाशक होते हैं। इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करे॥

✽ उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढोत्साह युक्त होके निन्दा-स्तुति हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें॥

पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उन्होंने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई। वैसे जो वे मुझसे शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये बिना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे ?

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्री जी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी-विशुद्धानन्द जी के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजा जी ! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी-विशुद्धानन्द जी के चरणों में पहुँचकर पत्र दिखा, सम्मति लिखा, पुस्तक छपाकर, इधर-उधर भेजने से भी न बच सके तो आपके जाट, खाट, और कोल्हू लौट कर आप ही के शिर पर चढ़े वा नहीं ? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बालशास्त्री जी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी-विशुद्धानन्द जी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक् अर्थात् बारिस्टर करना भी मत छोड़िये।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है; अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूँ कि सब मिलकर कितना ही करो जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्य-मत का ग्रहण नहीं करता तब तक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी-विशुद्धानन्द जी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है ? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्तमान न करे वह संशय समुद्र में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे ?

अब मैं सूचना करता हूँ कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्द जी के हास्यास्पद लेख को देख उस पर विश्वास कर इस **'क्वास्ताः क्व निपतिताः'** महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःख-सागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते है। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते। सिवाय संहिता के हम और कुछ नही मानते है।

स्वा०—जैसा यह राजा जी का लेख है वैसा मैंने नहीं कहा था किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

"रा०—आपका मत क्या है ?

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ?

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—नहीं ! क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही वेद होता है। जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि-मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत है। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्ति सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही हैं।

यह मेरे पत्र का लेख उनके भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्यमान ही था। परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है जो राजा जी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते तो क्या इसमें राजा जी का दोष नहीं है ?

रा०—वादी❀ कहता है जो संहिता ईश्वर प्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर-प्रणीत हैं।

स्वा०—देखिये राजा जी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को। जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि-मुनि प्रणीत हैं तो संहिता भी ऋषि-मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये +।

स्वा०—देखिये ! राजा जी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है ? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं वैसी ही प्रतिध्वनि सुनने में आती है; विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले; विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्ध पक्ष प्रतिपादन नहीं करता तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुनी जाती है क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होती है ?

❀ क्या विद्या और सुशिक्षा रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? जब राजी जी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ?

+ जो मैं राजा जी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता।

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत: प्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वत:प्रमाण हैं। आपका संहिता परत:प्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है। जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वत:प्रकाशमान है तो घटपटादि भी स्वत:प्रकाशमान हैं।

रा०—आपने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव ९ में पृष्ठ से लेके ८८ अट्ठासी के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये; निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे मैं तो और भी भ्रान्ति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आपने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का परित्याग क्यों किया? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़ कर दु:ख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वत:प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परत:प्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के इसी पृष्ठ में आगे लिखे हैं। क्या बांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंख अन्धकारावृत हो गये थे?

परन्तु जो २ वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत:प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता। क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०—'**तस्माद्यज्ञात्**···**अजायत**' अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ १० पंक्ति २९ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ विष्णु और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा कर के भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने 'सहस्रशीर्षा पुरुष:' यहां से लेके 'ग्राम्याश्च ये' यहां तक जो छ: मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्त कारण परमात्मा पूर्वोक्त है; उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति ११

"(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमत: परब्रह्मण: (ऋच:) ऋग्वेद: (यजु:) यजुर्वेद: (सामानि) सामवेद: (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।"

यह 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं। इत्यादि

से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वत:प्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह वचन लिखा है। और जो ब्राह्मण मे मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मै उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थसम्बन्धो के जानने में तन, मन, धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते +।

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ८०/२६ पंक्ति मे लिखते है—कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते है प्रमाण ८ हैं और फिर ५३ में लिखते है चौथा शब्द प्रमाण आप्तों के उपदेश, पाचवा ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानो के कहे वा लिखे उपदेश। तो आपके निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे □ ॥

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ मे लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी तक मे लिख रहा है; जो चाहे सो वहाँ देख लेवे। और जो वहाँ **'एव तेनानुक्तत्वात्'** इस वचन का यही अभिप्राय है कि **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** यह वचन कात्यायन ऋषि का नही है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियो की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता × ? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नही मानते ? जो इनको भी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तो की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यो लिखते ?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे तो ऐसा नही हो सकता। क्यों ? आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियो के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो ? और जो उनको भी मानते हो तो मन्त्रसंहिता ही वेद है, उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेदसंज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यो नही छोड देते ? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नही हो सकते और जो सैकड़ों आप्त ऋषियों को छोडकर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

+ प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते ॥

□ वे तो आप्त विद्वान् थे परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था।

× हजारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है दो मूर्खों का भी एकमत होना कठिन है ॥

रा०—आप लिखते है कि—ब्राह्मण मे जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं। अत एव वह वेद नहीं। और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियो का नाम यों है कि जहां जहां ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है वहां वहां जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है। और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नही हो सकती वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदो मे इतिहास होते तो अनादि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते ? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदों में **'त्र्यायुषं जमदग्ने०'** इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते।

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है ?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक 'ईशावास्य' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय होने से वेद है। और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा **'ब्राह्मणानीतिहासान्०'** इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे 'एवं वा अरे०' इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो **'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'** ऐसा लिखने वा कहने मे कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नही होते +।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो है। यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नही हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतःप्रमाण; और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ मे

+ विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है अविद्यायुक्त बालकों को नहीं।

विरुद्ध हो तो अप्रमाण और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतः-प्रमाण हैं। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर धर के पद, वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं—**'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।'** इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छओं अंग अपरा है, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होना है। अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटांग लेख है उस को कौन शुद्ध कर सकता है। क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पंक्ति ३ में **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे २ अर्थ को टेढ़ा २ कर दिया। देखो! यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ से करता हूँ। तू सुनकर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में पराविद्या क्यों नहीं?

देखो—**तमीशानं,** इत्यादि मन्त्र, ऋग्वेद। **'परीत्य भूतानि'** इत्यादि और **ईशा-वास्य'** इत्यारभ्य **'ओं खं ब्रह्म'** पर्यन्त मन्त्रयुक्त ४० चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र, यजुर्वेद। **'दधन्वेवायदीमनुवोचद् ब्रह्मेति वेरुत्तत्।'** इत्यादि मन्त्र सामवेद। **'महद्यक्षं'** इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हजारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका के पृष्ठ ४३ पंक्ति ३१ से लेके पृ० ७७ पंक्ति ४ की समाप्ति तक लिख रक्खा है। जिसको देखना हो देख लेवे।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में पराविद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहाँ से आती? **'मूलं नास्ति कुतः शाखाः'**? क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था? क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को परविद्या में मानेंगे तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि पराविद्या में क्यों नहीं? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने **'यथा तदक्षरमधिगम्यते सा पराविद्यास्ति'** इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है? और जो मैंने वेदों में परा और अपराविद्या लिखी है उसको कोई विपरीत भी कर सकता है? कभी नहीं।

इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं से प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना

सोचे समझे सम्मति कर दी है वैसे साहस न करना चाहिये। किन्तु उस २ विद्या के योग्य होके किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिखकर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जानकर लिख के उत्तर देना चाहा न था। फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो।

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ वैसा ही निश्चित जानता हूं।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्द जी को?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं। उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य अलाप करना होता है।

प्रश्न—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़ कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे करते हो सो यह न्याय की बात नहीं है?

उत्तर—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे। न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें और स्वामी विशुद्धानन्द जी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें □।

प्रश्न—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा?

उत्तर—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूँ कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापन क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्द जी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता?

प्रश्न—वे हैं बहुत और आप अकेले हो। कैसे संवाद कर सकोगे?

उत्तर—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं। क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन

□ यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवे उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें॥

उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिस में उनकी अप्रसन्नता हो; ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें। उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूं। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ वैसे वे भी करें तो ठीक है; अन्यथा नहीं।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा ?

उ०—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है अर्थात् एक महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है और दूर २ रहकर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ?

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सब को परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ, कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व में और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उसके स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के कागज पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने २ पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना २ हठ छोड़ देवें। क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूंगा तब जहां हूँगा वहां वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुँचूगा कि जिससे उनको परदेश यात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा। क्या यह छोटा लाभ है ?

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं। इसका क्या कारण है ?

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है ; जो उनको यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते अथवा जो और कुछ कारण हो तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं ?

विज्ञापन

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा। हां सन्मुख आ के तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता सन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष-परिहारार्थ इन दोनों को सन्मुख आर्यावर्त्तीय पण्डितों में माना है। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बाल-शास्त्रीजी को निर्भय निःशंक करे कि जिससे वे मुझ से सन्मुख वा पत्र द्वारा पाषाणादि मूर्त्तिपूजादिमंडन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढोत्साहित हूँ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥

इति श्रीस्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितो
भ्रमोच्छेदनो ग्रन्थोऽयं पूर्त्तिमगमत्॥

दयानन्द सरस्वती

प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

॥ ओ३म् ॥

नमो निर्भ्रमाय जगदीश्वराय

अथ

अनुभ्रमोच्छेदन

राजा शिवप्रसादजी के द्वितीय निवेदन के उत्तर में प्रकाशित किया ॥

यह ग्रन्थ लाला सादीराम के प्रबन्ध से वैदिक यन्त्रालय बनारस मे छपवाया ॥

संवत् १९३७

प्रति पुस्तक मूल्य –)　　　　डाक महसूल)॥

॥ ओ३म् ॥

अनुभ्रमोच्छेदन ॥

यस्या नरो बिभ्यति वेदबाह्यास्तया हि युक्तं जनसेनया यत् ।
तन्नाम यस्यास्ति महोत्सवं स त्वनुभ्रमोच्छेदनमातनोति ॥ १ ॥

भूमिका

मैंने विचारा था कि राजाजी और स्वामीजी ने एक २ वार लिखा है आगे इसका प्रपञ्च न बढ़ेगा परन्तु वैसा न हुआ । और उनके अनुगामी लोगों ने समाचारपत्रों को भी गर्जाया और बहुत योग्यायोग्य वाच्यावाच्य भी लिखना न छोड़ा । और मैंने यह जान भी लिया कि स्वामीजी अपने नाम से इसपर कुछ भी न लिखें और न छपवावेंगे । क्योंकि इसपर श्रीयुत स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती और बालशास्त्रीजी की सम्मति नहीं लिखी । तथा अन्य किसी आर्य्य ने भी इसके प्रत्युत्तर में न लिखा । यह बात ठीक है कि स्वामीजी को तो इस पर लिखना योग्य ही नहीं क्योंकि वे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा से विरुद्ध क्यों करें । जब ऐसा हुआ तब मैं यथामति इस पर लिखने में प्रवृत्त हुआ । यद्यपि इन महाशयों के सन्मुख मेरा लेख न्यूनास्पद है तथापि अन्तःकरण से पक्षपात छोड़कर देखने से कुछ इससे भी तत्त्व निकलेगा । और जो कुछ इसमें भूल-चूक रहेगी उसको सज्जन महात्मा लोग सुधार लेंगे ।

अब जो राजा शिवप्रसादजी की यह प्रतिज्ञा है कि अब आगे इस विषय में कुछ न लिखा जायगा तो मुझ को भी आगे लिखना अवश्य न होगा । जो राजाजी ने भ्रमोच्छेदन पर दूसरा भाग छपवाया है उसमें स्वामीजी के लेख पर निरर्थक आदि दोष दिये हैं उन और इन दोनों पुस्तकों के लेख को जब बुद्धिमान् लोग पक्षपात रहित होकर देखेंगे तब अवश्य निश्चय करलेंगे कि कौन सत्य और कौन असत्य है ॥

इति भूमिका ॥

देखिये राजाजी के प्रिय और सुन्दर लेख को निवेदन पहिला पृष्ठ १ पंक्ति ११ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगाके पृष्ठ ६ से ८८ तक देखा। विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये, ग्रहण किये हैं और शेषार्द्ध का जो प्रतिकूल पाये, परित्याग। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उन के अर्थ पलट दिये।

पृष्ठ ४ पंक्ति ७ ऐसा न हो कि (अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) के सदृश केवल दयानन्दजी के भाष्य और भूमिका ही की लाठी थांभे किसी अथाह गढ़े वा घोरनरककुण्ड में जा गिरें। नि० २ पृष्ठ २। पंक्ति २४। खेद की बात है क्यों वृथा इतना कागज बिगाड़ा। पृष्ठ ५ पंक्ति २५ निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सबन्ध देखा; डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम अथवा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत से न सीख लिया हो। इत्यादि वचन जो ये राजा शिवप्रसादजी ने अपने दोनों निवेदनों में लिखे है क्या इन को कुवचन गालीप्रदान कागज बिगाड़ना आदि कोई भी मनुष्य न समझेगा?

मैंने राजा शिवप्रसादजी के दोनों निवेदनों और स्वामीजी के भ्रमोच्छेदन को भी देखा। प्रथम निवेदन में जो २ प्रश्न राजाजी के थे उस २ का उत्तर भ्रमोच्छेदन में यथा योग्य है। ऐसा मैं अपनी छोटी विद्या और बुद्धि से निश्चित जानता हूं। राजाजी और उनके साक्षियों की विशालबुद्धि है इसलिये उन के योग्य ठीक २ उत्तर न हुए होंगे। इसमें क्या अद्भुत है। अब मैं अपनी अल्प विद्या और बुद्धि के अनुसार द्वितीय निवेदन के उत्तर में थोड़ा सा लिखता हूँ।

निवेदन दूसरा पृष्ठ ७ पंक्ति १६। "भला सूर्य्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्योंकर घट सकेगी। उधर सूर्य्य के सामने कोई आधा घंटा भी आंख खोल के देखता रहे अन्धा नहीं तो चक्षु रोग से अवश्य पीड़ित होवे।" इस दृष्टान्त से राजाजी का यह अभिप्राय झलकता है कि वेदको दिनभर भी आंख खोल के देखा करे तो न अन्धा और न नेत्ररोग से युक्त होता है। यहां उनका ऐसा अभिप्राय विदित होता है कि यह दृष्टान्त स्वामीजी का यहां घट नहीं सकता। जहां तक विचार के देखते हैं तो यही निश्चय होता है कि दृष्टान्त का साधर्म्य वा वैधर्म्य गुण ही दार्ष्टान्त में घटता है। सब गुण कर्म स्वभाव कभी नहीं। (जैसे साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्) न्या० अ० १। आ० १ सू० ३६ (तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम्) न्या० अ० १। सू० ३७।

शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञा उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतु । उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि-द्रव्यमनित्यमिति दृष्टान्त उदाहरणम् । यह शान्तवृत्ति से देखने की बात है कि शब्द मे अनित्यत्व धर्म साध्य है, क्योकि उत्पत्ति धर्मवाला होने मे, जो २ पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे २ सब अनित्य है, जैसे स्थाल्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्मवाले होन से अनित्य हैं वैसे कार्य्य शब्द भी अनित्य है । यहा केवल स्थाल्यादि पदार्थो का उत्पत्ति धर्म ही कार्य शब्द मे दृष्टान्त के लिये घटा के कार्य शब्दो को अनित्य ठहराया है । यह तो कोई भी नही कह सकता कि घट पटादि पदार्थों मे चक्षु से दीखना स्थूल कठोर और अन्धेरे मे दीपक की अपेक्षा रहना आदि विरुद्ध धर्म है । इसलिये उनका दृष्टान्त शब्द मे नही घटेगा वा शब्द मे भी वे धर्म हो कि दीपक जला के शब्द देखा जावे । राजाजी को अन्धेरे म दीपक से शब्द देखना उससे पानी आदि लाना चाहिये वा इस दृष्टान्त ही को न माने तो ऐसा दृष्टान्त कोई न मिलेगा कि जिसमे दार्ष्टान्त के सब धर्म बराबर मिल जाय और जो कोई पदार्थ ऐसे भी हो कि जिनके सब धर्म बराबर मिलें तो उनका परस्पर अभेदान्वय होने से उनम दृष्टान्त दार्ष्टान्त तथा उपमान उपमेयभाव कुछ भी न बन सकेगा ।

अब यहा प्रकृत म यह आया कि वेद का सूर्य का दृष्टान्त दिया है तो सूर्य अपने प्रकाश मे किसी की अपेक्षा नही रखता वैसे वेदो से भी जो अर्थ प्रकाशित होते हैं उनमे ग्रन्थान्तर की अपेक्षा नही है । स्वत प्रकाशत्व धर्म दोनो का समान है । और जैसे उत्पत्ति धर्मवाले न होने म आत्मादि द्रव्य नित्य है वैसा शब्द नही क्योकि उत्पत्ति धर्मवाला है यहा केवल वैधर्म्य अर्थात् कार्य्य शब्द के अनित्यत्व धर्म से विरुद्ध आत्मा का नित्यत्व धर्म ही दृष्टान्त के लिये घटाया है । किन्तु जो आत्मा और शब्द के प्रमेयत्व आदि साधर्म्य है वे विवक्षित नही । जैसा राजाजी का दृष्टान्त विषयक मत है वैसा किसी विद्वान् का नही कि दृष्टान्त के सब धर्म दार्ष्टान्त म घट सकते हो ।

निवे० २ पृष्ठ ५ । प १६ । राजाजी स्वामीजी से पूछते हैं कि स्वामीजी महाराज यह बतलावें कि पाणिनि आदि ऋषियो ने कहा ऐसा लिखा है कि मन्त्रसहिता ही वेद है ब्राह्मण वेद नही है' इसका उत्तर अब यह ब्राह्मण शब्द लौकिक है वा वैदिक इसके वैदिक होने मे तो कोई प्रमाण नही मिलता। लौकिक होने से प्रमाण देखे

अत्र लौकिकास्तावत् । गौरश्व पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिका: खल्वपि । शन्नो देवीरभिष्टय इषे त्वोर्जेत्वा । अग्निमीले पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतय इति ।

अब यहा अन्तस्थ नेत्रो से देखना चाहिये कि वैदिक शब्द म केवल ४ मन्त्र सहिताओ के उदाहरण दिये हैं । जो ब्राह्मण भी वेद होते तो वैदिक शब्दो म उसका उदाहरण क्यो न देते ? अब कोई यह कहे कि लौकिक शब्दो मे जिस ब्राह्मण शब्द का उदाहरण दिया है वह ग्रन्थवाची शब्द नही है किन्तु मनुष्यो म जातिविशेष का नाम है तो उससे पूछना चाहिये कि जातिवाची और ग्रन्थवाची शब्दो मे कौन ऐसा चिह्न है कि जिससे पृथक् पृथक् जाना जावे ? हा प्रकरण से अर्थ की सङ्गति होती है सो यहा किसी का प्रकरण

नही है। पतञ्जलिजी महाराज के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रसंहिता ही वेद है, ब्राह्मण नही।

अब स्वामीजी पर जो प्रश्न था उस का तो यह उत्तर पतञ्जलि ऋषि के प्रमाण से हुआ परन्तु वही प्रश्न राजाजी के ऊपर गिरता है कि राजाजी यह बतलावे कि पाणिनि आदि महर्षियो ने ऐसा कहा लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मणभाग दोनो वेद है। अस्तु तावत्।

निवे० २। पृष्ठ ५। पं० १८। "पाणिनि ने तो जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा; स्पष्ट 'छन्दसि' कहा अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में और जहां केवल मन्त्र वा ब्राह्मण का प्रयोजन देखा (मन्त्रे) वा (ब्राह्मणे) कहा और जहां मन्त्र और ब्राह्मण अर्थात् वेद के सिवाय देखा वहां 'भाषायाम्' कहा।"

राजाजी को यह लिखना तो सुगम हुआ परन्तु निम्नलिखित प्रमाण पाणिनिसूत्र और वेदमन्त्र आदि का अर्थ करके अपने पक्ष में घटाना सुगम क्योंकर हो सकेगा। अब देखिये— छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि। अ० ४ पा० २। सू० ६६। इस सूत्र में प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण को अध्येतृ वेदितृ विषयता विधान की है अर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण का अध्येतृ वेदितृ अभिधेय में ही प्रयोग हो स्वतन्त्र न हो। अब राजाजी के इस लेखानुसार कि (जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनो के लेने का प्रयोजन देखा, स्पष्ट "छन्दसि" कहा) इससे पाणिनि के इस सूत्र मे ब्राह्मण ग्रहण व्यर्थ होता है। क्योंकि जो छन्द के कहने से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण हो जाता तो फिर यहा ब्राह्मण का पृथक् ग्रहण क्यो किया? इससे स्पष्ट ज्ञापक होता है कि छन्द मे ब्राह्मण पृथक् है।

निवे० २। पृ० ५। पं० २२। मे "भला जैमिनि महर्षि के पूर्वमीमासा को तो स्वामीजी महाराज मानते हैं उस में इन सूत्रों का अर्थ क्योंकर लगावेंगे) तच्चोदकेषु मंत्राख्या। अ० १। पा० २। सू० ३२। शेषे ब्राह्मण शब्द। अ० २। पाद १। सू० ३३। इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है। वेद का मन्त्रो से अवशिष्ट जो भाग सो ब्राह्मण"।

यह अनुभवार्थ राजाजी ने शबर स्वामी की टीका मे से सुना होगा परन्तु यहा यह भी विचार करना उनको योग्य था कि इन सूत्रों के सम्बन्ध मे कही वेदसंज्ञा निर्वचनाधिकरण है वा नही! किन्तु यहा तो केवल मत्रनिर्वचनाधिकरण और ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरण है। इससे फिर मत्र और ब्राह्मण दोनों की वेदसज्ञा है यह अभिप्राय कहा से सिद्ध हो सकता है। जो इस प्रकरण मे ऐसा होता कि 'अथ वेदनिर्वचनाधिकरणम्' तो राजाजी का अभिप्राय अवश्य सिद्ध हो जाता। परमात्मा ने वेदस्थ वाक्यों से सर्व विद्याभिधान कर दिया है। अब इनमें शेष अर्थात् बाकी पढना-पढाना, सुनना-सुनाना, व्याख्या करनी-करानी आदि है और थी भी जो थी सो ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनिपर्यन्त महर्षि महाशय लोगों ने कर दी है। जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं इसी से इनका नाम ब्राह्मण रक्खा है अर्थात् ब्राह्मनाणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि अर्थात् शेष-

भूतानि सन्तीति"। परन्तु जहां से इन सूत्रों के अर्थ में राजाजी आदि को भ्रम हुआ है सो शवर स्वामीजी की इसी सूत्र पर यह व्याख्या है (अथ किंलक्षणं ब्राह्मणम्) (मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः) विचार योग्य बात है कि न जाने शवर स्वामी ने इन दो सूत्रों में वेद शब्द कहां से लिया और इनकी अद्भुत कथा को देखिये कि—

(प्रश्न) ब्राह्मण का क्या लक्षण है ? (उत्तर) मन्त्र और ब्राह्मण वेद है। विद्वान् लोग विचार लेंगे कि जैसा प्रश्न किया था वैसा ही उत्तर शवर स्वामी ने दिया है वा नहीं ?

यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे"। इस न्याय के तुल्य यह व्याख्या है ऐसा ही "निवे० दू० २। पृष्ठ ५। पं० २५। निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम वा साहब से कोई नया तर्क और न्याय, रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो। स्वामीजी ने जो भूमिका में गोतम न्याय का प्रमाण वेदब्राह्मण विषय में लिखा है उसको वही पुरुष समझ सकता है कि जिसने उन ग्रन्थों की शैली देखी हो। विना पढ़े सब विद्या किसी को नहीं आ जाती। और जिन्होंने उन शास्त्रों में अभ्यास ही नहीं किया वे ही ऐसा अनर्गल लिख सकते हैं कि गोतम और कणाद के तर्क न्याय से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर न पाया इत्यादि।"

अब राजाजी को शास्त्रों में अभ्यास करना अवश्य हुआ क्योंकि उनके प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। और स्वामीजी महाराज जो किसी दूसरी विलायत का तर्क न्याय सीख भी लेते तो क्या आश्चर्य और कौनसा यह बुरा काम था और जो सीख लेते तो अपने ग्रन्थों में भी प्रमाण के लिये अवश्य लिखते वा लिखवा लेते। इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजाजी ने ही उन विलायतियों से तर्क न्याय कुछ पढ़ा नहीं तो इस का प्रसंग ही क्या था। ठीक है—"यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी"—इनके प्रश्नों का उत्तर जब ऋषि मुनियों के ग्रन्थों से भी न हुआ तो सब ऋषियों से बढ़ के राजाजी हो गये। इससे स्पष्ट सब महात्मा ऋषि लोगों की निन्दा आ जाती है।

निवे० २। पृष्ठ ६। पं० ४ "फरिङ्गस्तान के विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापित पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबो साहब बहादुर को दिखलाया। बहुत अचरज में आये और कहने लगे कि हम तो स्वामीजी महाराज को बड़ा पण्डित जानते थे पर अब उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है। तब तो भ्रमोच्छेदन को भ्रमोत्पादन कहना चाहिये।"

बस अब तो राजाजी का पक्ष दृढ़तर सिद्ध होगया होगा क्योंकि जब उक्त महाशय साहब ने स्वामीजी के मनुष्य होने में सन्देह और भ्रमोच्छेदन का भ्रमोत्पादन नाम होने की सक्षी दी है। फिर क्या चाहिये क्योंकि महाशयों की साक्षी भी गम्भीर आशययुक्त होती है। क्या ऐसी साक्षी को कोई भी मनुष्य मानेगा कि स्वामी जी के मनुष्य होने में भी सन्देह है।

निवे० २। पृष्ठ ७। पं० २०। डाक्टर टीबो साहब की साक्षी का परामर्श यह देखिये चित्त धर के "दयानन्द सरस्वती सिवाय एक उपनिषद् के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को छोड़ देते हैं और केवल सहिताओं को प्रमाण मानते हैं" इसका उत्तर तो भ्रमोच्छेदन के पृष्ठ ११। पं० २० में यह स्पष्ट लिखा है। "परन्तु जो २ वेदाऽनुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नही मानता हूं।" जो उक्त साहब ध्यान देकर देखते तो सिवाय एक उपनिषद् के इत्यादि विरुद्ध साक्षी क्यों देते।

निवे० २। पृष्ठ ७। इसी उत्तर और इस विषय से आगे जो २ उक्त साहब ने लिखा है उस २ का उत्तर इसी उत्तर के आगे भ्रमोच्छेदन में लिखा है।

निवे० २। पृष्ठ ८। पं० १८। "निस्संदेह दयानन्दसरस्वतीजी को अधिकार नहीं कि कात्यायन के उस वचन को प्रक्षिप्त बतावें जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद सिद्ध होता है। ऐसे तो जो जिस किसी वचन को चाहे अपने अविवेक कल्पित मत से विरुद्ध पाकर प्रक्षिप्त कह दें।"

मुझ को अपनी अल्पबुद्धि से आज तक यह निश्चय था कि सत्याऽसत्य विचार करने का अधिकार सब विद्वानों को है। जो यह राजाज्ञावत् डाक्टर टीबो साहब की सम्मति सत्य हो तो ऐसा हो जाय किन्तु जो केवल एक डाक्टर टीबो साहब ने ही ठेका लिया हो कि अन्य सब को अधिकार है केवल स्वामीजी को नहीं कि कौन प्रक्षिप्त और कौन नहीं ऐसा विचार करें। जो ऐसा तो डाक्टर टीबो साहब को सम्मति देने और खण्डन-मंडन का अधिकार किसने दिया है ? हम भी पूछ सकते हैं अहो आश्चर्य्य इस सृष्टि में कैसी २ अद्भुत लीला देखने मे आती है।

निवे० २। पृ० ६। पं० ५। "सो मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जमदग्नि आदि का अर्थ यों ही माना जावे तो संहिता के समान ब्राह्मणों को भी वेद भाग अथवा माननीय मानने में उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की युक्तियां क्यों न मानी जावे।"

जो इस बात का प्रमाण किया जाये तो यास्कमुनिकृत निघण्टु निरुक्त, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, पतञ्जलि महामुनिकृत महाभाष्य और पिंगलाचार्य्यकृत पिंगलसूत्र वेदों के भाष्य का टीका आदि को भी वेद क्यों न माना जाये। क्योंकि जैसे शतपथादि ग्रन्थों से वेदस्थ जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ चक्षु आदि माने जाते हैं वैसे ही निघण्टु और निरुक्त आदि को भी वैदिक शब्दों के संज्ञा और निर्वचन व्याकरण से शब्द, अर्थ और सम्बन्ध और पिंगलसूत्रों से गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि स्वर आदि की व्याख्या वेदों से अविरुद्ध मानी जाती है तो इनकी वेदसंज्ञा कौन कर सकेगा।

निवे० २। पृष्ठ ६। पं० १०। "सो यहां भी मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि वेद के नाम से मन्त्रभाग अर्थात् संहिता और ब्राह्मणों को मानकर जहाँ वेदों को अपरा कहा जाय वहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड और जहां वेदों को परा कहा जाय वहां मंत्र और ब्राह्मणों को ज्ञानकाण्ड मानना चाहिये"॥

निवे० १ । पृष्ठ ११ । पं० १० । (इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छओं अंग "अपरा" हैं जो "परा" उससे अक्षर मे अधिगमन होता है अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें ।)

निवे० १ । पृष्ठ १२ । पं० २० । (नोट—कि चारों वेदसंहिता और उनके छओं अंग अपरा हैं परा उनके सिवाय अर्थात् उपनिषद् हैं) मुझ को बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि यहां क्यों राजाजी ने अपने पूर्व लेख से अपर लेख को विरुद्ध लिखा । देखो ! पहिले निवेदन में चारों वेद और छओं अंगों की अपरा और उपनिषदों को परा विद्या मानी थी और दूसरे निवेदन में चारों वेदों के कर्मकाण्ड को अपरा और उन के ज्ञानकाण्ड को परा विद्या माना और दोनों निवेदन का अभिप्राय यही है कि मन्त्रभागसंहिता और ब्राह्मणभाग को वेदसंज्ञा मानें इसलिये इतना परिश्रम उठाया और नोट में चारों वेद संहिता अर्थात् मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानकर ब्राह्मणों को वेदसंज्ञा में लिखना भूल गये । दृष्टि कीजिये 'तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदो, अथर्ववेदः" राजाजी के इस लेख ने उन्हीं के अभिप्राय का निराकरण कर दिया इसको न लिखते तो अच्छा था क्योंकि इस लेख में ऋग्यजुः साम और अथर्व चार वाक्य मन्त्रभागसंहिताओं ही के साथ चार बार वेद शब्द का पाठ है । ऐतरेय शतपथ छान्दोग्य ताण्ड्य आदि और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों की उस वचन में न परा न अपरा में गणना और न ऐतरेय आदि शब्दों के साथ वेद नाम का पाठ है इसलिये यह पूर्वापर विरुद्ध लेख है ।

निवे० २ । पृष्ठ ९ । पं० १८ "ऐसा ही आज तक वैदिकहिन्दू परम्परा से मानते चले आये हैं ।"

यहां भी मै राजाजी से यह पूछता हूं कि परम्परा और आज तक इस वाक्यावली का अभिप्राय सृष्ट्युत्पत्ति से लेकर आज तक का समय लिया जाय वा जैसा कि चार पांच पीढ़ियों में परम्परा कही जाती है वैसी परम्परा ली जाय । जो प्रथम पक्ष है तो वैदिक के साथ आर्य्य शब्द लिखना उचित था अर्थात् वैदिक आर्य्य और जो चार पाच पीढ़ी की परम्परा अभिप्रेत है तो लोकाचार से भी वैदिक हिन्दू लिखना ठीक नहीं । क्योंकि भारतवासी मनुष्यों की हिन्दूसंज्ञा सिवाय यवनग्रन्थ और यवनाचार्यों की पाठशाला मे पठनपाठनसंसर्ग के विना राजाजी को कहीं न मिलेगी और ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसापर्य्यन्त संस्कृतग्रन्थों मे तो एतद्देश का नाम आर्य्यावर्त्त और इस में रहने वाले मनुष्यों का नाम आर्य्य वा ब्राह्मण आदि संज्ञा ही मिलेगी । परन्तु यह राजाजी को स्वात्मानुभव वा इस देशियों पर द्वेष अथवा आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न देशस्थ विलायतियों से शिक्षा पाकर बोध हुआ होगा । यह साधारण बात नहीं किन्तु जो यह वैदिक शब्दों के साथ हिन्दू शब्द का परम्परा में आज तक पढ़ देना सो राजाजी को विदेशियों की विद्या और शिक्षा का अनुपम फल है ।

नि० २ । पृष्ठ १० । पं० ९ । (भला आपके)(शिवप्रसाद के) एक सहज से प्रश्न का तो उत्तर श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीजी से बना ही नही उत्तर के वदले दुर्वचनों की वृष्टि की । यदि काशीजी के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत भी हों तो उत्तर के स्थान

में उन्हें वैसे ही दुर्वचन पुष्पाञ्जलि का लाभ होगा। इससे अतिरिक्त उसमें से कुछ भी सार नहीं निकलेगा।

इस पर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार इतना ही लिखता हूँ कि जो श्रीयुत बालशास्त्री जी 'श्रीमत् पंडितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्करविशेषणयुक्त ऐसा कहते हैं और ऐसा निश्चय हो तो स्वामी जी से उनके बड़े बड़े गम्भीराशय प्रश्नों के उत्तर कभी न बन सकेंगे। फिर इससे मेरी और अन्य लाखों किंवा करोड़ों मनुष्यों की यह इच्छा है कि जो कोई विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के पक्ष को वेदादि शास्त्रों द्वारा निरस्त कर दे तो उनको क्या ही लाभ न हो पुनः उक्त महाशय इस में क्यों विलम्ब कर रहे हैं और दुर्वचन पुष्पाञ्जलि विषय में इतना ही मैं लिखता हूँ कि काशीस्थ लोगो के दूषणालिका; दयानन्दपराभूति, धर्म-कार भी स्वामीजी से उत्तम गाली सहस्र नाम आदि पुस्तक और दण्डनीय आदि विज्ञापन समाचारों में छपवाया तथा ताली शब्द आदि और जैसा असभ्य अनर्थ लेख स्वामीजी पर किया है और स्वामी जी ने संवत् १९२६ के शास्त्रार्थ में किसको गालीप्रदान या दुर्वचन पुष्पाञ्जलि की थी। और जैसे पक्षपात क्रोध रहित होने के लिये स्वामीजी को लिखते हैं तो राजाजी ने पक्षपात और क्रोधयुक्त स्वमीजी को कब देखा था? भला क्या पूर्वोक्त तो सुवचन पुष्पाञ्जलि है और और स्वामीजी का लेख दुर्वचन पुष्पाजलि कहा जा सकता है? डाक्टर टीबोसाहब बहादुर स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी के मनुष्य होने में भी संदेह लिखते हैं। क्या डाक्टर टीबोसाहब को अपने सहीस आदि नोकरों के तो मनुष्य होने से कुछ भी संदेह नहीं किन्तु केवल स्वामीजी के मनुष्य होने का सन्देह करते हैं क्या यह बात अद्भुत गभीराशय और असंगत नहीं है? अहो क्या ऐसे-ऐसे लेख को बुद्धिमान् लोग अच्छा समझेगे, धन्य है! श्रीयुत शिवप्रसादजी वादी और धन्य है! उनके साक्षी अर्थात् श्रीमज्जगत् पूज्य स्वामी विशुद्धानन्दसरस्वतीजी, श्रीमत् पण्डितवर धुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्कर बालशास्त्री जी महाराज आर्यजन और विद्वज्जनमंडलीभूषण काशीराजस्थापितपाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबोसाहब बहादुरयोरूपियन्, कि जिन्होंने परस्पर मिलकर अपना अभीष्ट मत प्रकाशित किया है। क्या भला ऐसे ऐसे महाशयों के सामने मेरा लेख हास्यास्पद न होगा और क्या ऐसे ऐसे महात्माओं की साक्षी होने पर राजाजी के विजय होने में किसी को सन्देह भी रहा होगा वाह! वाह!! वाह!!! जो कोई परपक्षनिषेध और स्वपक्ष सिद्ध करे तो ऐसी ही बुद्धिमत्ता से करे। क्या सहायक अनुमतिदायक भी ऐसे होने योग्य हैं जहां अर्थी ही साक्षी और न्यायाधीश हों वहां जीत क्यों न होवे।

क्या यही सत्पुरुषों का काम है जहां तक बने दूसरे की निन्दा अपनी स्तुति करनी अपना सुकर्म समझना। हां! मैं तो राजा शिवप्रसादजी और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी वा बालशास्त्रीजी और डाक्टर टीबो साहब बहादुर साक्षी आदि महाशयों के सामने स्वामीजी की मनमानी निन्दा और अप्रतिष्ठा करने में तत्पर होता जो उनके प्रशंसनीय गुणकर्म स्वभाव न जानता होता, उनकी निन्दा और अपमान करने में कमती कभी करता। परन्तु वाल्मीकि मुनि ने कहा है कि "सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्" विना किसी के सङ्ग

किये उसके गुण दोष विदित नहीं हो सकते। संवत् १९२८ से १९३७ के वर्ष पर्यन्त मेरा और स्वामी जी का समागम रहा है जितने वर्ष वा महीने स्वामीजी का सत्सङ्ग मैंने किया है और यथाबुद्धि थोड़े से वेद भी देखे हैं उतने दिन और मुहूर्त्त भी उनका समागम राजाजी आदिने न किया होगा नहीं तो इतना अटाटूट विरोध कभी न करते ।

देखिये कई एक बड़े बड़े सेठ साहूकार रईस बुद्धिमान् पंडित सज्जन लोग राजे महाराजे स्वामीजी को अत्यंन्त मानते, श्रद्धा करते और उपदेश का भी स्वीकार करते हैं और बहुतेरे विरुद्ध भी हैं तथापि कभी किसी का पक्षपात किसी से लोभ किसी का भय किसी की खुशामद किसी छले वा किसी से धन हरने का उपाय या किसी से स्वप्रतिष्ठा की चेष्टा आदि अशिष्ट पुरुषों के कर्म करते इन को मैंने कभी नहीं देखा ।

और क्या जैसी सबकी सत्य बात माननी और असत्य न माननी स्वामीजी की रीति है वैसी ही राजाजी आदि को मानने योग्य नहीं है ? परन्तु इतने पर भी मैं बड़े आश्चर्य्य में हूँ कि राजाजी आदि महाशय निष्कारण ईर्ष्या और परोत्कर्षासिहनरूप यानारूढ़ होकर स्वामी जी की बुराई करने में बढ़ते ही चले जाते हैं। न जाने कब और कहां तक बढ़ेंगे ? क्या इस का फल आर्य्यावर्त्तादि देशों की अनुन्नति का कारण न होगा ? क्यों न यह घर की फूटरूपी रसास्वादन का प्रवाह दुर्योधन रूप हलाहल सागर से बहता चला आता हुआ आर्य्यावर्त्त स्थ-मनुष्यों के अभाग्योदयकारक प्रलय को प्राप्त अब तक न हुआ । क्यों इसको परमेश्वर अपने कृपाकटाक्ष से अब भी नहीं रोक देता कि जिससे हम सर्वतंत्र प्रेमसागरामृतोदधि मे स्नान कर त्रिविध ताप से छूटकर परमानन्द को प्राप्त हों जैसे द्वीपद्वीपान्तर के वासी मुसलमान, जैन, ईसाई आदि मनुष्य अपने स्वदेशी और स्वमनस्थों को आनन्दित कर रहे हैं क्या ऐसे हम लोगों को न होना चाहिये प्रत्युत सब देशस्थ समग्र मनुष्यादि प्राणिमात्र के परस्पर उपकार विद्या, शुभाचरण और पुरुषार्थ कर अपने पूर्वज कि जिन महाशय आर्यों के हम सन्तान हैं उनका दृष्टान्त अर्थात् उपदेश न हो। और जैसी उनकी कीर्ति और प्रतापरूप मार्त्तण्ड भूगोल में प्रकाशित हो रहा था उन का अनुकरण क्यों न करें ? और इस में आश्चर्य्य कोई क्यों मानें कि राजा जी और इन के अनुयायी साक्षी स्वामी जी को अविद्वान् पशु अन्धे आदि यथेष्ट शब्दों से निन्दा करते हैं। मैं निश्चित कहता हूँ कि राजाजी की निन्दा और अप्रतिष्ठा और विरोधता किसी ने नहीं की।

काशी में संवत् १९२६ वें वर्ष में उन पर हल्ला किया। संखिया मिलाकर पान-बीड़ा दिया। बुरी-बुरी निन्दा के पुस्तक और विज्ञापन दिये। कई ठिकाने मारने को आये। ऊपर पत्थर और धूल फेंकी। जिले बुलन्दशहर करणवास के समीप जहां स्वामी जी रहते थे वहीं किसी ने रात के १ बजे के समय १० आदमी तलवार और लट्ठ लेकर मारने को भेजे। कई नास्तिक कहते, कई क्रश्चीन बतलाते, कई क्रोधी और कई पशुवत् नीच विशेषण देते। कई उनका मुख देखने में पाप बतलाते और पास जाने को अच्छा नहीं कहते। कोई कलि का अवतार, कोई कल मरते आज ही मर जाय तो अच्छा, कई मजिस्ट्रेटों के कान भर व्याख्यान बन्द करा देने में प्रयत्न कर चुके और कोई इनके बनाये

पुस्तक भी हाथ में न लेना न देखना, कई अपने बाग बगीचों में उनका रहना भी स्वीकार नहीं करते। कई वेश्या का मुख देखने, संग करने और पुंसिमैथुनाचरण में भी अपना धन्य जन्म मानते और औरों को उत्साहित करते हैं और स्वामी जी के दर्शन और संग उससे भी बुरा बतलाते हैं। कई स्वामी जी और स्वामी जी के उपदेश मानने वालों को महानरक में गिरना चितलाते हैं। आप गौतम और कणादादि महाशयों से अपने को बुद्धि-सागर ठहराते और स्वामी जी को निर्बुद्धि सहज प्रश्नों के उत्तर के अदाता कहते और कई चमार-चाण्डाल आदि में विद्वत्ता और मनुष्य होने की शङ्का नहीं करते। और स्वामी जी में विद्वत्ता के होने और मनुष्यपन में भी शङ्का बतलाते हैं। कोई रेल का भाड़ा भी नहीं लगता, ऐसा कहते हैं। अब कहां तक इस लम्बी गाथा को कहूं। मैं ऐसी बातें सुनता और लिखता हुआ थकित हो गया। क्या ये पूर्वोक्त बातें आर्य्यावर्त्त के दौर्भाग्य के कारण नहीं हो रही हैं। तथापि धन्य है स्वामी जी को इतने हुए पर भी सनातन वेदोक्त आर्य्योन्नति के यत्नों से विरक्त न होकर परोपकार से अपना जन्म सफल कर रहे हैं।

भला! जो धर्म्म और परमात्मा की कृपा न होती और परमतद्वेषी, स्वमतानुरागी, क्षुद्राशय लोगों का राज्य होता तो स्वामी जी का आज तक शरीर बचना भी दुस्तर न हो जाता? क्या जो आर्य्य लोग भी मुसलमान आदि के तुल्य होते तो अब तक स्वामी जी का मुख और हस्त वेदभाष्यादि पुस्तक लिखने के लिये आज तक कुशल रह सकते? और जो स्वामी जी के पक्षपात राहित्य, सत्यता, विद्वत्ता, शान्ति, निन्दास्तुति में हर्ष शोक रहितता न होती और विमलविद्याप्रगल्भता, धार्मिकता आप्तत्वादि शुभ गुण न होते तो ऐसे-ऐसे सनातन वेदोक्त सत्य धर्मोपदेशादि प्रशंसनीय आर्य्योन्नति के दृढ कारण प्रकाशित और सुस्थिर कभी न कर सकते। क्योंकि देखो! आर्य्यावर्त्त में प्रशंसनीय महाशय विद्वानों के विद्यमान रहते भी आर्य्यावर्त्तीय मनुष्यों की वेदोक्त धर्मारूढता, प्राचीन अभ्युदयोदय प्रच्छन्न क्यों रह जाता? क्या प्रत्यक्ष में भी भ्रम है कि देखिये! जो हम आर्यों को बिना आसमानी किताब वाले बुत्परस्त, नालायक इनके मत का कुछ भी ठिकाना नहीं आदि आक्षेप से जैन, मुसलमान और इसाई लाखह क्रोड़ह बहका के अपने मत में मिलाते और कहते थे कि आओ हमसे वादविवाद करो। हमारा मजहब सच्चा और तुम्हारा झूंठा है। वे ही अब स्वामी जी के सामने वेदादिशास्त्रों और तदुक्त आर्य्यधर्म का खण्डन तो दूर रहा परन्तु वाद करना भी असह्य समझते और कहते हैं कि आप हम पर प्रश्न मत कीजिये; डरते हैं। स्वामी जी के सम्मुख तो ऐसा है परन्तु जिन्होंने स्वामी जी के ग्रन्थ देखे और उनका समागम यथावत् किया है उनके भी सामने वे विजयवन्त नहीं हो सकते; इत्यादि।

जो राजा जी आदि स्वामी जी के स्तुत्य गुण कर्म, स्वभाव जानते तो उनके साथ ऐसा विरुद्ध वर्त्तमान कभी न करते। सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वनियन्ता जगदीश्वर सब आर्य्यों के आत्माओं में परस्पर प्रीति गुण स्वीकार दोषपरिहार वेदविद्योन्नतिरूप कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को सुस्थिर करे जिससे सब आर्य्य भाई उसको परस्पर

प्रेम और उपकाररूप सुन्दर जल से सींचकर उसके आश्रय से प्राचीन आर्य्य पदवी को पाकर आनन्द में सदा रहें और सबको रक्खे।

राजा जी का बनाया इतिहास मैंने देखा तो अद्भुत बातें दिखाती हैं। इनसे यह भी प्रसिद्ध है कि जो स्वश्लाघा और अभिमान करेगा तो इतना ही करेगा निम्न लेख से यह बात सबको विदित हो जायगी। क्योंकि इङ्गित चेष्टित से मनुष्य का अभिप्राय गुप्त नहीं रह सकता। राजा जी का कुछ अभी ऐसा वर्त्तमान है सो नहीं किन्तु "स्वभावो नान्यथा भवेत्" जैसा स्वभाव मनुष्य का होता है वह छूटना दुस्तर है। जो उन्होंने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ बनाया है उसको कोई विद्वान् पक्षपातरहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे तो राजा जी की मानसपरीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जावे कि इनका क्या अभीष्ट है। उसमें अप्रमाण वेदादिशास्त्राभिप्रायशून्य बहुत बातें हैं और कुछ अच्छी भी हैं। जो अच्छी है उनका स्वीकार और जो अन्यथा है उनके संक्षेप से दोष भी प्रकाशित करता हूं।

जैसे मुझको विदित होता है इतिहासतिमिरनाशक पृष्ठ १। पंक्ति ११। "बाप, दादा और पुरखा तो क्या हम इस ग्रंथ में उस समय से लेकर जिससे किसी को कुछ मालूम नहीं आज पर्य्यन्त अपने देश की अवस्था लिखने का मंसूबा रखते हैं"।

राजा जी थोड़ा-सा भी सोचते तो इतना अपना गौरव अपने हाथ से लिखने में अवश्य कम्प जाकर रुक के यथार्थ बात को समझ सकते। क्या अपने पुरुषों से स्वय उत्तम और सब आर्य्यावर्त्त वासियों को इतिहासज्ञान विषय मे निकृष्ट अज्ञानी कर स्वश्लाघी स्वयं नहीं बने हैं? क्या कोई भी पूर्ण विद्वान् स्वमुख से अपनी कीर्त्ति को कह सकता है? यह सच है कि जितना-जितना विद्याविनय मनुष्य को अधिक होता है उतना-उतना वह सुशील, निरभिमानी, महाशय होता और जितना-जितना वह कम होता है उतनी-उतनी उसको कुशीलता, अभिमान और स्वल्पाशयता होती है।

इति० पृष्ठ १-१६। "पुराना हाल जैसा इस देश का बेठौर ठिकाने देखने में आता है विरले किसी दूसरे देश का मिलेगा"।

वाह वाह वाह !!! न जाने किस देश की पाठशाला में इतिहासों को पढ़ के राजा जी को अपूर्वविज्ञान हुआ। क्या यूरोप, अमेरिका, एफरीका आदि देशों के पूर्व इतिहासों से भी आर्य्यावर्त्त देश का प्राचीन इतिहास बुरा है? यह भी इसका लेख आर्य्य लोगो को ध्यान में रखना चाहिये।

इतिहा० पृष्ठ ३ पङ्क्ति २। "आगे संस्कृत श्लोक बनाते थे अब भाषा मे छन्द और कवित्त बनाते है क्योंकि गद्य का कण्ठस्थ रखना सहज है निदान ये भाट इसी में बड़ाई समझते है।"

क्या ही शोक की बात है कि मनु, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति ऋषि, महर्षि, महात्मा, महाशय, ब्राह्मण लोगो को तो राजा जी भाट ठहराते हैं और आप महात्माओं के निन्दक और उपहासकर्त्ता होकर नकली की पदवी को धारण करते है। विदित होता है कि आर्य्या-

वर्त्तीय धार्मिक आप्तपुरुषों की निन्दा और विदेशियों की अत्युक्ति सदृश स्तुति ही से राजा जी प्रसन्न बनते हैं।

इतिहा० पृष्ठ ४। पं० ३०। "हाय हमारे देश मे इतना भी कोई समझने वाला नही।"

सिवाय आपके ऐसी-ऐसी गूढ़ बातो के मर्म को कौन समझ सकता है। तब ही तो आप सबसे बड़ा मंसूबा बांधकर इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए।

इतिहा० पृ० १०। "बहुतेरे हिन्दू यह भी कहेंगे कि जो बात पोथी में लिखी गई और परम्परा से सब हिंदू मानते चले आये भला अब वह क्योंकर झूठ ठहर सकती है।"

भला यहां तो हिन्दुओं की परम्परा का तिरस्कार राजा जी कर चुके और दोनो निवेदन में ब्राह्मण पुस्तकों को वेद मानने के लिए स्वीकार किया है। ठीक है मतलबसिन्धु ऐसी ही चतुराई से पूरा करना होता है।

इतिहा० पृष्ठ १२। प० १ से लेकर पृष्ठ १४ प० ११ तक बौद्ध जैन हिन्दुओं के मतविषयक बातें लिखी है इमसे विदित होता है कि राजा जी का मत बौद्ध, जैनी ही है। इसीलिये अपने मत की प्रशसा वैदिक मत की निन्दा मनमानी की है। यह इनको अच्छा समय मिला कि कोई जाने नहीं और वैदिक मत की जड़ उखाड़ने पर सदा इनकी चेष्टा है। पुनः स्वामी जी जो सनातन रीति से वेदों का निर्दोष सत्य अर्थ ठीक-ठीक प्रकाशित कर रहे हैं इनको अच्छा कब लग सकता है। इसीलिये निवेदनों में भी अपनी सदा की चाल पर राजा जी चलते है इसमें क्या आश्चर्य है।

इतिहा० पृष्ठ १५। प० १। "हिन्दुओं की प्राचीन अवस्था०"। यह बड़ा अनर्थ राजा जी का है कि आर्यों को हिन्दू और पारस देश से आये है। पहिली बात तो इनकी निर्मूल है क्योंकि वेदों से लेके महाभारत तक किमी ग्रन्थ में आर्यो को हिन्दू नही लिखा। कौन जाने राजा जी के पुरखे पारस देश से ही इस देश में आये हो और उनका परम्परा से स्वदेश पारस का सस्कार अब तक चला आया हो। क्या यह बात असम्भव है कि इस आर्य्यावर्त्त ही से कोई मनुष्य पारस देश मे जा रहे हों ? क्योकि पारस देश में उत्पन्न हुई माद्री पाण्डुराजा से विवाही थी उसी समय वा आगे पीछे वहां आ जा रहने का सम्भव हो सकता है। और क्या जो पारस देश से आकर ही बसे होते तो पारसी लोगों वा ईरान वालों के प्राचीन इतिहासों में स्पष्ट न लिखते ?।

इतिहा० पृ० १५। पं० ५ (असुर को अहुर) नोट। पं० १३। यहां भी ऋग्वेद के आरम्भ में असुर का अर्थ सुर लिया है और उसे सूरज का नाम माना है। "असुरः प्राण-दाता। असुरः सर्वेषां प्राणदः। असुर राक्षस के लिये तभी से ठहराया गया जब से सुर, देव देवता के लिये ठहरा इत्यादि" धन्य है 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इस में तो कुछ दोष नहीं कि असुर को वे पारसी लोग अहुर कहे परन्तु जो बातें ऋग्वेद के नाम से राजाजी ने लिखी हैं सब निर्मूल हैं क्योंकि ऋग्वेद के आरम्भ में तो "असुरः प्राण-

दाता" "असुरः सर्वेषां प्राणदः" ये नहीं हैं किन्तु ऐसा पाठ ऋग्वेद भर में कहीं नहीं है। क्या आश्चर्य है कि ईरानवाले जिद्द से देव को राक्षस कहते हों।

इतिहा० पृ० १५। पं० ७। "हिंदू अपने तईं दूसरी जाति के लोगों से जुदा रहने के निमित्त आर्य पुकारते थे और इन्हीं के बसने से यह देश हिमालय से विन्ध्य तक आर्य्यावर्त्त कहलाया पारस देश वाले भी आर्य्य थे वरन इसी कारण उस को अब भी ईरान कहते हैं"।

क्या अद्भुत लीला है ईरानवाले सो अब तक ईरानी, पारस वाले पारसी ही बने रहे आर्य्य नाम वाले क्यों न हुए। कैसा झूठ लिखा है कि अपने जुदा रहने के लिये आर्य्य पुकारते थे। जो ऋग्वेद की कथा भी राजाजी ने सुनी होती तो "विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः" "उत शूद्रे उतार्य्ये" इनका अर्थ यही है (आर्य्य) श्रेष्ठ और (दस्यु) दुष्ट (आर्य्य) द्विज और (शूद्र) अनार्य को कहते हैं। इसको जानते तो अनर्थ क्यों लिख मारते जो ईरान से आर्य्य हो जाता है तो (आरा) और (अरि) आदि शब्दों से आर्य्य सिद्ध करने में किसी को राजाजी न अटका सकेंगे। ऐसे बहुत पुरुष अपनी प्रशंसा के लिये विदेशियों की झूँठी खुशामद किया ही करते हैं।

इतिहा० १५। पं० २८ "ईरान की पुरानी पारसी भाषा में एक प्रकार की संस्कृत थी अर्थात् उसी जड़ से निकली थी जिससे संस्कृत निकली है।"

भला पारसी पढ़े विना ऐसी-ऐसी गुप्त जड़ों की खोज राजाजी न होते तो कौन करता? जो थोड़ा सा भी विचार करते तो श्रेष्ठ गुणों से आर्य्य और एक किसी मनुष्य का नाम है आर्य्य उससे और इस देशवालों से क्या सम्बन्ध हो सकता है। जितने दृष्टान्त संस्कृत पुरानी पारसी के उदाहरण दिये हैं। ये सब संस्कृत से पुरानी पारसी बनी है, यह ठीक है क्योंकि पारस देश का नाम निशान भी न था तब से आर्य्य और आर्य्यावर्त्त देश है। जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया है तब यवन देश के सब राजा आये थे। उसी ईरान का राजा शल्य भी महाभारतयुद्ध में आया ही था इसलिये राजा जी का ऐसा अनुभव केवल पारसीभाषा पढ़ने से हुआ है संस्कृत से नहीं।

इतिहास पृष्ठ १६। पं २। से "ये आर्य्य उस समय सूर्य्य के उपासक थे वेद में सूर्य्य की बड़ी महिमा गायी है हिन्दुओं का मूलमन्त्र गायत्री इसी सूर्य्य की बन्दना है विष्णु इसी सूर्य्य का नाम है।"

राजाजी का स्वभाव सबसे विलक्षण है। कोई कहता हो दिन तो वे रात कहें। यद्यपि वेदों में सूर्य्य शब्द से परमेश्वर आदि कई अर्थ प्रकरण से भिन्न-भिन्न कहे हैं परन्तु उपासना में सूर्य्य शब्द से जिसको गायत्री मन्त्र कहा और जो व्यापकता से विष्णु है वहां परमेश्वर ही लिया है, अन्यत्र भौतिक।

इतिहा० पृष्ठ १८। पं० १। "आकाश को इन्द्र ठहराया" वेदों में इन्द्र शब्द से आकाश का ग्रहण कहीं नहीं किया है। हां राजाजी ने अपनी कल्पना से समझा होगा।

इतिहा० पृष्ठ १८। पं० ३। "गाय, बैल, घाड़ा, भेड़ और बकरी इत्यादि का वलि देते थे और उनका मांस भून भून और उबाल-उबाल कर खाते थे। नोट—ऋग्वेद मे अश्वमेध का हाल यों लिखा है घोड़े के आगे रङ्ग विरङ्ग की बकरियां रखकर उस से अग्नि की परि-क्रमा दिलाई और फिर खम्भे से वांधकर और फरसे से काटकर उस का गोश्त सीक पर भूना और उबाला और गोले बना कर खा गये"।

हाय ! ऐसे अनर्थ लेख वेद और आर्य्यों की निन्दा कर राजाजी ने संतुष्टि क्यों की क्योंकि गाय अदि पशुओं का मारना वेदों में कही नहीं लिखा। न शराब का पीना और अश्वमेध का ऐसा हाल कहीं नहीं लिखा। राजाजी ने वाममार्गियों के सङ्ग से ऐसी बात कि जिससे वेदों की निन्दा होती हो; लिखी होगी।

इतिहा० पृष्ठ १९। पं० १२। "वर्णभेद शुरू में दो ही रहा होगा अर्थात् गोरा और काला वर्ण का अर्थ रंग है।"

वाह क्या चतुराई की छटा झिलक रही है। गोरे और काले के बीच में कोई भी रंग नही होता और "वर्णं नामाहु: पूर्वसूत्रे" वर्ण नाम अक्षर वर्ण नाम स्वीकार अर्थ क्या नहीं होते। "स्वार्थी दोषन्न पश्यति" हां यह हो तो हो कि विना गोरों की प्रशंसा के स्वार्थसिद्ध क्योंकर होता ?

इतिहा० पृष्ठ २० से लेके अंगरेज के पैर पकड़ने अर्थात् ग्रन्थ की समाप्तिपर्य्यन्त राजाजी ऐसी चालचलन से चले हैं कि जिससे इस देश की बहुत बुराई और कुछ अन्य देशों की भी वेदादिशास्त्रों की निन्दा और जैनमत की इंगित से प्रशसा और अंगरेजों की प्रशंसा में जानो सब भाटों के प्रपितामह बन रहे हैं। क्या ही शोक की बात है कि 'इतिहासतिमिर-नाशक' के तीसरे खण्ड में कितने बड़े वेद आदि शास्त्रो और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त देश की निन्दा लिख कर छपवाई है। तो भी राजाजी के चरित्र पर किसी आर्य्य विद्वान् ने विचार-कर प्रत्युत्तर नही किया। मैंने अल्पलाभ र्थ से "स्थालीपुलाकन्याय" के समान थोडासा नमूना राजाजी का दिखलाया है। इतने हो से सब बुद्धिमान् राजाजी के और मेरे गुण दोषों का विचार यथावत् कर ही लेगे। जिन्होने वेद और आर्य्यावर्त्त की गर्हा करनी ही अपनी बडाई समझ ली है तो स्वामीजी की निन्दा करे इस मे क्या आश्चर्य है ?

सर्वशक्तिमान् परमात्मा परमदयालु सब पर कृपा रक्खे कि कोई किसी की निन्दा न करे सत्य को माने और झूठ को छोड दे मेरा यहा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी की व्यर्थ निन्दा करूं वा मिथ्या स्तुति। हा ! इतना कहता हूं कि जितनी जिसकी समझ है उतना ही कह और लिख सकता है। मेरी धार्मिक विद्वानो मे प्रार्थना है कि जो कुछ मुझ से अन्यथा लेख हुआ हो तो क्षमा करें और अपनी प्रशंसनीय विद्यायुक्त प्रज्ञा से उस को शुद्ध कर लेवे। इस पर सत्य-सत्य परामर्श का प्रकाश कर आर्य्यों को सुभूषित करे ॥

ऋषिकालाङ्कभूवर्षे तपस्यस्याऽसिते दले।
द्वितिथौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमच्छेदनुमकार्य्यलम् ॥

इत्यनुभ्रमोच्छेदनम् ॥

प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि

॥ ओ३म् ॥

नमो विश्वम्भराय जगदीश्वराय ॥

अथ गोकरुणानिधिः

गाय आदि पशुओं की रक्षा से सब प्राणियों के
सुख के लिये ॥
अनेक सत्पुरुषों की सम्मति के अनुसार
आर्यभाषा में बनाया है ॥
इसके अनुसार वर्त्तमान करने से
संसार का बड़ा उपकार है ॥

१९३७ चैत्र

यह ग्रन्थ लाला सादीराम के प्रबन्ध से वैदिक यन्त्रालय
बनारस में मुद्रित हुआ ।

पहलीवार १२०० छापा गया ।

प्रति पुस्तक डाक महसूल समेत मूल्य =)

विज्ञापन

यद्यपि आर्य्यावर्त्तदेशीय जन अपनी दयालुता और परम्परा से अद्यापि पशुओ की हिंसा करने मे महापराध ही जानते और मानते है तथापि विदेशीय पशुहिंसक निर्दयी जो कि पशुओ की हिंसा करने से ससार की हानि और उन अनाथ पशुओं को दारुण दुःख देते है उनके कारण इस देश के भी अज्ञान-जन पशुओं की हिंसा करने और मांस खाने मे प्रवृत्त होते जाते हैं। इस महापराध से सर्वथा ससार की हानि और उन अनाथ पशुओ का दारुण दुःख देख श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने निज करुणारूपी अमृत से गाय आदि पशुओ की रक्षा और संसार के विविध सुख होने के लिये यह (गोकरुणानिधि) ग्रन्थ प्रकाशित किया है ॥

सब सज्जन महाशय राजा-महाराजा तथा गवर्नमेण्ट से यह प्रार्थना है कि पक्षपात को छोड़ इस ग्रन्थ को देखें और परम उपकार देनेवाले पशुओं पर दयारूपी अमृत की वृष्टि करके उन दीनों को बचावें कि जिससे संसार को अत्यन्त आनन्द हो ॥

कीमत इस ग्रन्थ की –)॥ बाहर के मंगाने वालों को)॥ महसूल समेत =) देने होंगे ॥

जो सज्जन इस ग्रन्थ को लिया चाहें मुझसे इस पते पर पत्र-व्यवहार करें।

लाला सादीराम मैनेजर

वैदिक यंत्रालय, बनारस

ओ३म् नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय ॥

॥ गोकरुणानिधिः ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

य० अ० ३६ । मं० ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्ष विविधं दयेरितः ।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभूः सहायकारी विदधातु गोहितम ॥ १ ॥
ये गोसुखं सध्यगुशन्ति धीरास्तं धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते ।
क्रूरा नराः पापरता नयन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥ २ ॥

भूमिका

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टि-क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुँचाते है। और शोक है उन पर जो कि इनसे विरुद्ध स्वार्थी, दयाहीन होकर जगत् मे हानि करने के लिये वर्त्तमान है। पूजनीय जन वे है कि जो अपनी हानि होती तो भी सबके हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते है। और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखो का नाश करते हैं।

ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे वह दुःख और सुख का अनुभव न करे? जब सबको लाभ और सुख ही मे प्रसन्नता है तो विना अपराध किसी प्राणी का प्राण-वियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओ में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहैं।

इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो उसको बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवे। धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है जिससे गो आदि पशु जहाँ तक सामर्थ्य हो; बचाये जावें और उनके

बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सबको सुख बढ़ता रहे। परमात्मा कृपा करे कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम। इनको ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें कि जिससे दोनो के लिये सुख बढ़ता ही रहे।

इति भूमिका ॥

अथ समीक्षा

गोकृष्यादिरक्षिणीसभा

इस सभा का नाम 'गोकृष्यादिरक्षिणी' इसलिये रक्खा है जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्म्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं और इसके बिना निम्नलिखित सुख कभी नही प्राप्त हो सकते।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो २ पदार्थ बनाये हैं वे निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु एक २ वस्तु अनेक २ प्रयोजन के लिये रची है। इसलिये उनसे वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है, इससे वही कार्य्य लेना सबको उचित होता है, न कि उससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन २ प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो २ पदार्थ बनाये है, उन २ से वे २ प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषो के विचार में बुरा कम नही है ? पक्षपात छोड़कर देखिये, गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असख्य सुख होते हैं वा नहीं ? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो २ विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर, तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कोई शका नहीं। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते है। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ऽ निन्नानवे मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रति सेर में छटांक चावल और डेढ छटांक चीनी डाल कर खीर बना खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खागया और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नव सौ अस्सी मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ वार ब्याती है। इसका मध्य भाग तेरह वार आया तो २५७४० पच्चीस हजार सातसौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूध मात्र से एक वार तृप्त हो सकते है।

इस गाय की एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछडे हुये, इनमे से एक की मृत्यु रोगादि मे होना सम्भव है तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओ के दूधमात्र से

उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है।

अब रहे छः बैल उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २००ऽ दोसौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं और उनके कार्य का मध्यभाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८००ऽ चार हजार आठ सौ मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है। ४८००ऽ इतने (मन) अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २५६०००' दो लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक वार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० चार लाख दश हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है।

अब छः गाय की पीढी परपीढियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं। देखो ! तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?

यद्यपि गाय के दूध से भेंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भेंसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भेंसियों के दूध और भेंसों से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धि-वर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं उतने भेंस के दूध और भेंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्य्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भेंस के दूध से भी अधिक होता है तो भी इनका दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुँचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक, और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है, इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।ऽ सवा दो मन और चार मास में ९ऽ नव मन होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से १८० एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार ब्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष में एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० तीन सौ साठ मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ वर्ष तक ब्याती है। इसका मध्य भाग ६ छः वर्ष हुआ तो जन्म भर के दूध से २१६० दो हजार एक सौ साठ मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है।

अब उसके बच्चा बच्ची मध्यभाग से २४ चौबीस हुए। क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से ब्याती है। उनमें से दो का अल्पमृत्यु समझो। रहे

२२ बाईस। उनमें से १२ बकरियों के दूध से २५९२० पच्चीस हजार नव सौ बीस मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं। और बकरा-बकरी और भेड़ भेड़ी के ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े बड़े सुखलाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है तथापि बकरी के दूध से उसके दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी प्रकार अन्य दूध देनेवाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं।

जैसे ऊंट ऊंटनी से लाभ होते हैं वैसे ही घोड़ा घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं, परन्तु सब का पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्त्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्नपान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

देखिये ! जो पशु निःसार घास, तृण, पत्ते, फल, फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें; हल, गाड़ी आदि में चलके अनेकविध अन्न आदि उत्पन्नकर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें; जहां बांधे वहां बंधे रहें; जिधर चलावें उधर चलें; जहां से हटावें वहां से हट जावें; देखने और बुलाने पर समीप चले आवें जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड़कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा; जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे; जंगल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन, मन लगावें; जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है; इत्यादि शुभगुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वास-घाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापीजन होंगे ?

इसीलिये **यजुर्वेद** के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है कि—**अघ्न्या यजमानस्य पशून् पाहि**' हे पुरुष ! तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सब के सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिये ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इन की रक्षा में अन्न भी महगा नहीं होता क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने

से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगो की न्यूनता होने से सबको सुख बढता है।

इनसे यह ठीक है कि गो आदि पशुओ के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है क्योकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो ! इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० सात सौ वर्ष के पूर्व मिलते थे उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य मे भी नही मिल सकते। क्योकि ७०० सातसौ वर्ष के पीछे इस देश मे गवादि पशुओं को मारनेवाले मासाहारी विदेशी मनुष्य आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाडमास तक भी नही छोड़ते, तो 'नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्' जब कारण का नाश करदे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे ?

हे मासाहारियो ! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेगे तब मनुष्यो का मांस भी छोडोगे वा नहीं ? हे परमेश्वर ! तू क्यो न इन पशुओ पर जो कि विना अपराध मारे जाते हैं; दया नहीं करता ? क्या उन पर तेरी प्रीति नही है ? क्या उनके लिये तेरी न्यायसभा बन्द होगई ? क्यों उनकी पीडा छुडाने पर ध्यान नही देता और उनकी पुकार नही सुनता ? क्यों इन मासाहारियो के आत्माओ मे दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषो को दूर नही करता ? जिस से ये इन बुरे कामो से बचें।

अथ समीक्षायां हिंसक-रक्षक-संवादः—

हिंसक— ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्य के लिये रची है और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मास खाने मे दोष नही हो सकता।

रक्षक—भाई सुनो ! तुम्हारे शरीर को जिस ईश्वर ने बनाया है क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नही बनाये हैं ? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं तो हम कह सकते है कि हिंसक पशुओ के लिये तुमको उसने रचा है। क्योकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मास पर चलता है वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मास खाने पर चलता है तो उनके लिये तुम क्यो नही ?

हिं० देखो ! ईश्वर ने पुरुषो के दात कैसे पैने मासाहारी पशुओ के समान बनाये है। इससे हम जानते है कि मनुष्यो को मास खाना उचित है।

र०—जिन व्याघ्रादि पशुओ के दात के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो, क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो ? देखो ? तुम्हारी मनुष्य जाति उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उनके चार, तुम विद्या पढ कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो वे नही। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नही क्योकि जो दात का दृष्टान्त लेते हो तो बदर के दातो का दृष्टान्त क्यो नही लेते ? देखो बन्दरो के दात सिंह और बिल्ली आदि के समान है और वे मास कभी नही खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुतसी मिलती है। जैसे

मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिं०—देखो। जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं वे निर्बल होते हैं। इससे मांस खाना चाहिये।

र०—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो! सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता। परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक या दो को मारता और एक दो गोली या तलवार के प्रहार से मर भी जाता है और जब जंगली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है, तब उन अनेक सवारों और अनेक मनुष्यों को मारता और अनेक गोली, बरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता, और सिंह उनसे डरके अलग सटक जाता है और वह सिंह से नहीं डरता।

और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो तो मांसाहारी का एक दूध घी और अन्नाहारी मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस किस के खाने से बल न्यून और अधिक होता है भला, तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है उसके खाने से? मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है। इसको जो युक्तिपूर्वक खावें तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय अधर्म और दुष्ट कर्म क्यों नहीं?

हिं०—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपत्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता।

र०—यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है वहां खेती वा फल फूल आदि होते हैं और जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है, वहाँ मिष्टजल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं। जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है इसीलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिं०—जो कोई भी मांस न खावे तो पशु इतने बढ़ जायँ कि पृथिवी पर भी न समावें। और इसलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है। तो मांस क्यों न खाना चाहिये?

र०—वाह! वाह! यह बुद्धि का विपर्यास आपको मांसाहार ही से हुआ होगा। देखो! मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता, पुनः क्यों न बढ़ गये? और इनकी अधिक उत्पत्ति

इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिं०—ये जितने उत्तर किये, वे सब व्यवहारसम्बन्धी हैं। परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म तो नहीं होता और जो होता है तो तुम को होता होगा क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है। इसलिये तुम मत खाओ और हम खावे, क्योंकि हमारे मत में माँस खाना अधर्म नहीं है।

र०—हम तुम से पूछते हैं कि धर्म और अधर्म व्यवहार ही मे होते हैं वा अन्यत्र ? तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते है। जिस-जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह-वह 'अधर्म' और जिस-जिस व्यवहार से उपकार हो वह-वह 'धर्म' कहाता है। तो लाखों के सुख लाभकारक पशुओ का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुँचाना धर्म क्यो नही मानते ? देखो ! चोरी जारी आदि कर्म इसलिये अधर्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नही तो जो-जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते है। इसलिये यह निश्चित है कि जो-जो जगत् में हानिकारक हैं वे-वे 'अधर्म' और जो-जो परोपकारक है वे-वे 'धर्म कहाते है।

जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नही ? देखो ! मांसाहारी मनुष्यो में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं। जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसकी इच्छा होती है कि इसमें मांस अधिक है, मारकर खाऊं तो अच्छा हो। और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द मे है। जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नही करते किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते है वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते है। इस लिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नही।

हिं—अच्छा जो यही बात है तो जब तक पशु काम मे आवे तब तक उनका मांस न खाना चाहिये। जब बूढ़े हो जावें या मर जावे तब खाने मे कुछ भी दोष नहीं।

र०—जैसे दोष उपकार करनेवाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था मे मारने और उनके मांस खाने में हैं, वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में हैं। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिं०—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहनेवालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना वा नही ?

र०—न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो १०० भङ्गी

जितनी शुद्धि करते हैं, उनसे अधिक एक सूअर वा मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं। और जैसे मनुष्यों का खान-पान दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार मे सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये।

भला जिन के दूध आदि खाने पीने मे आते हैं वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ? ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों मे पशु और पक्षी आदि अधिक रहने में कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने पीने के पदार्थों से भी पशु और पक्षियों के खाने-पीने के पदार्थ घास वृक्ष फूल फलादि अधिक रचे हैं। और वे बिना जोते बोए सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न होते हैं। और वहां वृष्टि भी करता है। इसलिए समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने मे नहीं किन्तु रक्षा ही करने में है।

हिं०—जो मनुष्य पशु को मारके मांस खावें उनको पाप होता है और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया वाममार्ग अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावे तो उनको पाप नही होना चाहिये क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

र०— जो कोई मास न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योकि इस व्यवहार में बहकावट लाभ और विक्री न हो तो प्राणियो का मारना बन्द ही हो जावे। इस में प्रमाण भी है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

मनु० अ० ५। श्लोक ५१॥

अर्थ—अनुमति=मारने की आज्ञा देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिए लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खानेवाले ८ आठ मनुष्य घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं।

और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना, मारना या मरवाना महापापकर्म्म है। इसलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने या पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।

मद्य भी मांस खाने का ही कारण है इसलिये यहां संक्षेप से लिखते हैं—

प्रमत्त—कहोजी ! मांस तो छूटा सो छूटा परन्तु मद्य पीने में कोई भी दोष नहीं ?

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं जैसे कि मांस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्त्तव्य को छोड़ देता है, न्याय का अन्याय और अन्या का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है। इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार

उत्पन्न होते हैं । और जो मद्य पीता है वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर उन दोषों में फंसकर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़ पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है । इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिए ।

जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं, इसलिए इनका भी सेवन कभी न करे क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं इसीलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध ही है ।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये जाते हैं तब वे अनाथ तुम हमको देखके राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं—कि देखो ! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते है और मारे जाना नहीं चाहते । देखो ! हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है हम इसीलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें । हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते । नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढवा देते ? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते है ।

अस्तु, वे स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो क्योंकि 'स्वार्थी दोष न पश्यति' जो स्वार्थ साधने में तत्पर है वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता किन्तु दूसरों की हानि हो तो हो मुझ को सुख होना चाहिये, परन्तु जो उपकारी है वे इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें । जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये है। वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है ।

धन्य है आर्यावर्त्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होने ईश्वर की सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं । इसीलिये आर्य्यावर्त्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों । जिनके खाने-पीने से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि सद्गुण बढें । और वृक्षों के अधिक होने से वर्षाजल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है । पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है । परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलो को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर रोगों की वृद्धि करके संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना; इत्यादि काम उलटे हैं ।

'विषादप्यमृतङ्ग्राह्यम्' सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना। इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोड़कर उनसे उत्पन्न हुए दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं उनको लेना। अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृत-भोजी सबको होना चाहिए। सुनो बन्धुवर्गो ! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है ? देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिये रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन, परोपकार ही के अर्पण करो।

बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्यायपुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों उनको कष्ट न दिया जावे और जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें उतना ही उन पर धरा जावे। श्रीमती राजराजेश्वरी श्रीविक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो-जो दुःख दिया जाता है वह-वह न दिया जाये। तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है? क्या फांसी से अधिक दुःख बन्दीगृह में होता है ? जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है या बन्दीघर में रहने में ? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी मे नहीं किन्तु बन्दीघर के रहने में।

और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जायें और उसको वहां से दूर किया जाये, तो क्या वह सुख मानेगा ? ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जंगल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं विना महसूल दिये खायें या खाने को जावें तो बेचारे उन पशुओं और उनके स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा या राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीन कर न खाने देवे और उनकी दुर्दशा की जावे तो इनको दुःख विदित न होगा क्या ? क्या वैसा ही उन पशु पक्षियों और उनके स्वामियों को न होता होगा ?

ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है। इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे। न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उनका नाश किया जावे। इसलिये आज तक जो हुआ सो हुआ। आंखें खोलकर सबके हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये।

हां ! हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती

करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना। इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको कोई न बचावे तो आप इनकी रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये ।।

इति समीक्षा ।।

इस सभा के नियम

१—सब विश्व को विविध सुख पहुँचाना इस सभा का मुख्य उद्देश्य है, किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२—जो २ पदार्थ सृष्टिक्रमानुसार जिस २ प्रकार से अधिक उपकार में आवे उस २ से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३—जिस २ कर्म्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो उस २ को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४—जो २ मनुष्य इस परमहितकारी कार्य मे तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे वह २ इस सभा मे प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५—जो कि यह कार्य्य सर्वहितकारी है, इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६—जो २ सभा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है वह २ इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७—जो २ जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा और प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म्म करें वह २ इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।

उपनियम

नाम

१—इस सभा का नाम "गोकृष्यादिरक्षिणी" है।

उद्देश्य

२—इस सभा के उद्देश्य वे ही हैं जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

३—जो लोग इस सभा* में नाम लिखाना चाहें और इस के उद्देश्यानुकूल आचरण करना चाहें वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा मे प्रविष्ट हों वे 'गोरक्षकसभासद्' कहलावेंगे।

४—जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दे, वे 'गोरक्षकसभासद्' हो सकते हैं। और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदो ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष भर रहकर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के दूसरे वर्ष से काम आयेगा।

(ब) राजा, सरदार, बड़े २ साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश भी देना आवश्यक नही, वे एकवार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(ज) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देनेवाले पुरुष को भी गोरक्षक सभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं मे उन सभासदों की भी जो गोरक्षक सभासद् नहीं बने; सम्मति ली जा सकती है—

(१ जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो।

(२) जबकि विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे।

(३) जो इस सभा के उद्देश्य के विरुद्ध कर्म्म करेगा वह न तो गोरक्षक और न गोरक्षकसभासद् गिना जावेगा।

(४) गोरक्षकसभासद दो प्रकार के होंगे—एक साधारण और दूसरे माननीय। माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे जो शतांश वा १०) रु० मासिक वा इससे अधिक देवे। अथवा एक बार २५०) रुपया दे वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

५—यह सभा दो प्रकार की होगी—एक साधारण, दूसरी अन्तरंग।

* इस सभा में नाम लिखवाने के लिये मंत्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि—"मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देश्यानुकूल जो कि नियमों में वर्णन किये है; आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये।" परन्तु अन्तरङ्ग सभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे॥

६—साधारणसभा तीन प्रकार की होगी—१ मासिक, २ षाण्मासिक और ३ नैमित्तिक।

७—मासिकसभा—प्रति मास एक वार हुआ करेगी। उसमें महीने भर का आय-व्यय और सभा के कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे जो कि कथन योग्य हो।

८—षाण्मासिक सभा—कार्तिक और वैशाख के अन्त मे हुआ करे। उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य, प्रत्येक प्रकार का आय-व्यय समझना और समझाना होवे।

९—नैमित्तक सभा—जब कभी मंत्री, प्रधान और अन्तरङ्गसभा आवश्यक कार्य जाने उसी समय यह सभा हो और उसमें विशेष कार्यों का प्रवन्ध होवे।

१०—अन्तरंग सभा—सभा के समस्त कार्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरंगसभा नियत की जावे, और इसमें तीन प्रकार के सभासद् हों—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी।

११—प्रतिनिधि सभासद् अपने २ समुदायो के प्रतिनिधि होगे और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे। कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है। प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य ये होगे—

(अ) अपने २ समुदायों की सम्मति मे अपने को विज्ञ रखना।

(ब) अपने २ समुदायों को अन्तरङ्गसभा के कार्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

(ज) अपने २ समुदायों के चन्दा इकठ्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१२—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरङ्गसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१३—प्रति वैशाख की सभा में अन्तरंगसभा के प्रतिष्ठित अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें और कोई पुराना प्रतिष्ठित और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१४—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो तो अन्तरङ्गसभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१५—अन्तरंगसभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१६—अन्तरंगसभा किसी विशेष कार्य के करने और सोचने के लिये अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखने वाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

१७—अन्तरंग सभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंगसभा के पांच सभासद् सम्मति दें वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा।

१८—दो सप्ताह के पीछे अन्तरंगसभा अवश्य हुआ करे और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरंगसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है।

१९—अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१ प्रधान, २ उपप्रधान, ३ मन्त्री, ४ उपमन्त्री, ५ कोषाध्यक्ष, ६ पुस्तकाध्यक्ष।

मन्त्री, कोषाध्यक्ष, पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक भी नियत हो सकते हैं। और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक पुरुष नियत हों तो अन्तरंगसभा उन्हें कार्य बांट देवे।

प्रधान

२०—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें—

१—प्रधान अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे।

२—सदा सभा के सब कार्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे। सभा के प्रत्येक कार्य्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते है वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चले।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो तो उसका यथोचित् प्रबन्ध उसी समय करे और उसके बिगड़ने में उत्तरदाता वही होवे।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे; सभासद् हो सकता है।

उपप्रधान

२१—इस के ये कार्य्य कर्त्तव्य हैं—

प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे परन्तु सभा के सब कार्य्यों में प्रधान को सहायता देनी उसका मुख्य कार्य है।

मन्त्री

२२—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं—

१—अन्तरंगसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्रव्यवहार रखना।

२—सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहले ही पूर्व वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवा देना।

३—मासिक अन्तरंग सभाओं मे उन गोरक्षकों वा गोरक्षक-सभासदों के नाम सुनाना जो कि पिछली मासिक सभा के पीछे सभा मे प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुये हों।

४—सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक-सभासद् किसी न किसी समुदाय में हो और इसका भी प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरंगसभा में प्रतिनिधि किया होवे।

६—पहिले विज्ञापन दिये जाने पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठलाना।

७—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

कोषाध्यक्ष

२३—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं—

१—सभा के सब आय धन का लेना उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना।

२—किसी को अन्तरंगसभा की आज्ञा के विना रुपया न देना किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे कि जितना अन्तरंगसभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना। और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो; उत्तरदाता होवे।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बहीखाता रखना और प्रतिमास अन्तरंगसभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना।

पुस्तकाध्यक्ष

२४—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तक हों उन सबों की रक्षा करे और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेने देने का कार्य भी करे।

मिश्रित नियम

२५—सब गोरक्षक-सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में ली जावे—

१—अन्तरंगसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारण सभा के सिद्धान्त पर निर्भर न करना चाहिये किन्तु गोरक्षक-सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२—सब गोरक्षक सभासदों का पांचवा वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे।

३—जब बहुत से व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी नियम अथवा व्यवस्था-

सम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो अथवा बहु अन्तरंगसभा सर्व गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहे ।

२६—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो तो उस समय के लिये योगपुरुष को अन्तरंग सभा नियत कर सकती है ।

२७—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे तो जब तक उस के स्थान पर नियत न किया जाय वही अधिकारी अपना काम करता रहे ।

२८—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे और उसको सब गोरक्षकसभासद् देख सकते हैं ।

२९—सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों ।

३०—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों ।

३१—आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे ।

३२—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये ।

३३—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें ।

३४—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनन्दोत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों; छोटाई बड़ाई न गिनें ।

३५—कोई गोरक्षकभाई किसी हेतु से अनाथ वा किसी की स्त्री विधवा अथवा सन्तान अनाथ हो जावे अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो और यदि गोकृष्यादि-रक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले तो यह उनकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे ।

३६—यदि गोरक्षक-सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो तो उनको उचित है कि वे आपस में समझ लेवें, वा गोरक्षक-सभासदों की न्याय उपसभा द्वारा उसका न्याय करालें । परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय करा लेवें ।

३७—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना-जितना लाभ हो वह-वह सर्वहितकारी काम में लगाया जावे किन्तु यह महाधन तुच्छ कार्य में व्यय न किया जावे । और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है, उसको चोरी से अपहरण करेगा वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा ।

३८—संप्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने जंगल

और घास के क्रय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब, कूप, बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे। पुन: अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य में भी व्यय किया जावे।

३९—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक आदि समुदाय पर स्वार्थदृष्टि से हानि करना कभी मन से भी न विचारें किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन, मन, धन से सदा परम प्रयत्न किया ही करें।

४०—इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बढ़ेंगे तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके बिना सब का हित सिद्ध होना संभव नहीं।

४१—देखिये! पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुँचाना और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है। ऐसे निकृष्ट कर्म को करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४२—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे उन-उन का दूध एक मास तक उसके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिला देना चाहिये, और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े को देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के प्रारम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तब तक दिया करें कि जब तक गौ दूध देवे।

४३—सब सभासदों को उचित है कि जब-जब किसी को स्वरक्षित पशु देवें तब-तब न्यायनियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर, जब वह पशु असमर्थ हो जाय उसके काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो तो अन्य किसी को न दे सके किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४४—इस सभा की अन्तरङ्ग सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना। अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इसमें स्वाधीनता कभी न देवे।

४५—जो कि यह बहुत उपकारी कार्य है इसलिए इसका करनेवाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है।

४६—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देश्यों को किये बिना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता।

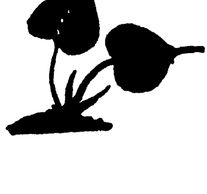
४७—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दु:खवत् दूसरे प्राणियों का सुख-दु:ख अपने आत्मा में न समझता हो।

४८—ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा घटाये बढ़ाये जा सकते हैं॥

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

धेनुः परा दयापूर्णा यस्यानन्दाद्विराजते ।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः ॥ १ ॥
मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले ।
दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोऽयं कामधेनुपः ॥ २ ॥

इति गोकरुणानिधिः ॥



आर्यसमाज के नियम (बम्बई)

चैत्र शुक्ला ५ शनिवार संवत् १९३२ एवं १० अप्रैल सन् १८७५ एवं (३ शाउल् अव्वल सन् १२९२ हिजरी, एवं शाके शालिवाहन १७९७, फसली सन् १२८३, एवं यजुर्देद सन् १२८४ पारसी) को गिरगाम रोड़ में प्रार्थना-समाज के मन्दिर के निकट डाक्टर माणिक जी की बागवाड़ी में सायंकाल के ५॥ बजे एक सभा की गई। जिसमें आर्यसमाज स्थापित किया गया और निम्नलिखित नियम स्वीकार किये गये—

१—आर्य समाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।

२—इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों का ही माना जायेगा। साक्षी के लिये वेदों के ज्ञान के लिये तथा आर्य इतिहास के लिये शतपथादि चार ब्राह्मण, छः वेदांग, चार उपवेद, छः दर्शन, ग्यारह सौ सत्ताईस वेदों की शाखा वेदव्याख्यान आर्ष सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायेगा।

३—इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा प्रशाखा होंगे।

४—अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।

५—प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश के पुस्तक होंगे और आर्य-प्रकाश पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।

६—हर एक समाज में प्रधान पुरुष और दूसरे मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री सभासद होंगे।

७—प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था पालन करेगा और मन्त्री सबके पत्रों का उत्तर और सब के नाम व्यवस्था लेख करेगा।

८—इस समाज में सत्पुरुष, सत्यनीति सत्याचरणी हितकारक समाजस्थ किये जायेंगे।

९—जो गृहस्थ गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त हो, सो जैसा घरके कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिये करे और विरक्त तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करे, अन्यथा नहीं।

१०—हर आठवें दिन प्रधान मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में इकट्ठे हों और सब कामों में इस काम को मुख्य जानें।

११—इकट्ठे होकर सर्वथा स्थिर चित्त हो, परस्पर प्रीति से पक्षपात, छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म सत्यनीति, तथा सत्योपदेश के

सम्बन्ध में बाजा आदि के साथ हो। और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान और फिर गान हो, इत्यादि।

१२—हर एक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे, उसमें से आर्यसमाज, आर्य विद्यालय और आर्य-प्रकाश, पत्र के प्रचार और उन्नति के लिये, आर्य समाज के धन कोष में एक प्रतिशत प्रीति पूर्वक देये से अधिक धर्मफल। इस धन का इन ही विषयों में व्यय होवे, और जगह नहीं।

१३—जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिये, जितना प्रयत्न करे, उसका उत्साह के लिये यथायोग्य सत्कार होना चाहिये।

१४—इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हर एक स्तुति· प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करने में आयेगी। अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगन्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्तसुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद, इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका कीर्त्तन, प्रार्थना उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में सहाय चाहना उपासना उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय और की कभी नहीं करनी।

१५—इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जावेंगे।

१६—आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष-ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।

१७—इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जायेगा। एक परमार्थ दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जायेगी।

१८—इस समाज में न्याय वही माना जायेगा, जो पक्षपात रहित अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित सत्य-धर्म वेदोक्त होगा। इससे विपरीत को यथार्थित न माना जायेगा।

१९—इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश करने के लिये समयानुकूल भेजे जायेंगे।

२०—स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिये स्थान हर एक स्थान में यथाशक्ति अलग-अलग बनाये जायेंगे। स्त्रियों के लिये अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा, ही किया जायेगा और पुरुष पाठशालाओं का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।

२१—उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जायेगी।

२२—इस समाज में प्रधान आदि सभासद् परस्पर प्रीति के लिये अभिमान, हठ,

दुराग्रह और क्रोधादि सब दुर्गुण छोड़कर उपकार, सुहृदयता से सब से सब को निर्वैर होकर स्वात्मवत् प्रीति करनी होगी।

२३—विचार समय सब व्यवहारों में न्याय युक्त सर्वहित की जो सत्य बात भले प्रकार विचार से ठहरे, वही सब सभासदों को प्रकट करके मानी जावे। इसके विरुद्ध न मानी जावे। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

२४—जो पुरुष इन नियमों में अनुकूल आचरण करने वाला धर्मात्मा सद्गुणी हो, उसको उत्तम समाज में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना, और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना, परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, बल्कि यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के ही विचार से की जायें अन्य प्रकार नहीं।

२५—आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, 'आर्य-प्रकाश' पत्र और आर्यसमाज का अर्थ, धन कोष इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन, मन और धन से सदा करें।

२६—जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्य समाजस्थ मिले, तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखें, वे दोनों स्वामी सेवक भाव से यथावत् बरतें।

२७—जब विवाह, पुत्र-जन्म, महालाभ, वा मरण वा कोई समय दान व धन व्यय करने का हो, तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है, इस निश्चय को जानकर इसको कभी न भूलें।

२८—इन नियमों में कोई नियम नया लिखा जायेगा वा कोई निकला जायेगा वा न्यूनाधिक किया जायेगा, सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

इसके पश्चात् आर्यसमाज के पदाधिकारी नियत किये गये और प्रति शनिवार को सायंकाल आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन होने निश्चित हुए परन्तु पीछे शनिवार का दिन सभासदों के अनुकूल न पड़ा, अतः आदित्यवार निश्चित किया गया।

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियमोपनियम

लाहौर ज्येष्ठ शुक्ला १३ संवत् १६३४ वि० तदनुसार

२४ जून सन् १८७७

आर्य्यसमाज के नियमोद्देश्य

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना, इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आर्यसमाज के उपनियम

- : o : —

नाम

१—इस समाज का नाम आर्य्यसमाज होगा ।

उद्देश्य

२—इस समाज के उद्देश्य वही हैं जो इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

आर्य्य

३—जो लोग आर्य्यसमाज में नाम लिखाना चाहें और समाज के उद्देश्य के अनुकूल आचरण स्वीकार करें, वे आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते हैं। परन्तु उनकी अठारह वर्ष से न्यून आयु न हो।

आर्य्यसभासद्

४ क—जिनका नाम आर्य्यसमाज में सदाचार से एक वर्ष रहा हो और वे अपने आय का शतांश वा अधिक, मासिक वा वार्षिक आर्य्यसमाज को दें वे आर्य्यसभासद् हो सकते है।

ख—सम्मति देने का अधिकार केवल आर्य्य सभासदो को होगा।

५—जो आर्य्यसमाज के उद्देश्य के विरुद्ध काम करेगा, वह न तो आर्य्य और न आर्य्यसभासद् गिना जावेगा।

६—आर्य्यसभासद् दो प्रकार के होगे। एक साधारण आर्य्यसभासद् और दूसरे माननीय आर्य्यसभासद्।

माननीय आर्य्यसभासद् वे होंगे, जो शतांश, दश रुपये मासिक, वा इससे अधिक दें; वा एक बार २५०) रुपये दें, वा जिन को अन्तरंगसभा विद्यादि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

साधारण सभा

७—साधारण सभा तीन प्रकार की होगी—

१—साप्ताहिक, २—वार्षिक, ३—नैमित्तिक।

साप्ताहिक साधारण सभा

८ क—यह सभा प्रत्येक सप्ताह में एक वार हुआ करेगी।

ख—उसमें वेदमन्त्रों का पाठ, उपासना, भजन, कीर्तन और व्याख्यान हुआ करेंगे।

ग—जो कोई समाजसम्बन्धी मुख्य बात सभा के जानने योग्य हो, वह भी उस सभा में कही जायेगी।

वार्षिक साधारण सभा

९ क—यह सभा प्रतिवर्ष एक बार नीचे लिखे प्रयोजनों के लिये हुआ करेगी—

१—समाज के वार्षिक उत्सव करने के लिये।

२—अन्तरंग सभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारियों के नियुक्त करने के लिये।

३—समाज के पिछले वर्ष का वृत्तान्त सुनने के लिये।

ख—इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन एक महीना पहिले दिया जावेगा।

नैमित्तिक साधारण सभा

१० क—यह सभा जब कभी आवश्यकता हो, किसी विशेष काम के लिये नीचे लिखी हुई दशाओं में की जायेगी—

१—जब प्रधान और मन्त्री चाहें।

२—जब अन्तरंग सभा चाहे।

३—जब आर्य्यसभासदों का बीसवाँ अंश इस निमित्त मन्त्री के पास लिखकर पत्र भेजे।

ख—इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन समयानुकूल पहिले दिया जावेगा।

अन्तरङ्ग सभा

११—समाज के सब कार्य्यों के प्रबन्ध के लिये एक अन्तरग सभा नियुक्त की जायेगी। और इसमें तीन प्रकार के सभासद् होंगे अर्थात् (१) प्रतिनिधि (२) प्रतिष्ठित (३) अधिकारी।

१२—प्रतिनिधि सभासद् अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे। कोई समुदाय जब चाहे, अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है।

१३—सभासदों के विशेष काम ये होंगे—

क—अपने-अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

ख—अपने-अपने समुदायों को अन्तरंगसभा के काम, जो कि प्रकट करने योग्य हों बतलाना।

ग—अपने-अपने समुदायों से चन्दा इकठ्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१४—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्राय: वार्षिक वा नैमित्तिक साधारण सभा में नियत किये जावेंगे, प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंग सभा में एक तिहाई से अधिक न होंगे।

१५—वर्ष के पीछे अन्तरंग सभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावेंगे। और कोई पुराना प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी पुनर्वार नियत हो सकेगा।

१६—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् वा अधिकारी का स्थान रिक्त (खाली) हो, तो अन्तरंग सभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकेगी।

१७—अन्तरंग सभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह आर्यसमाज के नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१८—अन्तरंग सभा किसी विशेष काम के करने और सोचने के लिये, अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखने वाले और सभासदो को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

१९—अन्तरंग सभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह पहले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह (विषय) प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावेगा। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरग सभा के पांच सभासद् सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा।

२०—दो सप्ताह के पीछे अन्तरंग सभा एक वार अवश्य हुआ करेगी, और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से, वा जब अन्तरंग सभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है।

अधिकारी

२१—अधिकारी पांच प्रकार के होंगे—

(१) प्रधान, (२) उपप्रधान, (३) मन्त्री, (४) कोषाध्यक्ष, (५) पुस्तकाध्यक्ष।

२२—मन्त्री, कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक पुरुष भी नियत हो सकते हैं, और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक पुरुष नियत हों, तो अन्तरंगसभा उन्हें काम बांट देगी।

प्रधान

२३—प्रधान के नीचे लिखे अधिकार और काम होंगे—

१—प्रधान अन्तरंग सभा और समाज का और सब सभाओं का सभापति समझा जावेगा।

२—सदा समाज के सब कामों के यथावत् प्रबन्ध करने में सर्वथा समाज की उन्नति और रक्षा में तत्पर रहेगा, समाज के प्रत्येक कामों को देखेगा कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चलेगा।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो, तो उसका यथोचित प्रबन्ध उसी समय करेगा। और उसके बिगड़ने में उत्तरदाता वही होगा।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें कि अन्तरंग सभा सस्थापन करे, सभासद् होगा।

उपप्रधान

२४—उपप्रधान, प्रधान के अनुपस्थित होने पर उसका प्रतिनिधि होगा। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों, तो सभा की सम्मति अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावेगा।

परन्तु समाज के सब कामों में प्रधान को सहायता देनी, उसका मुख्य काम होगा।

मन्त्री

२५—मन्त्री के नीचे लिखे गये अधिकार और काम होंगे—

१—अन्तरंग सभा की आज्ञानुसार समाज की ओर से सबके साथ पत्रव्यवहार रखना, और समाजसम्बन्धी चिट्ठी और सब प्रकार के विशिष्ट पत्रों को सम्भालकर रखना।

२—समाज की सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहिले ही उसको वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवा देना।

३—मासिक अन्तरंग सभाओं में उन आर्यों वा आर्यसभासदों के नाम सुनाया करना, जो पिछली मासिक सभा के पीछे आर्य्यसमाज मे प्रविष्ट हुए हों वा उससे पृथक् हुए हों।

४—सामान्य प्रकार से समाज के भृत्यों के काम पर दृष्टि रखना, और समाज के नियम उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५—पाठशाला की उपसभा के आज्ञानुसार पाठशाला का सामान्य प्रकार से प्रबंध करना।

६—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक आर्य सभासद् किसी न किसी समुदाय में हो, और इसका कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरंग सभा में प्रतिनिधि दिया हो।

७—पहिले विज्ञापन दिये जाने पर माननीय पुरुषों को सभा में सत्कारपूर्वक बैठाना।

८—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना ।

कोषाध्यक्ष

२६—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और काम होंगे—

१—समाज के सब आय धन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना ।

२—किसी को अन्तरंग सभा की आज्ञा विना रुपया न देना, वरन् मन्त्री और प्रधान को भी उस परिमाण से जितना कि अन्तरंग सभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना । और उस धनके उचित व्यय के लिये वही अधिकारी जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो उत्तरदाता होगा ।

३—सब धन के आय-व्यय का रीति पूर्वक बहीखाता रखना, और प्रतिमास अन्तरंग सभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना ।

पुस्तकाध्यक्ष

२७—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और काम ये होंगे ।

पुस्तकालय में जो समाज की स्थिर पुस्तक और विक्रय पुस्तक हों उन सबकी रक्षा करे, और पुस्तकालयसम्बन्धी हिसाब किताव रक्खे, और पुस्तकों के लेने, देने, मंगवाने और बेचने का काम भी करे ।

मिश्रित

२८—सब आर्य्य सभासदों की सम्मति पत्रद्वारा निम्नलिखित दशाओं में ली जायगी ।

१—जब अन्तरंग सभा का यह निश्चय हो कि समाज की भलाई के लिये किसी साधारण सभा के सिद्धान्त पर निर्भर न करना चाहिये, वरन् सब आर्य्य-सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये ।

२—जब सब आर्य्य सभासदों का बीसवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिखकर भेजे ।

३—जब बहुत से व्ययसम्बन्धी वा प्रम्बध-सबन्धी, वा नियम वा व्यवस्थासम्बन्धी कोई मुख्य प्रस्ताव करना हो; अथवा जब अन्तरंगसभा सब आर्यसभासदों की सम्मति चाहे ।

२६—जब किसी सभा में वा थोडे से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो, तो उसके स्थान में उस समय के लिये किसी योग्य पुरुष को अन्तरंग सभा नियत कर सकती है ।

३०—किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे, तो जब तक उसके स्थान पर कोई नियत न किया जाय, वही अधिकारी अपना काम करता रहेगा।

३१—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करेगा और उसको सब आर्य्यसभासद् देख सकेंगे।

३३—सब सभाओं का और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।

३४—आय का दशांश समुदाय धन में रक्खा जावेगा।

३५—सब आर्य्य और आर्य्यसभासदों को संस्कृत वा आर्य्य भाषा (हिन्दी) जाननी चाहिये।

३६—सब आर्य्य और आर्य्यसभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द के समय समाज पर भी दृष्टि रक्खें।

३७—सब आर्य्य और आर्य सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनन्द उत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों। और छोटाई-बड़ाई न गिनें।

३८—कोई आर्य्य भाई किसी हेतु से अनाथ हो जावे वा किसी की स्त्री विधवा वा सन्तान अनाथ हो जावे अर्थात् उसका किसी प्रकार जीवन न हो सकता हो और यदि आर्यसमाज इसको निश्चित जान ले, तो आर्यसमाज उसकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।

३९—यदि आर्य्यसमाज में किसी का आपस मे झगड़ा हो तो उनको योग्य होगा कि वे उसको आपस में समझ लें वा आर्य्य समाज की न्याय-उपसभा द्वारा उसका न्याय करा लें।

४०—यह उपनियम र वर्ष पीछे यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा बढ़ाये-घटाये जा सकते हैं।

॥ इति ॥

❀ ओ३म् ❀

स्वीकारपत्र

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य श्री १०८ श्री स्वामी

दयानन्द सरस्वती कृत

श्रीमती परोपकारिणी सभा सम्बन्धी ।

॥ श्रीरामजी ॥ ❀

परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती

स्वामिकृत स्वीकारपत्र की प्रति ॥



आज्ञा (राज्ये श्रीमहद्राजसभा) संख्या—२६०

आज यह स्वीकारपत्र श्रीमान् श्री १०८ श्री जी धीरवीर चिरप्रतापी विराजमान-राज्ये श्रीमहद्राजसभा के सम्मुख स्वामी जी श्रीदयानन्दसरस्वती जी ने सर्वरीत्या अङ्गीकार किया अत एव—

आज्ञा हुई

कि प्रथम प्रति तो इस स्वीकारपत्र की स्वामी जी श्रीदयानन्दसरस्वती जी को राज्ये श्री महद्राजसभा के हस्ताक्षरी और मुद्राङ्कित दी जावे और दूसरी प्रति उक्त सभा के पत्रालय में रहे और एक एक प्रति इस की राजयन्त्रालय में मुद्रित होकर इस स्वीकारपत्र में

❀ मंगलाचरण स्वरूप—यह "श्रीरामजी" लेख महर्षि दयानन्द जी के सिद्धान्त से विरुद्ध है। यह उदयपुर के किसी राजकीय कर्मचारी ने लिखा होगा। राजकीय मुद्रा का ब्लाक अजमेर की पुस्तक में नहीं है। हमने इस पुस्तक के लिये बनवाया है —सम्पादक

लिखे सब सभासदों के पास उन के ज्ञानार्थ और इसके नियमानुसार वर्तने के लिये भेजी जावे संवत् १६३६ फाल्गुन शुक्ला ५ मगंलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुएरी सन् १८८३ ई० ।

हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य—

(श्रीमेदपाटेश्वर और राज्ये श्रीमहद्राजसभापति)

राज्ये श्रीमहद्राजसभा के सभासदों के हस्ताक्षर—

१—राव तख्तसिंह बेदले
२—राव रत्नसिंह पारसोली
३—द० महाराज गजसिंह का
४—द० महाराज रायसिंह का
५—हस्ताक्षर मामा बख्तावरसिंहस्य
६—द० राणावत उदयसिंह
७—हस्ताक्षर ठाकुर मनोहरसिंह
८—हस्ताक्षर कविराज श्यामलदसस्य
९—हस्ताक्षर सहीवाला अर्जुनसिंह का
१०—द० स० पन्नालाल
११—ह० पुरोहित पद्मनाथस्य
१२—जा० मुकुन्दलाल
१३—मोहनलाल पण्डया

स्वीकारपत्र

मैं स्वामी दयानन्दसरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार त्रयोविंशति सज्जन आर्य्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन, और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उस को परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अधिष्ठाता करके यह पत्र लिख देता हू कि समय पर कार्यकारी हो । जो यह एक सभा कि जिसका नाम परोपकारिणी सभा है उस के निम्नलिखित त्रयोविंशति सज्जनपुरुष सभासद् हैं उन में से इस सभा के सभापति—

१—श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यादवार्य्यकुलदिवाकर महाराणा जी श्री १०८ श्री सज्जनसिंहजी वर्म्मा धीरवीर जी० सी० एस० आई० उदयपुराधीश हैं, उदयपुर राज मेवाड़ ।

२—उपसभापति लाला मूलराज एम० ए० एकस्ट्रा एसिस्टेण्ट कमिश्नर प्रधान आर्य्यसमाज लाहौर जन्मस्थान लुधियाना ।

३—मन्त्री श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी उदयपुर राज मेवाड़ ।

४—मन्त्री लाला रामशरणदासजी रईस उपप्रधान आर्य्यसमाज मेरठ ।

५—उपमन्त्री पण्डया मोहनलाल विष्णुलालजी निवास उदयपुर जन्मभूमि मथुरा ।

सभासद्

नाम स्थान

१—श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा, शाहपुरा राज मेवाड़।
२—श्रीमत् राव तख्तसिंहजी वर्म्मा, बेदला राज मेवाड़।
३—श्रीमत् राज्य राणा श्री फतहसिंहजी वर्म्मा, देलवाड़ा राज मेवाड़।
४—श्रीमत् रावत अर्जुनसिंह वर्मा, आसीद राज मेवाड़।
५—श्रीमत् महाराज श्री गजसिंहजी वर्म्मा, उदयपुर मेवाड़।
६—श्रीमत् राव श्री बहादुर सिंह वर्म्मा, मसूदा जिले अजमेर।
७—रायबहादुर पं० सुन्दरलाल सुपरेंटेंडेंट वर्कशाप और प्रेस अलीगढ़. आगरा।
८—राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई, डिपुटी कलक्टर बिजनौर, मुरादाबाद।
९—बाबू दुर्गाप्रसाद कोशाध्यक्ष आर्य्यसमाज व रईस, फर्रुखाबाद।
१०—लाला जगन्नाथ प्रसाद रईस, फर्रुखाबाद।
११—सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद विसाऊ राजपूताना।
१२—लाला कालीचरण रामचरण, मन्त्री आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद।
१३—बाबू छेदीलाल गुमाश्ते, कमसर्यट छावनी मुरार कानपुर।
१४—लाला साईंदास, मन्त्री आर्य्यसमाज लाहौर।
१५—बाबू माधवदास, मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर।
१६—रावबहादुर रा० रा० पंडित गोपालरावहरि देशमुख, मेम्बर कौन्सिल गवर्नर बम्बई और प्रधान आर्य्यसमाज बम्बई पूना।
१७—रायबहादुर रा० रा० महादेव गोविन्द रान्डे जज्ज पूना।
१८—पं० श्यामजी कृष्ण वर्म्मा प्रोफेसर संस्कृत यूनिवरसिटी आक्सफोर्ड लण्डन, बम्बई। ❀

नियम

१—उक्त सभा जैसे कि वर्त्तमानकाल वा आपत्काल में नियमानुसार मेरी और समस्त पदार्थों की रक्षा करके सर्वहितकारी कार्य में लगाती है वैसे मेरे पश्चात् अर्थात् मेरे मृत्यु के पीछे भी लगाया करे—

प्रथम—वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने कराने पढ़ने पढ़ाने सुनने सुनाने छपवाने आदि में।

द्वितीय—वेदोक्तधर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशकमण्डली नियत करके देश-

❀ हम परोपकारिणी सभा के सर्व प्रथम सब अधिकारियों और सदस्यों के विस्तृत जीवन विवरण प्रकाशित करना चाहते हैं। विज्ञ सज्जन जिस-जिस के विषय में जानकारी रखते हों, लिखकर भेजने की कृपा करें। —सम्पादक

देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में ।।

तृतीय—आर्यावर्त्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण पोषण और सुशिक्षा में व्यय करे और करावे ।।

२—जैसे मेरी विद्यमानता में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे मेरे पश्चात् भी तीसरे या छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब किताब समझने और पड़तालने के लिये भेजा करे और वह सभासद् जाकर समस्त आय व्यय और संचय आदि की जांच पड़ताल करे और उनके तले अपने हस्ताक्षर लिखदे और उस विषय का एक-एक पत्र प्रति सभासद् के पास भेजे और उसके सम्बन्ध में कुछ हानि लाभ देखे उसकी सूचना अपने भी परामर्श सहित प्रत्येक सभासद् के पास लिख भेजे पश्चात् प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी अपनी सम्मति सभापति के पास लिखकर भेजदे और सभापति सब की सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे और कोई सभासद् इस विषय में आलस्य अथवा अन्यथा व्यवहार न करे ।।

३—इस सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि जैसा यह परमधर्म और परमार्थ का कार्य है उसको वैसे ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे ।।

४—मेरे पीछे उक्त त्रयोविंशति आर्यजनों की सभा सर्वथा मेरे स्थानापन्न समझी जाय अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार सभा को है और रहे। यदि उक्त सभासदों में से कोई इन नियमों से विरुद्ध स्वार्थ के वश होकर वा कोई अन्य जन अपना अधिकार जतावे तो वह सर्वथा मिथ्या समझा जाय।

५—जैसे इस सभा को अपने सामर्थ्य के अनुसार वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार करने कराने का भी अधिकार है अर्थात् जब मेरा देह छूटे तो न उसको गाड़ने, न जल में बहाने, न जंगल में फेंकने दे, केवल चन्दन की चिता बनावे और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन चार मन घी, पांच सेर कपूर ढाई सेर अगर तगर और दश मन काष्ठ लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कारविधि में लिखा है वेदी बनाकर तदुक्त वेदमन्त्रों से होम करके भस्म करे। इससे भिन्न कुछ भी वेदविरुद्ध क्रिया न करे और जो सभाजन उपस्थित न हों तो जो कोई समय पर उपस्थित हो वही पूर्वोक्त क्रिया कर दे और जितना धन उसमें लगे उतना सभा से ले ले और सभा उसको दे दे ।।

६—अपनी विद्यमानता में और मेरे पश्चात् यह सभा चाहे जिस सभासद को पृथक् करके उसका प्रतिनिधि किसी अन्य योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को नियत कर सकती है परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाय जब तक उसके कार्य में अन्यथा व्यवहार न पाया जाय ।।

७—मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्यवस्था वा उस के नियम और

प्रतिज्ञाओं के पालन वा किसी सभासद् के पृथक् और उसके स्थान में अन्य सभासद् के नियत करने वा मेरे विपत् और आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में उद्योग करे जो समस्त सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया या पावे और जो सम्मति में परस्पर विरोध हो तो बहुपक्षानुसार प्रबन्ध करे और सभापति की सम्मति को सदैव द्विगुण जाने ।

८—किसी समय भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को अपराध की परीक्षा कर पृथक् न कर सके जब तक पहिले तीन के प्रतिनिधि नियत न करले ।।

९—यदि सभा में से कोई पुरुष मरजाय या पूर्वोक्त नियमों और वेदोक्त धर्मों को त्याग कर विरुद्ध चलने लगे तो इस सभा के सभापति को उचित है कि सभासदों की सम्मति से पृथक् करके उसके स्थान में किसी अन्य योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्य पुरुष को नियत करदे परन्तु जब तक नित्यकार्य के अनन्तर नवीनकार्य का आरम्भ न हो ।

१०—इस सभा को सर्वथा प्रबन्ध करने और नवीनयुक्ति निकालने का अधिकार है परन्तु जो सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा पूरा निश्चय और विश्वास न हो पत्र द्वारा समय नियत करके सम्पूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे ।।

११—प्रबन्ध न्यूनाधिक करना वा स्वीकार वा अस्वीकार करना वा किसी सभासद् को पृथक् वा नियत करना वा आय-व्यय और संचय की जाच पड़ताल करना आदि लाभ हानि सभासदों को वार्षिक वा षाण्मासिक पत्रद्वारा सभापति छपवाकर विदित करे ।।

१२—इस स्वीकारपत्र सम्बन्धी कोई झगड़ा टंटा सामयिक राज्याधिकारियों की कचहरी में निवेदन न किया जाय । यह सभा अपने आप न्यायव्यवस्था करले परन्तु जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो तो राज्यगृह में निवेदन करके अपना कार्य सिद्ध करले ।।

१३—यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य्य जन को पारितोषिक अर्थात् पेनशन देना चाहूं और उसकी लिखत पढ़त कराके रजिस्टरी करादूं तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे ।।

१४—किसी विशेष लाभ उन्नति परोपकार और सर्वहितकारी कार्य के वश मुझे और मेरे पीछे सभा को पूर्वोक्त नियमों के न्यूनाधिक करने का सर्वथा सदैव अधिकार है ।।

हस्ताक्षर—**दयानन्द सरस्वती**

मुद्रक—रवीन्द्र आफसेट प्रेस, A/२६ नरायणा, दिल्ली—११००२८

ओ३म्

उपदेश मञ्जरी

[स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूना में दिये गये
पन्द्रह व्याख्यानों का संग्रह]

सम्पादक
आचार्य राजवीर शास्त्री एम० ए०
(सं० दयानन्द-सन्देश)

प्रकाशक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७
शाखा—४५५ खारीबावली, दिल्ली-११०००७

दूरभाष—२२१३२७, २२९५४७, २३८३६० २३३१३२

सृष्टि-संवत् १९६०८५३०८१
संवत् २०३७, जनवरी १९८१
दयानन्दाब्द १५६

पूर्व प्रकाशित ११००
तृतीय संस्करण ३३००
योग ४४००

मू० ३)५०

विषय-सूची

उपदेश-मञ्जरी का प्राक्कथन

उपदेश का महत्त्व—

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजु०) इस पावमानी भगवती के शाश्वत उपदेश के अनुसार ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। यह ज्ञान-प्राप्ति मानवेतर योनियों में कदापि सम्भव नहीं है। मानव-योनि में भी यदि योग्य ज्ञानी धर्मात्मा गुरु न मिला तो ज्ञान-प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति के दो प्रकार के साधन होते हैं— १. दृश्य और २- श्रव्य। इन दोनों में भद्र ही देखने और भद्र ही सुनने की प्रार्थना वेद-मन्त्र में की गई है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

अर्थात् हम शिक्षा में परम साधनभूत कर्णेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय से सदा कल्याणकारक सत्य वचनों को ही सुनें और शिक्षाप्रद कल्याणकारक दृश्यों को ही देखें। योग्य गुरु के प्राप्त होने पर ही मानव दूसरा जन्म होने पर द्विज कहलाता है, अन्यथा एक जातिज होने से शूद्र ही रहता है। शास्त्रों में जन्म देने वाले पिता से ब्रह्मद=ज्ञानदाता गुरु को ही बड़ा बताया है। यद्यपि सब जीवों का आदिगुरु तथा मूलशिक्षक परमेश्वर है। उसी के उपदिष्ट ज्ञान को मनुष्य गुरु-शिष्य परम्परा से पढ़ता-पढ़ाता रहता है। पुनरपि गुरु या उपदेशक का स्थान कम नहीं है। सांख्यदर्शन में बहुत ही स्पष्ट कहा गया है—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ सां० ३ । ७९ ॥

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥ सा० ३ । ८१ ॥

अर्थात् योग्य शिष्य तथा योग्य यथार्थोपदेष्टा गुरु के होने पर ही ज्ञान-प्राप्ति होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। अन्यथा अन्ध-परम्परा होने से अन्यथा ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान होने से मुक्ति कभी भी नहीं मिल सकती। महाभारत के युद्ध के पश्चात् आप्तपुरुष, ऋषि, मुनियों के न रहने से हमारे देश में अर्धपठित, अल्पपठित तथा अभिमानी ब्राह्मणों ने स्वार्थवश अन्धपरम्पराएं प्रारम्भ कीं। जिनका परिणाम बिगड़ते-बिगड़ते यह हुआ कि आज मानव अत्यन्त अधमावस्था को प्राप्त होकर मानव-जीवन को निरर्थक करने में लगा है। और पागलों की भांति पुण्यमात्मा को भी

सर्वथा परित्याज्य समझकर ज्ञान से विमुख ही नहीं हुआ है, प्रत्युत ज्ञान का डटकर प्रतिद्वन्द्वी बनकर मुकाबला करने में लगा है। ऐसे व्यक्तियों को समझाना कोई साधारण कार्य नहीं है।

महर्षि दयानन्द से इस शोचनीय दशा के विषय में किसी ने पूछा—

(क) "इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं। **वेद और छः दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को, जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए।**.........मेरे जैसे एक निर्बल मनुष्य के करने से यह काम कैसे हो सकेगा।" (उपदेश० त्रयोदश०)

(ख) महर्षि ने सच्चे उपदेशकों की आवश्यकता बताते हुए स्वयं कहा था—

"आर्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिएँ।" (उपदेश० १५ उपदेश)

इसलिए धार्मिक, यथार्थोपदेष्टा, आप्तपुरुषों के उपदेश का विशेष महत्त्व होता है जिनसे मनुष्यों का अज्ञान दूर होकर ज्ञान-गंगा में स्नान करने से कायाकल्प ही हो जाता है।

महर्षि दयानन्द के उपदेश का महत्त्व—

वेदविद्या के पारङ्गत, परम योगी तथा मानव-मात्र के परम हितैषी दयानन्द की वाणी कैसी ओजस्विनी तथा गम्भीर थी, यह तो स्वयं श्रोता ही जान सके थे। किन्तु महर्षि-जीवन की घटनाओं तथा तत्कालीन विद्वानों के लेखों से उनकी ज्ञान-गरिमा तथा वाग्मिता का स्पष्ट बोध होता है। महर्षि की पवित्र वाणी का ही यह प्रभाव था जो महा नास्तिक मुंशीराम आस्तिक ही नहीं बने, किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द बनकर महर्षि का जीवन भर यशोगान करते रहे। भौतिक विज्ञान के चमत्कार से चमत्कृत पं० गुरुदत्त को भी महर्षि के उत्तरों से निरुत्तर होना पड़ा और महर्षि की अन्तिम लीला को देखकर तो सब भ्रान्तियों का ही समूल उन्मूलन हो गया। तहसीलदार अमीचन्द, जो सभी दुष्कर्मों से ग्रस्त था, महर्षि के एक वाक्य से ही उसका जीवन बदल गया। महर्षि की वाणी को सुन-सुन कर ईसाई मत के पादरी और मुस्लिम मौलवी बड़े-बड़े दान्तों तले अंगुली दबाया करते थे। महर्षि की वाणी में सत्यता, मधुरता, हितभावना तथा ओजस्विता का अपूर्व मिश्रण था। जिस को सुनकर न केवल सज्जन पुरुष ही नतमस्तक हो जाते थे, दुर्जन भी उनके आगे थर-थर कांपने लगते थे, उनके सभी हौसले परास्त हो जाते थे। अनेक बार महर्षि के प्राणों के घातक महर्षि की हुंकार से ही पलायन कर गए। दुश्चरित्र

महिलाओं की कलुषित आत्माओं में महर्षि के वचनों से ही पवित्रता के बीज अंकुरित हो गए। ऐसे महर्षि के उपदेशों का आज भी क्यों प्रभाव नही होगा ? उनकी वाणी से निकले वचन तथा लेख सदा ही मानव की गहन गुफाओं में व्याप्त भ्रान्ति, अन्धकार को छिन्न-भिन्न करते रहेंगे और ज्ञान-ज्योति को जगमगाते रहेंगे।

महर्षि के उपदेशों तथा उनकी वाणी की महत्ता ऐसे पुरुषों द्वारा सुनिए जिन्होंने उनके दर्शन करके उपदेशों का पीयूष साक्षात् कानों से पिया था—

(१) "स्वामी दयानन्द जी उत्तम रसमय वाणी के वक्ता थे। उनकी वाणी गम्भीर थी, उसी प्रकार उनकी भाषण-पद्धति अत्यन्त मार्मिक व कभी कभी आलंकारिक हो जाती थी। इसी कारण उनके भाषण सुनने हेतु एकत्रित श्रोतागण तल्लीन हो जाते थे।" (महादेव गोविन्द रानाडे की पत्नी श्रीमती रमाबाई की आत्मकथा से)

(२) "कई भाइयों ने मुझसे पूछा कि जब सत्यार्थप्रकाश जैसी पूर्ण सिद्धान्तों से ओतप्रोत पुस्तक मौजूद है तो महर्षि के व्याख्यानों को प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता है ? मेरा उत्तर यह है कि इन व्याख्यानों में कई नवीनतम विषय ऐसे हैं, जो कि सत्यार्थप्रकाश के कई रहस्यपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालते हैं और आर्यसमाज के कई सिद्धान्तों को अधिक सरल बना देते हैं।.........**मेरे विचार में ये व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश की भूमिका का काम देंगे और आर्य नर-नारियों को संजीवनी बूटी का काम देंगे।** मुझे दुःख है कि महर्षि के सभी व्याख्यानों को लिपिबद्ध नहीं किया जा सका। यदि प्रत्येक व्याख्यान का इन पन्द्रह व्याख्यानों की तरह खुलासा हमारे लिए सुरक्षित रहता तो कई शङ्काएं, जो प्रायः आर्य भाइयों को सिद्धान्तों के समझने में पैदा होती हैं, वे न होती॥"

(स्वामी श्रद्धानन्द)

महर्षि के उपदेश तथा वर्तमान के उपदेशों की शैली में अन्तर—

महर्षि दयानन्द के इन उपदेशों से स्पष्ट है कि महर्षि विषय का निर्धारण करके उसी का प्रतिपादन किया करते थे। और दूसरे दिन भी उसी विषय से सम्बद्ध शङ्काओं का समाधान किया करते थे। परन्तु आजकल उपदेशों की शैली महर्षि से भिन्न हो गई है। वेदोपदेश नाम से कोई भी मन्त्र पढ़ा और उपदेश प्रारम्भ कर देते हैं। उसका मन्त्र से कोई सम्बन्ध है या नहीं इसका ध्यान नहीं रखा जाता। केवल मात्र श्रोताओं के मनोरञ्जन करना अथवा उनका ध्यान आकृष्ट करना मात्र ही उपदेष्टा का प्रयोजन होता है। अथवा उपदेश में यह भी देखा जाता है कि वक्ता ने मन्त्र के किसी अथवा किन्हीं पदों को लेकर ही समस्त उपदेश कर दिया, चाहे वह अर्थ मन्त्र के दूसरे पदों तथा देवता से संगत हो या नहीं। मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय देवता की तो प्रायः उपेक्षा ही कर दी जाती है।

वेदोपदेशको तथा आर्यपुरोहितों को योग्य है कि वे महर्षि की शैली को ही उपदेश के लिए अपनाएँ। यह तो ठीक है कि महर्षि की शैली को अपनाने में भूरिश्रम की आवश्यकता होगी। एक विषय के उपदेश के लिए शास्त्रों का अध्ययन तथा गम्भीर चिन्तन भी करना होगा। किन्तु वेदों का गौरव तथा मानव-हित महर्षि की शैली मे ही निहित है। अन्यथा वेद का तो नाम मात्र ही रह जायेगा, उसके स्थान पर पौराणिक शैली ही आजायेगी। आर्यों को इसके लिए सतर्क एवं सजग रहना चाहिए।

उपदेश-मञ्जरी का परिचय—महर्षि-दयानन्द महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे एवं श्री महादव मोरेश्वर कुण्टे आदि सज्जन पुरुषो के आग्रह पर पूना म आषाढकृष्णा १४ मगलवार तदनुसार २० जून १८७५ ई० को पधारे थे और उनको विट्ठलपेठ मे शकर सेठ के भवन मे ठहराया गया था। महर्षि की जीवनी के विख्यात लेखक स्व० प० देवन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार महर्षि के व्याख्यानो की व्यवस्था बुधवार पेठ के भिडे के बाडे मे तथा कैम्प में ईस्ट स्ट्रीट मे की गई थी। महर्षि ने कुल ५० व्याख्यान दिए थ। इनमे १५ पूना मे शेष कैम्प मे। मुखोपाध्याय के अनुसार इन सभी व्याख्यानो को लिपिबद्ध करके स्वय रानाडे ने मराठी मे छपवाया था। कालान्तर मे १५ व्याख्यानो का हिन्दी मे अनुवाद कराकर 'उपदेश मञ्जरी' के नाम से प्रकाशन हुआ। गोविन्द रानाडे की पत्नी रमाबाई ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है — स्वामी जी जब पूना आए, तब से उनके प्रवचन प्रतिदिन भिडे साहब के दीवानखाने मे होते थे। सन्ध्याकाल के दो ढाई घण्टे इन प्रवचनो को सुनने न वहा की व्यवस्था करने मे व्यतीत होते थे।"

श्री प० शकरदव विद्यालकार के अनुसार सन् १९१५ मे गुजराती भाषा मे 'दयानन्द स्वामी नु स्वरचित जीवन वृत्तान्त' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। यह मराठी म छपी एक पुस्तक का ही रूपान्तर थी। इस पुस्तक के 'आमुख' के लेखक श्री मुखोपाध्याय के अनुसार पूना के व्याख्यानो का विवरण उसी समय अर्थात् १८७५ मे ही श्रीगणेश जनार्दन आगाशे बी० ए० ने मराठी मे लिपिबद्ध कर लिया था, जो उस समय पूना के हाईस्कूल मे सहायक मुख्याध्यापक थे। और उसे प्रकाशित कर स्वामी जी के भक्तो एव मित्रो मे वितीर्ण किया गया था।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि के इन उपदेशों के मराठी अनुवादक श्री आगाशे तथा सम्पादक श्री महादेव गोविन्द रानाडे थे। पूना मे दिए इन उपदेशों का गुजराती भाषामे अनुवाद करके भी प्रकाशन हुआ था। इस विषय मे लाला लाजपतराय लिखते हैं—"स्वामी जी ने यहां १५ व्याख्यान दिए, ज्यो उसी समय गुजराती भाषा म प्रकाशित हो गए और जिनको लाला मुन्शीराम जी ने 'उपदेश-मञ्जरी' के नाम से प्रकाशित किया है।" महर्षि के इन व्याख्यानो का मराठी-भाषा मे दूसरा सस्करण भी प्रकाशित हुआ। पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल तथा प्रसिद्ध देशभक्त स्व० नरहरिविष्णु

गाडगील ने मराठी भाषा में प्रकाशित पूना के व्याख्यानों की एक प्रति परोपकारिणी सभा को प्राप्त कराई, जिसमें प्रस्तावना के लेखक श्री गाडगील ही हैं। इस प्रकाशन में ४, ६, ८, १०, ११, १३, १७, २४ और २५ जुलाई को दिए गए ८ व्याख्यानों का संग्रह है।

'उपदेश-मञ्जरी' के इन १५ व्याख्यानों का हिन्दी में सर्वप्रथम आर्य पुस्तक प्रचारिणी सभा अजमेर ने प्रकाशन किया था। इस के हिन्दी में अनुवादक थे—श्री प० गणेश रामचन्द्र शर्मा। ये विद्वान् जोधपुर राज्य की ओर से आर्यसमाज के वैतनिक उपदेशक का कार्य करते थे इस 'उपदेशमञ्जरी' का तृतीय बार जो प्रकाशन हुआ, जिसकी एक प्रति हमारे ट्रस्ट के पुस्तकालय में है, उस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर यह लिखा है—"महाशय श्याम लाल वर्मा आर्यबुकसेलर बांसबरेली ने श्रीमान् पण्डित बदरीदत्त शर्मा कानपुर द्वारा सरल और मनोहर भाषा में अनुवाद करा के प्रकाशित किया।" यह संस्करण सन् १६१५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसी संस्करण से इस प्रस्तुत संस्करण का मिलान किया गया है।

यद्यपि इसके बाद १६३७ ई० में 'पूना-प्रवचन' के नाम से आगरा निवासी श्री पं० श्रीराम शर्मा ने सम्पादन किया और अर्वाचीन समय में उपदेशमञ्जरी तथा पूना-प्रवचन के नाम से अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। परन्तु हमने इस पुस्तक का प्राचीन तथा उपयोगी 'उपदेश-मञ्जरी' नाम को ही उचित समझा है। भिन्न-भिन्न नाम से भी पाठकों को भ्रान्ति हो जाती है। नाम विपर्यय करना एक व्यावहारिक भूल ही करना होता है। महर्षि के इन उपदेशों से जहाँ महर्षि की वाग्मिता, विषय-प्रतिपादन शैली तथा विद्वत्ता का बोध होना है, वहाँ उनकी व्याख्यान शैली का भी बोध होता है। महर्षि पूर्व दिन जिस विषय पर प्रथम उपदेश देते थे, दूसरे दिन उसी विषय पर शंका-समाधान किया करते थे। जिससे उपदेश हृदयंगम तो होता ही था, साथ ही श्रोताओं की जिज्ञासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती थी।

इस संस्करण की विशेषता—

'उपदेश मञ्जरी' के इस संस्करण को १६१५ में प्रकाशित श्री पं० बदरीदत्त शर्मा द्वारा अनूदित संस्करण से मिलाया गया है। श्री पं० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित 'पूना-प्रवचन' प्रति की भी सहायता ली गई है। दोनों संस्करणों से मिलाकर यह यत्न किया गया है कि कोई प्राचीन तथा संगत पाठ छूट न जाए। और जहाँ कुछ भारतीय जी के संस्करण में भाषा का परिमार्जन मात्र किया गया है, उस पाठ को भी वैसा ही रख लिया गया है। भारतीय जी ने जो नीचे प्रमाणों के पते दे रखे हैं, अथवा स्पष्ट करने के लिए टिप्पणियाँ दी हुई हैं, उन्हें भी यथासम्भव रख लिया गया है। और पं० बदरीदत्त जी के प्रकाशन की टिप्पणियाँ भी उचित समझकर यथास्थान दे दी गई हैं। दोनों प्रकाशनों में प्रेस की त्रुटि से अशुद्ध पाठों को तथा पूर्वसंस्करण के परित्यक्त पाठों को भी यथास्थान दिया गया है। और परोपकारिणी-सभा को जिन

पाठ उपदेशों की मराठी-भाषा की प्रति प्राप्त हुई थी, उन-उन उपदेशों का पाठ उस प्रति से मिलाया गया है। इस संस्करण में उस के अनुसार ही पाठ रखा है। उपलब्ध संस्करणों में जो पाठ छूट गए थे, उनका भी यथास्थान समावेश कर दिया है। श्री पं० गजानन हलवे (नई बस्ती, नया बाजार, दिल्ली) ने मराठी भाषा की प्रति से बहुत परिश्रम से मिलान किया है। वे एतदर्थ धन्यवादार्ह हैं। साथ ही प्रत्येक उपदेश की एक विस्तृत-सूची भी तैयार करके प्रकाशित की गई है, जिससे प्रत्येक पाठ का अल्प समय में ही अनुशीलन किया जा सकता है। और महर्षि द्वारा एक विषय के साथ जो दूसरे प्रसंगगत विषयों का भी व्याख्यान किया है, उनका भी इस सूची से सरलता से बोध हो जायेगा।

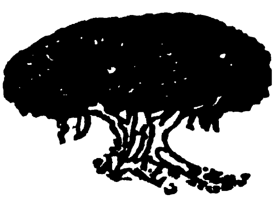
आभार प्रदर्शन—

'उपदेश-मञ्जरी' के समस्त प्राचीन सम्पादकों तथा प्रकाशकों का, जिनसे ये महर्षि के उपदेश सुरक्षित रूप में प्राप्त हो सके हैं, हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उन पूर्वजों ने जिन पवित्र भावनाओं से इन उपदेशों का संग्रह किया और जिन उदात्त भावनाओं से हिन्दी में अनूदित करके प्रकाशन किया, उनका गुण-गान तो कैसे किया जा सकता है ? उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं। और 'उपदेश-मञ्जरी' के अतीत इतिहास विषय के समस्त परिचय में श्री भारतीय जी के प्रकाशन से पूरी सहयता ली गई है, एतदर्थ उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही ट्रस्ट के अधिकारियों की लोक-हित भावना को तो कैसे भुलाया जा सकता है, जिन्होंने मानव-मात्र के प्रति हित-बुद्धि रखकर महर्षि के अमूल्य उपदेशों का घर-घर पहुँचाने का दृढ़ संकल्प ले रक्खा है। वे महर्षि के उपदेशो को भी लिपिबद्ध पुस्तकों की भाति उपादेय समझकर 'उपदेश-मञ्जरी' का प्रकाशन कर रहे है। वे भी हृदय से अभिनन्दनीय हैं।

तिथि—फाल्गुन-कृष्णा चतुर्दशी
सं० २०३५ वि०
२५ फरवरी, १९७९ ई०

विनीत—
राजवीर शास्त्री
(सं० दयानन्द-सन्देश)

विस्तृत-विषय-सूची



ओ३म्

उपदेश-मञ्जरी

प्रथम-उपदेश

(ईश्वर-सिद्धि-विषयक)

[स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पूना के बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में तारीख ४ जौलाई सन् १८७५* के दिन रात्रि समय में जो व्याख्यान दिया था, उसका सारांश निम्नलिखित है—]

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥[1]

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । [ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद् वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥][2]

[इत्यादि[3] पाठ स्वामीजी ने प्रथम कहा—]

'ओ३म्' यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है, क्योंकि इसमें उसके सब गुणों का समावेश होता है।

प्रथम हमें ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए, उसके पश्चात् धर्म-प्रबन्ध का वर्णन करना योग्य है, क्योंकि "सति कुड्ये चित्रम्" इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं होती तब तक धर्म-व्याख्यान करने का अवकाश नहीं है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥[4]

---

* अषाढ़ शुक्ला १, रविवार वि० सं० १९३२।

१. ऋग्वेद १। ९०। ९॥ २. तै० उप० शिक्षावल्ली १। १॥

३. आदि पद से सूचित शेष मन्त्र पाठ कोष्ठक में दे दिया गया है।

४. यजुः० ४०। ८॥

न तस्य कार्यं करणं च [विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।]
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च[1] ॥

[ये वाक्य कहकर स्वामीजी ने इनकी व्याख्या की ।]

मूर्त्त देवताओं में ये गुण नहीं लगते । इसलिए मूर्त्ति-पूजा निषिद्ध है । इस पर कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि रावणादिकों के सदृश दुष्टों का पराभव करने के लिए, भक्तों को मुक्ति देने के अर्थ [ईश्वर को] अवतार लेना चाहिए; परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; इससे अवतार की आवश्यकता दूर होती है, क्योंकि इच्छा मात्र से वह रावण [जैसों] का नाश तो कर सकता था । इसी प्रकार भक्तो को उपासना करने के लिए ईश्वर का कुछ आकार होना चाहिए, ऐसा भी बहुत से लोग कहते हैं; परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि शरीर-स्थित जो जीव है, वह भी आकार-रहित है, यह सब कोई मानते हैं अर्थात् वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं, और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्यबुद्धि [अदृष्ट] मनुष्य के विषय में रखते हैं । उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में नही हो सकता, यह कहना ठीक नहीं है । इसके सिवाय मन का आकार नही है, मन द्वारा परमेश्वर ग्राह्य है, उसे जडेन्द्रिय-ग्राह्यता लगाना यह अप्रयोजक है ।

श्रीकृष्णजी एक भद्र पुरुष थे । उनका महाभारत में उत्तम वर्णन किया हुआ है, परन्तु भागवत में उन्हें सब प्रकार के दोष लगाकर उनके दुर्गुणों का ढिढोरा पीटा है ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है । इस शक्तिमान् का अर्थ क्या है ? "**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**" ऐसी शक्ति से तात्पर्य नहीं है; किन्तु सर्वशक्तिमान् का अर्थ न्याय न छोड़ते हुए काम करने की शक्ति रखना, यही सर्वशक्तिमान् से तात्पर्य है । कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने अपना बेटा पाप-मोचनार्थ जगत् मे भेजा, कोई कहते हैं कि पैगम्बर को उपदेशार्थ भेजा, सो यह सब कुछ करने की परमेश्वर को कुछ भी आवश्यकता न थी; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ।

बल, ज्ञान और क्रिया ये सब शक्ति के प्रकार हैं । बल, ज्ञान और क्रिया अनन्त होकर स्वाभाविक भी है । ईश्वर का आदि कारण नहीं है । आदि कारण मानने पर अनवस्था प्रसंग आता है । निरीश्वरवाद की उत्पत्ति सांख्यशास्त्र से हुई प्रतीत होती है, परन्तु सांख्य-शास्त्रकार कपिल मुनि निरीश्वरवादी न थे । उनके सूत्रों का आधार लेकर कपिल निरीश्वरवादी थे ऐसा कोई कहते हैं; परन्तु उन के सूत्रों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं किया जाता । वे सूत्र निम्नलिखित हैं—

ईश्वरासिद्धेः । मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।
उभयथाप्यसत्करत्वम् । मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ।[2] इत्यादि,

---

[1]. श्वेता० उप० ६ । ८ ॥ [2]. सांख्य १।९२, ९३, ९४, ९५, ॥

परन्तु सूत्रसाहचर्य से विचार करने पर ईश्वर एक ही है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ऐसा भगवान् कपिल मानते थे, क्योंकि 'पुरुष है' ऐसा उनका सिद्धान्त था। वही पुरुष **सहस्र-शीर्षादि** सूक्तों[1] में वर्णन किया हुआ है। उसी के सम्बन्ध से **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्**[2] इत्यादि कहा हुआ है।

प्रमाण बहुत प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इत्यादि। भिन्न-भिन्न शास्त्रकार प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं।

मीमांसा-शास्त्रकार जैमिनिजी दो प्रमाण मानते हैं। गौतम न्याय-शास्त्रकार आठ, कोई-कोई अन्य न्याय-शास्त्रकार चार, पतञ्जलि योग-शास्त्रकार तीन प्रमाण, साङ्ख्य-शास्त्रकार तीन, वेदान्त ने तो छः प्रमाण स्वीकार किए हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न संख्या मानना, यह उस-उस शास्त्रकार के विषयानुरूप है। सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव करके तीन प्रमाण अवशिष्ट रहते है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इस तीन प्रमाणों को लापिका[3] कर ईश्वरसिद्धि-विषयक प्रयत्न करते समय प्रत्यक्ष की लापिका करने के पूर्व अनुमान की लापिका करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत ही सकुचित और क्षुद्र है। एक व्यक्ति के इन्द्रिय द्वारा कितना ज्ञान हो सकता है? अर्थात् बहुत ही थोड़ा हो सकता है। इससे प्रत्यक्ष को एक ओर रख-कर शास्त्रीय विषयों में अनुमान प्रमाण ही विशेष गिना गया है। व्यवहार के लिए अनुमान आवश्यक है। अनुमान के बिना भविष्य के व्यवहारों के विषय में हमारा जो दृढ निश्चय रहता है, वह निरर्थक होगा। कल सूर्य उदय होगा, यह प्रत्यक्ष नहीं तथापि इस विषय में किसी के मन में तिलमात्र की भी शङ्का नहीं होती। अब [इस] अनुमानके तीन प्रकार हैं—**शेषवत्, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टम्**। पूर्ववत् अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान, शेषवत् अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान, **सामान्यतो-दृष्टम्** अर्थात् संसार में जिस प्रकार की व्यवस्था दिखाई देती है उस पर से जो अनुमान होता है, वह।

इन तीनों अनुमानों की लापिका करने से ईश्वर=परम पुरुष=सनातनब्रह्म सब पदार्थों का बीज [है] ऐसा सिद्ध होता है। रचनारूपी कार्य दीखता है, इस पर से अनुमान होता है कि इस [सृष्टि] का रचने वाला अवश्य कोई है। पञ्चभूतों की सृष्टि आप ही आप रची हुई नहीं है, क्योंकि व्यवहार में घर का सामान विद्यमान होने ही से केवल घर नहीं बन जाता, यह हमारा, देखा हुआ अनुभव सर्वत्र है। साथ ही साथ [पञ्चभूतों का] मिश्रण नियमित प्रमाण से विशिष्ट कार्य उत्पन्न होने की ही सुगमता के लिए कभी भी आप स्वयं घटित नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की व्यवस्था जो हम देखते है, उसका उत्पादक और नियन्ता ऐसा कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिए।

१ सहस्रशीर्षा सूक्त० १०।६०, यजुः ३१॥ २. यजुः ३१।१८॥

३. 'लापिका' मराठी शब्द है, इसका अर्थ है—आलाप=विचार।

अब किसी को यह अपेक्षा लगे कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष ही प्रमाण होना चाहिए, तो उसका विचार यूं है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है। गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी गुण का ज्ञान चेतन और अचेतन सृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसी पर से ईश्वर-सम्बन्धी गुण का अधिकरण जो ईश्वर है, उसका ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिए।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[1]

हिरण्यगर्भ का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं है, किन्तु हिरण्य अर्थात् "ज्योति जिस के उदर में है, वह ज्योतिरूप परमात्मा" ऐसा अर्थ है। मूर्तिपूजा का पागलपन लोगों में फैला हुआ है। इसका क्या उपाय करना चाहिए? यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। मूर्ति का आडम्बर जैनियों से हिन्दू लोगों ने लिया है।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा[2] परमात्मा[3] ॥

वह अमृत है और वही सब के उपासना करने योग्य है। उससे जो भिन्न है वह सब झूठा है, वह अपना आधार (मान्य) नहीं है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

१. ऋ० १० । १२१ । १ ॥ २. छा० उ० ७ । २४ । १ ॥
३. 'परमात्मा' पद व्याख्यानरूप अथवा अध्याहृत है।

दूसरा उपदेश

[ईश्वर-सिद्धि पर शंका-समाधान]

[मंगलवार ६ जौलाई १८७५* के दिन, श्री १०८ दयानन्द सरस्वतीजी के ईश्वर विषयक व्याख्यान पर हुए वाद-विवाद का सारांश]

१ **प्रश्न**—कार्य और कारण भिन्न-भिन्न हैं या और किस प्रकार के ?

उत्तर—कहीं-कहीं अभिन्न हैं और कहीं-कहीं भिन्न भी हैं। उदाहरण—मृत्तिका से बना हुआ घट मृत्तिका ही रहता है, परन्तु मांस-शोणित से नख उत्पन्न होते हैं तथापि मांस और शोणित ये नख नहीं हैं। इसी प्रकार मकड़ी के पेट से जाला उत्पन्न होता है, परन्तु इससे मकड़ी जाला नहीं होती।

गोमयाज्जायते वृश्चिकः।

[**अर्थात्**—गोबर से बिच्छू उत्पन्न होता है।] तो भी गोबर और बिच्छू क्या कभी एक हो सकते है ? सर्वशक्तिमत्त्व चैतन्य में [और] चैतन्य पर सर्वशक्तित्व है अर्थात् सामर्थ्य के योग से चैतन्य निमित्त कारण होता है। इस स्थल पर जड़-पदार्थ जो विश्व का उपादान कारण है वह और निमित्त कारण चैतन्य एक नहीं है। अब—

एकमेवाद्वितीयम्[1]

ऐसी श्रुति है। उसका अर्थ करने में इस उपर्युक्त व्यवस्था से कुछ आपत्ति नहीं आती। कारण, [इसका अर्थ] अद्वितीय अर्थात् ईश्वर ही उपादान हुआ ऐसा नही है। कारण, भेद तीन प्रकार का होता है। कभी-कभी स्वजातीय भेद रहता है तो कभी-कभी विजातीय और कभी स्वगत भेद होता है। अब 'अद्वितीय है' अर्थात् 'सब जो कुछ है वह ईश्वर ही है' ऐसा अर्थ आधुनिक वेदान्त में लेते हैं। परन्तु यह उपयोगी (=ठीक) नहीं, किन्तु अद्वितीय का अर्थ दूसरा ईश्वर नहीं, अर्थात् एक ही ईश्वर है और वह मयुक्त नहीं है, यही अर्थ है। अब—

ईश्वरः सर्वसृष्टि प्राविशत्।

ऐसे अर्थ की श्रुति है[2], तो अब उसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिए ? अथवा—

*आषाढ, शुक्ला ४, वि० सं० १९३२। सोमवार को द्वितीया-तृतीया सम्मिलित थी।

१. छा० उ० ६।२।१॥

२. द्र०—० तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै० उ० २।६)।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।[1]

इस वाक्य का अर्थ कैसे करें ? आधुनिक वेदान्ती 'इदं विश्वं' ऐसा मानकर उस शब्द का अन्वय 'सर्वं' इसकी ओर करते हैं, परन्तु साहचर्य अर्थात् ग्रन्थ के पिछले अभिप्राय की ओर दृष्टि देने से 'इदं शब्द का अन्वय 'ब्रह्म' शब्द की ओर करना पड़ता है [जैसे] "**इदं सर्वं घृतम्**" अर्थात् यह बिल्कुल घी है, तेल मिश्रित नहीं, ऐसा सर्वं शब्द का अर्थ है। ऐसा अर्थ करने से ऊपर के हमारे कहे अनुसार श्रुति का अर्थ होने से [कोई] कठिनाई नहीं रहती।

"**नाना वस्तु ब्रह्मणि**" अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में "**य आत्मनि तिष्ठन् आ [त्मनोऽन्तरो यमा] त्मा न वेद**"[2] अथवा "**यस्य आत्मा शरीरम्**"[3] इस वाक्य के अर्थ के विषय में आपत्ति आयेगी, इसका विचार करना चाहिए। एक ही शरीर के स्थान में व्यापक और व्याप्य इन दोनों धर्मों की योजना नहीं करते बनती। गृह आकाश में स्थित है और आकाश यह व्यापक है गृह व्याप्य है। इसलिए आकाश और गृह ये एक ही हैं वा अभिन्न हैं, ऐसा अनुमान निकालते नहीं आता। इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये अभिन्न हैं ऐसा कहने का अवकाश नहीं रहता।

अहं ब्रह्मास्मि ।[4]

इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो यह अत्यन्त प्रीति का [द्योतक] उदाहरण है, यही लौकिक दृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है। जैसे 'मेरा मित्र मैं ही हूँ" ऐसा कहते हैं, परन्तु मैं और मेरा मित्र, इन दोनों की सर्वथैव अभिन्नता है ऐसा फलितार्थ नहीं होता।

समाधिस्थ होते समय '**तत्त्वमसि**[5]' ऐसा मुनि लोग कह गए, परन्तु साहचर्य की ओर ध्यान देने से मुनियों का यह भाषण '**जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है**' इस मत का पोषक नहीं होता, क्योंकि इसी वचन के पूर्व भाग मे इस सारे स्थूल और सूक्ष्म जगत् में कारण सम्बन्ध से परमात्मा का ऐतदात्म्य [कथित] है। परमात्मा का आत्मा दूसरा नहीं, '**स आत्मा**'[6] वही आत्मा है '**तदन्तर्यामि त्वमसि**' जो सब जगत् का आत्मा वह तेरा ही है। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा इनके बीच परस्पर सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय ये सम्बन्ध ठीक जमते है। ऐतरेयोपनिषद् मे—

प्रज्ञानं ब्रह्म[7]

१. छा० उ० ३।१४।१॥
२. शतपथ माध्यन्दिन पाठ १४।६।७।३०॥
३. श० मा० १४।६।७।३० ॥
४. बृ० उ० १।४।१० ॥
५. छा० उ० ६।८,९.१० खण्डों में।
६. छा० उ० ६।८, ९, १० ॥
७. ऐ० उ० ५।३॥

ऐसा वाक्य है। उसके महावाक्य-विवरण मे—

प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म[1]

ऐसा विस्तार किया हुआ है, फिर भी परमेश्वर ही सृष्टि बना, ऐसा अर्थ **"तत् सृष्टिं प्राविशत्"**[2] इस वाक्य पर मे करने पर कार्य कारण की अभिन्नता होती है। यदि ईश्वर ज्ञानी है तो अविद्या माया आदिको के आधीन होकर सृष्ट्युत्पत्ति का कारण हुआ, ऐसा कहने मे 'उसको भ्रान्ति हुई' ऐसा प्रतिपादन करना पडता है। [जहा] देश, काल, वस्तु [का] परिच्छेद है वहा भ्रान्ति है यही भ्रान्ति ब्रह्म को हुई यह मानने से ब्रह्म का ज्ञान अनित्य ठहरता है [अत·] यह विचारणीय वार्ता है।

इसी तरह 'जीव-भावना' भ्रान्ति का परिणाम है। भ्रान्ति दूर होने से जीव ब्रह्म होता है, ऐसी समझ ठीक नही, क्योकि भ्रान्ति परमात्मा मे सभव नही। आधुनिक वेदान्त के अनुसार मुक्ति को स्वीकार करने पर ब्रह्म को अनिर्मोक्ष प्रसग आता है। और ब्रह्म को यदि एक कहे तो जीव मे ब्रह्म के गुण नही है, जीव को अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य नही। यदि हम ब्रह्म बन जावे तो हम जगत् भी रच लेवे। इस से पुन एक बार ऐसा कहना आवश्यक हुआ कि विश्व जड, ब्रह्म चेतन है और इनका आधाराधेय, सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

"सुखमस्वाप्सम्" इस अनुभव की योजना करते बनती है क्योकि चैतन्य यह नित्य ज्ञानी है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे आनन्दमय कोश के अवयव वर्णन किए हुए है।

सारांश—जीव ब्रह्म नही, जगत् ब्रह्म नही। इस स्थल पर कार्य कारण भिन्न-भिन्न हैं। यही प्रकार सत्य है, परन्तु अखिल सजीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से निर्माण किए। वह सामर्थ्य उसी के पास सदा रहता है, इस तात्पर्य से भेद नही आता।

२ **प्रश्न**—तुम कहते हो कि अवतार नही हुए, तो ईश्वर को सगुण वा निर्गुण क्यो मानते हो?

उत्तर—प्राकृत जनो में सगुण अर्थात् अवतार और निर्गुण अर्थात् परब्रह्म ऐसा अर्थ करके इस सम्बन्ध से वाद चलता है, परन्तु यह अर्थ ठीक नही है। **"स पर्यगात्"**[3] श्रुति पर से अवतार का होना बिल्कुल ही नही सभव होता। **"कविः, मनीषी"**[3] **"एको देवः[4]-निर्गुणश्च"** ऐसे ऐसे श्रुति वाक्य हैं, इन से ईश्वर सगुण

---

१. द्र० मठाम्ना० उप० ४।

२. तुलना करो—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' तै० उ० २।६॥

३. यजु० ४०।८॥

४. पूरा पाठ इस प्रकार है—एको देव, सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व-भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष. सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ श्वेता० उ० ६।११॥

और निर्गुण दोनों है। ज्ञान, शक्ति, आनन्द इन गुणों के सहित होने से वह सगुण है, परन्तु जड़ के गुण उसमें नहीं हैं। इन गुणों के सम्बन्ध [अभाव] से वह निर्गुण है। प्रथम जो मैंने श्रुति कही उसके साहचर्य की ओर ध्यान देने से यह अर्थ निकलता है।

३ **प्रश्न**—प्रार्थना क्यों करनी चाहिए, ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी है तो उसे हमारे मन की बात विदित है और उसने हमें इस प्रकार कैसे उत्पन्न किया कि हम पाप करें, फिर इस प्रकार की पाप-विषयिणी प्रवृत्ति हम में रखकर भी हमारे पाप का दण्ड देता है, तो ईश्वर न्यायी कैसा ?

उत्तर—हमारे माता-पिता ईश्वर के बनाए हुए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी वे हम पर बड़े उपकार करते हैं। इन उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। फिर जब ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकारों को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिए। द्वितीय—कृतज्ञता दिखलाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शान्त होता है। तृतीय—परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है। चतुर्थ-प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है और आगे को पाप-वासना का बल घटता जाता है। पञ्चम मन्यता और प्रेम हम में दृढ़ होते जाते हैं। षष्ठ–स्तुति अर्थात् यथार्थ वर्णन, ईश्वरस्तुति करने से अपनी प्रीति बढ़ती है क्योंकि ज्यों-ज्यों उसके गुण समझ में आते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रीति अधिक दृढ होती जाती है।

फिर यह भी है कि उपासना के द्वारा आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है। इस उपाय को छोड़ पापनाशन करने के लिए अन्य उपाय नहीं है। काशी जाने से हमारे पाप दूर होंगे यह समझ, अथवा तोबा करने से पाप छूटना, किंवा हमारे पाप का भार अमुक भद्र पुरुष लेकर सूली चढ़ गया इत्यादि अन्य लोगों की सारी समझ अप्रशस्त है अर्थात् भूल पर है। उपासना के द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, विवेकी होने से क्षणिक (नाशवान्) वस्तुओं से शोक और आनन्द ये दोनों नहीं होते अब ईश्वर ने जीव स्वतन्त्र किया, इस लिए उससे पाप भी होता है, यदि उसे परतन्त्र किया जाता तो वह केवल जड़ पदार्थवत् बना रहता। जीव के स्वातन्त्र्य से ब्रह्म की सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। बच्चे को खुला छोड़ा जाय तो वह चोट लगा लेवेगा, यह सोच माता बालक को बांधे नहीं रखती। तो भी बालक दंगा, धूम, फसाद अवश्य करेगा, यह ज्ञान माता को रहता ही है। इस लौकिक उदाहरण पर से ब्रह्म की सर्वज्ञता से जीव के स्वातन्त्र्य में कुछ भी आपत्ति नहीं आती। ज्ञान के विषय में स्वतन्त्रता उसकी है, उसी तरह आचरण के विषय में उससे दिए हुए सामर्थ्य की मर्यादा में स्वतन्त्रता मनुष्य की है। यदि ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो जो सुखोपभोग आज हो रहा है वह न होता और जीव-सृष्टि की उत्पत्ति व्यर्थ हुई होती।

तीसरा उपदेश

[धर्माधर्म-विषयक]

[गुरुवार ता० ८ जुलाई १८७५* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ मे भिडे के बाडे मे ता० ८ माह जुलाई के दिन रात्रि मे आठ बजे व्याख्यान दिया, उसका सराश।]

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः[1] ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

[यह स्वामीजी ने प्रथम ऋचा पढी, फिर धर्माधर्म इस विषय पर व्याख्यान प्रारम्भ किया—]

परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म निषेध यह अधर्म न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म।

[**व्रतेन दीक्षामाप्नोति**[2] इस प्रतीक का शुक्ल यजु सहिता मे का मन्त्र कहा और उसका अर्थ किया।]

अब सत्यमूलक यदि धर्म है तो सत्य क्या है ? **प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्**[3] इस न्याय से जो अर्थ सत्य ठहरे वही सत्य है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास।

अहिंसा परमो धर्मः।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्[4] ॥

धर्म और अधर्म ये अनेक हैं, परन्तु उनमे मे विशेष रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म है। उनका स्वामीजी ने विशेष विवरण किया।

---

*आषाढ शुक्ला ६ वि० स० १९३२।

१ 'ऋक् सहिता म० १। अनु० १४। सूक्त ८९। म० ८ ॥

२ यजु०, १९।३० ॥ ३ न्यायभाष्य १।१।१ ॥

४ मनु० ६।९२ ॥

इस प्रकार ग्यारह धर्म सनातन उपदिष्ट हैं—

***प्रथमअहिंसा** का लक्षण—*

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥[1]

अहिंसा—इसका केवल 'पश्वादि न मारना' ऐसा संकुचित अर्थ करते हैं परन्तु व्यास जी ने ऐसा अर्थ किया है कि—

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः अहिंसा ज्ञेया ॥[2]

अर्थात् वैर-त्याग करना।

(२) **धृति**—अर्थात् धैर्य। राज्य जाये तो भी धर्म का धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए, धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता।

(३) **क्षमा**—अर्थात् सहनता, बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिये किया तो उसे छोटे ने सहन कर लिया यह क्षमा नहीं है। इसे असामर्थ्य कहते हैं, किन्तु शरीर में सामर्थ्य होकर बुरे का प्रतिकार न करना यही क्षमा है।

(४) **दमनाम मनसो वृत्तिनिग्रहः**—मन की वृत्तियों का निग्रह करना इसी का नाम दम है, वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है।

(५) **अस्तेय**—अन्याय से धनादि ग्रहण करना, [या] आज्ञा विना परपदार्थ उठा लेना स्तेय है और स्तेय-त्याग अस्तेय कहलाता है।

(६) **शौच**—दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधि का आचरण करना, यह शारीरिक शौच है। किसी भी दुष्ट वृत्ति को मन में आश्रय न देना, यह मानसिक शौच है। शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भी रहती है।

(७) **इन्द्रियनिग्रह**—अर्थात् सारी इन्द्रियों को न्यायपूर्वक वश में रखना। इन्द्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए। इन्द्रियों का आकर्षण परस्पर संबन्ध से होता है। मनु ने कहा है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥[3]

इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहिनों के साथ एकान्त रहने में भी सावधान रहना चाहिए।

(८) **धी**—अर्थात् बुद्धि। सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो वैसे ही

---

१. योगदर्शन २।३० ॥
२. योगदर्शन २।३० के व्यासभाष्य में।
३. मनु० २।२१५ ॥

आचरण करने चाहियें, शरीर-बल के बिना बुद्धि-बल का क्या लाभ ? इसलिये शरीर-बल सम्पादन करने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए बहुत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(९) **विद्या**—योग सूत्र में अविद्या का लक्षण किया हुआ है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।[1]

तस्य हेतुरविद्या।[2]

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम, अभिमान यह है। बड़े-बड़े पाठान्तर करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती। पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा। यथार्थ दर्शन ही विद्या है। यथाविहित ज्ञान विद्या है। प्रमा[4] के विरुद्ध भ्रम है, विद्या में भ्रम नहीं होता। 'अनात्मनि आत्मबुद्धिः' 'अशुचिपदार्थे शुचि-बुद्धिः' यह भ्रम है। यही अविद्या का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण है वे विद्या के हैं।

जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूँ वा मैं बड़ा राजा हूँ उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना, यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय में प्रयत्न करते रहना चाहिए। हमारे देश में छोटी अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या-सम्पादन करने में अड़चन होती है। अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास (न्यूनता) होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।

(१०) **सत्य**—तीन प्रकार का है, सत्य-भाव, सत्य-वचन, सत्यक्रिया। सत्य-भावना होनी चाहिए, सत्य भाषण करना चाहिए और सत्य आचरण तो करना ही चाहिए। किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिये : असत्य का त्याग करना चाहिये। विकल्प का लक्षण योग-सूत्र में किया है कि—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।[5]

सम्भव कौन सा और असम्भव कौन सा, इसका विचार करना चाहिए। कुम्भकर्ण के विषय में तुलसीदासजी का एक दोहा है कि—

जोजन एक मूंछ रही ठाढ़ी, योजन चार नासिका बाढ़ी।

---

१. योगदर्शन २।५॥ २. योगदर्शन २।४॥

३. 'पाठान्तर' मराठी शब्द है। इसका अर्थ है—'कई ग्रन्थों के वाक्यों को कण्ठस्थ करना'।

४. प्रमा=यथार्थ ज्ञान। ५. योगदर्शन १।९॥

दक्षिण में देव मामलेदार[1] की कोई बात बताते हैं कि उसने अपने वचन से पुरुष को स्त्री बना दिया था। ऐसी असम्भाव्य बातें हमारे देश में बहुत सी फैल गई हैं। इसलिए प्रमाणों के सहाय से अर्थ विवेचन करके देखने से विचार के अन्त में निश्चय होता है कि झूठ बात कौन सी और सच्ची बात कौनसी है।

(११) अक्रोध—बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। स्वाभाविक क्रोध कभी नहीं जा सकता, परन्तु उसे भी रोकना, मनुष्य का धर्म है। क्रोधाधीन होने से बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।

इस प्रकार का एकादशलक्षणी सनातन धर्म है, [जो मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।]

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥[2]

व्यवहार धर्म की ओर भी ध्यान देना चाहिए। सारी दुनिया मे इसी आर्यावर्त से विद्या गयी। इस आर्यावर्त देश के आर्य पुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय थोड़ा है। समुद्र पर चलने वाले जहाजों पर कर लेने की आज्ञा मनु ने अष्टमाध्याय में लिखी है—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥[3]

इससे स्पष्ट है कि समुद्र-यानादिक पहले हमारे लोग बनाया करते थे।

अधर्म—अर्थात् अन्याय, इसका विचार करना चाहिए। मनु ने ऐसा लिखा है कि—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।[4]

मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं। [परद्रव्येष्वभिध्यानम् अर्थात्] परद्रव्यहरण अथवा चोरी; मनसानिष्टचिन्तनम् अर्थात् लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष करना, ईर्ष्या करना; वितथाभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना।

वाचिक अधर्म चार हैं—पारुष्य अर्थात् कठोर भाषण। सब समय सब ठौर मृदु भाषण करना यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'आ अन्धे' ऐसा

---

१. देव मामलेदारकर नाम का एक साधु दक्षिण में हुआ था। उसके विषय में दन्त-कथा प्रसिद्ध है।

२. मनु० २।२०॥

३. मनु० ८।१५७॥

४. मनु० १२।५,६,७॥

कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है, परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। अनृत भाषण अर्थात् झूठ बोलना। पैशुन्य अर्थात् चुगली करना। असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जान बूझ कर बात को उड़ाना।

शारीरिक अधर्म तीन है—अदत्तानामुपादानम् अर्थात् चोरी। हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म। परदारोपसेवा अर्थात् रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना। किसी मनुष्य ने अपने खेत मे की जमीन मे न बोकर अपना बीज लेकर दूसरे की जमीन मे बोया तो उसे हम क्या कहेगे? क्या उसे हम मूर्ख न कहेगे? अपने वीर्य को अगम्यागमन करके खर्च करने हारा तो महामूर्ख है। कोई ऐसा कहने लग जाते है कि हम नकद पैसा देकर बाजार का माल मोल लेते है, इसमे व्यभिचार वा पाप क्या होगा? परन्तु वे मूर्ख नही सोचते कि पल्ले का रुपया खर्च करके अपने अमूल्य वीर्य को खर्च करना यह व्यापार किस प्रकार का है? ऐसा व्यापार करने वाला क्या महामूर्ख नहीं है? अवश्य मूर्ख है।

धर्म के तीन स्कन्ध है—यज्ञ, अध्ययन और दान।[1]

यज्ञ—अर्थात् होम। यज्ञ करने से वायुशुद्धि होकर देश मे बहुत ही वृष्टि होती है। मीमांसा और ब्राह्मणादि ग्रन्थों मे मन्त्रमयी देवता तो मानी है और विग्रहवती देवता कही भी नही मानी[2]। इस व्यवस्था के द्वारा शास्त्रकारो ने बहुत सा झगडा मिटा दिया, परन्तु—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।[3]

इस पुरुषसूक्त मे की ऋचा की व्यवस्था का लगाना जरा अच्छा ही कठिन पड़ता है।

अध्ययन—अध्ययन अर्थात् लडको को पढाना, वैसे ही लडकियो को पढाना यह है।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिष्क्रिया।[4]

इसमें 'गुरौ वासः' अर्थात् [गुरु के समीप अध्ययन के लिए रहना। परन्तु] कुल्लूक भट्ट ने 'पति के घर मे वास करना' ऐसा अर्थ कर अर्थ का घोटाला (=अनर्थ) कर दिया।

पूर्व काल मे आर्य लोगों मे स्त्रियाँ उत्कृष्ट रीति से पढती थी। आर्य लोगो के इतिहास की ओर देखो—स्त्रियां आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थी

१. त्रयो धर्मस्कन्धा —यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। छा० उप० २।२३।१॥

२. मीमांसा ९।१।९ के भाष्य मे देवता को मन्त्रमयी कहा है और विग्रहवती देवता का खण्डन किया है।

३. ऋग् म० १०।९०।१६॥ ४. मनु० २।६७॥

और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे। यह सबको विदित ही है।

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित स्त्रियां होकर बडे-बडे ऋषि-मुनियों की शंकाओं का समाधान करती थीं, फिर [न मालूम] कुल्लूक भट्ट ने 'पतिसेवैव गुरौ वासः' ऐसा अर्थ कहां से किया ? आथर्वण संहिता में—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[1]

ऐसा स्पष्ट वाक्य है। इस वाक्य को एक ओर रख कर कुल्लूक भट्ट के अर्थ को ग्रहण करना बहुत कठिन होगा। सुशिक्षित स्त्रियां कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार सहाय करने वाली होती है। संगति का बल कितना बढ़कर है, इसका विचार करो। विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग पड़े तो उसका परिणाम कैसे लगे ? फिर स्त्रियां ही केवल पढ़ें इतना ही नहीं; किन्तु सब जातिया वेदाभ्यास करने का अधिकार रखती हैं, देखो—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥[2]

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥[3]

'शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है' इस मनु-वाक्य का भी विचार करना चाहिए।

अध्ययन करना अर्थात् ब्रह्मचर्य निभाना यह बड़ा भारी धर्म है। ब्रह्मचर्य के कारण शरीर-बल और बुद्धि-बल प्राप्त होता है। आजकल लड़के-लड़कियो के शीघ्र विवाह करने की बुरी रस्म पड़ गई है। काशीनाथ ने 'शीघ्रबोध' नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है, उसमें ऐसा कहा है कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥

लड़की शीघ्र गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वला होती है, ऐसी बहुत कुछ बकवास की है। इस को बने अभी १०० वर्ष भी नहीं हुए होंगे।

स्वयंबर के विषय में मनु का कथन है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यर्तुमत्यपि। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥[4]

---

१. अथर्व० ११।५।१८॥ २. यजु० २६।२॥ ३. मनु० १०।६५॥
४. मनु० ९।९०। वहां द्वितीय चरण का पाठ 'कुमार्यृतुमती सती' है।

इसी प्रकार मनु जी कहते है कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो। यथा—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥[1]

पुरातन सुश्रुत चरकादि वैद्यक के ग्रन्थो मे आयु के चार भाग कल्पित किये है—(१) वृद्धि (२) यौवन (३) सम्पूर्णता और (४) हानि। इनकी व्यवस्था इस श्लोक[2] में दी है सो देखो—चतस्रोऽवस्था: शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति। **आषोडशाद् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति ॥**

पुरुषों की योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिए कम से कम चालीस वर्ष वय [आयु] होनी चाहिए, निकृष्ट पक्ष मे भी लड़के की पच्चीस वर्ष की वय होनी चाहिए और लड़की की सोलह वर्ष की वय होनी चाहिए, ऐसा सुश्रुत का कहना है।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्[3] ॥

छान्दोग्य उपनिषद्[4] मे प्रातः सवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है। यह पुरुषो की कुमार अवस्था है चवालीस वर्ष तक माध्यसवन कहा है। यही यौवन-अवस्था है और अड़तालीस वर्ष तक सायंसवन वर्णन किया है, जो सम्पूर्णता की अवस्था है। इसके पश्चात् जो समय आता है वही उत्कृष्ट समय विवाहादि के लिए माना गया है। विवाह होने के पूर्व वेदाध्ययन अवश्य कराना चाहिए। इन दिनो ब्राह्मण लोगों ने वेदाध्ययन स्वार्थवश नष्ट कर दिया है। सो प्रारम्भ होना चाहिए।

अथर्ववेद मे अल्लोपनिषद् करके घुसेड़ दिया है। मतलबी पण्डित लोगो ने नये-नये श्लोक बनवाकर लोगों के मनो में भ्रम डाल दिया है, यह बड़े ही दुःख की बात है। इसलिए ऐसा हो कि स्थान-स्थान पर वेद-शालाये हो, उनमें वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षायें लिवायी जावे अर्थात् वेदाध्ययन को हर प्रकार से उत्तेजना मिले, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

दान—दान शब्द का आजकल जो अर्थ लेते है वह नही है। पेटभरू ब्राह्मण कहते हैं—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः।

विवेचनामूलक दान सदा होता रहा है। इन दिनों लोगो ने "**पीत्वा पीत्वा**"[5]

१. मनु० ९।८९॥ २. सूत्र॥
३. सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।१३॥ ४. द्र. ३।१६।१—६॥
५. यहां पाठ भ्रष्ट हो गया प्रतीत होता है, 'दत्त्वा दत्त्वा' पाठ होना चाहिए; क्योंकि प्रकरण दान का है, पान (=पीने) का नहीं है।

ब्रह्मापि मृतः" ऐसे-ऐसे वाक्यों को कहकर दान का मिथ्या ही अर्थ किया है। विद्या-वृद्धि के लिए द्रव्य खर्च हो, कला-कौशल की उन्नति के लिए धन लगाया जाय, दीन, अपायज, रोगी, कुष्ठी, अनाथादिकों का सहाय करना सच्चा दान है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन पूर्व ही हो चुका है।

गृहस्थ आश्रम में परस्पर प्रीति बढ़कर सामाजिक कल्याण बढ़े, यही मुख्य धर्म है। इस प्रकार की सामाजिक प्रीति बढ़ने के लिए मूर्ति-पूजादिक पाखण्ड दूर होना चाहिए।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥[1]

उपर्युक्त श्लोक में कहे अनुसार गृहस्थों को आनन्द करते हुए निर्वाह करना चाहिए, यह उनका मुख्य धर्म है।

वानप्रस्थ—इस आश्रम में विचार करना चाहिए। तप अर्थात् विद्या को सम्पादन करना उचित है।

संन्यासी—संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे, यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथार्थ उपदेश के विषय में मनु कहते है—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥[2]

पंचशिख और शङ्कराचार्य इनका इतिहास देखना चाहिए कि उन्होने सदा सत्य और सदुपदेश ही किये, उसी प्रकार संन्यासीमात्र को सदुपदेश करना चाहिए।

[इसके अनन्तर स्वामीजी महाराज ने]

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥[3]

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

[यह कहकर व्याख्यान समाप्त किया।]

१. मनु० ३।६०॥ २. मनु० ६।४६॥
३. तै० आ० ८।१॥

चौथा उपदेश

(धर्माधर्मविषयक)

[शनिवार ता० १० जुलाई १८७५*, धर्माधर्म इस विषय पर दयानन्द सरस्वती ने व्याख्यान दिया[1] उस पर हुए प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—क्या वेदो मे मन्त्रमयी देवताओ का अथवा विग्रहवती देवताओ का प्रतिपादन है ? सावयव देवताओ के विना जडमति अज्ञानी लोग पूजा किस प्रकार कर सकेगे और धर्म-व्यवहार मे उनका निर्वाह कैसे होगा ?

उत्तर—वेदो के तीन काण्ड है–उपासना, कर्म और ज्ञान । परन्तु उपासना-काण्ड में केवल एक उपासना ही का प्रतिपादन हो यही नही अथवा ज्ञान-काण्ड मे ज्ञान ही का प्रतिपादन हो वा कर्मकाण्ड मे कर्म ही का प्रतिपादन हो, यह नही । उपासनाकाण्ड में उपासना प्रधान है, परन्तु उसमे ज्ञान और कर्म का निरूपण भी मिलता है । इसी प्रकार सर्वत्र है ।

मीमासा का प्रारम्भ "अथातो धर्मजिज्ञासा" ऐसा है । इसमें कर्म विचार है। इसमे अथ और अत: इन दो शब्दो के अर्थ के विषय मे बडी ही मेहनत की है और उस पर से भिन्न-भिन्न काण्ड की बिलकुल भिन्न-भिन्न व्यवस्था प्रतीत होती है ऐसा कोई कहते है, परन्तु वैसा कहना अप्रशस्त है । आश्वलायन ने जो व्यवस्था की है वह कुछ कुछ ठीक है, उसे देखना चाहिए । इन दिनो कर्म वेद-मन्त्रो के अनुकूल नही होता, क्योकि जैमिनि ऋषि ने कर्म-काण्ड मे मन्त्रमयी देवता मानी है[2] और कर्म का अधिकार स्नातक और योग्यता को प्राप्त हुए पुरुषों को है । इस पर से यह स्पष्ट होगा कि कर्म विषय मे जडबुद्धि पुरुष की योग्यता नही है ऐसा [सिद्ध] होता है । कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता हो तो मूर्त देवताओ को उसमे घुसने का स्थान नही है ।

उपासनादिको को योगशास्त्र का आधार है, जैसे कर्म-काण्ड को मीमासा का है, परन्तु योगशास्त्र में मूर्ति-पूजा के विषय मे कही भी वर्णन नही है, ज्ञान-काण्ड मे मूर्ति की कोई आवश्यकता नही होती, ऐसी सर्व सम्मति है । इस पर जैमिनि के मत में व्यास जी के मत मे और पतञ्जलि के मत मे मूर्ति-पूजा गृहीत नही होती अर्थात् पूर्व-मीमासा-शास्त्र, योग-शास्त्र, उत्तर मीमासा अथवा वेदान्त-शास्त्र इनमे तो मूर्ति-पूजा का कहीं भी अवकाश नहीं है ।

---

*आषाढ शुक्ला ७ वि० सं० १९३२ ।

१. देखो प्रवचन संख्या ३, यह व्याख्यान ८ जुलाई बृहस्पतिवार को हुआ था ।

२ मन्त्रमयी देवता का वर्णन पूर्वमीमासा अ० ९ पाद ३ मे है ।

अब कोई ऐसा कहे कि स्मृति-ग्रन्थों में मूर्ति-पूजा है और स्मृति को अनुमान से श्रुति-मूलकत्व है[1] उपलब्ध श्रुति में मूर्ति की पूजा का उपदेश न हो तो भी लुप्त श्रुति में मूर्ति-पूजा का विधान है, ऐसा मानकर मूर्ति-पूजा करनी चाहिए। ऐसा श्रुति स्मृति का सम्बन्ध मानकर अनुपस्थित श्रुति का अवलम्बन करके उपस्थित ग्रन्थों के आधार में जो विचार करना अथवा उसमें गड़बड़ मचाना, यह हमें प्रशस्त नहीं दीखता। इन दिनों चार वेद और प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखाएँ भी उपलब्ध हैं। शाखा-भेद फिर कई प्रकार का होता है। जो कुछ मूल बीजरूप वेदों में [है] वैसा उपलब्ध शाखाओं में तो न हो, किन्तु लुप्त शाखाओं में होगा, यह कल्पना सयुक्तिक नहीं। आश्वलायन, कात्यायनादि श्रौत-सूत्रकारों को नष्ट शाखाओं में के मन्त्र लेते नहीं बना, इसलिए अमुक मन्त्र नहीं लिए, ऐसे कहीं भी कहते नहीं सुना और शास्त्रव्यवस्था के लिए स्मृत्यवलम्बन करना चाहिए, ऐसा भी उनका कहना नहीं था। हमारा भी यही कहना है कि पूर्वमीमांसा, योग, और उत्तर मीमांसा इन शास्त्रों को कृपा कर लगाओ, विचार कर देखो। इसी प्रकार शतपथादि ग्रन्थों में, निरुक्त में, पातञ्जल महाभाष्य में, नष्ट शाखाओं का गौण प्रकार से भी कहीं सूचक लिङ्ग नहीं है। इससे 'स्मृति का श्रुतिमूलकत्व है', इस मत के द्वारा आधुनिक अशुद्ध व्यवहार के आवश्यकीय उतने ज्ञापकों को निकालना यह बहुत ही अप्रशस्त है। अस्तु, वेदों में तथा शास्त्रों में मूर्ति-पूजा का कहीं भी विधान नहीं, इसका विचार हो चुका।

अब रहा यह कि मूढ़ और अज्ञानी लोग सावयव देवताओं के विना अपना निर्वाह कैसे करें? इस प्रश्न पर विचार करें। हमारे विचार से तो मूर्खों को भी मूर्ति-पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मूर्ख अर्थात् प्रथम ही जड़-बुद्धि और फिर उसके पीछे लगाई जाय जड़ पदार्थों की पूजा, तो क्या उसकी बुद्धि और अधिक जड़ न होगी? [क्योंकि] जड़मूर्ति की पूजा से तो जड़बुद्धि में जड़त्व ही जमेगा, इससे उन्नति तो कभी भी न होगी, किन्तु अधोगति तो अवश्य होगी।

अब यह देखें कि पूजा शब्द का अर्थ क्या है? पूजा शब्द का अर्थ 'सत्कार करना' ऐसा है, न कि षोडशोपचार पूजा। देखो—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ।।[2]

इस स्थल पर माता-पिता, आचार्य और अतिथि इनका पूजन अर्थात् सत्कार करना ही है। उसी प्रकार मनु में भी स्त्री पूजनीय है अर्थात् भूषण, वस्त्र, प्रियवचन इत्यादिकों द्वारा सत्करणीय है [देखो मनु जी क्या कहते हैं—]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।।[3]

---

१. स्मृतियों के श्रुतिमूलकत्व अनुमान का प्रतिपादन भगवान् जैमिनि ने 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्' (अ० १ पा० ३ सूत्र ३) में किया है। परन्तु श्रुति से विरोध होने पर स्मृति प्रमाणार्ह नहीं, यह मुख्य सिद्धान्त है।

२. तै० आर० ७।४।२ ।।

३. मनु० ३।५५ ।।

जड पदार्थों की सत्कार अर्थ वाली पूजा करते नही बनती। सचेतन का, सजीव का ही केवल सत्कार करते बनता है। सजीव का अर्थात् भद्र मनुष्यादिको का सत्कार करने से बहुत लाभ होते है—

मनुष्यो को सत्सग होने से उनकी बुद्धियो का परिपक्वता होकर वे वैराग्य को पहुँचते है और उसमे मन्दबुद्धि पुरुषो का कल्याण भी होता है। दूसरा यह कि मनुष्यो मे स्वभाव ही से ऐसी इच्छा होती है कि लोग हमे अच्छा कहे, हमारी सुकीर्त्ति हो, आस-पास के लोग भला कहे, हमारे आचरण को ठीक कहे इत्यादि। तो इस इच्छा से उनके मन की सदाचरण की इच्छा दृढ होती है, पर यह कैसे हो जब कि उसे सत् मनुष्यो की सगति हो, तब ही हो सकता है, अन्यथा कभी सम्भव नही। हमे स्पष्ट विदित है कि जड मूर्तियो के सम्मुख मन्दिरो मे कैसे कैसे दुराचरण होते हैं वैसे दुराचरण ५ वर्ष के बच्चे के सम्मुख भी करने की मनुष्य की हिम्मत नही होती जैसी कि जड मूर्त्ति के सम्मुख करने मे लज्जा तनिक भी नही आती। इस पर से स्पष्ट है कि मनुष्य मे मनुष्य जितना डरता है, उतना जड मूर्तियो मे नही डरता किन्तु यह तो होता है कि लाख मूर्तियो मे भी यदि मनुष्य खडा किया जावे, उसका चित्त भ्रष्ट और चञ्चल होवे तो वह दुराचरण की प्रवृत्ति आप स्वय दिखाता है। जड पदार्थ के सत्कार से कभी भी मनुष्य के मन की उन्नति नही होती, परन्तु सद्विचार महाविचारो मे मन लगाने से बुद्धि की उन्नति होती है। सत्सगति से, दूसरे का सत्कार करने से आत्मा प्रसन्न होकर प्रीति सदृश उत्तम गुण उनमे उत्पन्न होते है। यह इतना पूजन अर्थात् सत्कार इस अर्थ मे मूर्तिपूजा के विषय मे विचार हुआ।

अब मूर्ति के षोडशोपचार पूजा के विषय पर विचार करना चाहिए। जड मूर्ति की केवल जड पदार्थ के नाते से पूजा नही होती, इसलिए प्रथम उसमे उसकी प्राण प्रतिष्ठा करनी पडती है। मूर्ति मे प्राण प्रतिष्ठा यह सिर्फ भावना ही है। भावना का अर्थ विचारणा यह होता है।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जैसी-जैसी भावना वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है—ऐसा कोई कोई कहने लग जाते है। परन्तु यह उनका मिथ्या प्रलाप है, क्योकि सब मनुष्यो को सदा सुख प्राप्ति की दृढ भावना रहती है फिर उनको सर्वदा सुख प्राप्ति क्यो नही होती? उसी तरह पर्वत के बीच सुवर्ण की दृढ भावना की जाय तो भी पर्वत सोने का कभी नही बन सकता। हमारी भावना के कारण जड मूर्ति मे कुछ भी परिवर्तन नही होता और प्राण-प्रतिष्ठा करने के पश्चात् मूर्ति सचेतन नही होती, आँखो से देखे ऐसा नही होता, यह हम सबो को अच्छी तरह मालूम ही है। अस्तु परमेश्वर का अखण्ड निश्चय इस सब जगत् भर मे चल रहा है। उसमे हमारी कृति से कोई परिवर्तन नही होगा। जो जड है वह जड ही रहेगा, और सचेतन वह सचेतन ही समझा जावेगा।

अब रहा प्राण-प्रतिष्ठा के कारण जड मूर्तिपूजा के अर्थ मानने का क्या आधार

है—उसे देखो, न तो चारों वेदों में, अथवा गृह्य, श्रौत सूत्रों में और न षड्दर्शनों में कहीं भी प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र दिये हैं तो फिर प्राणेभ्यो नमः इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र कहां से निकले, इसका विचार हम हिन्दुओं को, नहीं मैं भूला, हम आर्यों को करना चाहिए। हिन्दू शब्द का उच्चारण मैंने भूल से किया; क्योंकि हिन्दु यह नाम हमें मुसलमानों ने दिया है, जिसका अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि है, सो मैंने मूर्खता से उस शब्द को स्वीकार किया था आर्य अर्थात् श्रेष्ठ यह हमारा असली नाम है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥[1]

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः॥[2]

भाइयो! दस्युसदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़ने वाले हम व्रतचारी आर्य हैं, सो स्मरण रहे, अस्तु।

प्रतिष्ठामयूखादि अथवा लिङ्गार्चन-चिन्तामणि इत्यादि तन्त्र ग्रन्थों में के मन्त्र लेकर हम जड़मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। यदि कोई ऐसा कहे तो [हम] उन तन्त्र ग्रन्थों का कुछ नमूना दिखाते हैं और पूछते हैं कि ये ग्रन्थ माननीय हो सकते हैं वा नहीं?

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

भला ऐसे-ऐसे तान्त्रिक मन्त्रों के बीच वैदिक मन्त्रों का सामर्थ्य कहां से आ सके? इसीलिए जड़मूर्ति में कभी भी चेष्टा नहीं उत्पन्न होती। मन्त्र से स्वाभाविक जड़ पदार्थ में प्राण डालना तो दूर रहा परन्तु स्वाभाविक जीव रहने वाले सावयव मृत शरीर में, जिसमें प्राण आना चाहिए और मुर्दा जिन्दा हो जाय, परन्तु उसमें वैसा भी नहीं होता, तो फिर व्यर्थ ही इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के पाखण्ड में क्या रखा है। अर्थात् कुछ भी ऐसे पाखण्ड से नहीं निकलता।

प्रश्न—भिन्न-भिन्न वर्ण तो आप नहीं मानते, फिर वर्णाश्रमीय धर्म की व्यवस्था आप कैसे करोगे अर्थात् ब्राह्मण कौन? वैश्य कौन? क्षत्रिय कौन? शूद्र कौन हो सकता है?

उत्तर—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास। सुसंगति, अध्ययनादिकों का अधिकार मनुष्यमात्र को है। फिर जिस-जिस प्रकार का जिस-जिस पर संस्कार होगा उसी-उसी प्रकार उसकी योग्यता मनुष्य मात्र में बढ़ेगी। हमारे देश में कोई बड़ी धर्म-सभा नहीं, जिसके कारण आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था कुछ की कुछ ही हो गई। भला आदमी दुःख उठाता है, [जितने]

---

१. ऋ० १। ५१। ८॥ २. अष्टाध्यायी ६। २। ५८॥

चाहिए उतने मजदूर हर ठौर नहीं मिल सकते, क्योंकि देश भर में साधुओं की टोलियाँ की-टोलियां फिरती है। आधुनिक सम्प्रदायों के अनुकूल जो साधु बने हैं, बतलाओ कि उनकी गणना किस आश्रम में की जाए? क्योंकि शास्त्र का आधार छोड़ लोग मनमाने रहने लगे हैं, यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह व्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव से की जा सकती है और प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था इसी प्रकार थी। वे जन्म से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानते थे। जानश्रुति [और] जाबाल ये नीच कुल के थे।[1] जाबाल ऋषि की कथा छान्दोग्योपनिषद् में कही हुई है। उसकी माता व्यभिचारिणी थी, परन्तु गुरु के पास जाकर जाबाल सत्य बोला, इतने ही कथन से गुरु प्रसन्न होकर उससे कहने लगा कि 'जाबाल! तुम सत्य भाषण के कारण ब्राह्मण हो।'[2] ऐसा कहकर उसे ब्राह्मणत्व दिया। अब पुरुष सूक्त में भी एक श्रुति है, उसका भी अर्थ करना चाहिए।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[3]

पुरुष सूक्त के बीच में '**सहस्रशीर्षा**' यह पद बहुव्रीहि है, तत्पुरुष नहीं है। जिस प्रकार '**गङ्गायां घोषः**' इसका अर्थ लक्षणा से करना पड़ता है। इसी प्रकार [की] पद्धति रखकर ऊपर के वाक्य का अर्थ करना चाहिए।

पूर्णत्वात् पुरिशयनाद् वा पुरुषः। [यह निरुक्त का प्रमाण है][4]

उस पुरुष का मुख अर्थात् मुख्य स्थान अर्थात् विद्वान्—ज्ञानवान् जो हैं वे ब्राह्मण हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'बाहु' अर्थात् "वीर्य" ऐसा अर्थ दिया है।[5] इससे स्पष्ट है कि जो वीर्यवान् वह क्षत्रिय जानना चाहिए ऐसी व्यवस्था होती है। व्यावहारिक विद्या में जो चतुर हैं वे वैश्य। अब '**पद्भ्यां शूद्रो अजायत**' इस स्थल पर 'पद' इसका अर्थ नीच मानकर मूर्खत्वादि गुणों से शूद्र होते है ऐसा [मानकर उन्हें नीच] कहना किस प्रकार चल सकेगा? '**यानि तीर्थानि सागरे तानि ब्राह्मणस्य दक्षिणे पदे**' इस स्थल पर पद की कितनी भारी योग्यता है, यह तुम्हें विदित ही है। इस विचार से शूद्र अर्थात् मूर्ख ऐसा ही अर्थ होता है और तब ही मनु जी के वाक्य का अर्थ सम्यक प्रकार लग जाता है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥[6]

---

१. जानश्रुति को छा० उप० ४।२।३ में शूद्र कहा है, जाबाल की कथा छा. उप. ४।४।१-५ में है।

२. छा० उप० ४।४।४-५॥ ३. ऋ. १०।९०।१२॥

४. निरुक्त के नाम से उद्धृत पाठ अर्थात् अनुवाद है। निरुक्त का मूल पाठ इस प्रकार है—'पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।'२।३॥ ५. द्र. 'बाहुर्वै वीर्यम्'। ६. मनु. १०।५८॥

सब वर्णों के अध्ययन का जो समय है वह ब्रह्मचर्य है, और संसार को एक ओर रखकर अध्ययन, उपदेश और लोक-कल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे वह संन्यास है। गृहस्थियों को समय इन सब कार्यों के करने को नहीं मिलता और संन्यासियों को अवकाश बहुत मिलता है बस यही मुख्य भेद है।

अब यदि कहा जाये कि जन्म ही से ब्राह्मण होता है तो जब कोई ब्राह्मण अपने सदाचरण को छोड़ यवनादिकों के समान आचरण करने लग जाता है तो उसका ब्राह्मणत्व क्यों नष्ट होता है? इससे सिद्ध हुआ कि केवल जन्म सिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं, किन्तु आचार-सिद्ध है। यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है। जिस समय इस आर्यावर्त में अखण्ड राज्य, अखण्ड ऐश्वर्य था, उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी। यदि कोई कहे कि गृहस्थाश्रम का अनुभव लिए बिना संन्यास न लेना चाहिए, तो यह कहना अप्रशस्त है। क्योंकि यदि रोग हो तो औषध देना बुद्धिमानी है। उसी प्रकार जिस पुरुष को विषयासक्ति की इच्छा नहीं, भोगेच्छा भी नहीं, तो उसे नया संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु वह तो स्वयं बना बनाया संन्यासी ही है।

गार्गी ने कभी भी संसार-सुख का अनुभव नहीं लिया, वह सदा ब्रह्मचारिणी थी। संन्यासियों से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। संन्यासियों को शरीर-सम्बन्ध तो केवल होना है, शेष व्यवसाय उन्हें नहीं होते। उपदेश करना वा अधर्म की निवृत्ति करना, यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। अब यदि कोई पूछे कि पुत्रोत्पत्ति बिना जन्म कैसे सफल होगा तो उन्हें यह उत्तर है कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं—विद्या और योनि से। इन दो ही सम्बन्धों से पुत्र प्राप्ति होती है। "गरीयान् ब्रह्मदः पिता"[1]। मूढ़ लोग जनपद में दुराचार कर-कर किसी आपत्ति में पड़ेंगे सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।

परन्तु इन दिनों संन्यासियों पर बड़े-बड़े जुल्म अत्याचार हो रहे हैं अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिए। एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहें. इत्यादि-इत्यादि प्रतिबन्ध है। यदि इन्हें माना जाए, तो भाई! बताओ कि वह फिर किस प्रकार और किसे उपदेश करे? क्या वह एक गाँव से दूसरे गांव दौड़ता फिरे? संन्यासियों को आग को न छूना चाहिए ऐसा भी कहते हैं, परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ सकेंगे अर्थात् वह तो उनमें बना ही रहेगा। आधुनिक 'त्रिशत्रेश्वरपद्धति' नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है।

फिर आधुनिक साधुओं को तन मन धन का समर्पण कैसे किया जाए? भाई मन का समर्पण कैसे होगा? और तन का समर्पण करने में क्या मल मूत्रादिकों का भी समर्पण होगा? आधुनिक साधुओं ने कुछ विलक्षण ही व्यवस्था बनाई है। उन्हें वेद शास्त्रों से क्या काम?

१. मनु० २।१४६॥

विचारे सन्यासीमात्र को अलबत्ता कष्ट होते हैं। मुझे कुछ धन चाहिए, इसलिए ऐसा कहता हूँ, यह बात नही। किन्तु मेरी मनोवृत्ति का साक्षी ईश्वर है। तुम उल्टा मत समझना।

प्रश्न—मूर्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे करते बनेगा ?

उत्तर—शब्द का आकार नही तो भी शब्द ध्यान मे आता है वा नही ? आकाश का आकार नही तो भी आकाश का ज्ञान करने मे आता है वा नही ? जीव का आकार नही तो भी जीव का ध्यान होता है वा नही ? ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है, यह किसान भी समझता है। ध्यान यह ऐसा ही पदार्थ है। योग आदि शास्त्र मे ध्यान का लक्षण किया—

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥[1]

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥[2]

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥[3]

साकार का ध्यान कैसे करोगे ? साकार के गुणो का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नही बनता अर्थात् सम्भव नहीं होता कि ज्ञान के पहले ध्यान हो जाय। देखो एक सूक्ष्म परमाणु के भी अधम, उत्तम और मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान-बल से कल्पना मे आते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है तो विदित होने तक ढकी हुई मुट्ठी की ओर देखने ही से केवल उस पदार्थ का ध्यान कैसे करे ? तो इससे मेरा यही कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिए और भी दृढतर सबल उपाय हैं। देखो ! अनुमान; उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ये आठ[4] उपाय हैं। अनुमान ज्ञान के सम्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है। अब यह विचारणीय है, अस्तु।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

१. सांख्य० ३। ३०॥ २. सांख्य० ६। २५॥
३. योग० ३। २॥
४. यहाँ 'पूर्व निर्दिष्ट प्रत्यक्ष की गणना करके 'आठ' संख्या लिखी है।

पाचवाँ उपदेश

[वेद-विषय]

[मंगलवार ता० १३ जुलाई १८७५* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० १३ जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे दिये वेद-विषयक व्याख्यान का सारांश ।]

ओ३म् दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥[1]

आज के व्याख्यान का विषय 'वेद' है । तीन प्रकार से इस विषय का विचार करना चाहिए—

(१) वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?

(२) वेद का कर्त्ता कौन है ?

(३) वेदों का प्रयोजन क्या है ?

परमेश्वर वेदों का कर्त्ता है । वेद अर्थात् ज्ञान, वेद अर्थात् विद्या । ज्ञान या विद्या ये सम्पूर्ण सृष्टि-पदार्थों के बीच उत्तम है । ज्ञान सुख का कारण है, ज्ञान के विना सुखकारक पदार्थ भी दुःखकारक होता है, क्योंकि ज्ञान के विना पदार्थ की योग्य योजना करते नहीं बनती । अनन्त ज्ञान ईश्वर का है इसीलिए **"अनन्ता वै वेदाः"**[2] ऐसा वचन है । अनन्त यह उसकी संज्ञा है । अनन्त ज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिए और उसे ऊँचे दरजे को पहुँचाने के लिए सहज सदा प्रवृत्त है और इसी हेतु को सफल करने के लिए विद्या का प्रकाश करता है, सो वही प्रकाश 'वेद' है । मनुष्य इस अनन्त ज्ञान के लिए अर्थात् वेद-ज्ञान के अर्थ योग्य अधिकारी है । इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य से नहीं है ।

अब यदि ईश्वर साकार नहीं, तो उसने वेद का प्रकाश कैसे किया ? ऐसा प्रश्न उद्भव (=उत्पन्न) होता है । तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि जिस अधिकरण में नहीं हैं तो वहां से शब्दोच्चारण कैसे बनेगा ?

*आषाढ़ शुक्ला १० वि० सं० १९३२ ।

१. यजु० ३६ । १८ ॥

२. तै० ब्रा० ३ । १० । ११ ॥

इसका उत्तर देना सरल है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो फिर सहज ही मे यह सोच सकते हैं कि उसे मुखादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती। शब्दोच्चारण के संयोगादि कारण अल्प-शक्ति वालों को अपेक्षित होते हैं। किञ्च—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥[1]

आप सब यह स्वीकार करते हैं कि हाथ के विना ईश्वर ने सब सृष्टि की रचना की। फिर भला मुंह विना वेद की रचना क्यों न हो सकेगी ?

कोइ यदि ऐसी शङ्का करे कि वेद-रूपी पुस्तको की रचना तो शक्य काम है इसके लिए ईश्वर की साक्षात् कृति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता ? परन्तु इस स्थल पर जरा विचार करना चाहिए। विद्या और जड सृष्टि-रचना में महत् अन्तर है। जड-रचना ही केवल परमेश्वर ने कर दी तो इससे उसका बडा माहात्म्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विद्या के सम्मुख जड सृष्टि-रचना कुछ भी नहीं है। इसलिए विद्या का कारण भी ईश्वर ही है, ऐसा मानना चाहिए। अन्य क्षुद्र पदार्थ निर्माण करके विद्यारूपी वेद ईश्वर उत्पन्न न करे, यह कैसे [सम्भव] हो सकेगा ?

अब वेद-विद्या ईश्वर से उत्पन्न हुई तो इसका तात्पर्य क्या है ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। तो उसका उत्तर यह है कि आदि विद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूल तत्त्वमात्र ईश्वर द्वारा प्रकाशित हुआ। उसका विशेष प्रभाव मनुष्यों के हाथों से अभ्यास द्वारा होता है।

अब यह आदि-विद्या अर्थात् वेद ईश्वर ने प्रकाशित किए है, उसके प्रमाण—

(१) प्रथम प्रमाण यह कि वेद मे पक्षपात नही। ईश्वर सब जगत् पर [समान रूप से] अनुग्रह करने वाला है। इसलिए तत्प्रणीत जो वेद, उसमे पक्षपात का रहना कैसे सम्भव होगा ? इसी तरह ईश्वर न्यायकारी है, इसलिये उसमे पक्षपात की सम्भावना नही हो सकती। जिसमे पक्षपात हो वह विद्या ईश्वर-प्रणीत नही है। इसका उदाहरण—वेद की भाषा क्या [है] ? संस्कृत ही ना ? संस्कृत भाषा वेदो की है क्या यह पक्षपात नही है, ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना ठीक नही है। [क्योंकि] संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषायें उससे परम्परा से उत्पन्न हुई है एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है। 'जयन्' इस संस्कृत शब्द मे के 'यम्' को सम्प्रसारण होकर भी यह शब्द उत्पन्न हुआ—उसी तरह 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयम्' से 'यू' और 'आदिम' से 'आदम' इत्यादि। ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेच्छाचार से भी होते है। इसके विषय में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नही। ईश्वर मे जैसा अनन्त आनन्द है उसी तरह

१. तुलना करो—श्वेताश्वतर उ. ३।१९॥

संस्कृत-भाषा में भी अनन्तानन्द है। इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक, सर्व भाषाओं की माता, ऐसी दूसरी कौन सी भाषा है? अर्थात् कोई भी दूसरी नहीं।

अब यदि कोई कहे कि यह भाषा एक ही देश की क्यों होनी चाहिए? तो देखो, संस्कृत-भाषा एक ही देश की नहीं है। सर्व भाषाओं का मूल संस्कृत में है। इसलिए सर्वज्ञान का मूल जो वेद, वे भी संस्कृत में है। जिस-जिस देश में संस्कृत भाषा पहुँची, उस उस देश के विद्वान् लोगों के मन का आकर्षण करती जाती है और वह दूसरी भाषाओं के मातृ-स्थान में है, ऐसी योग्यता प्राप्त करती जाती है।

फिर देखो कि वेद ही में की कुछ-कुछ मुख्य-मुख्य बातों का प्रचार जगत् के सारे देशों में चल रहा है। यहूदी लोग सदा वेदी रचते और यज्ञ करते थे, यह ज्ञान उन्हें कहां से प्राप्त हुआ था? उन्हें होता, उद्गाता, ब्रह्मा इनकी व्यवस्था के साथ यज्ञ करना विदित नहीं। परन्तु इसमें कुछ विशेष भेद नहीं। हम आर्यों की रीति की उन्हें भूल हुई। इसी तरह पारसी लोग भी अग्यारी में अग्नि पूजा करते हैं। क्या यह आचार वेद-मूलक नहीं है?

वेद में पक्षपात नहीं, यह स्पष्ट है। यहूदी लोग अन्य लोगों से द्वेष करना सीखे थे, मुसलमान लोग दूसरों को 'काफिर' कहते है और उनके धर्म-पुस्तकों में ऐसा करने की प्रेरणा की गई है, परन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिए वेदों में उत्तेजन नहीं हैं। इसलिए वेद ईश्वर प्रणीत है ऐसा [सिद्ध] होता है।

२—**द्वितीय प्रमाण**—वेद यह सुलभ ग्रन्थ है। अर्वाचीन पण्डित अवच्छेदक-अवच्छिन्न पदों को घुसेड कर बडे लम्बे-चौडे परिष्कार कर[illegible]न्तु उन परिष्कारों में केवल शब्द-जाल मात्र रहता है, विशेष अर्थ-ग[illegible] नहीं होता। इस प्रकार के वेद ग्रन्थ नहीं हैं।

जब कोई कहे कि दुर्बोध के कारण परिष्कार में काठिन्य पाण्डित्यसूचक है, तो आप जानते है कि जब कौवे आपस में लडते हैं तब उनकी भाषा का अर्थ किसी को भी नहीं समझ पडता, तो क्या दुर्बोध के कारण काक भाषा में पाण्डित्य की सम्भावना होगी? कभी नहीं। अस्तु, वाक्-सुलभता और अर्थ-गाभीर्य, यही सामर्थ्य का प्रमाण है। ज्ञानप्राप्ति क्लेश बिना होना यह ईश्वर-कृति का दर्शक है। यों ही "शक्यतावच्छेदक शक्यतावच्छिन्न" कहने की जगह सुलभ शब्दों से जो भगवान् वात्स्यायनजी ने प्रतिपादन किया है, उसे देखो—

प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानीति शक्यप्राप्तिः।[1]

इसी सुलभता के कारण वात्स्यायन महापण्डित क्या आधुनिक शास्त्रियों की अपेक्षा गंवार ठहराया जा सकता है? नहीं-नहीं। फिर वात्स्यायन की भाषा की अपेक्षा तो वेदों की भाषा लाख-दरजा सरल है।

---

१. न्याय० वा० भाष्य १।१।३२॥

(३) तृतीय प्रमाण—वेदों से अनेक विद्या और शास्त्र सिद्ध होते हैं । जैसे—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु
ते य द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥[1]

मनुष्यों के बनाए हुए पुस्तकों मे एक ही विषय का प्रतिपादन रहता है । जैमिनिजी के सारे मत का प्रवाह एक धर्म और धर्मी इस विषय में विचार करते-करते पूर्ण हुआ । भगवान् कणाद के मन का ओघ[2] षट् पदार्थों के विवेचन के विस्तार ही में समाप्त हुआ । इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ, व्याकरण-भाष्य और योग-शास्त्र की व्यवस्था लगाने मे भगवान् पतञ्जलिजी की सारी आयु बीती परन्तु वेद ये अनन्त विद्या के अधिकरण है, इसलिए वेद मनुष्य-कृत नहीं है, किन्तु ईश्वर प्रणीत ही है । अब सारी विद्याओं के अधिकरण वेद है अर्थात् वेद मे सारी विद्याओं के मूलतत्त्वो का दिग्दर्शन मात्र है । उदाहरणार्थ देखे—

वाराह्योपानहोपनह्यामि०
सहस्रारित्रां शतारित्रां नावमित्यादि०[3]
एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे० ॥[4]

प्रथम उद्धरण में रचना विशेष[5] का निरूपण किया हुआ है, दूसरे में नौका-शास्त्र का निरूपण किया है और तीसरे में गणित-शास्त्र का निरूपण बतलाया है ।

अब यदि कोई पूछे कि ईश्वर ने सब विद्याओं के मूल तत्त्व ही क्यों प्रकाशित किए और साद्यन्त विद्या और कला का क्यो विवरण नही किया ? तो उसमें मेरा यह कहना है कि जैसे ईश्वर ने मनुष्यमात्र के बुद्धि व्यापार का, उसी तरह बुद्ध्युन्नति का भी अवकाश रखा ।

(४) चतुर्थ—कोई-कोई ऐसी शका भी करते है कि वेद अनेक पुरुष घटित है, तो इसका यह उत्तर है कि यदि अनेक पुरुष घटित वेद होते तो वेदों मे [जो] एकवाक्यतादि गुण है, उनकी व्यवस्था कैसी लगाओगे ?

पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्याये भरत-खण्ड मे वेदों के कारण प्रसिद्ध थी । जैसे विमान-विद्या, अस्त्र-विद्या इत्यादि । विद्याओ के पुस्तक नष्ट होने से वे विद्यायें

१. यजु० १६ । ६४ ॥
२. "ओघ" मराठी शब्द है इस का अर्थ प्रवाह है ।
३. 'शतारित्रां नावम्' इत्यादि पाठ ऋ० १ । ११६ । ५ में मिलता है ।
४ यजु० १८ । २४ ॥
५. उपानह् = जूते की रचना ।

भी नष्ट हो गईं । मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया । जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया । सन् १८५७ के साल के लगभग जब दंगा-फसाद हुआ था, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवे के भारी पुस्तकालय में आग लगा दी थी—ऐसी दन्त-कथा है । इस पर विचार करो कि कितनी विद्या नष्ट होती आई है ।

उपरिचर नामक राजा था । वह सदा भूमि को स्पर्श न करता हुआ हवा ही में फिरा करता था । पहले के जो लोग लड़ाइयाँ लड़ने थे, उन्हें विमानरचने की विद्या भली प्रकार विदित थी । मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है । भाई ! उस समय दरिद्रों के घर में भी विमान थे । भला सोचो कि उस व्यवस्था के सम्मुख रेलगाड़ी की प्रतिष्ठा क्या हो सकती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

(५) पञ्चम—वेद सनातन सत्य हैं, इससे उनका सामर्थ्य भी बहुत बड़ा है । देखो शार्मण्य (जर्मन) देशों के लोग वेदों का अवलोकन कर उनकी कीर्ति और गुणानुवाद गा रहे हैं । इसी तरह सब देशों के विद्वानों के मन का आकर्षण वेद के सत्य के सामर्थ्य से हो रहा है, सारांश यह है कि सत्यता, एकवाक्यता; सुगम रचना, भाषा-लावण्य, निष्पक्षपातता, सर्व विद्यामूलकत्व, ये गुण वेदों ही में केवल सम्भावित होते हैं । इसी से वेद ईश्वर-प्रणीत हैं । इन दिनों हमारे अंग्रेजी पढ़े हुए लोग अंग्रेजी ग्रन्थों की खटपट देखकर वही सच है, ऐसा मानते हैं, सो यह ठीक नहीं है । [उधर] हमारे बड़े भाई शास्त्री लोग जो परम्परा न छोड़ने के विषय में हठ करके बैठे हैं । यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रेल में प्रवास करते समय उनकी परम्परा का हठ किधर जा घुसता है ? क्या बाप अन्धा हो तो पुत्र को भी अपनी आँखें फोड़ लेनी चाहियें ? मतलब [यह है कि] इतनी परम्परा को पकड़ रखने से धर्म प्रबन्ध में बड़ी गड़बड़ मच गई है । इस गड़बड़ को विचारने से कलेजा धड़कने लग जाता है ।

देखो ! चारों ओर जाति-विभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं । पहले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुंडी अर्थात् बन्दूकें भी थीं । यह सब हमारा बल किधर चला गया ? आग्नेय अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ ? आजकल के पण्डित लोग ऐसा कहते हैं कि पहले केवल मन्त्रोच्चार के सामर्थ्य से आग्नेयास्त्रादि निर्माण होते थे; परन्तु ऐसा नहीं है । मन्त्रों के कारण आग उत्पन्न होती थी, यदि ऐसा मानें तो मन्त्र बोलने वाला स्वयं कैसे नहीं जलता था ? तो भाई ऐसा नहीं है । मन्त्र अर्थात् विशेष अक्षर आनुपूर्विक अर्थात् शब्दों में और अर्थों में संकेत-मात्र सम्बन्ध है और [दाहक] सामर्थ्य नहीं । जैसे अग्नि शब्द में दाहकत्व नहीं है, तद्वत् मन्त्र जपने में कोरा समय खोना है । व्रतबन्ध (जनेऊ) के समय लड़के का अल्प सामर्थ्य रहने से एक ही मन्त्र उसे बार-बार रटना पड़ता है । इससे यह मन्त्र का एक सच्चा विनियोग नहीं है । मन्त्र का अर्थ है विचार । राजमन्त्री कहने से विचार करने वाला, यही सत्य अर्थ होगा । यदि यह अर्थ न मानो तो राजमन्त्री वा अमात्य का, राजा का माला लेकर जप करने वाला ऐसा अर्थ करना पड़ेगा, तो मन्त्री,

शब्द का अर्थ जप करने वाला नही, किन्तु विचार करने वाला ही होता है। तो वेद-मन्त्र का सच्चा विनियोग करना अर्थात् बुद्धि-वैशद्य, बुद्धयुन्नति, बुद्धि-प्रकाश, बुद्धि-सामर्थ्य को बढाना यह है। इस प्रकार का सामर्थ्य पहले आर्यों मे था। वे एक ही मन्त्र को लेकर जपने नही बैठते थे, परन्तु अनेक मन्त्रो की मीमासा करते थे। इसीलिए वरुणास्त्र, आग्नेयास्त्रादि उन्हें विदित थे अर्थात् पदार्थों के गुणो को जान उनकी विशेष योजना वे करते थे। विशल्यौषधि नामक उन्हे एक औषधि विदित थी जिससे कैसा ही जख्म क्यो न हो इस औषधि से झट भर आता था। पहले बगाल मे आर्य लोगो की वैद्यक विद्या की लोग हसी उडाते थे। परन्तु डाक्टर महेन्द्रनाथ सरकार सदृश विद्वान् पण्डित ने चरक सुश्रुत सदृश ग्रन्थो का उज्जीवन किया, जिससे अग्रेजी सीखे हुए लोगो का भ्रम दूर हुआ। महेन्द्रनाथ ने प्राचीन आर्य ग्रन्थो का उज्जीवन करने के लिए बहुतसा धन इकट्ठा करने का प्रयत्न चलाया है, सो यह उनका भूषण है, पदार्थ-ज्ञान के विषय मे वेदो मे बडी दक्षता है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्॥[1]

सृष्ट पदार्थों के विवेचन करने के लिए, उसी तरह ईश्वर के ज्ञानप्राप्त्यर्थ बुद्धि-सामर्थ्य को सम्पादन करना, यह वेदाध्ययन का प्रयोजन है। वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और व्यासजी ने सग्रह अर्थात् सहिता बनाई, ऐसा आजकल के पण्डित लोग कहते हैं, परन्तु भाई! इसमे उनकी भूल है, क्योकि मनु ने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियो से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया। ब्रह्माजी का चतुर्मुख ऐसा नाम है। इससे यह नही समझना चाहिए कि सचमुच उनके चार ही मुख होगे। यदि सत्य मे ऐसे चार मुख होते तो बेचारे ब्रह्माजी को बडा ही दुःख हुआ होता और फिर बेचारे सुख से कैसे सोते? तो ऐसा नही है, किन्तु 'चत्वारो वेदा मुखे यस्य इति चतुर्मुखः' ऐसा समास करना चाहिए। प्रथमारम्भ मे ईश्वर-ज्ञान से इन चार ऋषियो के ज्ञान मे वेद प्रकाशित हुए और उनसे ब्रह्माजी ने सीखे और पश्चात् उन्होने सारी दुनिया भर मे फैलाये, और उनसे मनुष्यो को ज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिए उनका 'वेद' ऐसा नाम है, और पहले ऋषि लोग एक दूसरे से सुनते आए, इसलिए 'श्रुति' ऐसा वेदो का नाम है।

अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चार ऋषियो को वेद प्रथम प्राप्त हुए। इस पर कोई कहेगा कि ये आदि मे चार ही ऋषि क्यो थे एक या अधिक क्या न थे, तो ये शकाये पाच या तीन भी होते, तब भी बनी रहती। यह अशोकवनिका न्याय[2] होगा।

---

१. मनु० १।२३॥

२ अशोकवनिका न्याय का भाव यह है कि रावण ने सीता को अशोकवन—अशोकवाटिका मे नजरबन्द रखा, उस पर कोई कहे कि अशोकवन मे ही क्यो रखा अन्यत्र क्यो नही रखा? यह प्रश्न अशोकवन से अन्यत्र भी सीता को रखा जाता, तब भी उत्पन्न होता। यही स्थिति प्रकृत प्रसग मे है यह वक्ता का अभिप्राय है।

अब कोई कहे कि वेद आधुनिक हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि ब्रह्मदेव के मन में ज्ञान-लहर उत्पन्न हुई, और उसी समय से वेद की परम्परा चल सकी है, फिर नित्य कैसे ? सो भाई ! इस प्रकार नहीं है। देखो ईश्वर का अपूर्व ज्ञान है, और ज्ञान-रचना नित्य है, सृष्टि का तथा वेदों का आविर्भाव तिरोभाव ही केवल [होता] है, क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।[1]

इत्यादि वचन ईश्वरीय नित्य ज्ञान के प्रमाण हैं।

ब्रह्माजी के पीछे विराट् उत्पन्न हुआ, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्ष, प्रजापति, स्वायंभुव मनु आदि हुए। इन ऋषियों के मन में ईश्वर ने प्रकाश किया।

अब यह व्याख्यान पूर्ण करने के पूर्व वेद-विषय में साधारण विचार करना चाहिए।

कोई-कोई कहते हैं कि चांद, सूरज आदि भूतों की पूजा वेदों में उपदिष्ट है; परन्तु यह कहना बिल्कुल सम्भव नहीं।

(शुक्ल यजुर्वेद)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥[2]

तथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति [अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः] ॥[3]

अग्नि, इन्द्र, वायु ये सब परमेश्वर ही के नाम हैं। इसलिए अनेक देवताओं का वाद बिल्कुल सम्भव नहीं।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥[4]

परिच्छेद, प्रकार, विकार इत्यादि सम्बन्ध से एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न नाम हो सकते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि वेदों में बीभत्स कथा भी हुई है। 'माता च ते पिता च ते' इस वचन पर महीधर ने भाष्य कर बड़ा ही बीभत्स रस उत्पन्न किया है। 'गभे' के स्थान पर वर्ण विपर्यास कर 'भगे' यह शब्द निकाला है, परन्तु इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण को देखो—

१. ऋ० १०।१९०।३ ॥
२. यजु० ३२।१ ॥
३. ऋ० १।१६४।४६ ॥
४. द्र० मनु० १२।१२२, १२३ ॥
५. यजु० २३।२८ ॥

वक्ष एवास्य राज्यं भगश्चो. स्पर्शो राष्ट्रं श्रीर्वा वृक्षस्याग्रम् ।[1]

इस प्रकार रात्रि के स्थान पर इस वचन की योजना करने से बीभत्सपन नहीं रहता।

इसी तरह पुराणों में काश्यपीय प्रजा का वर्णन है। मरीचि का पुत्र कश्यप था। दक्ष की साठ कन्याओं में से तेरह कन्याओं के साथ कश्यप का विवाह हुआ, इस प्रकार का वर्णन किया हुआ है। इस कथा के लिए वेदों में कहीं भी आधार नहीं है। कश्यप अर्थात् प्रत्यन्त के विपर्यास से पश्यकः परमात्मा का नाम हो सकता है।[2]

पश्यतः सर्वदृक् परमात्मा इति

(२) इसी प्रकार किसी ने कोई कथा गढ़ने के लिए **ब्रह्मोवाच** लगाकर कहा कथा चला दी। पुराणों का पाखण्ड है। इस प्रकार का दुष्ट उद्योग आधुनिक सम्प्रदायी लोगों ने ही बहुत किया है।

ब्रह्मोवाच

टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम् ।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टकां टकटकायते ॥

इस सम्प्रदाय का [illegible] गप्प है। इसके कारण जो दुकानदारी प्रारम्भ हुई है उसे सम्प्रदायी क्या त्याग कर छोड़ेंगे। यजमान की चाहे तीन जन्म तक की हानि हो तो उनको क्या मतलब? इसलिए जब सब स्त्री-पुरुष सर्वत्र वेदों का अवलोकन करेंगे तब इन सम्प्रदायियों की लूट बन्द होगी, तब इसी कण्ठी द्वारा वैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा। भाई! सोचो जो एक ही कण्ठी से वैकुण्ठ मिल जाय तो हिमाती को कुल कुण्ठियों की पेटियां गले में रखवाने से संसार में क्यों सुख नहीं होता? चन्दन तिलक और छापों में यदि स्वर्ग मिल जाय तो सारे मुंह पर चन्दन लगाने से क्यों न सुख मिले? इसलिए भाई! सोचो चन्दन तिलक, कण्ठी ये सब पाखण्ड सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य-हरण करने के रूप लिए है। ये सच्चे तीर्थ नहीं है। सच्चे तीर्थ कौन से है सो इसके विषय वचन है—

अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्य[3] तीर्थ्यः सब्रह्मचारी[4] विद्याव्रतस्नातः[5] ।

ब्रह्मचारी पुरुष विद्यास्नात, व्रतस्नात होते थे, इससे वेदविद्या ही मुख्य तीर्थ है।

ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति ॥

---

१ द्र० शत० १३।२।६।७ ॥
२ द्रष्टव्य— कश्यप पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात् । तै० आ० १।८॥
३ छा० उ० ८।१५।१॥
४ ये दोनो पद 'तीर्थे ये, चरणे ब्रह्मचारिणि (अष्टा० ६।३।८७, ८६) पाणिनीय सूत्रो के क्रमश उदाहरण है।
५ द्र० पारस्कर गृह्य० २।५।३२॥

छठा उपदेश

जन्म-विषयक

[शनिवार ता० १७ जुलाई १८७५* को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० १७ जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे दिए जन्मविषयक व्याख्यान का सारांश—]

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देव हितं यदायुः ॥[1]

[स्वामी जी ने प्रथम यह ऋचा कही ।]

आज के व्याख्यान का विषय 'जन्म' यह है। अब जन्म का अर्थ क्या है इसका लक्षण प्रथम करना चाहिए। शरीर के व्यापार और क्रिया करने योग्य परमाणुओं का संघात जब होता है तब जन्म होता है, अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर क्रिया-योग्य जब शरीर होता है, तब जन्म होता है। सारांश यह है कि इन्द्रिय और (प्राण) अन्तःकरण ये शरीर के मध्य जब उपयुक्त होते हैं तब जन्म होता है, जन्म अर्थात् शरीर और जीवात्मा इनका संयोग। इससे स्पष्ट है कि शरीर और जीवात्मा इनका वियोग मरण कहलाता है।

अब इस जन्मान्तर के विषय में अनेक मत हैं। कोई कहते हैं कि मनुष्य का एक ही जन्म है अर्थात् मरने के पश्चात् फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कोई कहते हैं कि जन्म अनेक हैं अर्थात् मनुष्य को मरने पर फिर दूसरे जन्म [प्राप्त होते] हैं।

हमारा सिद्धान्त—मनुष्य का पुनर्जन्म है अर्थात् जन्म अनेक हैं—ऐसा है।

एकजन्मवादियों के और अनेक जन्मवादियों के कथन में बहुत सी युक्ति-प्रयुक्तियों का आधार है। अब उन युक्ति-प्रयुक्तियों का विचार करें। 'गतानुगतिको लोकः' इस न्याय से परम्परागत ज्ञान का स्वीकार करना यह विद्वानों को उचित नहीं। तर्क-वितर्क करके निर्णय करना, यह विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है।

एकजन्मवादी ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं कि इस जन्म के पूर्व दूसरा जन्म होता तो उस जन्म का हाल कुछ भी तो स्मरण रहना चाहिए था और जब कि पूर्व जन्म का कोई स्मरण नहीं है तो इससे पूर्व जन्म न था, यही कहना ठीक है।

इस पूर्वपक्ष का समाधान हम यों करते हैं कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का है—स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक है। स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है और

* आषाढ़ शुक्ला १४ वि० सं० १९३२ ॥
१. यजुर्वेद २५।२१ ॥ ऋ० मं० १ अनु० १४ सू० ८९ मं० ८ ॥

नैमित्तिक ज्ञान को घटती-बढ़ती, न्यूनाधिक और हानि-लाभ आदि ये सब प्रसंग आते रहते हैं। इसका दृष्टान्त—जैसे अग्नि में 'दाह करना' यह स्वाभाविक धर्म है अर्थात् यह धर्म तो अग्नि के परमाणुओं में भी रहता ही है। यह उसका निज धर्म उसे कभी भी नहीं छोड़ता। इसलिए अग्नि की दाहक-शक्ति का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान समझना चाहिए। फिर भी देखो कि [अग्नि के] संयोग के कारण जल में उष्णता धर्म उत्पन्न होता है; और वियोग होने से वह उष्णता धर्म नहीं रहता। इसलिए जल के उष्णता विषय का जो ज्ञान है वह नैमित्तिक ज्ञान है जल में शीतलता विषय का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान होता है। अब जीव को—मैं हूँ अर्थात् 'अपने अस्तित्व का' जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान है; परन्तु चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; वह आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल और वस्तु। इन तीनों का जैसा जैसा कर्मेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है वैसे-वैसे संस्कार आत्मा पर होते हैं। अब जैसे-जैसे ये निमित्त निकल जाते हैं वैसे-वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है, अर्थात् पूर्व जन्म का देश, काल, शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नही रहता। इसको छोड इस विचार में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि ज्ञान का ही स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपत् क्रम से होता है अर्थात् एक ही समयावच्छेद करके आत्मा के बीच दो तीन ज्ञान एकदम स्फुरित हो सकते नहीं। इस नियम की लापिका से पूर्वजन्म के विस्मरण का समाधान भली-भांति हो जाता है। इस जन्म में 'मैं हू' अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक-ठीक रहता है, इसलिए, पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता।

फिर इसी जन्म ही में कैसी-कैसी व्यवस्था होती है इसका ही विचार करें। मैं ही जो इतना भाषण कर चुका हूँ, उस भाषण का उसी तरह उस सम्बन्ध के मनोव्यापार का, सब परम्पराओं का मुझे स्मरण कहां रहा है? हां भाषण के स्थूलावयव का तो अवश्य स्मरण है, परन्तु बोलते-ही-बोलते सूक्ष्म अवयवों का विस्मरण हो गया है। इससे यह नहीं मानते बनता कि मैंने भाषण नहीं किया, फिर देखो बाल्यावस्था मे जो बाते हुई उनका अब विस्मरण हुआ है। इससे बाल्यावस्था थी ही नहीं—ऐसा मानते नहीं बनता। पुनरपि जागृत अवस्था में जिन-जिन बातों का स्मरण रहता है, उन-उन बातों का निद्रा में सर्वथैव विस्मरण होता है। इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म का स्मरण नही होता, इतने ही से पूर्वजन्म की असम्भवता सिद्ध नहीं होती। दो जन्म के बीच मृत्यु आ फसी है और मृत्यु होना अर्थात् महाव्यावृत अन्धकार के बीच में गिरना है।

फिर देखो—मन का धर्म कैसा है, इसका विचार करो। मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में राग द्वेष उत्पन्न करता है। सान्निध्य छूटने से उसको विस्मरण होता है। फिर अर्थापन्न ही पूर्व जन्मावस्था में दूरगत

पदार्थ-विषयक यदि आत्मा को विस्मरण होता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अर्थात् इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

मैं एक दृष्टान्त देता हूं। पाठशाला में कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन करते रहते हैं। उनमें से कुछ लड़कों को अपने विषयों की समझ झट उत्पन्न हो जाती है, दूसरों को समझने में कुछ विलम्ब लगता है और तीसरे को तो उसी विषय को उपस्थित करने में बड़ी ही कठिनता पड़ती है। इस प्रकार यहीं-के-यहीं ही उत्तम बुद्धि, मध्यम बुद्धि और अधम बुद्धि ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार दीखते हैं, तो फिर भला मरने के पीछे पूर्व जन्म के ज्ञान की उपस्थिति के विषय [में] कितनी दिक्कत होती होगी, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। इससे जन्म एक ही है, ऐसा प्रमाण मानना, यह बिल्कुल युक्तिविरुद्ध है।

ज्ञान यह आठ प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ऐसे आठ प्रकार हैं। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान यह तो बिल्कुल ही क्षुद्र है। अव्यभिचारी, अव्यपदेशी और निश्चित ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से कभी भी नहीं होता।

इससे दूसरे ज्ञानसाधन का अवलम्बन करना चाहिए। दृष्टान्त कि कोई वैद्य नहीं है, ऐसे पुरुष को यदि रोग हो जाय तो मुझे किस कारण से यह रोग हुआ, यह नहीं जान सकता। तो फिर उस बिचारे को रोग के निदान का ज्ञान कहां से हो सकता है ? जिस रोगी को ऐसा ज्ञान नहीं है तो इससे उसे रोग ही नहीं है, यह कहते नहीं बनता। क्योंकि कारण विना कार्य नहीं होता। इसलिए इस रोग का भी कुछ-न-कुछ कारण होना ही चाहिए—ऐसा अनुमान होता है। रोगी को कारण का ही केवल ज्ञान नहीं, इससे रोग का कारण नहीं, ऐसा भी क्या कभी किसी ने माना है ? कभी नहीं। आगे रोग देखकर और उसका निदान और चिकित्सा करके अमुक-अमुक कारण ने यह रोग उत्पन्न हुआ है, ऐसा अनुमान प्रमाण के बल से वैद्य ठहराता है और वह बात हमें भी स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी योग्यता अनुमान प्रमाण की है, अस्तु।

परमात्मा न्यायकारी और निष्पक्ष है, यह बात भी सब स्वीकार करते हैं। ऐसे न्यायकारी परमात्मा द्वारा निर्मित संसार में लोगों की स्थिति के बीच और सुख लाभ में बड़ा ही भेद दीखता है; यह भी निर्विवाद है। इसके विषय में एक दृष्टान्त देना चाहिए। देखो एक ही मां-बाप के दो पुत्र हुए और उन्हें एक ही गुरु के पास अध्ययन के लिए रखा और उनके खाने-पीने की व्यवस्था भी एक ही सी रखी। ऐसा होते हुए भी एक लड़के की धारणाशक्ति उत्तम होने से वह बड़ा विद्वान् और नीतिमान् होता है और दूसरा भूलने वाला मूर्ख, ऐसा ही रहता है। सो बतलाओ इसका कारण क्या है ? इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में तो कुछ भी नहीं है और भेद तो प्रतीत होता है। ऐसा निरर्थक भेद ईश्वर ने किया, ऐसा कहें तो ईश्वर पक्षपाती

ठहरता है। ईश्वर ने नही किया, ऐसा कहे तो भेद की उत्पत्ति होती नही। इससे पूर्व जन्म है, ऐसा ही मानना अवश्य होता है। पूर्व जन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह व्यवस्था होती है, ऐसा माने विना दूसरी कोई भी कल्पना जमती भी नहीं, अस्तु।

एक-जन्मवादी ऐसा कहेगे कि ईश्वर स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है। जैसे कोई माली अपने बगीचे मे जैसे चाहे वैसे वृक्ष लगाता और उन वृक्षो मे खाद डाल उन्हे बढाता है, उसी तरह जगत् में ईश्वर की लीला है। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य ईश्वर मे मानने से ईश्वर के न्यायकारित्व की हानि होती है और उन्मत्त प्रसग ईश्वर पर आता है। परन्तु सब प्रकार सृष्टि-क्रम के और वेद के अवलोकन से परमेश्वर न्यायी है, ऐसा सिद्ध होता है। तब इस विरोध का निराकरण करने के लिए पूर्व-जन्म था, ऐसा मानना ही चाहिए। यदि ऐसा न माने तो स्थिति-भेद कैसे उत्पन्न होता है इसका सम्यक् (ठीक-ठीक) उत्तर मिलता नही। सग-प्रसग भेद से यह स्थिति भेद हुआ ऐसा भी कहते नही बनता, क्योंकि सग-प्रसङ्ग भेद की कल्पना जहा नही है, ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है, वह भी सबो के लिए कहा समान रहती है। पेट मे होते हुए एक जीव के लिए सुख होता है तो दूसरो को वही क्लेश होते है। एक धर्मात्मा के पेट मे जन्मता है और दूसरा पाप-स्थान मे जन्म लेता है। तो बताओ यह भेद कहा से और क्योकर हुआ? पूर्व-जन्म न मानने से इस भेद के कारण ईश्वर पर कितना भारी दोष आता है, इसका कुछ विचार करो।

पूर्व-जन्म विषयक उपर्युक्त अनुमान के सिवाय एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जीव की शरीर-चेष्टा होने से पूर्व प्रथम हमें प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर सस्कार होता है, फिर स्मृति होती है और पश्चात् किसी कार्य के विषय मे प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है यह प्रकार सर्वत्र प्रतीत होता है। अब देखो कि शरीर योनि में से बच्चा बाहर पडने के पूर्व पेट में था, बाहर गिरते ही श्वास लेने वा रोने लगता है, तो यह प्रवृत्ति उसे पूर्व सस्कारो के विना कैसे होगी? माता का स्तन खींचकर दूध पीने लग जाता है, यह प्रवृत्ति कहाँ से हुई? दूध के विषय मे तृप्त होने पर निवृत्त होता है, तो यह निवृत्ति भी किस प्रकार की है? माता ने कुछ धमकी दी, तो झट बच्चा समझता है, तो यह पूर्व सस्कारो के विना कैसे होगा? इससे निश्चयपूर्वक पूर्वजन्म था, यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाणो से सिद्ध होता है।

पुनरपि, सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का क्रम यदि देखा जाय तो उस सादृश्य से जीव सृष्टि का भी पूर्व-जन्म था। यह हमारा मध्यम जन्म है और मोक्ष होने तक अभी भी जन्म होने वाले हैं। इस परम्परा से इस मध्य-जन्म की सम्भावना तभी हुई जब कि पूर्व-जन्म पहले था, क्योंकि यदि कुये में जल न हो तो डोल में पानी कहा से आवे? इस दृष्टान्त की योजना इस स्थल पर ठीक होती है।

अब कोई यह कहे परमेश्वर तो सदा व्यवस्था करते हुए बैठा है और यह व्यवस्था कभी तो बिगड़ती है और कभी सध भी जाती है। जैसे ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में कहा है कि ईश्वर ने एक सुन्दर बगीचा बनाया और उसमें एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा रख उसमें एक ज्ञानवल्ली भी लगा रखी और परमेश्वर ने दोनों स्त्री-पुरुष को आज्ञा दी कि तुम ज्ञान के पेड़ के फल मत खाना अर्थात् तुम अज्ञानी रहो, तब सहज ही उन स्त्री-पुरुषों ने ईश्वरीय आज्ञा को तोड़ा तो परमेश्वर को बड़ा गुस्सा आया, फिर तो ईश्वर ने उन्हें वहां से निकाल दिया परन्तु अब सोचो कि यदि ईश्वर की व्यवस्था इस प्रकार बिगड़ गई तो वह सर्वज्ञ कैसे रहा ? इसलिए ऐसी-ऐसी व्यवस्था ठीक नहीं। इसलिए एक-जन्मवाद भी नहीं जमता। ईश्वर सब जगत् का धारणमात्र करता है; परन्तु उसने कृति एक ही बार कर रखी है, ऐसा जानना चाहिए। कोई ऐसा न समझे कि उसने सात दिन श्रम किया और आठवें दिन आराम किया अर्थात् विश्राम लिया। यह कहना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के विषय में किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार बगीचे के बीच जो व्यवस्था की, उसे एक समय भूला और फिर उसे ठीक करूं, यह ईश्वर के मन में आया; इसलिये उसने लोगों के पाप-निवारणार्थ यह व्यवस्था की, यह कहना भी ठीक-ठीक सम्भव नहीं होता। मनुष्य को स्वमत के विषय में सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है, यह मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि दुराग्रह को [परे] फेंक सत्य की परीक्षा करें, यही उनका भूषण है।

अब कोई ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं कि राजा पालकी में बैठता है और कहार पालकी ले जाता है। इसमें एक को सुख अधिक और दूसरे को दुःख अधिक है, ऐसा कहना यह भ्रम है। राजा के मन में परचक्र की अथवा राज्यव्यवस्था की चिन्ता दुःख का पहाड़ उत्पन्न करती रहती है, इसलिए बाहर से जितना राजा को सुख होता है उतना ही अन्दर से दुःख रहता है। रात्रि को नींद आने में भी हाय बाँय मचती है। इधर देखो तो इसके बिलकुल विरुद्ध कहारों को बाहर से तो बड़ा क्लेश होता है, पालकी वहना (ले जाना) पड़ता है और रूखी-सूखी रोटी उसे मिलती है तो भी कम्बल डालकर लेटते ही गाढ़ निद्रा में सोता है अर्थात् उसे नींद स्वस्थता से आती है। इससे दोनों स्थितियों में सुख-दुःख समान ही हैं। इसलिए एक जन्म ही मानना ठीक है।

इस पूर्व पक्ष का समाधान सहज ही में किया जा सकता है—

श्रीमानों और दरिद्रियों को, सशक्तों और अशक्तों को सुख-दुःख समान हीं है, यह कहना सारे अनुभवों के विरुद्ध है। राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और भंगी के भी एक पुत्र हुआ। राजपुत्र को गर्भ समय में सुख, जन्मते समय सुख, आगे लड़कपन में भी सुख, खान-पीने के और दूसरे सब प्रकार के पदार्थ हाथ में ले सेवक लोग तैयार खड़े रहते हैं। इसके विरुद्ध भंगी के लड़के को गर्भ समय में दुःख, जन्मते समय किसी पाषाण के सदृश पेट में से बाहर आ पड़ता है, बाल्यावस्था मे

खाने-पीने में भी रोना पीटना मचा रहता है, वस्त्र का तो नाम तक निकालते नहीं बनता, अन्न-जल के लिए कई बार रो-रो कर जी घबराना पड़ता है। सारांश-इस प्रकार के अनेक कार्य दृष्टिगत होते हैं तो बतलाओ। यह सुख-दुःख का भेद कहां से आया ? फिर देखो सब मनुष्यों की 'सम्पत्ति मिले और अपने से श्रेष्ठ लोगों की सी स्थिति प्राप्त हो' यह स्वाभाविक इच्छा रहती ही है, यह भी तुम देखते ही हो। इस इच्छा के कारण सब संसार का क्रम चल रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख का भेद वास्तविक है अर्थात् भ्रम नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। अब यदि सुख-दुःख का भेद है और जन्म भी एक ही है, तो ईश्वर इससे अन्यायी ठहरता है। ईश्वर में अन्याय का आरोपण करना यह हमारे प्रथम सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसलिए जन्म अनेक हैं यही कहना योग्य है, अर्थात् ईश्वर न्यायकारी है और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जीवों को वह दण्ड देता है, अर्थात् जितना ही तीव्र पाप जीव करता है उतना ही उसे दुःख भोगना पड़ता है, ऐसा सिद्ध होता है।

कोई-कोई ऐसा पूर्वपक्ष करते [हैं] कि मनुष्य [योनि में] पाप करने के कारण वह पशु योनि में गया, ऐसा कुछ काल के लिए मान भी लें; परन्तु पशु होकर "मैंने पाप किया इसलिए पशु-जन्म मुझे प्राप्त हुआ है" ऐसा यदि उसको ज्ञान नहीं है तो ज्ञान बिना दण्ड भोगना, यह व्यवस्था किस प्रकार की है ?

इसका समाधान—इस जन्म में भी ऐसी ही व्यवस्था दीखती है। दुःख भोगते भी दुःख के कारण का ज्ञान कभी नहीं रहता। अघोरी बन बहुत सा खा लिया और फिर उसके कारण किसी रोग ने शरीर को जकड़ लिया, तो उस समय जो दुःख होता है, उस दुःख के कारण—उसके असल सबब का स्मरण होता हो, ऐसा कभी भी देखने में नहीं आता। इसी तरह अन्यत्र बहुत सी व्यवस्था इस संसार में प्रतीत होंगी अर्थात् वैसी व्यवस्था मिल सकेंगी।

अस्तु, इस संसार में सुख-दुःख के जो भेद दीखते है उनका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। कारण के विना ये कार्य नहीं हो सकेंगे। इन सुख-दुःख के भेदों के कारण पूर्व जन्म के कर्म हैं। इसलिए शेषवत् अनुमान से सुख-दुःखादि के भेदों की व्यवस्था ठीक-ठीक लग जाती है। अब कर्मों के विषय में कहा जाय तो वे भी विचित्र हैं। नाना प्रकार के आत्मा पर जो संस्कार होते हैं उनके कारण नाना प्रकार के मानस कर्म उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की ऐसी व्यवस्था है कि उन-उन कर्मों के योग से पाप-पुण्य उत्पन्न होने चाहियें। इस प्रकार पाप-पुण्य का हिस्सा विना भोगे छुटकारा नहीं होता, पापों को भोगना ही पड़ता है, वे कभी भी नहीं छूटते।

अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर की भक्ति, प्रार्थना आदि करने से उसे दया आती है और फिर वह पाप का दण्ड नहीं देता, सो इस पूर्वपक्ष का समाधान सरल है कि ईश्वर की भक्ति वा प्रार्थना से पूर्वकृत पापों का दण्ड नहीं चुकता; किन्तु यह तो सम्भव है कि आगे के होने वाले पापों से ही केवल निवृत्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो पाप करने के लिए यत्किञ्चित् भी भीति किसी को भी न होती।

अब इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी चाहिए। कोई-कोई ऐसी शंका करते हैं कि ईश्वर-सर्वज्ञ है, उसे हमारे मन के सारे भाव विदित ही हैं अर्थात् जैसे पतिव्रता की सी भक्ति किस की है और वेश्याओं के सदृश भक्ति किसकी है, यह उसे विदित है। हम मनुष्यों को तो प्रसंगवशात् ही केवल लोगों के मनोभाव विदित होते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसे सदैव सब लोगों के मनोभाव, पाप-पुण्य, वासना और परमेश्वर-भक्ति-भावना ये सब प्रत्यक्ष हैं। यदि पूर्वकृत पापों को अवश्य भोगना पड़े और ईश्वर की भक्ति करने से वह दया कर पाप-दण्ड से न छुड़ावे तो फिर मुक्ति किस प्रकार होगी? ऐसी शंका है। इसलिए मुक्ति किसको कहते हैं इसका ही प्रथम विचार करें।

मुक्ति अर्थात् ईश्वर प्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उसके परमानन्द में तल्लीन हो जाना, यही मुक्ति का लक्षण है। इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर सदानन्द स्थिति प्राप्त होती है। शोक से चित्त बिगड़ता है यह तो ठीक ही है, परन्तु हर्ष से भी चित्त बिगड़ जाता है, इसे दिखलाने के लिये दृष्टान्त देना चाहिए। किसी गरीब आदमी को लाख रुपया एक दम मिलने से उस हर्ष के कारण उसे पागलपन आ घेरता है। सब को यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ईश्वर को छोड़कर चाहे कितने ही दूसरे कर्म किए जायं, परन्तु उनसे आत्मा मुक्त नहीं होती। मुक्त होने के लिए जो कुछ है वह एक ईश्वर प्राप्ति ही कारण है।

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे कि जब हम सृष्टि को अनादि नहीं मानते हैं तो अवश्य सृष्टि का कहीं-न-कहीं प्रारम्भ होना ही चाहिए और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, उस समय योनि-भेद था। यदि ऐसा कहा जाय तो ईश्वर अन्यायी ठहरेगा क्योंकि कुछ आत्मा पशु आदिकों की नीच योनि में जायँ और कुछ एक मनुष्य की योनि मे जायँ, यह कैसे?

इस पूर्वपक्ष का समाधान ऐसा है। कोई ऐसा कहते हैं कि पहले परमेश्वर ने एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया, फिर स्त्री ने सर्प के कहने से ज्ञानवल्ली का फल खाया, तब स्त्री के अपराध के कारण स्त्री-पुरुष पतित हुए। इसलिए जगत् मे पाप और पुण्य घुसा। तो ऐसी-ऐसी गपोड़ कहानियों को कहकर हम अपना समाधान नहीं करते, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? और इस विषय में आर्य लोगों ने शास्त्र द्वारा सूक्ष्म रीति से क्या विचार किया है? उसे देखें। जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है, उसी स्थिति में प्रारम्भ में सृष्टि नहीं थी। इसलिए वर्तमान सृष्टि को उत्तर-सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूँ और पूर्व सृष्टि को आदि-सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूँ जिससे झट समझ में आ जाय।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ॥ इत्यादि ॥[1]

---

१. तै० उ० ब्रह्मा० १ ॥

आदि सृष्टि मे ईश्वर ने बहुत मे मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किए "ततो मनुष्या अजायन्त" इत्यादि यजु सहिता[1] में है, परन्तु उनमे अब जैसा ज्ञान के कारण और कृति (कर्म) के कारण भेद न था। उन सबो को केवल आहार-विहार और मैथुन इतना ही विदित था और इन विषयों से भी सब प्राणी एक ही से और एक रस थे। सब शरीर सब जीवों के भोग के लिये हैं अर्थात् एक ही जीव के लिये नही है, ये सब जीव-जन्तु परमेश्वर से उत्पन्न हुए।

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सं प्रतिष्ठाः।[2]

तथाक्षरात् सोम्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते, इत्यादि ॥ (छान्दोग्यो०)

जैसे छोटे बच्चो को अब भी यहा पर स्थित रहते हुए और उसी तरह आगे मरा पर किसी प्रकार का दण्ड नही मिलता, उसी तरह इस आदि-सृष्टि मे सब मनुष्य बाल्यावस्था मे थे। उनकी अशिष्टाप्रतिषिद्ध चेष्टा थी अर्थात् उन्हे शासन या प्रतिषेध नही लगाए थे, नेत्रो से अपना काम करे अर्थात् रूप को देखे, श्रोत्रो से अपना काम करे अर्थात् शब्द सुने पांव से अपना काम करे अर्थात् इधर-उधर फिरे बस इसमे और विशेष व्यापार आदि-सृष्टि मे नही था। ऐसी व्यवस्था आदि-सृष्टि मे पाच वर्ष चलती रही, फिर परमात्मा ने मनुष्यों को वेद-ज्ञान दिया।

ओ३म् खम्ब्रह्म।[3]

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।[4] (य० सं०)

अब वेद ज्ञान से पाप-पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा-वैसा आचरण भेद होता गया, फिर प्रत्यक्ष ही है कि पाप-पुण्य की व्यवस्था के अनुसार सहज ही कार्य उत्पन्न होने लगे। मनुष्य पाप के कारण पशु जन्म को गए और पाप छूटने पर फिर भी मनुष्य जन्म मे आए। आदि-सृष्टि मे पशुओं को एक दफे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। फिर तो आचार भेद अनुकूल पाप-पुण्यानुसार वे भी जन्मान्तर के चक्कर मे आ फसे।

अब कोई-कोई ऐसी भी शंका करे कि मनुष्य को पाप-वासना ही क्यो हुई? तो उसका इतना ही समाधान है कि परमात्मा ने मनुष्यो को स्वतन्त्रता दी है और उस स्वतन्त्रता के जो-जो परिणाम होवेंगे, उन्हे भी स्वीकार करने चाहिए। सुख के सब सामान होने पर भी यदि स्वतन्त्रता नही है तो वह स्थिति दुःखमिश्रित स्वतन्त्रता होकर अतिदुःखमह होती है। तब पाप-वासना होती है यह अपनी स्वतन्त्रता का विकार है इसके लिए ईश्वर पर दोष नही लगा सकते। कोई-कोई ऐसा मानते है कि दुःख-विशेष देश नरक है और सुख-विशेष देश स्वर्ग है और इस उभय प्रकार के

---

१. य० सं० अध्याय ३१ में 'साध्या ऋषयश्च ये' पाठ है ऊपर उद्धृत पाठ श० १४।४।२।५ में मिलता है।

२. तु०—छा० उ० ६।८।४॥ ३. यजुः ४०।१७॥ ४. यजुः ४०।८॥

प्रदेशों में मनुष्य को पाप-पुण्य के अनुकूल एक समय [अर्थात्] जगत्-प्रलय के समय में न्याय कर अनन्तकाल तक सुख वा दुःख में ईश्वर रखेगा। ऐसा प्रतिपादन करने से ईश्वर अन्यायी ठहरेगा। ईश्वर के न्याय का ऐसा अटकाव नहीं है। प्रत्येक क्षण में ईश्वर के न्याय की व्यवस्था जारी है और अपने-अपने पाप-पुण्य के अनुसार हमें बुरा-भला जन्म मिला करता है।

पाप-पुण्य मनुष्य जन्म ही में केवल होते हैं। पश्वादिकों के जन्म में भोग होता है, नये पाप-सम्पादन नहीं होते।

कोई-कोई शंका करते हैं कि मनुष्य-जन्म एक ही समय मिलता है अथवा अनेक बार ? तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य जन्म बारम्बार प्राप्त होता है। अब पहले कह ही चुके हैं कि—

मृत्यु अर्थात् जीव का और शरीर का वियोग होना है तो वह कैसे आती है ? इस विषय में कोई-कोई कहते हैं कि गरुड़-पुराण में कहे अनुसार मनुष्य का प्राण-हरण करने के लिए यमदूत आते हैं। इन यमदूतों के मुख दरवाजे इतने बड़े होते हैं और शरीर पर्वत के सदृश होते हैं, यह वर्णन सर्वथैव अतिशयोक्ति का है। निरुक्त में अन्तरिक्ष काण्ड है, उसमें वायु के यमराज धर्मराज ये नाम दिए हैं—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।

इससे जीव यम की ओर जाता है अर्थात् वायु में, वायु के द्वारा अन्य योनि के बीच उसका प्रवेश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

मरने पर जीव वायु में मिलता है, ऐसे-ऐसे हमारे उपदेश से अज्ञानी लोगों की हानि होगी, विद्वानों की क्या हानि हो सकती है ? अर्थात् विद्वानों की कुछ भी हानि नहीं है। हां ! अवश्य धूर्तों की हानि हो तो हम निरुपाय हैं।

कोई ऐसा भी कहते है कि 'जीव (=प्राण) ले; परन्तु जीविका न ले'। हमारे भाषण से वा लेख से गरुड़ पुराणादिक ग्रन्थों के विषय में लोगों की अश्रद्धा उत्पन्न होने से सहज ही कट्टहाओं की जीविका डूबेगी तो उससे हमें पाप लगेगा, सो भाई हमें इसका भय नहीं है। कारण, राजा दुष्ट लोगों को दण्ड देता है। [उससे उसे पाप नहीं लगता] उसी तरह हमारे वचनों से दुष्टों की जीविका डूबेगी तो उसमें हमें पाप किस बात का लगेगा ? ब्राह्मणों को अर्थात् विद्वान् आर्यों को अध्यापन, याजन करने का अधिकार है। उन्हें मतलब सिन्धु साधने के लिए कट्टहापन का धन्धा करना वा जन्म-पत्रिका बनाना या आप ही शनि बन लोगों को लग जाना और दुष्ट उपायों से उपजीविका करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि ये सब पाप आजकल के उन ब्राह्मणों के सिर चढ़ते हैं। जरा विचार तो करो कि कहीं भी सारे महाभारत भर में [एक स्थान पर भी] जन्म-पत्रिका का वर्णन आया है ? कहीं भी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्य-विद्या में नहीं है, यह स्पष्ट है।

मृत्यु-समय में यमदूत जीव को ले जाता है इससे यह आशय समझें कि वायु जीव का हरण करता है। अस्तु, वायु मनुष्य का हरण करता है और फिर आगे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर-नियम की व्यवस्था से यह सब सहज ही में बन जाता है। इसमें वैतरणी नदी और गोपुच्छादि सदृश पाखण्ड मत को अवकाश कहां से हो सकता है? अर्थात् इन सारे प्रलापों का आधार वेदादि सत् शास्त्रों में कहीं भी नहीं।

चौरासी लाख योनियां हैं अथवा न्यूनाधिक हैं, इन गपोड़ कथाओं का वर्णन करने की भी कोई आवश्यकता नही है। जगत् में कितनी योनियां हैं इसका शोध लगा, गिनकर हमारे शास्त्री लोग बतावें।

विद्वांसो हि देवाः।[1]

शतं ये मनुष्याणामानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यादि०॥[2] (तै० उपनिषद्)

जिनके पाप-पुण्य सम होते हैं, वे मनुष्य जन्म पाते हैं। जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है वे देवता, पापातिशय के कारण तिर्यग् योनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो इन्हें भोगकर जब ही पाप-पुण्य सम हुआ कि मानो मनुष्य जन्म प्राप्त होता ही है। इस प्रकार पाप-पुण्य पर सारी व्यवस्था ईश्वर ने नियत कर रखी है और यही व्यवस्था यथार्थ है। इस प्रकार आदि सृष्टि का वर्णन हुआ।

अब कोई ऐसी शका निकाले कि पूर्व कृत पापों का दण्ड जीव को विना भोगे छुटकारा नही मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी लाभ नहीं है क्या? उसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पाप-क्षय नही होता; परन्तु आगे पाप करना बन्द हो सकता है।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैव कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥[3]

चाहे कितना भी पश्चात्ताप किया जावे तो भी कृत पापो को तो भोगना ही होगा। इसका दृष्टान्त—जैसे कोई कुये मे गिरा और उसके हाथ-पाव टूट गए, तो अब चाहे जितना पश्चात्ताप करे, तो भी उसके हाथ-पाव जो टूटे सो तो टूट ही चुके, वह तो कुछ भी किए नही छूट सकता। हा आगे के लिए कुय में न गिरेगा, इतना ही केवल होगा।

---

१. शत० ३।७।३।१०॥

२. द्र०—तै० उप० ब्रह्मा० ८।

३. मनु० अ० ११ श्लो० २३०॥

अब पाप का फल शोक है और पुण्य का फल हर्ष है, तो पाप-पुण्य भोगने के लिए देश, काल, वस्तु ये साधन भी अवश्य चाहिए । इन निमित्तों के विना भोग कैसे होगा ? जब कि भोग न भोगा जावेगा, तो फिर आनन्द भी कैसे प्राप्त होगा ? अब इस पर कोई ऐसा कहेगा कि मुक्त समय में शरीर न होने पर जीव को सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होकर वह परमेश्वर को ही प्राप्त होता है, फिर एक परमेश्वर ही उसका आधार रहा और फिर ऐसे परमानन्द समय में शरीर का प्रयोजन नहीं है । तो जानना चाहिए कि शरीर अर्थात् भोगायतन, वह इस जगत् में पाप-पुण्य भोगने का साधन है, इसका सम्बन्ध मुक्तावस्था में नहीं है ।

अब पुनरपि मुक्त जीव का ज्ञान कैसा है ? इसका विचार करें ।

कोई ऐसी शंका करता है कि इस जन्म में पूर्व-जन्म का विस्मरण होता है तो सर्वदैव जीव को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं होगा । जिस ज्ञान का निमित्त छूटता है तो उस ज्ञान का भी विस्मरण हो जाता है ।

युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।[1] (गौतम सूत्र)

ये सब आपत्तियाँ अमुक्त आत्मा को लगती हैं, परन्तु धनञ्जय वायु का जिसे ज्ञान हुआ है और जिसकी आत्मा उसमें सञ्चार कर सकता है और जिनके आत्मा से पूर्वजन्म संस्कार निकल चुके हैं वह और जिसके आत्मा में शान्ति उत्पन्न हुई है, जिसके आत्मा को अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है और जिसकी दृष्टि को और मनोवृत्ति को ज्ञान सुख के विना अन्य सुख विदित नहीं है, ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है । ऐसे मुक्त पुरुषों को देश, काल, वस्तु परिच्छेद का [युगपत्] ज्ञान होता है, उन्हें युगपत् ज्ञान की अटक नहीं है इसका दृष्टान्त— जैसे एक कण शक्कर का यदि चींटी को मिले तो वह उसे ले जाना चाहती है; परन्तु उसे वहीं एक शक्कर का गोला मिल जाय तो उसी शक्कर के गोले को वहीं पर चींटी लिपट जाती है; इसी तरह योगियों की आत्मा की स्थिति परमानन्द प्राप्त होने पर होती है ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

१. न्यायदर्शन १।१।१६॥

सातवाँ उपदेश

यज्ञ और संस्कार-विषयक

[मङ्गलवार ता० २० जुलाई सन् १८७५ ई०*]

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म
शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥[1] य०सं०

[यह ऋचा बोलकर स्वामी जी ने व्याख्यान का आरम्भ किया।] यज्ञ और संस्कार क्या है? इसका विचार आज कर्त्तव्य है।

प्रथम यज्ञ का विचार करें—यज्ञ का अर्थ क्या है? यज्ञ के साधन कौन-कौन से हैं। उसकी कृति कैसी है? और उनके फल कौन-कौन से हैं? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं इनके उत्तर अब हम यथाक्रम देते हैं—

'यज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं—प्रथम देवपूजा, दूसरा सङ्गतिकरण और तीसरा अर्थ दान है।

अब प्रथम देव-पूजा के विषय में विचार करें। केवल देव पद का मूल अर्थ द्योतक अर्थात् प्रकाशस्वरूप है, और वेदमन्त्रों की भी देव संज्ञा है, क्योंकि उनके कारण विद्याओं का द्योतन अर्थात् प्रकाश होता है। यह यज्ञ कर्मकाण्ड का विषय है। यज्ञ में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त का समावेश होता है। देव शब्द का अर्थ परमात्मा भी है, क्योंकि उसने वेद का अर्थात् ज्ञान का और सूर्यादि जड़ों का प्रकाश किया है। देव अर्थात् विद्वान् ऐसा भी अर्थ होता है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में 'विद्वाꣳसो हि देवाः'[2] ऐसा वर्णन किया है। पूजा शब्द का अर्थ सत्कार है।

'पितृभिर्भ्रा०'[3]। पूजितोऽतिथिः। पूजितो गुरुः, इत्यादि।'

अब देव की पूजा कहने से परमात्मा का सत्कार करना, यह अर्थ होता है। चेतन पदार्थों का केवल सत्कार सम्भावित है, जड़ पदार्थों का अर्थात् मूर्तियों का सत्कार नहीं सम्भव होता। मुख्यतत्त्व से वेदमन्त्र के पठन से ईश्वर का सत्कार होता

---

*श्रावण कृष्ण २ वि० स० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में आषाढ़ कृष्णा २)

१. यजु० ३६।१७॥ २. शत० ३।७।३।१०॥ ३. मनु० ३।५५॥

है। इसलिए प्राचीन आर्य लोगों ने होम के स्थल में मन्त्रों की योजना की है। इसी तरह यज्ञशाला को देवायतन अथवा देवालय कहा है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। म० भा०।[1]

इसीलिए ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन भी पांच महायज्ञों में से एक है।

स्वाध्यायेनार्च्चयेदर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।[2] (मनु०)

इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है।

अब दूसरा अर्थ—संगतिकरण—अर्थात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक, प्रेमपूर्वक, देवता का ध्यान, देवता का विचार तथा सत्पुरुषों का सङ्ग करना, इसे भी यज्ञ ही कहते हैं।

अब तीसरा अर्थ दान है—विद्यादान को छोड़ दूसरे दान, नहीं हैं। केवल विद्या का दान ही दान है, अन्न-वस्त्रादिकों के दान विद्यादान की सहायता करते हैं, इसलिए उन्हें भी दान कहना उचित है। विद्यादान अक्षय दान है।

अब यज्ञ से क्या-क्या फल होते हैं, इसका विचार करें। यज्ञ का रूढ्यर्थ वेदों में काष्ठ घृतादिकों का दहन करना है, तो इसमें ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि व्यर्थ ही काष्ठादि तथा घृतादि द्रव्यों को अग्नि में क्यों जलावें? इसका समाधान यह है कि—

शतपथ ब्राह्मण में कहा है—जनतायै यज्ञो भवतीति।[3] (शतपथ ब्राह्मण)

पुष्टि, वर्धन, सुगन्ध प्रसार और नैरोग्य ये चार उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं। ये लाभ उपदिष्ट रीति से होम होने पर ही होते हैं। कहा है कि--

संस्कृतं हविः होतव्यमिति। (शतपथ ब्राह्मण)

योग्य रीति यथाविधि होम करना चाहिए। एकदम मन भर घी जला दिया वा चम्मच-चम्मच करके मन भर घृत को वर्ष भर जलाते रहे, तो भी होम नहीं होगा। फिर कोई-कोई कहते हैं कि होम अर्थात् दैवतोद्देशक त्याग है। देवता लोग यजनदेश में आकर सुगन्ध लेते हैं। इसलिए होम करना चाहिए, तो यह कहना अप्रशस्त है।

क्या देव-लोक में सुगन्धि की न्यूनता है, जो व हमारे क्षुद्र हविर्द्रव्य की अपेक्षा करते हैं?

---

१. गीता ३।१५।। गीता महाभारत के अन्तर्गत ही है।

२. मनु० ३।८१।।

३. तुलना करो—यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् होता भवति। ऐ० ब्रा० १।२।।

इसी तरह कोई-कोई कहते हैं कि श्राद्ध आदिकों में पितृ लोग आते हैं और यदि उन्हें श्राद्धान्न और तर्पण का जल न मिले तो वे [क्षुधार्त और] तृषार्त्त रहते हैं। तो क्या वे [भूखे] प्यासे रहकर भूखों मरेंगे ? और पितृलोक में सब दरिद्रता ही दरिद्रता है ? सारांश यह कि [यह] सब समझ और विचार ठीक नहीं है। क्योंकि देव-लोक में वा पितृ-लोक में कुछ न्यूनता नहीं है। होम हवन उनके उद्देश्य से कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु, सुवृष्टि और वायु-शुद्धि होम-हवनादि से होती है, इसलिए होम करना चाहिए। क्योंकि सब प्रकार के नैरोग्य और बुद्धि-वैशद्य को वायु और जल का ही आधार है। इसमें दृष्टान्त सुनो कि इन दिनों पंढरपुर[1] में बड़ा हैजा (विषूचिका) जारी है तो वहां का जलवायु ही बिगाड़ का कारण हुआ। हरद्वार में एक समय मेला हुआ था,[2] वहां पर वायु बिगड़ने से हजारों मनुष्य कालवश हुए अर्थात् मर गए। ब्रह्माण्ड में संचार करने वाला जो वायु है, वही जीवन का हेतु है। अन्तर वायु द्वारा ठीक-ठीक व्यापार होवें, इसलिए बाहर का ब्रह्माण्ड-वायु शुद्ध रहना चाहिए। ब्रह्माण्ड वायु शुद्ध करने के लिए यज्ञकुण्ड में घृत [आदि] पुष्टि-कारक, कस्तूरी केशरादि सुगन्धित द्रव्यों का हवन करना चाहिए। सुगन्धित द्रव्यों के दहन (जलाने) से ब्रह्माण्ड वायु की दुर्गन्धि का नाश होता है। इस हवन के कारण जो सुगन्ध उत्पन्न होता है उस सुगन्ध के सम्मुख वायु के सब दुष्ट दोष दूर होकर नैरोग्य उत्पन्न होता है।

अब कोई-कोई अर्वाचीन लोग ऐसी शंका करें कि पदार्थों का दहन होने से उनका पृथक्करण होकर उनके गुण नष्ट हो जाते हैं, तब फिर हवन से नैरोग्य कैसे उत्पन्न होगा ? इस विषय में हमारा प्रथम उत्तर यह है कि सब द्रव्यों में स्वाभाविक और संयोगजन्य दो प्रकार के गुण हैं। उनमें स्वाभाविक गुणों का नाश कभी नहीं होता, संयोगजन्य गुणों का वियोग से ह्रास (घटती) होता है। यदि स्वाभाविक गुण पदार्थों में न माने जायं तो समुदाय में गुण कहां से आवेगा ?

दृष्टान्त—एक तिल्ली के दाने से थोड़ा ही तेल निकलता है, इसलिये समुदाय स्थित बहुत से तिलों का तेल बहुत निकलता है। एक जल परमाणु में शीतलता है इस लिये परमाणु समुदायरूप जल का शीतलता स्वाभाविक धर्म है। सुगन्धित पदार्थों का सुगन्धि स्वाभाविक गुण है, वह दहन से फैलता है, उसका नाश नहीं होता।

द्वितीय—सुगन्धि जलाने से दुर्गन्धि का नाश होता है, यह प्रत्यक्ष है।

तृतीय—जब हम अर्क निकालते हैं तब जैसा द्रव्य होता है वैसा ही तद्-गुणविशिष्ट अर्क निकलता है। अर्क अर्थात् आसव सत्त्व अतर आदि द्रव्य।

अग्नि-परमाणु में जो गुण हैं, वे अग्नि के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होकर मेघ-मण्डल तक विस्तीर्ण होते हैं और उससे वायु-शुद्धि परिणाम होता है।

---

१. हिन्दुओं का एक यात्रा स्थान है।

२. वि० सं० १९२४ में, उस समय ऋषि दयानन्द भी वहां गये हुए थे।

अब कोई ऐसी शंका करे कि होम एक छोटी सी कृति है, इससे ब्रह्माण्ड वायु कैसे शुद्ध होगा, समुद्र में एक चम्मच भर कस्तूरी डालने से क्या सारा समुद्र सुगन्धित और शुद्ध होगा ?

इसका समाधान यह है कि सौ घड़े रायते में थोड़ी-सी हींग के बघार से [सुगन्ध और] रुचि आ जाती है, यह प्रत्यक्ष है। इसकी जैसी उपपत्ति समझी जाती है तद्वत् ही यह प्रकार भी है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि होम तो यहाँ करो और अमेरिका में उसका परिणाम कैसे होगा ?

इसका समाधान यह है कि वायु द्वारा शुद्धि सर्वत्र फैले, यह वायु का धर्म है। [इसके] सिवाय—यदि सब लोग अपने-अपने घर में आर्यसम्मत रीति से हवन करें तो यह शका ही नहीं सम्भव होती। पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रातःकाल स्नान कर बारह आहुति देता था, क्योंकि प्रातःकाल में जो मल-मूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती थी, वह इस प्रातःकाल के हवन से दूर होती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमी हुई जो दुर्गन्धि उसका नाश होकर रात भर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी। प्राचीन आर्य लोग बड़े ही बुद्धिमान् थे, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। फिर अमावस्या और पौर्णमासी के दिन समस्त भरतखण्ड में होम होता था। उससे भरतखण्ड में वायु शुद्धि के कितने साधन उत्पन्न होते थे ? इसका विचार करने से यह छोटा ही सा प्रकार है। ऐसा किसी को भी प्रतीत न होगा। अब वायु शुद्ध रहने से वृष्टि का जल भी शुद्ध रहता है। वृष्टि और वायु का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और सब देश का जल वृष्टि से उत्पन्न होता है।

जल स्वच्छ और वायु के भी स्वच्छ रहने से वृक्षों के फल, पुष्प, रस ये बड़े ही शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसी तरह अन्नादि सब द्रव्य शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसलिए शरीर को सुख होकर अन्न से बल उत्पन्न होता है। प्राचीन आर्य लोगों के शौर्य का वर्णन इस प्रसंग में करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वायु और जल की दुर्गन्धि नष्ट होकर उनमें शुद्धि और पुष्टि वर्धनादि गुण बढ़ने से सब चराचरों को सुख होता है, इसीलिए कहा है कि—

स्वर्गकामो यजेत, सुखकाम इति शेषः ॥ (ऐतरेय, शतपथब्राह्मण)

होम—हवन मे परमेश्वर की सेवा कैसे होती है, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे विचार करना चाहिए कि सेवा का अर्थ प्रिय आचरण है। परमेश्वर की सेवा अर्थात् उसको जो प्रिय है वह आचरण करने से वह न्यायकारी होने के कारण उसके द्वारा योग्य प्रत्युपकार होता है, ऐसा एक नियम ही है। अब स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष अथवा विद्या और नरक अर्थात् दुःख विशेष अथवा अविद्या है। विद्या स्वर्गप्राप्ति का तथा बुद्धि-वर्धन का कारण है। बुद्धि-वर्धन को शारीरिक दृढ़ता अवश्य चाहिए और

शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्धान्न के विना शरीर-दृढ़ता कैसे प्राप्त होगी ? होम-हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है। उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है, विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति, सुख-प्राप्ति होती है।

कोई-कोई ऐसी भी शंका करें कि वायु शुद्ध्यर्थ यदि हवन है तो उसमें वेद-मन्त्रों के पठन की क्या आवश्यकता है और होम करने में अमुक ही रीति की ईंट रखकर अमुक ही प्रकार की वेदी बनावे, ऐसी विशेष योजना किस वास्ते चाहिये ?

इस शंका का समाधान यह है कि विशेष योजना के अनुकूल कोई भी बात किए विना उससे विशेष कार्य नियमित समय पर प्राप्त नहीं होता। इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल गहरी और सोलह अंगुल ऊंची गणित प्रमाण से वेदी बनाकर उसमें नियमित प्रमाण का ही मसाला लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन करने से, अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है और उष्णता के कारण वायु शुद्ध होकर जल परमाणु वायु में उड़ जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत् उत्पन्न होती है और मेघ-मण्डल में गडगड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है, इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

अब गडगड़ाहट अर्थात् इन्द्र-वज्र-सघातजन्य शब्द वर्णन किया हुआ है। इसका सच्चा अर्थ यह है कि इन्द्र अर्थात् सूर्य और सूर्य की उष्णता के कारण विद्युत् और मेघ गर्जनादि कार्य होते है।

कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्र अपने वज्र से बलि को मारता है सो यह बात बिलकुल झूठ है। बलि राजा पाताल में राज्य करता है और पाताल अमेरिका देश है, सो अब उस अमेरिका में बलिराजा कहाँ पर है ? इसी तरह वेदी की एक आध ईंट यदि टेढी बैठी कि मानो यजमान मरता है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त और निर्मूल है। यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलब-सिद्धि की है। वे कहते हैं कि हम जो कहें उसे बछिया के बाबा की नाई सुनो, शंका मत करो, शंका करते ही तुम नास्तिक बन जाओगे, इत्यादि धमकियां धूर्त लोग देते रहते हैं।

अब होम समय में वेद [मन्त्रों का] पठन किस लिए है यह पूछा था, सो इसका उत्तर यह है कि दो काम यदि एक ही समय में हो सकते हों तो उन्हें क चाहिए, ऐसा उद्देश्य कर प्राचीन आर्य लोगों ने जब हाथों को होमादिक द्रव्यों की व्यवस्था करने में लगाया, तब मुंह खाली न रहे, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना मुह से होती रहे, इसलिए पहले के ऋषि लोग वेद-मन्त्र बोलते थे। इसके लिए ब्राह्मण लोगों ने वेद कण्ठस्थ आज तक किया, इसीलिए वेद-विद्या भी अबलों बनी रही है। फिर यह भी था कि वेदपाठ करने से परमेश्वर की भक्ति होती थी, जिससे विचार-शक्ति भी उत्पन्न होती थी।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे ।[1] (ऋ०सं०)

दूसरा ऐसा भी विचार है कि जो हाथों से प्रयोग होता है उसके जो मन्त्र उस समय कहे जाते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इससे मन्त्रोच्चार कर्म के उद्देश्य से नहीं होता, किन्तु परमेश्वर की स्तुति मुंह से होती रहे, यही प्रधान उद्देश्य है और कोई-कोई मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें होम के लाभ कहे गए हैं। सारांश यह कि वेद-मन्त्रों को कहने से वेद की रक्षा ही मुख्य प्रयोजन है। इस प्रकार कर्मकाण्ड बिलकुल निष्फल नहीं है। अस्तु,

कोई-कोई ऐसी शंका करेंगे कि वेदों में बीभत्स कथायें क्यों हैं?

उत्तर—वेदों में तो बीभत्स [अश्लील] कथायें कहीं भी नहीं हैं। ऐसी- ऐसी कथायें अर्वाचीन महीधरादि भाष्यकार दिखलाते हैं, सो यह दोष वेद पर नहीं लग सकता। यह केवल भाष्यकार की बीभत्स बुद्धि का दोष है। दृष्टान्त जैसे किसी सुवासिनी (=सौभाग्यवती) स्त्री ने किसी विधवा को नमन किया तो विधवा क्या कहती है अर्थात् आशीर्वाद देती है कि 'आओ बहिन मुझसी हो !' बस, इसी प्रकार मतलबी लोगों ने मन-माना अर्थ वेदों में निकाला है। शतपथ ब्राह्मण को देखो—

श्रीर्वा राज्यस्याग्रमित्यादि० ।[2] (शतपथ ब्राह्मण)

जब कोई ऐसा कहे कि अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार यजमान की स्त्री के सम्बन्ध से कहा है। इससे ऐसा प्रकार वेदों में बिलकुल ही उपदिष्ट नहीं है, सो ठीक है; परन्तु इसके सम्बन्ध में जो-जो बीभत्स कथायें लिखी हैं उन्हें पढ़ते हुए मानों उलटी आती है तथापि ऐसा बीभत्सपना कभी भी प्रचार में न आया हो तो यह कहते नहीं बनता, क्योंकि पद्धति-निरूपक ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट मिलती है।

पच्चीस सौ वर्ष के पूर्व बौद्ध लोगों ने जो-जो ग्रन्थ बनाये उनमें ऐसी-ऐसी बातों का उद्देश्य कर ब्राह्मणों की निन्दा की है।

अब कोई ऐसी शंकाएं करें कि अस्तु जो हो, परन्तु बीभत्स कथायें तो भी उनमें हैं वा नहीं? अश्व को फेरते थे और सार्वभौम राजा लोग इसमें क्या शत्रुता उत्पन्न करते थे?

इनमें हमारा समाधान यह है कि शतपथ में लिखा है कि—

अग्निर्वा अश्वः[3] **। अ.ज्यं मेधः ।।**[4] (शतपथ ब्राह्मण)

अश्वमेध अर्थात् अग्नि में घी डालना—इतना ही अर्थ है। उसी तरह ग्रन्थ-

---

१. ऋ० ६।४७।११।।

२. शत० ब्रा० १३।२।६।७ में ,'श्रीर्वै वृक्षस्याग्रम्' पाठ मिलता है।

३. शत० ३।६।२।५।।

४. द्र० तै० ब्रा० ३।६।१२।१—मेधो वा आज्यम्।

साहचर्य की ओर ध्यान देने से हरिश्चन्द्र, शुनःशेप[1] इत्यादि वार्ताओं का निर्वाह होता है।

अब केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्ता है। यक्ष ने अग्नि के सम्मुख तृण डाला और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे। अग्नि से वह तिनका न जल सका। फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा ले जा। वायु से भी वह तिनका न उड़ सका, ऐसा कहकर जो हैमवती नामक ब्रह्मविद्या है, उसका माहात्म्य दर्शाया।

यज्ञ में मांस आदि खाना यह गपोड़ अर्वाचीन पण्डितों ने निकाला है।

कोई-कोई व्यभिचार के विषय में भी ऐसी ही कोटियां निकालते हैं। कहते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि अप्सरायें नहीं हैं? हम नकद रुपया दे बाजार में कोई माल मोल लेवें तो इसमें दोष क्या है? तो भाई सोचो कि ये बातें कहना क्या तुम्हें प्रशस्त दीखती हैं? कभी नहीं।

अस्तु, पुरुषमेध का अब थोड़ा सा विचार करें। यजुर्वेद के इस मन्त्र को देखो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव॥[2] (य० सं०)

होम तो देवताओं का हो और मांस पशुओं का तथा मनुष्यों का रखें तो कहो यह व्यवस्था कैसे ठीक है? ऐसी व्यवस्था परमेश्वर बनावेगा, यह हमें तो निश्चय नहीं होता, अर्थात् ऐसी व्यवस्था को अन्याय के सिवाय क्या कह सकते हैं।

परमेश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं है और ऐसी निष्कारण हानि का बर्ताव भी नहीं है। देखो, गौ सदृश परोपकारी गरीब पशु को खाने के लिए वा यज्ञ के लिए मारने मे कितनी हानि होती है। एक गाय चार सेर दूध देती है। इस दूध को औटाकर खीर (क्षीर) पकाने मे न्यून-से-न्यून निदान चार मनुष्यों के लिए भी तो पौष्टिक अन्न होता है, अर्थात् प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय का दूध मिलाकर आठ मनुष्यों का पोषण होता है। यदि उस गाय ने दस महीने दूध दिया तो समझ लो कि चौबीस सौ (२४००) मनुष्यों का पालन उस गाय के एक बेत में होगा। इस प्रकार आठ औलाद औसत पकड़े तो (१९२००) उन्नीस हजार दो सौ लोगों का पालन होगा। वही गाय कोई यदि मारकर खा जाय तो पच्चीस-तीस मनुष्यों का पालन एक टंक का होता है। इस प्रकार की युक्ति की रीति से भी मांस-भक्षण ठीक नहीं है।

अस्तु, इन दिनों मांसाहारियों ने राज्य-बल के आधार से इतना जबर हाथ

---

१. हरिश्चन्द्र शुनःशेप की कथा ऐ० ब्रा० (७।१३-१८) में मिलती है।

२. य० ३०।३॥

फेरना प्रारम्भ किया है कि चौपाये बिल्कुल न्यून होते जाते हैं। पांच रुपये के बैल के आजकल पच्चीस रुपये लगने लगे हैं और गरीब लोगों को दूध-घृत मिलने में बड़ी ही कठिनाई होती जाती है। जिस देश में बिल्कुल मांस नहीं खाते, उस देश में दूध घी की खूब ही बहुतायत हो रही है अर्थात् वहां पर खूब समृद्धि रहती है।

अस्तु, अब लों तो पशु-वध होम में न करने के लिए युक्तियों तथा शास्त्र का विचार किया। अब इस शंका का विचार करें कि कभी होम में पशु को मारते थे वा नहीं?

होम दो प्रकार के हैं—एक राज-धर्म सम्बन्धी और दूसरा सामाजिक। इतने समय तक सामाजिक होम का निरूपण किया। अब राज-धर्म सम्बन्धी जो होम है उसकी सब ही व्यवस्था भिन्न है। उसमें पशु मारने की तो क्या ही बात है; परन्तु कभी-कभी मनुष्यों को भी मारना पड़ता है। युद्ध प्रसङ्ग में हजारों मनुष्यों का प्राण लेना, यह राज-धर्म विहित है। भयंकर श्वापदादि जो खेती को उजाड़ते हैं या मनुष्यादि को हानि पहुँचाते हैं, उनको मारना ठीक ही है; क्योंकि जङ्गली पशुओं का विध्वंस करना अति आवश्यक है, परन्तु सब ही होमों में मांसाहार लाना यह सर्वथैव अयोग्य है। किसी प्राणी को पीड़ा देना, कहो यह धर्म-विहित कैसे होगा और इतने पर भी बेचारों को मुंह बांधकर घूंसे मार-मार कर उनका जीव लेना तो ईश्वर-प्रणीत व्यवहार कभी भी न होगा।

अब यज्ञ के विषय में किसका अधिकार है ऐसी कोई शंका करें तो जानना चाहिए कि कर्म-काण्ड में जिनकी प्रवृत्ति है, उन्हीं को केवल अधिकार है। कर्म से विचार-शक्ति थोड़ी-थोड़ी जागृत होती है। उपासना से विचार में निर्मलता उत्पन्न होती है। फिर ज्ञान में विचार-दृढ़ता और पक्वता आकर फिर वह ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है।

अब हम होम के विषय में छोटी-छोटी शंकाओं का विचार करते हैं—

कोई-कोई कहते हैं कि जब राज-नियम से इन दिनों ग्राम स्वच्छ रहता है, तो फिर होम किस लिए करें? उनके प्रति यह उत्तर है कि हमारे घर स्वच्छ बनाये विना ग्राम कैसे स्वच्छ रहेगा और ग्राम के बाहर की दुर्गन्धि कैसे दूर होगी?

दूसरी शंका यह करते हैं कि जब आग गाड़ी में (रेल के इञ्जन में) और रसोई के घर में धुआं (धूम्र) बहुत उत्पन्न होता है फिर वृष्टि भी बहुत होनी ही चाहिए, तो फिर होम किस वास्ते करना चाहिए?

इस पर हमारा यह कहना है कि यह धूम्र दुर्गन्ध और दूषित रहता है, इससे वायु शुद्ध नहीं होती।

इन दिनों होम के न्यून होने से वारम्बार वायु बिगड़ रही है, सदा विलक्षण रोग उत्पन्न होते जाते हैं।

अब तक यज्ञ का विचार हुआ, अब थोड़ा संस्कारों का भी विचार करें।

दूसरा भाग—संस्कार

संस्कार किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का प्रथम विचार करना चाहिए।

किसी द्रव्य को उत्तम स्थिति में लाना, इसका नाम संस्कार है। इस प्रकार स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों पर होवे, एतदर्थ आर्य लोगों ने सोलह संस्कारों की योजना की है, परन्तु उन प्राचीन आर्यों को इससे यह इच्छा न थी कि संस्कारों के कारण पेटार्थू पत्रा-पांडे हमारा माल उड़ावें और आलसी बनें, क्योंकि वे आचार्य आर्य महाजन (श्रेष्ठ-जन) थे, तो फिर वे अनार्य अर्थात् अनाड़ियों की समझ में क्योंकर मदद देते।

१. **निषेक**—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।

> **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।**
> **सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।।**[1] (मनु०)

ऐसा मनु में वाक्य है। पिता ही को सब उपदेश और संस्कार करने चाहिए। पुत्रेष्टि का वर्णन छान्दोग्य[2] उपनिषद् में किया है। उस स्थल पर गर्भ-धारण करने वाली स्त्रियों को क्या-क्या पदार्थ खाने चाहिए, जिससे पुत्र के शरीर और बुद्धि में दृढ़ता आती है. यह मुख्यकर विचार किया है। प्राचीनकाल के आर्य लोग अमोघ-वीर्य थे और स्त्रियों में भी पूर्ण वय होने के कारण वीर्याकर्षता रहती थी; पुत्रेष्टि यह गृहस्थाश्रम का प्रथम धर्म है।

२. **पुंसवन**—इस संस्कार का प्रयोजन वीर्य को पुनः किस प्रकार जमावे इस योजना के सम्बन्ध से है। वीर्य में सदा स्थिरता, दृढ़ता और नैरोग्य गुण रहने चाहिए, अन्यथा विकृत वीर्य से संतति में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। एतदर्थ सूत्र-कारों ने औषधियां बतलाई हैं। वीर्यवृद्धयर्थ और शान्त्यर्थ वर्ष भर (साल भर तक) पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिए, ऐसा भी निर्बन्ध कहा हुआ है।

---

१. मनु० २।१४२।।

२. बृह० उप० अ० ६, ब्रा० ३, ४ में गर्भाधान का विस्तार से वर्णन मिलता है।

३. **सीमन्तोन्नयन**—स्त्रियों का अकाल में गर्भपात होने की बड़ी भीति रहती है, सो वह न हो और निरोगी पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मन के उत्साह रहने से गर्भ की स्थिति उत्तम रहे, एतदर्थ इस संस्कार की योजना है।

४. **जातकर्म**—इस संस्कार के विषय में विशेष होम करना है। कारण यह कि सूतिका गृह का (जच्चा के घर का) अमंगलपना दूर करने के लिए सुगन्धिवर्धक होम करना योग्य है। बच्चे को नाभि काटने से दुःख न हो, जच्चा सुखी रहे, इस प्रकार का इस संस्कार का उद्देश्य है।

५. **नामकरण**—नाम रखने में भी कोई भूल न करे, यहां तक तो प्राचीन आर्य लोगों की बारीक दृष्टि थी। नाम का सुख से उच्चारण हो, उसमें मधुरता रहे, इसलिए दो अक्षर वाला या चार अक्षर वाला नाम होवे ऐसा कहा है, यों ही व्यर्थ लम्बा-चौड़ा नाम न होवे। नहीं तो कभी-कभी इन दिनों लोग मथुरादास, गोपवृन्द, सेवकदास ऐसे लम्बे-चौड़े नाम रखकर गड़बड़ मचाते हैं, कभी-कभी कौड़ीमल, भिकारीमल, धोंड्या, पथर्या आदि विलक्षण नाम रखते हैं। इन दिनों सब प्रकार का पागलपना फैल रहा है, फिर नाम रखने में दोष हो तो आश्चर्य क्या है? दोष देने में कुछ भी उपयोग नहीं। स्त्रियों के नामों में भी मधुरता होनी चाहिए जैसे भामा, अनसूया, सीता, लोपमुद्रा, यशोदा, सुखदा ऐसे-ऐसे प्राचीन आर्य लोगों की स्त्रियों के नाम होते थे।

६. **निष्क्रमण**—कोमल शरीर के बच्चों को बाहर हवा खाने के लिए ले जाना, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

७. **अन्नप्राशन**—योग्य समय में बच्चे को अन्नप्राशनादि यदि प्रारम्भ न करे तो बड़ा ही दुःख होता है। इसलिए इस संस्कार की योजना है।

८. **चूडाकर्म**—मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के कारण जो मैल जमता है वह दूर होवे, इसलिए इस संस्कार की योजना की है।

९. **व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत)**—पुरुषों को विद्यारम्भ के समय उत्साह हो, इस उद्देश्य से व्रतबन्ध विषय में विशेष नियम ठहराये हैं अर्थात् बनाए हैं। स्त्रियों को भी विद्या-सम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे। विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण लोग आर्यकुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कार्पास का (रुई का) यज्ञोपवीत विशेष चिह्न ज्ञान-धारण करने को देते थे। इसके धारण करने में बड़ी ही जवाबदारी रहती थी। क्षत्रिय वैश्यादिकों के बालकों को कार्पास का तो नहीं; किन्तु दूसरे पदार्थों का यज्ञोपवीत धारण करने के लिए देते थे। यदि ठीक-ठीक विद्यासम्पादन न हुई तो चाहे ब्राह्मण के ही कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी।

उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्यासम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे। इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने कर रखी थी। इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्यासम्पादन करने के विषय में उत्साह बढता रहा था। विद्या के अधिकारानुसार उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, ऐसे यज्ञोपवीत के भूषण सबों को धारण करने को मिलते रहते थे।

१०-११ तदनन्तर दसवां **वेदारम्भ** और ग्यारहवां **वेदाध्ययन-समाप्ति अर्थात् समावर्त्तन** ऐसे दो संस्कार हैं।

१२. **विवाह**—इस संस्कार का आगे जब इतिहास विषय में व्याख्यान देंगे, उस समय विचार करेंगे। इन दिनों मुहूर्तादिक के विषय मे जो आडम्बर मचा रखा है यह केवल बलात्कार (जबरदस्ती) है।

व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्त्ता हो, इसलिए कालनियम में ध्यान अत्यावश्यक है, परन्तु उसी के शास्त्रार्थ में व्यर्थ टांय-टांय करना अनुचित है। इसी प्रकार पहले आर्य लोग स्वयंवर करते थे। एक नाड़ी आई, और मनुष्यगण आ घुसा और अमुक ग्रह नहीं मिला और फलानी राशि टेढी हुई इत्यादि गपोड़े उन दिनों में नही थे।

१३. **गार्हपत्य**—गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ करने पड़ते हैं इसका विचार भी आगे इतिहास विषय में व्याख्यान देते समय करेंगे।

१४. **वानप्रस्थ**—पुत्र का बेटा होते ही गृहस्थाश्रम में वास करने वाला गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम धारण करे, ऐसी योजना थी। वानप्रस्थाश्रम मे धर्माधर्म और सत्यासत्य के विषय में निर्णय होना रहता था, क्योंकि विचार के लिए समय मिले और गुण-दोष का निर्णय करने मे आवे, इसलिए वानप्रस्थाश्रम की योजना की है।

१५. **सन्यास**—धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने मे आवे, इसलिए यह आश्रम है।

१६. **अन्त्येष्टि**—आश्वलायन सूत्र मे इस सम्कार का वर्णन किया है। आजकल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं। कोई तो जलाते हैं वा कोई जगल में डाल आते हैं और तीसरे जल समाधि देते है।

प्राचीन आर्य लोगों में अन्त्येष्टि यज्ञ है। उसमे दहन प्रकार मुख्य है। अब मुर्दे को गाड़ने वाले ऐसी शका करे कि जलाना बड़ी निष्ठुरता है, परन्तु मुसलमान आदिकों को विचार करना चाहिए कि मुर्दे को जमीन में गाड़ने से रोग की उत्पत्ति होती है।

कोई-कोई ऐसी शका करेगा कि जल मे देह डालने मच्छियां उसे खाती हैं, तो क्या यह परोपकार नही है; परन्तु जल विगडता है इसका भी तो विचार करना

चाहिए। गगा सदृश महान् नदियों में प्रेतों [की अस्थि-भस्म आदि] को डालने से जल में विकार उत्पन्न होता है, तो फिर छोटी-मोटी नदियों की तो कथा ही क्या है। अब गंगा में हड्डियां ले जाकर बहुत से लोग डालते हैं, तो बतलाओ यह कितना भारी भोलापन है ? मरे हुए प्राणी की देह मृत्तिका है। उसे गङ्गा में डालने से क्या लाभ होगा ? वन में फेंकने से भी दुर्गन्धि उत्पन्न होकर रोग उत्पन्न होता है, इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इससे प्राचीन आर्य लोगों ने दहन-विधि ही को मुख्य माना था और ठीक यही है। वे श्मशानभूमि में एक वेदी बनाया करते थे और उसे पक्की ईंटों से बांधते थे और फिर उसमें मृत देह को जलाते समय बीस सेर घृत डालकर चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ भी डालते थे। शुक्ल यजुर्वेद ३९ वें अध्याय में इसका वर्णन किया है।

आजकल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता, नाम-मात्र होता है। अलबत्ता कट्टहाओं की चैन उड़ती है, सो यह जबरदस्ती। सबों को उचित है कि फिर संस्कारों के विषय का सुधार, करें जिससे कल्याण हो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आठवाँ उपदेश

इतिहास-विषयक

[शनिवार ता० २४ जुलाई १८७५※। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २४ माह जुलाई के दिन रात्रि के आठ बजे इतिहास विषय पर व्याख्यान दिया, उसका सारांश]

ओम् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयन्नः पशुभ्यः[1] ॥ (य० सं०)

'इतिहास'—यह आज के व्याख्यान का विषय है—

क्रम से यह व्याख्यान होना चाहिए। इतिहास अर्थात् "इतिहासो नाम वृत्तम्" इतिवृत्त अर्थात् अतीतवर्णन को इतिहास कहते हैं। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता है। जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध से दो ऐक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है। जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया ?

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥[2] (ऋ० सं०)

मूल में प्रकृति भी नहीं थी और न कार्य ही था। उत्पत्ति, स्थिति, लयादि को कार्य कहते हैं। सत् अर्थात् प्रकृति, इसका वर्णन सांख्यशास्त्र में किया है। उस शास्त्र में सत्त्व, रज, तमोगुण की जो समावस्था है वही प्रकृति है, ऐसा माना है। सांख्यसूत्र देखो ?

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।[3]

प्रकृति से आगे उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में सांख्यशास्त्र का सूत्र नीचे लिखे अनुसार है—

प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।[4] (सांख्यदर्शन)

मूल में प्रकृति नहीं थी, तब सृष्टि का कार्य कैसे हुआ, इस विषय में यदि कोई संशय करे तो उसके लिए एक दृष्टान्त है—

भूमि पर ओस पड़कर घास और वृक्ष की पत्तियों पर उसके बिन्दु बन जाते

※श्रावण कृष्ण ६ वि. सं. १९३२ (दाक्षिणात्य मत में—आषाढ़ कृष्णा ६)

१. यजु० ३६।२२॥ २. ऋ० १०।१२९।१॥
३. सांख्य १।६१॥ ४. सांख्य १।६१॥

हैं, इससे यह ओस पृथ्वी का आवरण नहीं होता। इसी तरह पहले किसी प्रकार का भी आवरण नहीं था।

ईश्वर की इच्छा होकर उसने सृष्टि उत्पन्न की, ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं और उसमें निम्न-वचन का प्रमाण देते हैं—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति[1]। (तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६)

परन्तु इस वचन से इच्छा के प्रकार का बोध नहीं होता। क्योंकि 'ईक्ष' शब्द का उपयोग किया है। इस धातु का अर्थ दर्शन और अंकन है; परन्तु इच्छा अर्थ नहीं है। ईश्वर को इच्छा हुई, यह बात सम्भव नहीं होती। इच्छा होने के लिए किसी भी वार्त्ता की अप्राप्ति होनी चाहिए, सो ईश्वर को सृष्टि में कौन-सी वस्तु अप्राप्त है? अर्थात् कोई भी अप्राप्त नहीं। फिर इच्छा करने वाले को देश, काल, वस्तु परिच्छेद होने हैं, यह बात भी ईश्वर में नहीं सम्भव होती। इसलिए ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा कहना अयोग्य है।

मूल में प्रकृति हुई और प्रकृति से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥[2]

(ऋ० सं०)

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ (तै० आ० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १)

आकाश विभु होने से सब पदार्थों का अधिकरण है और उसमें भी विभु और अति सूक्ष्म परमात्मा है। आकाश को ईश्वर ने उत्पन्न किया।

आकाशस्तल्लिङ्गात्।[3] (व्याससूत्रम्)
ओं खं ब्रह्म।[4] (य० सं०)

आकाश और परमात्मा का आधाराधेय सम्बन्ध है। अव्यक्त प्रकृति की जो अव्यक्त स्थिति [होती है] उसी को आकाश कहना चाहिए।

अब कोई ऐसी शङ्का करे कि ईश्वर को जगत् उत्पन्न करने का क्या प्रयोजन था?

---

१. छा० उप० ६।२।३॥
२. ऋ० १०।१९०। १-३॥
३. वेदान्त० १।१।२२॥
४. यजु० ४०।१७॥

इस शङ्का का विचार करते समय प्रथम प्रयोजन शब्द का सच्चा अर्थ क्या है, यह देखना चाहिए। जिस प्रकार की इच्छा जगत् में दिखाई देती है, उस प्रकार की इच्छा ईश्वर में सम्भव नहीं होती, इसलिए—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ॥[1] (गौतमसूत्रम्)

यह प्रयोजन शब्द का अर्थ यहां सम्भव नहीं होता। क्षुधानिवृत्ति के लिए पाक सिद्धि करनी पड़ती है। इसमें क्षुधा-निवृत्ति यही प्रयोजन है। अब ईश्वर से कोई भी पदार्थ बड़ा नहीं है और न ईश्वर को प्रवृत्त करने वाला ही कोई पदार्थ है। इसलिए ईश्वर के काम में उपर्युक्त अर्थ वाला प्रयोजन नहीं सम्भव होता। दूसरा एक ऐसा भी विचार है कि ऊपर लिखे अनुसार जो शंका करे, उस शंका करने वाले से हम यह पूछते हैं कि भाई! सृष्टि न उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? यदि तुम से सृष्टि उत्पन्न न करने का प्रयोजन नहीं कहते बनता, तो हम भी सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन नहीं कहते, फिर तुम्हारी हमारी बराबरी तो अवश्य ही हुई। परन्तु ऐसा नहीं है। सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा कि ईश्वर का सामर्थ्य निष्फल न जावे, ईश्वर की शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् यदि उसने जगत् उत्पन्न न किया तो फिर ईश्वर के बीच वह शक्ति रहने पर उसका क्या उपयोग वा लाभ है? ईश्वर का सर्वशक्तिमत्त्व निष्फल होगा। सर्वशक्ति इस शब्द मे रचना, धारणा, दया इत्यादि गुणों का समावेश होता है, इसलिए सृष्टि उत्पत्ति विषय में शक्तिसाफल्य होना यही प्रयोजन है।

कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने यह जगत् लीला से उत्पन्न किया। उसमें जगदुत्पत्ति का प्रयोजन लीला है. परन्तु यह कहना सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि ईश्वर यदि प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव लेनेवाला होगा, तो उसमें अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की भी सम्भावना होगी। इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति का कारण ईश्वर-लीला है, ऐसा जो लोग कहते हैं वह कहना त्याज्य है।

कोई-कोई ऐसी भी शंका करते हैं कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ या वृक्ष पैदा हुआ? सो इसका उत्तर सुनो—

यदि ऐसा कहें कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ तो वृक्ष के बिना बीज कहां से आ पड़ा? इस प्रकार का झगड़ा आ पड़ता है, भला—प्रथम वृक्ष उत्पन्न हुआ ऐसा कहें तो भी बीज के बिना वृक्ष कैसा हुआ? इस प्रकार "उभयतः पाशा रज्जुः" प्रसंग न आवे, इसलिए हम ऐसा कहते हैं कि प्रथम बीज ही आया, क्योंकि सब जगत् का बीज ईश्वर ही है। वहां से सब उत्पन्न हुए। अस्तु, पतिव्रता का एक बड़ा हास्यजनक दृष्टान्त है। अपने उपास्य देवता के पास किसी पतिव्रता ने यह वरदान मांगा कि मेरा जो पति अभी है वही अगले जन्म में फिर मेरा पति होवे, तब उस

---

१. न्याय० १।१।२४॥

देवता ने उसको वैसा ही वर दिया। फिर आगे वह पति मुक्त हो गया अर्थात् जन्म-मरण से छूट गया, तो बताओ अब ऐसे प्रसङ्ग में देवता के वरदान की सफलता कैसे होनी चाहिए? इस प्रकार की शंका कर नाना प्रकार के तर्क लोग करते हैं। उनके प्रति इतना ही उत्तर है कि मुक्त जो पुण्यात्मा प संत्सङ्ग से उसकी पतिव्रता स्त्री मुक्त होगी। फिर देवता आदि के वरदान होने का बिलकुल ही प्रयोजन शेष नहीं रहेगा। सारांश ऐसे उलटे-सीधे दृष्टान्त में या भाषण में न पड़कर शान्त रीति से विचार करना, यह हमारा धर्म है। अस्तु

अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई। साठ परमाणु का एक अणुक होता है, दो अणुक का एक द्वयणुक होता है। तीन द्वयणुक का एक त्रसरेणु होता है, त्रसरेणु का लक्षण ऐसा किया है—

जालान्तर्गतो भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ मनुः।[1]

यह उत्पत्तिकाल की व्यवस्था हुई। आगे प्रलय काल में त्रसरेणु का द्वयणुक होता है। द्वयणुक के अणु होते हैं अणु के और परमाणु होते हैं। यह प्रलय-व्यवस्था है।

अब ईश्वर सामर्थ्य ही प्रकृति है, उत्पत्ति की सामग्री है और यही जगत् का उपादान कारण है। यह [सामर्थ्य] ईश्वर के साथ सनातन सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व से है।

यह सामर्थ्य प्रकट हुआ तब ही सृष्टि हुई और ईश्वर में इसका लय होने में प्रलय होता है। अत्यन्त प्रलय अब तक नहीं हुआ। वायु तक भी प्रलय नहीं हुआ। जल प्रलय हुए हैं। अग्नि तक प्रलय हुआ है।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत् तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत्॥
तदैक्षत तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत्॥ (ऐतरेय उप०)

पञ्च महाभूत अनन्त परमाणुओं का संचय होकर उत्पन्न हुए। उसी प्रकार उद्भिज-सृष्टि और जीव-सृष्टि के असंख्य बीज हैं। यह भी ईश्वर शक्ति है। उसी तरह एक जातीय विजातीय परमाणु है। एक बीज में अनन्त बीज उत्पन्न करने की शक्ति है। औषधि से अन्न होता है, अन्न से रेत उत्पन्न होता है और रेत से शरीर उत्पन्न होता है। अब कोई ऐसी शंका करे कि रेत किसलिए चाहिए। सब पदार्थ एकमात्र अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो, उसमें क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि जीव-सृष्टि में मैथुनी सृष्टि का भाग है तो उसमें केवल अन्नग्रहण से ही नई उत्पत्ति नहीं होती, रेत-सिंचन की भी आवश्यकता होती है।

---

१. मनु० ८।१३२॥

तपसोऽध्यजायत ।[1]

धाता ने सृष्टि कैसे उत्पन्न की इस विषय में वर्णन है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥[2] **(ऋ० सं०)**

'यथापूर्व' कहने से कल्प-कल्पान्तर में सृष्टिभेद है ऐसा कहना बिल्कुल अयोग्य है और 'यथापूर्व' शब्द से जैसा उसके ज्ञान में था, वैसा ही उसने यह विश्व रचा, ऐसा भी बोध होता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥

अर्थात् उसके अनेक सामर्थ्य के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई।

ततो राज्यजायत ।[3]

इन सब बातों का विचार सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदभाष्यभूमिका आदि पुस्तकों में भलीभांति किया गया है।

यदि ईश्वर ने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया, ऐसा कहें तो क्या नवीन जगत् उत्पन्न करते समय उसने पुरानी भूलों को सुधारा है? अथवा जो उसे [पूर्व] विदित न थीं, क्या ऐसी बातों को उसमें डाला है? कभी नहीं। इस स्थल पर तर्क का अप्रतिष्ठान उत्पन्न होता है और अनवस्था प्रसंग भी आता है और फिर ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आकर पूर्वानवस्था उत्तरानवस्था का प्रसंग आता है।

सत्रों के पश्चात् मनुष्य प्राणी उत्पन्न किया गया, वे मनुष्य बहुत से थे। अन्यान्य मतों में तो दो ही मनुष्य [उत्पन्न किये] थे ऐसा मानते हैं सो ठीक नहीं है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास हो चुका।

अब मनुष्य-सृष्टि होने पर मनुष्य-जाति का इतिहास प्रारम्भ करना चाहिए।

अनेक देशों के अनेक लोगों में प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थकार हो चुके हैं। उन सब ग्रन्थकारों का प्राचीन होने के कारण हमें मान्य करने के लिए कहना कितनी अयोग्य बात है। हमें सत्यासत्य निर्णय करना आता है।

कहीं ठग लोगों की पुस्तकों में यह कहा हो कि मनुष्यों को मारकर चोरी करना चाहिए, तो क्या वह ग्रन्थ प्राचीन है इसलिए उसकी सब बातें मानना चाहिए? कभी नहीं। व्यर्थ ही पुरानी पुस्तकों का नाम रखकर दाम्भिक मत का माहात्म्य बढ़ाने जैसे उद्योग को क्या कहना चाहिए?

---

१. ऋ० १०।१९०।१ ॥ २. ऋ० १०।१९०।३ ॥
३. ऋ० १०।१९०।१ ॥

अब "अप्रसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे[1]" इस न्याय के अनुकूल अनेक दूसरे देशों का इतिहास छोड़कर अपने ही देश का इतिहास कहना योग्य है।

प्रथम मनुष्य-जाति हिमालय के किसी प्रान्त में उत्पन्न हुई—ऐसा मानने से प्राचीन आर्य-ग्रन्थों की परदेशस्थ लोगों के ग्रन्थों के मतों के साथ एकवाक्यता होती है और प्राचीन आर्य लोगों के ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥[2]

इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार है, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो।

अब भिन्न-भिन्न भाषायें कैसे उत्पन्न हुईं, इसका विचार करना अति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यहूदी लोगों में एक ऐसी कहानी है कि उनके पूर्वज स्वर्ग इतना ऊँचा एक बुर्ज बना रहे थे। इससे ईश्वर उन पर अप्रसन्न हुआ और उसने उनकी बोली में गड़बड़ मचा दी।[3] बस इसी से जगत् में अनेक भाषायें उत्पन्न हुईं, सो यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है।

देश, काल, भेद, आलस्य, प्रमाद के कारण एक मूलभाषा से व्यवहार में भेद बढ़कर भिन्न-भिन्न भाषायें उत्पन्न हुईं।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो [वै] वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०।[4]

वेदाध्ययन और अध्यापन, इन दोनों कामों में ब्रह्मा आदि ब्राह्मण, आदि आचार्य और आदि गुरु है। उसका पुत्र विराट् और उससे परम्परा से स्वायम्भुव मनु तक वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ, यह सब व्यवस्था मनुस्मृति में कही हुई है।

मनुष्य-सृष्टि उत्पन्न होने पर एक मनुष्य जाति ही थी पश्चात् आर्य और दस्यु ये भेद हुए।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो०।[5] (ऋग्वेदसंहिता)

अर्थात् ऊपर कहे हुए आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् विद्वान् लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट। फिर आर्यों में गुणकर्मानुसार चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, क्षत्रिय अर्थात् मध्यम विद्याधिकारी, वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी और शूद्र अर्थात् अविद्या का स्थान ही समझना चाहिए।

ब्राह्मणादिकों का याजन अध्यापनादि मुख्य धर्म है, वैश्यों का कृषि कर्म

---

१. पारिभाषिक ४३। २. मनु० १। २१॥
३. बाइबल उत्पत्ति की पुस्तक अ० ११। ४. श्वेता० उप० ६। १८॥
५. ऋ० १। ५१। ८॥

व्यापारादि, शूद्रों का सेवादि कर्म है, उसी तरह राजधर्म युद्धधर्म ये क्षत्रियों के मुख्य धर्म हैं। इस प्रकार चार वर्ण हुए। इसके आगे चार आश्रम हुए। इन चारों आश्रमों का विचार अन्य प्रसंग में हो चुका है।

अब मनुजी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वाले को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानव-धर्मशास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं हैं। यदि कोई कहे कि यह कैसे? तो इसका प्रमाण यह है कि एकदर इन श्लोकों को मनुस्मृति की पद्धति से मिलाकर देखने से वे श्लोक सर्वथैव अयुक्त दीखते हैं। मनु सदृश श्रेष्ठ पुरुष के ग्रन्थ में अपने स्वार्थसाधन के लिए चाहे जैसे वचनों को डालना बिलकुल नीचता दिखलाना है। अनुभूति स्वामी नाम का कोई महान् पण्डित था। उसके मुंह में से 'पुंसु' इस प्रयोग के स्थान में 'पुंक्षु' ऐसा अशुद्ध प्रयोग निकला। अब उसी का उपपत्ति कर पण्डित लोग दिखाते हैं कि वह शुद्ध ही है। मूढ़ लोगों की रीति कुछ-कुछ कौवों के सदृश है। कौवे को किसी जानवर के व्रण झट दिखाई देते हैं; परन्तु उन्हीं जानवरों के अच्छे शुद्ध (व्रणरहित सुन्दर) भाग नहीं दीखते। अशुद्धियां झट दिखाई देने लगती हैं। हमारे पण्डित भाइयों का स्वभाव इन दिनों बहुत बिगड़ गया है।

आग्रहेलारम्भं कुर्याच्चेवं कोपेन पूरयेत्।

किसी ने "शास्त्र" शब्द का उपयोग किया तो झट प्रथम ही पूछने लग जाते हैं कि "शास्त्रस्य कोऽर्थः" ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछकर वितण्डावाद करने की उनको बड़ी ही हवस होती है, परन्तु वितण्डावादी को कोई वितण्डावादी ही मिले तो वह सहज ही प्रश्न करेगा कि "शकारस्य कोऽर्थः" "स्त्रकारस्य कोऽर्थः" और इस प्रकार फिर वही वितण्डा होगा इत्यादि। सो भाई वितण्डावाद छोड़करके शान्तवृत्ति धारण कर वाद करें, यह हमें योग्य है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है कि जो दौड़ेगा सो गिरेगा, इसमें कुछ दोष नहीं—

'धावतः स्खलनं न दोषाय भवति'

इस वचन के आधार से हमारे बोलने में कुछ प्रमाद अथवा अशुद्ध प्रयोग निकल आवे तो पण्डितों को उसका विषाद न मानना चाहिए। हम सर्वज्ञ नहीं, और सब बातें हमें उपस्थित भी नहीं। हमारे बोलने में अनन्त दोष होते होंगे। इसका हमें ज्ञान भी नहीं है। दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे। सत्य की छानबीन होनी चाहिए, वितण्डा नहीं होनी चाहिए, यही हमारी बुद्धि में आता है। थोड़ा-सा गुण पर भी ध्यान देना चाहिए और दोष को क्षमा करना चाहिए। शान्तता अर्थात् शम, दम, तप ये ब्राह्मणों के मुख्य गुण हैं, और जिनमें ये गुण हों निस्सन्देह वे ही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उनकी जीविका; अध्यापन, याजनादि कार्यों की दक्षिणा से होती है, व्यर्थ प्रतिग्रह लेना अप्रशस्त ही है।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥[1] (मनु०)

शम—अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन, दम—जितेन्द्रियत्व, तप विद्यानुष्ठान, दोनों प्रकार का शौच—शारीरिक और मानसिक शान्ति, सरलता अर्थात् अनाग्रह, ये धर्म जब ब्राह्मणों में होते हैं, तब उनमें गाम्भीर्य रहता है, और कच्चे ब्राह्मण अर्थात् अब्राह्मणों में ब्राह्मण्य का बड़ा ही घमण्ड रहता है, सो ठीक ही है। किसी धनिक को दरिद्री कहने से उसे क्रोध नहीं आता; परन्तु दरिद्री को दरिद्री कहने से बहुत क्रोध आता है। अपनी-अपनी अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुकूल मनुष्यों की बोलने की रीति होती है।

आजकल के साम्प्रदायिक साधु परमेश्वर का नामोच्चारण करते समय अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल उस नाम में जोड़ लगाते हैं। उदाहरणार्थ जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—

राम नाम लड्डुवा गोपाल नाम घी ।

क्षत्रिय साधु हो तो वह यह कहता है कि—

राम नाम की ढाल बनाकर कृष्ण कटारा बांध लिया ।

यदि साधु जी कोई बनिये हुए, तो यों कहते हैं कि—

राम मेरा बानियां सहज करे ब्योपार ।

शूद्र साधु हो तो, वह यों कहने लग जाता है कि—

हरि को भजे सो हरि का होय, जात पांत पूछे ना कोय ।

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
[पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।]
न कथंचिद् दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥[2](मनु०)

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म सब ग्रन्थों में ज्ञान-प्राप्ति करना ही कहा है। ज्ञान अर्थात् निर्णय, ज्ञान से विज्ञान प्राप्त करना, यही ब्राह्मणों का श्रेष्ठ धर्म है, विज्ञान दृढ निश्चय को कहते हैं। अस्तु, ये गुण जब हम ब्राह्मणों में उत्पन्न होंगे तब ही यह देश सहज ही में वैभव को प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है। मनु के प्रथम अध्याय को देखो, उसमें ब्राह्मणों के धर्म का वर्णन किया हुआ है।

अब क्षत्रियों का धर्म—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में जय, दान, ईश्वरभाव (=स्वामित्व) अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा की ओर से यथार्थ अनुवर्त्तन

१. मनु० ३ । १०४ ॥ २. मनु० १० । ५९, ६० ॥

करवाना है। यथार्थ प्रजा का रक्षण करने से देश में इज्या, अध्ययन, दान ये कर्म अच्छे प्रकार होते हैं।

बनियों का धर्म पशुओं का पालन, दान, इज्या देना-लेना और खेती करना है।

इस प्रकार की मनुष्यों में गुण-कर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भुव मनु के समय तक पूर्णतया चलती रही।

मनु के दस पुत्र हुए—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥[1]

स्वायंभुव मनु का पुत्र मरीचि वह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई। अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा। कला-कौशल्य की व्यवस्था करने वाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी था। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली। फिर इस विमान में बैठकर आर्य लोग इधर-उधर भ्रमण करने लगे। ब्रह्मदेव का पुत्र विराट् उसका पुत्र विष्णु, सोमसद् थे और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था। ये ही विष्णु और महादेव आगे जाकर ब्रह्मा के साथ त्रिमूर्ति में मुख्य देवता करके प्रसिद्ध हुए। मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु जहाँ चल रही है, रमणीय वनस्पतियां जहां उगी हैं और जहां पर स्फटिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक बह रहा है, ऐसे हिमालय की उंची चोटी पर विष्णु वास करने लगा। उसी को वैकुण्ठ भी कहते थे। फिर दूसरे हिमाच्छादित भयंकर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा, उसे कैलाश कहते थे। इसके आगे विष्णु और महादेव, ये कुलों के नाम पड़ गए। ऊपर लिखे हुए विष्णु और महादेव आज तिथि तक जीते हैं यहना ठीक नहीं, किन्तु अत्यन्त भोलापन है। इसमें दृष्टान्त इतना ही है कि मिथिला देश के जनकपुर के राजा को अभी तक जनक ही कहते है। इससे सीता जी का पिता जनक राजा अब तक जिन्दा है, यह कहना बिलकुल अप्रशस्त है। यही प्रकार ब्रह्माजी के विषय में भी लागू होता है। आर्यावर्त में लोकसख्या बहुत हो गई, उसे न्यून करनी चाहिए, इसलिए आर्य लोग अपने साथ मूर्ख शूद्रादि अनार्य लोगों को लेकर विमान उड़ाते फिरते, जहां कहीं सुन्दर प्रदेश देखा कि झट वहीं पर बस जाते। इस प्रकार सब जगत् के प्रत्येक देश में मनुष्य फैले।

इसी समय में राजा इक्ष्वाकु ने विद्वान् लोगों को अपने साथ लेकर इस भरत-

१. मनु० १।३५, ३६॥

खण्ड में प्रथम बसाहत की। आर्यावर्त देश कहने से पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिन्धु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्र अथवा दृषद्वती, उत्तर में हिमालय दक्षिण में विन्ध्याद्रि, इनके बीच का जो प्रदेश है उसी को आर्यावर्त कहते हैं।[1] यह आर्यावर्त कितना सुन्दर है, कितना सुपीक (जरखेज) है, और जलवायु भी यहां का कितना उत्कृष्ट है। इसमें छहों ऋतु क्रम से आते रहते हैं।

देव का अर्थ विद्वान् है। उन्हीं के कारण देवनदी ऐसी संज्ञा उत्पन्न हुई। इसलिए "देवनद्योर्यदन्तरम्"[2] ऐसा कहा है। प्रथम गंगा का नाम पद्मा था, फिर उस नदी की नहर भागीरथ ने निकाली, इसलिग उसका नाम भागीरथी पड़ा।

उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मण इनका नाम आर्य था, उसका सूत्र है कि—

"आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः"[3] (पाणिनि-सूत्रम्)

ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम 'आर्यस्थान अथवा आर्य खण्ड' होना चाहिए, सो उसे छोड़ न जाने 'हिन्दुस्थान' यह नाम कहां से निकला? भाई श्रोतागण! 'हिन्दु' शब्द का अर्थ तो काला, काफिर, चोर इत्यादि है और हिन्दुस्थान कहने से काले, काफिर, चोर लोगों की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है तो भाई! इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो? और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ अथवा अभिजात इत्यादि और आवर्त कहने से ऐसों का देश, ऐसा अर्थ होता है। सो भाई ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यों स्वीकार नहीं करते? क्यों तुम अपना मूल का नाम भूल गए? हां! हम लोगों की यह स्थिति देखकर किस के हृदय को क्लेश न होगा? सब ही का होगा अस्तु, सज्जन जन! आज से 'हिन्दु' नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त इन नामों का अभिमान धरो। गुणभ्रष्ट हम लोग हुए तो हुए, परन्तु नाम भ्रष्ट तो हमें न होना चाहिए। ऐसी आप सबों से मेरी प्रार्थना है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

१. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ॥
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ मनु० २।१७, २२ ॥

२. मनु० २।१७ ॥

३. अष्टाध्यायी ६।२।५८॥

नवम उपदेश

इतिहास-विषयक

[रविवार ता० २५ जुलाई १८७५*। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २५ माह जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे व्याख्यान दिया, उसका सारांश]

'इक्ष्वाकु' यह आर्यावर्त का प्रथम राजा हुआ। इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है। पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझें, किन्तु एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जाने, पहला अधिकारी स्वायम्भुव [मनु] था। इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिलकुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ-कुछ बन्द होने लगी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी ऐसा है, कारण देव अर्थात् विद्वान् इनका जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ-संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया।

ब्रह्मा की उत्पत्ति तक दिव्य सृष्टि थी, पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई, उसमें विराट् हुआ, और विराट् के पीछे मनु हुआ। मनु ने धर्म-व्यवस्था बनाई। मनु के दस पुत्र थे, उनमें स्वायम्भुव के समय में राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ हुईं।

इक्ष्वाकु राजा हुआ तो वह इससे नहीं कि राजकुल में वह उत्पन्न हुआ था, अथवा उसने बलात्कार से राज्य उत्पन्न किया हो, किन्तु सारे लोगों ने उसे उसकी योग्यतानुकूल राज-सभा में अध्यक्ष स्थान पर बैठाया। उस समय सारे लोग वैदिक व्यवस्थानुकूल चलते थे। भृगुजी ने अपनी संहिता में यह सब व्यवस्था प्रकट की है और यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है। इससे श्लोक बनाने का आरम्भ वाल्मीकिजी ने किया, यह कहना कितना सयुक्तिक है, सो देखो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध से मनु के सातवें, आठवें वा नवें अध्यायों में जो राज्यों की व्यवस्था बतलाई है उसे देखो। केवल अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुक्म चलाने की शक्ति न थी, वह तो केवल राजसभा में अध्यक्ष का अधिकार चलाना रहता।

राज्य की व्यवस्था कैसी होती थी, उसे संक्षेप से इस स्थल पर कहता हूँ— ग्राम, महाग्राम, नगर, पुर, ऐसे-ऐसे देश विभाग रहते थे। ग्रामों में सौ-सौ घर, महाग्रामों में हजार, नगर में दश हजार और पुर में इससे भी अधिक घरों की संख्या रहती थी। दश ग्राम पर एक दशेश नाम का अधिकारी होता था, सौ ग्रामों पर शतेश नाम का अधिकारी रहता था, और सहस्र ग्रामों पर सहस्रेश नाम का अधिकारी होता था। दश सहस्रों पर महासुशील नीतिमान् ऐसा ही एक अधिकारी रहता था।

* श्रावण कृष्णा ७ सं० १९३२ वि. (दाक्षिणात्यमत में आषाढ़ कृष्णा ७)।

लिखने-पढ़ने के कामों में अनुभवशील ऐसे सब देशों में गुप्त दूत बातमियां (खबरें) पहुँचाने के लिए तथा अधिकारी लोग कैसा अधिकार चलाते हैं, इसका शोध रखने के लिए चारों ओर फिरते रहते थे, और यह दूतों का काम पुरुष या स्त्रियां करती थीं।

राज्य में चार प्रकार के अधिकारी होते थे—राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, न्यायाधिकारी और कोषाधिकारी। ऐसे चार महकमे के चार अधिकारी रहते थे। इक्ष्वाकु राजसभा का प्रथम अध्यक्ष था। यदि सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़ते तो उस स्थल पर निर्णय करने का काम अध्यक्ष का था। देश में भिन्न-भिन्न जाति [प्रकार] की सभायें थीं। उनमें राजार्य्य सभा ही मुख्य थी और धर्मसभायें अर्थात् परिषद् भी स्थल-स्थल पर थीं। दश विद्वान् विराजे बिना परिषद् सभा नहीं होती थी और न्यून से न्यून तीन विद्वानों के आये बिना तो सभा का काम चलता ही नहीं था। धर्म-सभा की ओर से किसी प्रकार का अधिकार न था, किन्तु उसमें धर्माधर्म का विवेचन और उपदेश ही होता था। परीक्षा और शिल्पोन्नति की ओर भी इस सभा का ध्यान रहता था, न्यूनाधिक के विषय में राजार्य सभा को विदित करके राजार्य सभा की ओर से दण्डादिक की व्यवस्था होती थी। महाभारतान्तर्गत सभापर्व में भिन्न-भिन्न सभाओं का वर्णन किया हुआ है, उसे देखो। सेना के सिपाही लोगों को आज्ञा मानना ही मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, एसा बतलाकर उन्हें धनुर्वेद सिखाते थे। आर्य लोगों को 'कवायद क्या है' यह विदित न था, ऐसा बहुत से अंग्रेजी पढ़े हुए लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना पागलपने का है। क्योंकि मकरव्यूह, बकव्यूह, बलाकाव्यूह, सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि कवायद के नाना प्रकार प्राचीन काल में आर्य लोगों को विदित थे और सैन्य में भी भिन्न-भिन्न टोलियों पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय के उनके हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि होते थे। अंग्रेज लोगों में अब तक व्यूह रचना का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है अर्थात् वे नहीं जानते कि व्यूह-रचना किसे कहते हैं। थोड़ी बहुत कवायद करते हैं, उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं, ऐसा तुम्हें प्रतीत होने लगा है। सारांश 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' यह कहावत सत्य है।

इसमें अंग्रेजों में हमारी अपेक्षा विशेष गुण नहीं हैं, ऐसा मेरा कहना नहीं है; किन्तु उनमें भी बहुत से अच्छे गुण हैं सो उनके गुणों को हम स्वीकार करें यही हमें योग्य है। पहले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उसके लड़के-बालों को वेतन मिला करता था और युद्धप्रसंग में जो लूट मिलती तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बांट दिया करते थे। सैन्य की योग्य व्यवस्था के सम्बन्ध से उस समय बहुतेरे कार्यों की ओर ध्यान दिया करने और समस्त ऐश्वर्य की मूल कारण सेना है यह जानकर सेना में लोगों को कोई प्रकार की चिन्ता वा कष्ट नहीं होने देते थे, इस विषय में अधिकारी लोग उस समय बहुत ही दक्ष होते थे। यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी अर्थात् उत्तम रक्षा होती थी।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ।।[1]

श्रेष्ठ पुरुषों को और राजा को गरीबों की अपेक्षा शतपट (सौगुना) दण्ड अधिक दिया जाता और राजा लोग मुनि लोगों के साथ धर्मवाद करने में समय लगाते थे, इस विषय में पिप्पलाद मुनि की कथा देखो[2]। इस प्रकार इक्ष्वाकु के समय में राज्य-व्यवस्था थी। इक्ष्वाकु राजा इस प्रकार का सुशील, नीतिमान्, सुज्ञ, जितेन्द्रिय विद्वान् और गुणसम्पन्न राजा था।

बहुत सी पीढ़ियों के पश्चात् सगर राजा राज्य करने लगा। उस समय राजा लोग यदि मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते थे अथवा अधिकार ही न देते थे।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चण्डाल-चौकड़ी ने घेरा है। इस कारण सहज ही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है? बस सारांश इतना ही है कि यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है।

बहवः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।।[3] (महाभारते)

सगर राजा सुशील और नीतिमान् था। इस राजा का मूर्ख और दुष्ट ऐसा असमंजस नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया। इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्य सभा के सम्मुख होने पर राजा ने उसे शासन किया और उसे एक महाभयंकर जंगल के बीच कैद कर रखा, इसी का नाम न्याय है। नहीं तो आजकल के राजा लोग और उनके न्याय का क्या पूछना है, कहते है कि—

समरथ को नहीं दोष गुसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ।।[4]

बस इस प्रकार की शिक्षा ने भारत को तबाह कर दिया। प्यारे आर्यगण! समर्थों को मूर्खों की अपेक्षा अधिक दोष लगता है। क्योंकि उसे समझ देखकर समर्थ किया है। वह भला बुरा पाप-पुण्य सब जान सकता है। तात्पर्य है कि ऐसे-ऐसे गपोड़ों को न मानकर अपने धर्मानुरागी पूर्वजों की धर्म शिक्षानुकूल बर्त्ताव रखें, इसी में कल्याण है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

---

१. मनु० ८। ३३६ ।।
२. यह कथा प्रश्नोपनिषद् में है।
३. महाभारत उद्योगपर्व ३७। १५।
४. तुलसीदास की रामायण का यह वचन है।

दशम-उपदेश

इतिहास-विषयक

गत व्याख्यान में कहे हुए सगर राजा के समय जिस दुष्ट राजपुत्र को दण्ड मिला था, उसको राज्य का अधिकार न मिला। इसी सगर राजा के सम्बन्ध में बहुत सी अलाउद्दीन की तरह कहानियां मनुष्यों में प्रसिद्ध हैं, परन्तु इस प्रकार की अनुचित कहानियों पर कौन विश्वास कर सकता है कि एक ही समय में राजा सगर के साठ हजार पुत्र पैदा हुए, और उन्होंने समुद्र को खोद डाला। इनके हाथ बड़े-बड़े थे और शरीर भी अतिपुष्ट थे।' कोई-कोई मनुष्य इस बात की उपपत्ति इस रीति पर करते हैं कि यह सब बरदान का प्रभाव था। बरदान अर्थात् आशीर्वाद में केवल वाणी से शब्द बोले जाते हैं परन्तु केवल शब्द में तो कर्त्तव्य शक्ति नहीं है। जैसे 'अग्नि' बोलने से जलन या दीप्ति पैदा नहीं होती। शब्द में केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अतः यह सब मिथ्या बड़बड़ाहट है। इसमें मूल्य और समय खोना अतीव निर्बुद्धिता है।

इस सगर के अनन्तर उपरिचर [नाम का) राजा हुआ वह पुष्वारह की विद्या में निपुण था। कौषीतकीय ब्राह्मण ग्रन्थ में बहुत सम्राट् राजा का वर्णन किया है।

अयोध्या में ऋतुपर्ण नामी राजा राज्य करता था। इधर दक्षिण में राजा नल राज्य करता था, नल की रानी दमयन्ती का अपने पति से वियोग हो गया उस समय का वर्णन किया गया है कि उसने अपने ही स्वयंवर के विषय में दो श्लोक स्वयं बनाये थे [और उसने अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के पास भेजे थे]। राजा नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्नि-विद्या विदित थी।

अग्निर्वै अश्वः। देवा एतं वज्रं ददृशुः। अग्निर्वै वज्रः। यदश्वं तं पुरस्तादुदनयंस्तस्याऽभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत। तस्माद्यत्राग्नि मन्थिष्यन्स्यादश्वमानेतवै ब्रूयात् स पूर्वेणोपतिष्ठते। वज्रमेवैतदुच्छ्रयति। (शतपथ)'

अग्नि का नाम ही अश्व है विद्वानों ने इस वज्र को दिखाया। वज्र नाम है अग्नि का; जो अग्नि है इसको आगे से दिखाया गया है। इस जगह जहां कि अग्नि का भय नहीं है अर्थात् जहां कि हवा न हो, अग्नि प्रसिद्ध हुआ है। इस कारण से जहाँ अग्नि का मन्थन होता है अर्थात् अग्नि की अनेक प्रकार की सुन्दरता होती है वहाँ अग्नि का बल निश्चय कहा जाता है कि सम्पूर्ण संसार इसी के बल से स्थित है। यही वज्र अर्थात् अग्नि है। इस संसार को उन्नति देती है।

उस समय राजा नल अयोध्या पुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ नौकर था। वहां

---

१. शतपथ २।१।४।६॥

से दमयन्ती के स्वयंवर में नल की विद्या-शक्ति से एक ही दिन में राजा ऋतुपर्ण विदर्भ पहुँच गया था; इस कारण से नल की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इसके साथ दुर्बल श्याम-कर्ण घोड़ों की मनुष्य ऊटपटांग बातें करते हैं। इनमें कुछ भी सच्चाई नहीं है।

इसके अनन्तर भरत-कुल में अनेक राजा होते रहे। इसी कारण पर उस समय से आर्यावर्त्त का नाम भारतवर्ष भी हो गया। तदन्तर राजा रघु हुआ, वह भी बड़ा महात्मा था। राम राजा से रघु राजा बड़ा था। रघु पीछे राजा राम हुए। इनका रावण से युद्ध हुआ। इनका इतिहास रामायण में वर्णन किया गया है। ऐसे-ऐसे वीर पराक्रमी, बुद्धिमान्, विद्वान्, वैद्य और न्यायकारी राजा लोग आर्यावर्त्त में हुए है। उस समय आर्यावर्त में प्रत्येक स्थान पर बड़ी भारी उन्नति थी। कौषीतकीय ब्राह्मण में लिखा है कि सब पुत्र वा पुत्रियां पांच वर्ष की अवस्था में पाठशाला को भेजे जाते थे। यह एक समाजिक नियम था। परन्तु माता-पिता इस सामाजिक नियम को तोड़ते तो राज-सभा से उनको दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति का समय व्यतीत होते हुए राजा शन्तनु का समय आ पहुँचा। इस समय आर्यावर्त्त का ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया था। इस ऐश्वर्य के नशे के कारण सहज ही इस आर्यावर्त्त की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई। जिसके पास द्रव्य बहुत था वह नशे में मस्त था। इस कारण से एकाएक देश में सामाजिक नियमों में विरुद्धता उत्पन्न हो गई।

राजा शन्तनु को ऐश्वर्य का बड़ा भारी अभिमान उत्पन्न हुआ और देश में व्यभिचार बढ़ गया। निष्कण्टक राज्य होने के कारण से शन्तनु और भी विशेष अभिमानसंयुक्त हुआ। मनु जी ने कहा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥[1]

जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।

इसके अनन्तर शन्तनु विषयों में अत्यन्त आसक्त हो गया। सत्यवती के प्रति इसकी चालाकी का समाचार आप सब लोग जानते हैं; परन्तु शन्तनु राजा होकर भी सत्यवती के पिता पर बल प्रयोग न कर सका। सत्यवती के पिता ने उसको डांटा था। जब तक भीष्म ने अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को देने का निश्चय नहीं किया, तब तक सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा की आज्ञा स्वीकार नहीं की। भीष्म पितामह के इस निश्चय पर कि इसने अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को दे दिया, सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा का कहना स्वीकार किया। इससे ही प्रकट हो सकता है कि प्राचीन आर्य मनुष्यों में कितनी स्वाधीनता थी और राजा लोग भी सामाजिक प्रबन्ध में किस प्रकार प्रबन्धकर्त्ता हुए थे। इस आर्यावर्त्त के राजाओं की नेकी वा नेकमानी संसार में फैल रही थी। योरुप और अमेरिका के कुछ राजा लोग

१. मनु० २। १३॥

इनकी सेवकाई में तत्पर होकर कर देते थे । अब सोचिए कि वर्त्तमान समय में देश की दशा कितनी गिर गई है । ये सब बातें महाभारत के राजसूय और अश्वमेध पर्वों में वर्णित हैं । निदान शन्तनु राजा के समय में पाप बढ़ने लगा और राज्य का प्रबन्ध बिगड़ चला । यह ही पाप अन्त में बढ़ते-बढ़ते कौरवों व पाण्डवों के बड़े भारी संग्राम पर समाप्त हुआ और उसी समय से इस देश की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई । अब इस जगह राजा लोगों का इतिहास समाप्त किया जाता है ।

अब आगे देवता, विद्या और ऋषि आदि के इतिहास का प्रारम्भ करते हैं । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि देवता विद्वानों को कहते हैं ।[1] इन विद्वानों के तीन प्रकार थे—प्रथम देव, द्वितीय ऋषि, तृतीय पितृ । इन तीन प्रकार से पृथक् ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तेंतीस देवता वर्णन किए गए हैं[2] और तेंतीस करोड़ का मानना जो नवीन पुरुषों ने किया है वह बहुत अनुचित है; क्योंकि कोटि का अर्थ 'प्रकार' है और इनका पुस्तक रचयिता लोगों ने 'करोड़' का अर्थ करके ऐसी गल्ती लाई है । आदित्य रुद्र, वसु आदि इस तरह के तेंतीस देवता शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में वर्णन किए गए हैं । वहां देखलेना चाहिए. इन तेंतीस देवताओं में, बारह आदित्य अर्थात् महीने, ग्यारह रुद्र अर्थात् १० प्राण और एक जीवात्मा । रुद्र शब्द का अर्थ है कि इस शरीर में से प्राणों के निकल जाने पर लोग रोया करते हैं । इसलिए प्राणों को रुद्र कहते हैं । इसलिए दश प्राण और जीवात्मा मिलकर ग्यारह रुद्र समझने चाहियें; क्योंकि इनके शरीर से अलग होने पर ही सम्बन्धी रोते हैं । आठ वसु, जो निम्न रीति पर वर्णित हैं—१. पृथिवी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. द्यौ, ७. चन्द्रमा, ८. सूर्य ये सब मिलकर आठ वसु हुए । बत्तीसवें प्रजापति, तेंतीसवें इन्द्र ।

विष्णु बैकुण्ठ में रहने वाले थे और वही उनकी राजधानी का नगर था । महादेव कैलाश के रहने वाले थे । कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे । यह सब इतिहास केदारखण्ड में वर्णन किया गया है । हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं । जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी मैं इह विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर बर्फ में गलाकर संसार के धंधों से निवृत्त हो जाऊं, परन्तु वहा पहुंचकर विचार में आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है, अपितु ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना ही पुरुषार्थ है । इस विश्वास के बदलने पर लौट आया था । अब तो विदित होना है कि जीवात्मा की मृत्यु ही नहीं होती है ।

काश्मीर से लेकर नेपाल तक हिमालय की जो ऊंची-ऊंची चोटियां हैं वहां देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष रहते हैं । गत समय में इस समय की तरह प्रायः बर्फ

---

१. विद्वाꣳसो हि देवाः । शत० ३ । ७ । ३ । १० ॥

२. शत० १४ । ६ । ९ । ३ ॥

३. शत० ब्र० १४ । ६ । ९ । ३ ॥ शतपथ का यह अंश बृहदारण्यक उपनिषद् कहाता है ।

नहीं पड़ती थी, ऐसा विचार होता है क्योंकि यदि उस समय भी वहां बर्फ पड़ती होती तो देव अर्थात् विद्वानों का इस स्थान पर निवास कैसे होता? इस देव लोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस समय भी भरतखण्ड में हमारे कथन का प्रमाण मिलता है। देहली में इन्द्रप्रस्थ नामी स्थान था। वहां इन्द्र का राज्य था। पुष्कर और ब्रह्मावर्त्त में ब्रह्मा ने राज्य किया। काशी, उज्जैन और हरिद्वार आदि में महादेवजी का राज्य था। इन विद्वानों अर्थात् आर्यों के वैरी अनार्य भील आदि थे। इनके साथ बराबर आर्यों को युद्ध करना पड़ता था। विमानों में बैठकर भी युद्ध करते थे। केवल यही नहीं; किन्तु जहां कहीं स्वयंवर रचा गया और बुलाया गया कि उन्हीं विमानों पर चढकर शीघ्र ही उस स्थान पर पहुंच जाते थे। इन देवताओं में बड़े देवता लोग अत्यन्त वीर थे। इनकी स्त्रियां मर्दाना जोश से अपने पतियों के साथ युद्ध में जाया करती थीं। इन पहाड़ के रहने वाले देवताओं के राज्य के व्यवहार आज तक के राजपूत लोगों से अब तक मिलते हैं। प्राचीन समय के राजा लोग युद्ध के समय रथों में बैठे भोजन किया करते थे। इस समय राजपूतों में ठाकुर लोग अवसर आने पर ऐसा ही करते हैं। राजपूत लोग जिस स्थान पर जी चाहे खाते हैं। इसी सम्बन्ध में मैं एक रिवायत सुनाता हूं जो कि शहर जयपुर में कुछ समय पहले से प्रसिद्ध है। जयपुर के राजा लोग ब्राह्मण को रसोईदार बनाकर नहीं रखते। इसका कारण इस रीति से वर्णन करते हैं कि तीन चार पुश्तों से पहले रसोई का काम ब्राह्मण नहीं करते थे। ब्राह्मण वा क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के घर में शूद्र रसोईदार रहते थे और यह आचार मनुस्मृति में भी मिलता है। वर्त्तमान में वही राजपूतों के रसोईदार हैं। ब्राह्मणों को रसोई के काम के लिए न रखने का कारण यहां वर्णन करते हैं कि गत समय में एक बार ब्राह्मण ने राजा के भोजन में विष डाल दिया था।

प्राचीन समय में जिसको त्रिविष्टप देश कहते थे उसको वर्त्तमान में मुल्क तिब्बत कहते हैं। कोई-कोई हमसे प्रश्न करते हैं कि विष्णु, महादेव, इन्द्र आदि देवता आजकल हमें क्यों दिखाई नहीं देते। उनके लिए हमारा उत्तर यह है कि नेक और पराक्रमी विद्वान् जो थे, वे सब-के-सब मर गए। कोई-कोई पूछते हैं कि हिमालय में राज्य करने वाले लोग कहां चले गए। कोई-कोई कहते हैं कि देव अमर हैं, परन्तु हम पापी लोगों को दिखाई नहीं देते। भला देवता लोग तो अमर होने के कारण न देख पड़ें, उनके नौकर-चाकर भंगी आदि क्यों नहीं दिखाई देते। ठीक बात तो यह है कि जो उत्पन्न हुआ है वह दिखलाई देता है और वह अवश्य एक दिन मरने वाला है। इस तर्कणा से देव भी मर गए। *यद्दृष्टं तन्नष्टम्*।

देव मरगए इससे यह अभिप्राय है कि इस पृथिवी पर से उनका शरीर जाता रहा, परन्तु देवता और मनुष्य की आत्मा अमर है। इस प्रकार जाति के विचार से देवजाति अर्थात् विद्वानों का समूह अमर है अर्थात् सदैव कुछ न कुछ विद्वान् पुरुष रहते

हैं। इस कारण से कहा है कि—विद्वांसो वै देवाः ।[1] इसलिए देवजाति तो अमर है।

अब प्रश्न है कि हमारे देश के इतिहास में ऐसा गड़बड़ क्यों हो गया और इसका क्या कारण है कि किसी स्थान अथवा लेख के दिन आदि का ठीक पता नहीं लगता है। इस विषय में जानना चाहिये कि मतलबी लोगों ने पुस्तकों में तारीखें छिपा दीं और जैनियों वा मुसलमानों ने वे ग्रन्थ जला दिये। यह संक्षेप से देवताओं का इतिहास वर्णन किया गया।

विद्या का इतिहास—

अब संक्षेप रीति से विद्या का इतिहास कहा जाता है कि सबसे पहला विद्वान् देव ब्रह्मा हुआ। इसने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा चार ऋषियों के पास वेद पढ़ा। इस ब्रह्मा का पुत्र विराट्, उसका पुत्र मनु, मनु के दश पुत्र मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि थे। इस समय में पढ़ने-पढ़ाने की रीति क्या थी, यह सरलता से विदित हो सकता है। ऋग्वेद की इक्कीस शाखा, यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा, सामवेद की एक हजार शाखा और अथर्ववेद की नव शाखा थीं। इसी तरह पर ग्यारह सौ इकत्तीस शाखा पढ़ने-पढ़ाने के लिए थीं। चारों वेदों को अर्थ सहित जानने वाला जो यज्ञ का करने वाला होता था उसको ब्रह्मा कहते थे। ब्राह्मणों के बनाये हुए जो वेदों के व्याख्यान थे उनको ब्राह्मण पुस्तक कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मण और अनुब्राह्मण रूप बहुत-सी पुस्तकें हैं। साफ पानी और हवा जिन एकान्त स्थानों की होती थी, ऐसे एकान्त स्थानों पर जाकर रहने वाले ऋषि मन्त्रद्रष्टा, श्रवण वा मनन करने वाले वा पदार्थ विवेचन करने वाले, ब्रह्म-विचार करने के वास्ते वा सिद्धान्तों के निश्चय करने के लिए नैमिषारण्य आदि स्थानों में सभा करते थे।

एक महर्षि पाणिनि की बनाई हुई अष्टाध्यायी में ही देखो कितने नाम ऋषियों के आये हैं। आजकल के स्वेच्छाचारी बैरागियों के समूह को देखकर कृपापूर्वक प्राचीन ऋषियों का अनुमान कदापि न कीजिए। सब तैयार की हुई पुस्तकों के आधार पर सिद्धान्तों की एक पुस्तक तैयार करते थे। फिर उस पर ऋषियों की सभा में विचार होता था।

राज-सभा के विषय में मनुजी कहते हैं कि—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
अपि यत् सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥[2]

---

१. शत० ३।७।३।१० ॥ २. मनु० ७।५४-५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः [1] ॥

अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखना चाहिए; क्योंकि सहायता बिना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमानी नहीं है। निदान महाराज को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करें—१. मित्र और २. शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किए हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना।

इन श्लोकों से राज-सभा का वर्णन यथार्थ विदित होता है। पुराने राजा युद्ध करने वाले सिपाहियों की रक्षा अपने पुत्र की तरह करते थे, इसलिए उन सिपाहियों को युद्ध करने में बड़ा भारी उत्साह होता था। इन विचारों पर सब राजा लोग चलते थे और सब समान व देश की रक्षा करते थे और उनके लिए खजाना जमा करने में लगे रहते थे। मनुजी ने युद्ध में जय के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और उसी (में) युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए सिपाहियों के हक भी बतलाये हैं और क्षत्रिय का धर्म पूर्णतया वर्णन किया है। केवल यही नहीं; किन्तु मनुजी ने विद्या की रक्षा और विद्वानों के सत्कार आदि के लिये नियम भी बतलाये हैं।

महाभाष्य में लिखा है कि ब्राह्मण को छः अङ्गों समेत वेदों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यश्चेति। [2]

इन छः अंगों में व्याकरण मुख्य है और पाणिनि बड़े विद्वान् वैयाकरण हो गए हैं। इनकी जितनी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है। इस महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाई हैं—१. शिक्षा, २, उणादिगण, ३. धातुपाठ, ४. प्रातिपदिक-गण, ५. अष्टाध्यायी। यह बात निश्चय करने के लिए कि पाणिनि कब हुए, अनेक प्रकार की तर्कणायें प्रस्तुत की जाती हैं; परन्तु इस विवाद से कुछ लाभ नहीं हो सकता। यह बात तो ठीक है कि पाणिनि बहुत पुराने ग्रन्थकर्त्ता हैं।

प्राचीन समय में चौदह विद्याओं के पढ़ने की रीति हमारे देश में थी। चार वेदों के नाम तो सभी जानते हैं। चार उपवेद और छः अंग मिलकर चौदह होते है। चार उपवेदों और छः अंग कौन होते है उनका विचार करेंगे।

चार उपवेद जो हैं उनमें से पहला आयुर्वेद है। इस पर जो ग्रन्थ चरक और

१. मनु० ७।५७॥
२. महा० अ० १ पा० १ आ० १॥

सुश्रुत मिलते हैं उनके बनाने वाले [अग्निवेश और] धन्वन्तरि ऋषि हैं। इस विषय का वर्णन हमारे सत्यार्थप्रकाश में तीसरे समुल्लास में किया गया है।

दूसरा **धनुर्वेद** है जिसमें अस्त्र-शस्त्र विद्या का विचार है। इस उपवेद में ब्रह्मास्त्र, पाशुपत-अस्त्र, नारायण अस्त्र, वरुण अस्त्र, मोहन अस्त्र, वायव्यास्त्र आदि की व्यवस्था लिखी है। ये सब अस्त्र वेदार्थ का विचार कर और वस्तुओं के गुण और दोष जानकर तैयार किये जाते थे। क्षत्रिय लोगों को यह धनुर्वेद बड़े परिश्रम से पढ़ना पड़ता था। यह कहना दिवानापन है कि केवल मन्त्रों के उच्चारण से शस्त्र और अस्त्र तैयार हो जाते थे।

तीसरा **गन्धर्ववेद** है, जिसमें विद्वानों ने गान-विद्या का वर्णन किया है। उस समय नये देश की कविता अर्थात् पद, ध्रुपद, ख्याल, लावनी आदि नहीं गाते थे। प्राचीन आर्य लोग वेदमन्त्रों का रसीला गायन करते थे।

चौर **अर्थवेद** अर्थात् शिल्पशास्त्र। इसका विचार मयसंहिता, वाराहसंहिता, विश्वकर्मसंहिता आदि पुस्तकों में बहुत तरह पर किया है।

एक अपूर्व बात इस समय स्मरण हुई है, वह आपको सुनाता हूं—एक अंग्रेजी विद्वान् डाक्टर हमको मिला। उसने मुझसे कहा कि हमारे प्राचीन आर्य लोगों में डाक्टरी औजार का कुछ भी प्रचार न था और उन्हें विदित न था। तब मैंने सुश्रुत का 'नेत्र-अध्याय' जिसमें कि बारीक-से-बारीक औजार का वर्णन है, निकालकर उसे दिखाया। तब उसको ज्ञात हुआ कि आर्य लोग चिकित्सा में बड़े चतुर थे और उन्हें औजारों की विद्या भी उत्तम ज्ञात थी।

छः वेदाङ्ग हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द, ६. ज्योतिष—ये सब मिलकर चौदह विद्यायें हुईं। इन सब पुस्तकों का अवलोकन करने में बारह वर्ष लगते हैं और इन ग्रन्थों का दृढ़ अभ्यास करने से बुद्धि में उत्तमता पैदा होती थी। इस समय कुछ ऐसा अनुचित शिक्षा-प्रबन्ध का प्रचार हुआ कि इनमें से एक भी विद्या अत्यन्त परिश्रम करने पर चौबीस वर्ष में भी नहीं आती है। इसका कारण यह है कि केवल तोता-पाठ का घोषाघोष चलता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली बन्द करनी चाहिए। प्राचीन ऋषियों ने विद्या-स्नातक होने को ब्रह्मचारी के लिए केवल बारह वर्षों की हद रक्खी है। उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने ये सब विद्यायें बारह वर्षों में सीखी थीं ऐसा लेख मिलता है और यदि प्राचीन रीति के अनुसार इस समय भी शिक्षा दी जावे तो बारह वर्ष से विशेष समय इस काम में नहीं लगेगा।

अब कुछ थोड़ा-सा विचार छः दर्शनों का किया जाता है—

पहला दर्शन जैमिनि जी का बनाया **मीमांसाशास्त्र** है। इसमें धर्म और धर्मी का विचार किया है और प्रत्यक्ष वा अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों को माना है। धर्म का लक्षण करते हुए इन्होंने वर्णन किया है कि [वेद की] आज्ञा ही धर्म का लक्षण है।

दूसरा कणाद मुनि का बनाया वैशेषिक दर्शन है। इसमें द्रव्य को धर्मी मानकर गुण आदि को धर्म स्थापन करके विचार किया है। इन्होंने भी दो ही प्रमाण माने हैं और छः पदार्थों का निरूपण किया है।

तीसरा गौतम का बनाया न्याय-शास्त्र है। इसमें यह तर्क प्रारम्भ कराके धर्मी के धर्म और धर्म के धर्मी क्यों नहीं होता। प्रमाण और प्रमेय का सम्बन्ध बतलाया है और सोलह पदार्थ माने हैं।

इस पर कोई-कोई यह कहते हैं कि इन शास्त्रों में परस्पर विरोध है। इसलिए पहले विरोध शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। यदि एक विषय में अवगुण सयुक्त विचार का प्रवेश हो तो उसको विरोध कहते हैं; परन्तु यदि अनेक विषयों के विचार से अनेक विचारों का वर्णन हो तो उसको विरोध नहीं कहते है। ये छहों दर्शन अपने-अपने लेखों पर चलने वाले हैं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

एकादश-उपदेश

इतिहास-विषयक

गौतम ने निम्न रीति पर सोलह पदार्थों का वर्णन किया है--

१. प्रमाण, २. **प्रमेय**, ३. **संशय**, ४. **प्रयोजन**, ५. **दृष्टान्त** ६. **सिद्धान्त**, ७. **अवयव**, ८. **तर्क**, ९. **निर्णय**, **१०. वाद**, ११. **जल्प**, **१२. वितण्डा**, १३ **हेत्वाभास**, **१४ छल**, **१५. जाति और १६. निग्रहस्थान**। इसके अनन्तर आठ प्रमाण स्थापित करके इनकी जांच की है और अन्त में चार ही प्रमाणो के अन्तरंग आठों को ठहरा दिया है। इन प्रमाणों के मेल से अर्थ की जांच होकर सत्य और असत्य का विचार होता है। ये आठ प्रमाण हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान ४. शब्द, ५. ऐतिह्य, ६. अर्थापत्ति, ७. सम्भव, ८. अभाव। इनमें से पाचवा तो चौथे में मिल जाता है और छठा, सातवां, आठवां में मिल जाते है।

प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति का लक्षण यह है कि जिससे अर्थ का निश्चय हो उसको **प्रमाण** कहते हैं और जिससे कि ठीक अर्थ प्राप्त हो वह प्रमेय है। निश्चय करने वाला जो है उसे **प्रमाता** कहते है। अर्थ का विज्ञान जो उत्पन्न होता है उसको **प्रमिति** कहते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान की सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है। जैसे एक वस्तु का पहला (=सामने का) भाग देखे तो हमको उस वस्तु का पूर्ण आकार समझ [नही] पड़ता है। वास्तव में यह विदित होता है कि उस वस्तु और उसके पिछले अवशिष्ट भाग का ज्ञान नही है। परन्तु विना अनुमान के यह नहीं हो सकता। फिर भी अगले भाग का एक देशी ज्ञान रहते हुए [भी एक भाग के दर्शन से] सम्पूर्ण भागों का ज्ञान अनुमान से हो जाता है।

कोई-कोई यह शंका किया करते हैं कि प्रमाण पहले या प्रमेय पहले? उत्तर यह है कि दोनों एक समय में होते हैं। इस पर यदि यह तर्कणा उठाई जावे कि दो वस्तुओ का ज्ञान एक बार जिसमें पैदा न हो यह ही मन की पहचान है[1]। फिर इससे एक ही समय प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान क्यो कर हो सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि तर्कणा प्रमाण और प्रमेय पर नही हो सकती है, क्योकि दूसरे के ज्ञान के लिए जो प्रमाण होता है [वह अपने ज्ञान की दृष्टि से प्रमेय भी होता है] इस तरह प्रमेय और प्रमाण का ज्ञान एक ही समय में हो जाता है। जैसे दीपक की तरह देखो, तो वह दूसरी वस्तु का प्रमाण अर्थात् दिखाने वाला और स्वयं वह प्रमेय है, परन्तु दोनों बाते एक ही समय में हैं। सूर्य से प्रकाश होता है; परन्तु ऐसा नहीं

---

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय० १। १। १६॥

होता कि सब वस्तुएं पहले ही से दिखाई देने लग जाएं और प्रमेय जो सूर्य है वह पीछे दिखाई देवे। दोनों एक बार ही दिखाई देते हैं।

अब गौतम के विचार के अनुसार एक सत्य ही धर्म है। गौतम ऋषि ने शास्त्रों पर विचार करने वाले हम नये लोगों का बड़ा उपकार किया है कि इस समय एक प्रकार का वाक्छल (धोखा) मच रहा है। इस वाक्छल की तारीफ (= लक्षण) गौतम ने भलीभांति की है—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरकल्पनं वाक्छलम्[1] ॥

अपना प्रयोजन प्राप्त करने के लिए बोलने वाले के प्रयोजन के विरुद्ध अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है। इसका उदाहरण किसी ने इस प्रकार कहा है—

नवकम्बलोऽयं माणवकः।

इस वाक्य में जो शब्द 'नव' है इसके दो अर्थ हैं—एक नया और दूसरा नववां है। अपने अर्थ के अनुसार बोलने वाले के अर्थ के विरुद्ध जो अर्थ लिया जावे वह वाक्छल कहलावेगा। साधारण रीति पर नव शब्द का अर्थ नया होता है, इसलिए ९ अंक (=संख्या) का अर्थ सम्भव नहीं है। गौतम ऋषि ने जाति वा व्यक्ति और आकृति इन्हीं का भली-भांति विचार किया है। जाति का लक्षण यह है कि—

समानप्रसवात्मिका जातिः[2]।

इस सूत्र के अनुसार जाति शब्द का उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए कि मनुष्य जाति, पशु जाति आदि। और जो जाति का अर्थ 'प्रकार' या 'भेद' करके एक ही वस्तु के भेद का किया जाता है उसको गौतम के सूत्र में कोई सहायता नहीं मिलती।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विचार योगशास्त्र में किया है।

मीमांसाशास्त्र में धर्म और धर्मी के लक्षण कहे हैं।

कणाद ऋषि के वैशेषिकशास्त्र में द्रव्य और गुण का यथार्थ विचार किया है।

गौतम के शास्त्र में यह वर्णन किया है कि प्रमाण और प्रमेय पर क्योंकर विचार करना चाहिए।

इन तीनों मीमांसा, वैशेषिक और न्यायशास्त्रों ने मानो श्रवण, मनन के साधन का ही द्वार बनाया है। अब श्रवण, मनन के आगे एक ही सीढ़ी है अर्थात् साक्षात्कार करना। इस विषय पर योगशास्त्र में वर्णन किया गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करने से और अविद्या की निवृत्ति से ज्ञान बढ़ता है। परन्तु वह निवृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिए, इस पर विचार होते हुए विदित होता है कि

---

१. न्याय। १। १। ५३॥ २. न्याय १। १। ५९।

सब बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होते हुए भी मन बाहर खिंचा हुआ न रहे। बाहरी ज्ञान वर्तमान होते हुए अन्तर्मुख स्थिर रहना इसी का नाम निवृत्ति है। जैसे कोई एक नदी का बहाव बन्द कर देवे तो पानी पूर्णरूप से भर जाता है। इसी प्रकार बाहरी विषयों से चित्त को हटाने में स्वयं दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है कि—बाहरी विषयों में आसक्त न रहे। इसके लिए एकान्त स्थान में बैठकर समाधि लगाना चाहिए। कारण यह है कि एकान्त में बैठने से [बाहरी विषयों में] चित्त निवृत्त होता है। परन्तु नित्य प्रति एकान्त में ही रहना अच्छा नहीं है, क्योंकि मुख्य कर एकान्त में रहने से भी ज्ञान नहीं होता। सत्संग से ही ज्ञान प्राप्त होता है। योगशास्त्र का उपाय ईश्वर के साक्षात् करने पर है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[1]।

इसमें द्रष्टा से अभिप्राय ईश्वर है। योगी विभूति को शुद्ध करता है यह योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा आदि विभूतियां हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि [योगी का चित्त] छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है, उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है। इस तरह पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार हो जाने से निस्सन्देह स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं कि—

तत्र ध्यानजं ज्ञानमनाशयम्[2]। तत्र ऋतंभरो प्रज्ञः।[3]

अब योग के आठ अंग कहे गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि। यम पांच हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। इनका और नियमों का वर्णन पहले ही भली-भांति किया है।

स्थिरसुखमासनम्।[4]

यह आसन का लक्षण कहा है। आसन वही है कि जिसमें सुख से बैठकर ईश्वर से योग हो सके, तो फिर नये लोगों का यह कहना कि यह चौरासी आसनों वाला भानमती का तमाशा ठीक है, कैसे मान लिया जावे। इसी तरह पर प्राणायाम के विषय में तमाशा बन रहा है। प्राणायाम की यथार्थ प्रशंसा प्रथम ही वर्णन कर चुके हैं। नासिका और मुख बांधकर प्राणों की रुकावट करने से कुम्भक होता है, तो जो लोग फांसी पर चढ़ते हैं, उन्हीं को कुम्भक का ठीक साधक समझना चाहिए। यथार्थ स्वरूप कुम्भक का यह है कि वायु बाहर की बाहर रोक रखना।

---

१. योग १। ३॥　　२. द्र० तत्र ध्यानजमनाशयम्। योग ४। ६॥
३. द्र० ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योग १। ४८॥　　४. यो० २। ४६॥

बाहर निकालने में विशेष उपाय करने से रेचक होता है। भीतर-के-भीतर प्राणों को रखने से पूरक होता है। यह प्राणायाम का विधान है।

अब हठ-योग का विधान वर्णन किया जाता है। हठ-योग में 'बस्ति' उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते से पानी चढ़ाकर सफाई करना। टकटकी लगाकर इस तरह देखने को कि जिसमें पलक न झपके 'त्राटक' कहते हैं। नासिका में सूत्र डाल कर मुख से निकालने को 'नेति' कहते हैं। मलमल का चार अंगुल चौड़ा १६ से लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में डालकर फिर बाहर निकालने को 'धोती' कहते हैं। यह बाजीगरी का खेल है। इनसे कब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे? यह हठवाले ही जानें। इन कामों से बीमारियाँ पैदा होती हैं।

अब प्राणायाम का विचार किया जाता है। प्राण अर्थात् श्वास और आयाम अर्थात् लम्बाई—तात्पर्य श्वास की लम्बाई को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम का प्रयोजन है कि बहुत देर तक श्वास रोका जावे। बहुत समय तक प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र हो जाता है प्राणायाम का मुख्य काम यह है कि यदि योगशास्त्र के अनुकूल श्वास भीतर बाहर छोड़ें तो शरीर की नीरोगता की उन्नति होती है।

ईश्वर में लौ लगाने को प्रत्याहार कहते हैं।

मुख्य-मुख्य स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है।

आत्मा, मन और इन्द्रियों को किसी वस्तु में लगाकर उस वस्तु पर मनन करने का नाम ध्यान है।

ईश्वर में लय होने का नाम समाधि है।

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एकत्र हो जावें, तो उसे संयम कहते हैं।

इसी प्रकार पतञ्जलि मुनि ने उपासना की युक्ति बतलाई है और मुक्ति के अनेक साधनों का यथार्थ वर्णन किया है। परमेश्वर में चित्त लगाने की शिक्षा करते हुए कहीं भी यह नहीं बतलाया गया कि मूर्तिपूजा भी कोई साधन है। इसलिए उपासना के वर्णन में कहीं भी मूर्तिपूजा का सहारा नहीं मिलता है।

अब यह देखना है कि सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति कैसे हुई। सांख्यशास्त्र का मूल मुख्यकर पदार्थों की गिनती करने के वास्ते है। सांख्य के कर्त्ता कपिलदेवजी कहते हैं—

न वय षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।[1]

मैं वैशेषिक आदि के अनुसार छः पदार्थों को मानने वाला नहीं हूँ और फिर बहुत से विवाद के पीछे यह निश्चय करते हैं कि अवस्तु के अभाव से विवेक होता

---

१. सांख्य० १।२५ ॥

है। अब इस पर यह उत्तर ठहरता है कि इस सांख्यशास्त्र व अन्य शास्त्रों के साथ विरुद्ध नहीं तो क्या है ? परन्तु यह विरुद्धता केवल बाह्यदृष्टि से ही विदित होती है किन्तु अन्त में सांख्यकर्ता उसी निर्णय को पहुँचता है जो कि अन्य शास्त्रकारों का सिद्धान्त है; क्योंकि सांख्यकर्ता अविवेक का चित्र खींचता है और अज्ञान, अविद्या भ्रम और अविवेक सब एक ही अर्थ में आते हैं।

अन्य देशों के नवीन विद्वान् लोग तत्त्व शब्द की तारीफ यह करते हैं कि जो मुफरद[1] हो अर्थात् आर्य शास्त्रकारों को पञ्चभूत (अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, आकाश मानने पर निषेध करते हैं; परन्तु यह दोष कदापि नहीं आ सकता; क्योंकि गन्ध, रस रूप, स्पर्श और शब्द इन पांचों सिफ्तों[2] के मौसूफों[3] को जुदे जुदे नाम दिये गए हैं और वे ही पञ्चभूत कहलाते हैं। सांख्यशास्त्र मे २५ पदार्थों का निरूपण किया गया है, जो कि इस शास्त्र के अवलोकन से विदित हो सकता है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः

आचार्य [पिङ्गल] ने अलंकार शास्त्र बनाये हैं, जिन पर कि भाष्य भी हुए हैं अर्थात् विस्तार से लिखा है। इस आर्ष ग्रन्थ में गन्दे अधर्म की रीतियों पर रुचि को बढ़ाने व ले रस कुछ भी नहीं हैं। इसका मुकाबला नवीन अलंकार ग्रन्थो के साथ कीजिए, जिनमें कि गन्दापन, झूठ और शृङ्गार रस भरे पड़े हैं।

नालिङ्गिता प्रेमभरेण नारी वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्।

अर्थात् जिस पुरुष ने प्रेम में मस्त होकर स्त्री को गले में नहीं लिपटाया उसका जन्म निष्फल हो गया और फिर इस तरह के बेढंगे अलकार हैं जैसे—हे स्त्री ! तेरा मुख चन्द्रमा के समान है इत्यादि। ऐसे दीवानापन के अलंकार में मग्न होकर क्या हो सकता है। किन्तु एक पत्नीव्रत करके जो पुरुष गृहस्थाश्रमी रहेंगे, वही ब्रह्मचर्य धारण करने के योग्य होंगे।

छठा दर्शन वेदान्त "उत्तरमीमांसा" है जिसके कर्त्ता व्यासजी हैं। उन्होंने ब्रह्म को कारण बतलाकर जगत् को कार्य कहा है और कार्य, कारण इन दोनों पदार्थों की जांच की है। व्यासजी ने पहले सृष्टि का वर्णन किया है। अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार के प्रलय वर्णन किये गये हैं अर्थात् वैशेषिक में अप्रमेय मण्डल तक, गौतम ने परमाणुओं तक और सांख्यकर्त्ता ने प्रकृति तक वर्णन किए हैं। परन्तु वेदान्त में महाप्रलय का वर्णन किया है। इस महाप्रलय में परमात्मा और उसकी सामर्थ्य ही स्थित रहती है। इस तरह पर दूरदृष्टि बुद्धि से देखा जावे तो छहों शास्त्र अपनी रीति पर वर्णन करते हैं। इनमें विरुद्धता किसी तरह की भी नहीं है।

अब मूर्तिपूजा (बुतपरस्ती) पर फिर किसी प्रकार विचार किया जाता है।

---

१. व्यस्त, अमिश्रित, एकाकी। २. अर्थात् गुण।
३. अर्थात् गुणी।

पराशर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में मूर्तिपूजा का नाम भी नहीं है और कल्पसूत्रों में भी मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। इन ग्रन्थों पर परिशिष्ट रचे गए हैं। उनमें चाहे मूर्तिपूजा होवे। परिशिष्ट का स्पष्टार्थ क्या है? यह सब विद्वान् लोग जानते हैं। शास्त्रों की दृष्टि से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है।

अब फिर इतिहास का कुछ वर्णन किया जाता है। राजा शन्तनु ने सत्यवती से विवाह किया, उससे दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए। तत्पश्चात भीष्म-पितामह काशी के राजा से तीन कन्याये लाया। उनमें से अम्बा का विवाह शाल्व से हुआ। अम्बिका और अम्बालिका दोनों ने विचित्रवीर्य के साथ विवाह किया। तब व्यास के साथ नियोग होने से पाण्डु, धृतराष्ट्र और दासी के पुत्र विदुर पैदा हुए। पांडु ने दो स्त्रियों के साथ विवाह किया, उनके नाम कुन्ती और माद्री थे। माद्री ईरान के राजा की पुत्री थी। धृतराष्ट्र की स्त्री गान्धारी कंधार की रहने वाली थी। उसका भाई शकुनि कन्धार का राजा था, दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर में रहता था। कुन्ती और माद्री दोनों ने पुत्र के लिए नियोग किया था। उनमें धर्म [वायु और इन्द्र से नियोग करने पर युधिष्ठिर] भीम और अर्जुन उत्पन्न हुवे और इसी प्रकार अश्विनी-कुमार से नियोग करने पर नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। इसमें [धर्म] इन्द्र, वायु से नाम समझना चाहिए। स्पष्ट विदित है कि वायु के संसर्ग से पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। धृतराष्ट्र के यहां कहा जाता है कि एक ही गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए।

इन सब प्राचीन आर्य लोगों में स्वयंवर होता था अर्थात् कन्या स्वयं अपना वर पसन्द कर लेती थी। किन्तु इस समय के अनुसार विवाह नहीं होता था। मारवाड़ी लोगों ने इस पर और विशेषता की है कि वे पुत्र और पुत्री का उसी समय नाता कर देते हैं जबकि वे दोनों गर्भ में ही होते हैं। यह कैसी फजीहती की बात है। विवाह के समय पर धर्म, अर्थ और काम के परस्पर निर्वाह के लिए निर्णय होता है। वह निर्णय विना पुत्र और पुत्री वर्त्तमान हुए कैसे हो सकता है? प्राचीन आर्यों में यह दृढ़ रीति थी कि प्रत्येक मनुष्य विद्याभ्यास करे। जब तक कि विद्या के भूषण से भूषित नहीं होते थे तब तक पुरुष-स्त्री को विवाह करने की आज्ञा राजसभा से नहीं मिलती थी।

जनमेजय के राज्य तक चारों वर्णों का परस्पर में वर्ताव होता था और वे सामाजिक नियम, राज-सभा, धर्म-सभा, विद्या-सभा के प्रबन्ध में रीत्यनुसार चलते थे। यह बात कि चारों वर्णों का परस्पर में वर्ताव कैसा था, आप लोगों को महाभारत के राजसूय पर्व और अश्वमेध पर्व के देखने से विदित हो जावेगा। मनुजी ने कहा है प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों के हक बराबर थे। इस समय में तो सब प्रबन्ध ही उलटा हो गया है। अब घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परन्तु हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी में गांठ न देंगे, तो धर्म गया। अंगरखा लम्बा पहना गया, तो धर्म गया। खाने-पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है। इन

खाने-पीने की वस्तुओं ने तो वीरों को कायर कर दिया और चौका लगाकर बैठे-बैठे अपनी सारी बड़ाई पर चौका लग गया। प्राचीन समय में सब क्षत्रिय-राजा और ब्राह्मण ऋषि आदि एक ही सभा में भोजन किया करते थे। इस समय इस प्रकार की रीति सिक्खों में रणजीतसिंह के समय तक थी। कुरीतियों से कभी भी जन्म का फल पूरा नहीं होता है। ब्राह्मण लोग छूत-छात का ढोंग मचाते हैं। परन्तु वह ढोंग हींग, शक्कर आदि पदार्थ सेवन करते समय कहां जाता है। यदि यह कहो कि केवल दृष्ट का ही दोष होता है तो जो वस्तु दिखलाई न दे क्या उसका दोष नहीं है। क्या भूल से यदि भांग खा ली जावे तो नशा न करेगी ?

बड़ी-बड़ी बिरादरियों के अन्दर बहुत-सी फिर्काबन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में खर्च बहुत बढ़ता जाता है, चाहे कोई मरे, चाहे किसी का विवाह हो, गुजरात देश में दोनों मौकों पर बिरादरी को खिलाना पड़ता है। ऐसा खर्च किस काम आवेगा ? एक का मरना और भूषंडों का पेट भरना, मरे हुए पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को कर्ज में डुबाना, इससे बढ़कर दीवानापन और क्या हो सकता है ? इन बिरादरियों के झगड़ों और अनेक कारणों से युद्ध में कैसी कैसी रुकावटें होती हैं। एक बात कहता हूँ सुनने के योग्य है। पंजाब के राजा रणजीतसिंह का हरिसिंह (नलवा) नामी एक सरदार था। उसने काबुल कन्धार पर चढ़ाई की और इन पर विजय पाकर निवास किया। मुसलमानों ने यह समझकर कि हिन्दू वैरी हैं इनका सामान जो आ रहा था, उसको रास्ते में रोक दिया। दोपहर के समय तक जब कुछ न मिला तो हरिसिंह के सिपाही भूख से व्याकुल होकर घबड़ा गए और सब मिलकर हरिसिंह के पास गए। इस समय हरिसिंह ने मुसलमानों के उत्तर में उलटी तदबीर निकाली और सिपाहियों को आज्ञा दे दी कि मुसलमानों का कुल खाना इकट्ठा करो। यह आज्ञा पाकर सिक्खों की सेना ने धावा कर दिया और जो खाना कि मुसलमान लोगों ने अपने लिए तैयार किया था, वह सब लूट लाये और उसको हरिसिंह के पास ढेर लगा दिया और फिर हरिसिंह ने कहा कि सूवर का एक दांत ले आओ। वे दांत ले आए। वह सूवर का दांत हरिसिंह ने उस भोजन के ढेर के चारों तरफ फेर दिया और सिपाहियों से कहा कि अब यह सारा अन्न शुद्ध हो गया। अब इसके खाने में हिन्दुओं को कुछ भी दोष नहीं है। ऐसा कहकर आपने भोजन किया, फिर सिपाहियों ने पेट भरकर अपने कष्ट को दूर किया। ऐ सुनने वालो ! क्या चौके के बखेड़े में तुम अपना धर्म स्थिर रख सकते हो, इस पर विचार करो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

द्वादश-उपदेश

इतिहास

पूर्व व्याख्यानों से आर्य लोगों का इतिहास चित्रांगद और विचित्रवीर्य तक पहुंचाया गया था। प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे, बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था; क्योंकि आर्य इतिहासों में प्रायः स्वयंवर का ही वर्णन आता है। विधवा-विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में नियोग का प्रचार था विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे। प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आज कल उनकी संतान अनार्य हो गई। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियां कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ?

प्राचीन आर्य लोगों में गार्गी, मैत्रेयी आदि कैसी-कैसी विदुषी स्त्रियां हो गई हैं। आजकल स्त्री को विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं, वह शूद्र के समान है। यदि स्त्रियां पढ़ी-लिखी होतीं, तो इन पण्डितों की बड़बड़ाहट का खण्डन करके एक घड़ी में इनका मुंह बन्द कर देतीं। यदि इस समय हम लोगों में बाल-विवाह प्रचलित न होता तो विधवाओं की संख्या कभी इतनी न होती और न इतने गर्भपात और भ्रूण-हत्याएं होतीं और न इतनी रोगों की अधिकता होती। प्राचीन समय में यदि कोई धनाढ्य पुरुष निःसन्तान होता, तो आर्यसभा की व्यवस्था से उसका दायाद वारिस नियत होता था। विधवा स्त्री होती, तो उसको नियोग की आज्ञा दी जाती थी और प्रायः विधवायें ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में प्रायः नियोग से निर्वाह होता था। यहाँ कोई यह प्रश्न करेंगे कि नियोग और पुनर्विवाह में क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि पुनर्विवाह से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध जन्म भर के लिए होता है और जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे द्वितीय पति की समझी जाती हैं। विपरीत इसके नियोग का सम्बन्ध एक या दो सन्तान उत्पन्न होने तक रहता है, इसके बाद स्त्री-पुरुषों का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता वे एक या दो सन्तान पूर्व-पति के ही समझे जाते हैं और उसी का नाम चलाते हैं। आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है। क्योंकि यदि विधवा-विवाह की आज्ञा मिल जावे, तो स्त्रियां अपने पतियों को विष देकर मारना आरम्भ कर दें और यदि पहले पति को

जायदाद [illegible] विधवा स्त्री दू[illegible] पति कर लेगी तो उसमें और उसके पूर्व पति के सम्ब[illegible] में बहुत-से बखेड़े उठेंगे। जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों में गिनी जाती थी।

विवाह में परस्पर स्त्री-पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन-चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लड़का-लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं और उन मन्त्रों का अर्थ करके कोई समझता भी नहीं है। पण्डित लोग कहते हैं कि केवल मन्त्र के सुनने से पुण्य होता है, चाहे मन्त्र बोलने वाला उसका अर्थ समझे या न समझे। ब्राह्मण को दक्षिणा दे दी कि सब विधान ठीक-ठीक हो गया। वाह रे! तुम्हारा सामाजिक प्रबन्ध। इस ग्रन्थ परम्परा को देखकर तो मानना पड़ना है कि इससे विधवा-विवाह सब प्रकार अच्छा है।

यह बात कि "पहले तीन वर्णों में नियोग और शूद्रों में विधवा-विवाह" प्राचीन आर्य लोगों के विरुद्ध नहीं है। इसकी पुष्टि में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ४० का मन्त्र २ देखने योग्य है। प्राचीन समय में गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों को अपने साथ रखा करते थे। यही विषय इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। कोई-कोई पण्डित उस मन्त्र में "देवर" शब्द के अर्थ पति के छोटे भाई के करते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि निरुक्त में दूसरे पति का नाम देवर बतलाया है[1]। इसी सम्बन्ध में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १८ का मन्त्र ८ भी द्रष्टव्य है[2]। इसी प्रसंग में एक बात और विज्ञापनीय है। वह यह है कि किन्हीं विशेष दशाओं में पति के जीते जी भी नियोग की आज्ञा मिलती थी। नियोग १० बार [तक] करने की आज्ञा थी इसमें ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ के मन्त्र ४५ का प्रमाण है। ऋग्वेद के इसी मण्डल के इसी सूक्त के मन्त्र ४५ का अर्थ भी आजकल के पण्डित मनमाना करते हैं जो कि मानने योग्य नहीं।

महाभारत में लिखा है कि व्यासजी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा-स्त्रियों से नियोग किया था। मनुजी ने भी नियोग की आज्ञा दी है। प्राचीन आर्यलोगों में पति के जीते भी नियोग होता था, इसकी पुष्टि में महाभारत में लिखे हुए बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यासजी बड़े पण्डित और धर्मात्मा थे, उन्होंने चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य की स्त्रियों से नियोग किया और इनमें से एक गर्भ से धृतराष्ट्र और दूसरी की कुक्षि से पाण्डु उत्पन्न हुए और यह पहले ही वर्णन हो चुका है कि पाण्डु की विद्यमानता में ही उसकी स्त्री ने दूसरे पुरुषों के साथ नियोग किया था। इस प्रकार नियोग का उस समय प्रचार था। पुनर्विवाह की अधिक आवश्यकता ही नहीं होती थी। अब इस समय नियोग और पुनर्विवाह दोनों के बन्द होने से आज कल के आर्य लोगों में जो-जो भ्रष्ट

---

१. देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरुक्त ३। १५॥

२. उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं मन्युर्जनित्वमभि संबभूथ॥ ८॥

३. अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। ऋ० १०। १०। १०॥

चार फैला हुआ है, वह आप लोग देख ही रहे हैं। हजारों गर्भ गिराये जाते हैं, भ्रूणहत्याएँ होती हैं। एक गर्भ गिराने से एक ब्रह्म-हत्या का पाप होता है। सोचो कि इस देश में कितनी ब्रह्महत्यायें प्रतिदिन होती हैं? क्या कोई उनकी गणना कर सकता है? इन सब पापों का बोझ हमारे सिर पर है।

देखो! प्राचीन सामाजिक प्रबन्ध के बिगड़ने से हमारे देश की दुर्दशा हो रही है। वेद-मार्ग को एक तरफ ढकेलकर पुष्टि-मार्ग चमक रहा है। महन्तों और साधुओं के राजसी ठाठ लगे हुए हैं। देवालयों, मठों और मन्दिरों में पाप की भरमार हो रही है। न जाने कितने गर्भ गिराये जाते होंगे। यह पाप, दुराचार और अनर्थ का समय बन रहा है। जब तक स्वार्थी और लम्पट लोग लोकाचार की लीक बनाते रहेंगे और साधारण लोग अन्ध-परम्परा से उस पर चलते रहेंगे, तब तक देश का कल्याण नहीं हो सकता। धर्म के विषय में लोग परम्परा की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं, परन्तु क्या सांसारिक विषयों में भी ऐसा ही है? क्या यदि बाप दरिद्र हो, तो परम्परा के अभिमान से बेटा भी दरिद्र होगा? यदि बाप अन्धा हो तो क्या बेटे को भी परम्परा के लिए आँख फोड़ लेनी चाहिए?

वेदबाह्य रीतियों को हमे परम्परा की पदवी कभी नहीं देनी चाहिए। सदुपदेशपूर्ण वेदों और आर्ष ग्रन्थों में जिस सच्ची परम्परा का विधान किया गया है, उसका पालन करना चाहिए। अस्तु, अब फिर इतिहास का वर्णन किया जाता है।

राजा धृतराष्ट्र स्वभाव से ही कपटी था और पाण्डु धर्मात्मा था। पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गई थी। सती होने के लिए वेद की आज्ञा नहीं है; किन्तु सती होने की कुरीति पहले-पहल पाण्डु राजा के समय से चली। कौरव और पाण्डवों ने उत्तम शिक्षा प्राप्त की। धृतराष्ट्र ने अपने और पाण्डु के पुत्रों को द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के सुपुर्द कर दिया। उस समय ब्राह्मण लोग युद्ध-विद्या के भी आचार्य होते थे। अर्जुन ने धनुर्वेद में सबसे अधिक अभ्यास किया। इसलिए युद्ध-विद्या में उसकी बड़ी ख्याति हो गई। अर्जुन का समकक्ष कौरवों में केवल कर्ण ही था। पर कर्ण सूतपुत्र अर्थात् सारथि का बेटा था। इसलिए अर्जुन ने कर्ण की अवज्ञा की थी, परन्तु इस अवज्ञा से लाभ उठाने के लिए दुर्योधन ने कर्ण को बंगाल का राज्य देकर उसे क्षत्रिय वर्ण का अधिकार दे दिया था। इस प्रकार अनुचित अभिमान से इस राजकुल में द्वेष से आग भड़की। इसी द्वेष से अपने आर्यावर्त्त की सारी दुर्दशा हुई। वह वर्णन करने के योग्य नहीं।

उस समय धृतराष्ट्र के पास एक नीच, छिछोरा, कामुक कनक नामी एक शास्त्री रहता था। उसने पाण्डवों के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहकर धृतराष्ट्र का मन उनसे फेर दिया। फिर इसी दुष्ट शास्त्री की सलाह से पाण्डवों को भस्म करने के लिए एक 'लाख' का घर बनाया गया। राज-सभा का प्रबन्ध तो पहले ही बिगड़ चुका था। उस पर शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन और कनक शास्त्री की चाण्डाल-चौकड़ी जम गई। इस चाण्डाल-चौकड़ी की करतूत से राज्य की जैसी दुर्दशा हुई और उसका

जैसा भयानक परिणाम हुआ, उसका सविस्तार वृत्तान्त महाभारत में विद्यमान है।

विदुर को दुर्योधन की चाण्डाल-चौकड़ी के मनसूबे मालूम थे। 'लाख' के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बर्बर देश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा धर्मराज (युधिष्ठिर) को आती थी, जिसके कारण पाण्डव 'लाख' के घर में जलने से बच गए थे।

देखो विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं के जानने वाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाओं को बोल सकते थे। आजकल के शास्त्री महाराजों से यदि कहो कि यावनी और म्लेच्छ भाषा सीखने में कोई दोष नहीं, तो वे कहने लगते हैं—

न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

यदि प्राण गले तक आ जायें अर्थात् मृत्यु सा समय तक क्यों न आ जावे; परन्तु यावनी भाषा को नहीं बोलना चाहिए और मत्त हाथी भी सामने से आता हो, तो जैनमन्दिर में कदापि आश्रय न लेवे।

अर्जुन की मत्स्यवेध विद्या में बड़ी प्रशंसा की जाती है, परन्तु यह बात मत समझो कि हमारे देश में अब ऐसे योग्य शूर पुरुष रहे ही नहीं। हमने स्वयं राजपूत लोगों को मत्स्यवेध से अधिकतर कठिन काम करते हुए देखा है।

कर्ण का जो पाण्डवों ने अपमान किया था, इसलिए वह द्रौपदी से छल करने पर उद्यत हुआ—यह कथा सब जानते हैं। राज-सभा ने यह निर्णय किया कि राजा युधिष्ठिर होना चाहिए, परन्तु धृतराष्ट्र ने अत्याचार से [अधिकार] छीन लिया था। इसके पश्चात् जो-जो कष्ट पाण्डवों को झेलने पड़े, उनको सब जानते हैं। फिर जब पाण्डवों का भाग्योदय हुआ, तब उन्होंने राजसूय यज्ञ रचा। मय नामक एक बड़ा शिल्पी था, उसने एक विचित्र सभा बनाई। (प्राचीन आर्य लोगों की शिल्प-विद्या का इतिहास सुनने योग्य है) इस राजसूय यज्ञ में सहस्रों मनुष्य आये थे। मय ने ऐसी रचना-चातुरी की थी कि स्थल में जल का सन्देह होता था। दुर्योधन ने इसे सचमुच जल समझ कर अपने कपड़े उठाकर समेट लिए। यह देखकर भीमसेन मुस्कराया और अक्खड़पन से कह दिया कि अन्धे[1] के अन्धा ही पैदा हुआ। दुर्योधन खिसियाना हुआ और कनक शास्त्री ने बात का बतंगड़ बनाकर उसे और भी भड़का दिया। उस समय अर्जुन और कृष्ण ने दुर्योधन को समझा-बुझा दिया। तदनन्तर एक बड़ा भोज हुआ, जिसमें ऋषि-मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबने एक पङ्क्ति में बैठकर भोजन किया।

इसके बाद छल से द्यूतक्रीड़ा में युधिष्ठिर आदि को फंसाकर वनवास और

१. दुर्योधन का पिता धृतराष्ट्र अन्धा था।

अज्ञातवास दिया गया। विराट् राजा के नगर में रहते हुये अर्जुन ने विराट् राजा की कन्या उत्तरा नाम्नी को नृत्यकला की शिक्षा दी थी। इससे प्रकट है कि प्राचीन समय में राजकुमारियां भी गान-विद्या और नृत्य-कला सीखती थीं। चक्रवर्ती राज्य का नाश उस समय तक नहीं होता, जब तक कि आपस में फूट न हो। कुरु-वंश में फूट पैदा हो गई और स्वार्थ और विद्रोह बुद्धि ने लोगों को अन्धा बना दिया। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। भीष्म जैसे विद्वान् और धर्मवादी पुरुष पक्षपात के रोग में ग्रस्त हो गए। उनको उचित तो यह था कि वे मध्यस्थ होकर दोनों पक्षों का न्याय करते और अपराधियों और अन्यायियों को दण्ड दिलाते। ऐसा न करके उन्होंने अन्यायियों का पक्ष करके कुरु-वंश का नाश होने दिया। देखिए भीष्म क्या कहता है—

> **अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।**
> **इति मत्वा महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥**

"धन का मनुष्य दास है, धन किसी का दास नहीं। ऐसा मानकर मैं स्वार्थ में बंधा हुआ कौरवों के पक्ष में हूं।"

इस प्रकार बुद्धि भ्रष्ट होने से और द्वेष बढ़ने से भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि कौरव एक तरफ हुए और पाण्डव दूसरी तरफ हुए और बड़ा भारी युद्ध हुआ। इस युद्ध में तीन मनुष्य कौरवों की ओर के अर्थात् १. कृपाचार्य, २. कृतवर्मा, ३. अश्वत्थामा और ६ पाण्डवों की ओर के अर्थात् ५ पाण्डव और छठे कृष्ण जीवित रहे थे शेष सबका नाश हो गया। इस युद्ध से प्राचीन आर्य लोगों का वैभव सदा के लिए अस्त हो गया।

इस सब अनर्थ का कारण केवल यह था कि सम्मति देने का काम नीच और क्षुद्र लोगों को सौंपा गया था। ऐसे अयोग्य जन नेता परामर्श देने वाले बन गए। जहां शकुनि जैसे संकीर्ण हृदय और क्षुद्रमनस्क जन की सम्मति से राज्य-कार्य चलने लगे; कनक शास्त्री महाराज धर्माधर्म का निर्णय करने लगे; वहां यदि घर में फूट उत्पन्न होकर घरवालों का विनाश हो, तो आश्चर्य ही क्या है !

इसी प्रकार जिस देश में केवल सचाई के अभिमान से मार्टिन लूथर जैसे उदारचेता पुरुषों ने सामयिक लोगों के विरुद्ध होते हुए भी पोप के अत्याचार के विरुद्ध उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया और अपने प्राण तक न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो गए; उस देश में यदि ऐश्वर्य और अभ्युदय का डंका बजा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसी रीति पर कुरु-कुल का तो नाश हो गया। अब कृष्णजी द्वारिका में राज्य करते थे, वहां उस समय यादवों ने बड़ी उन्नति की थी। दुर्भाग्य से उनमें भी प्रमाद और विषयासक्ति के कारण आपस में फूट पड़ गई, जिनसे सब लड़-भिड़कर अल्प काल में ही यादव कुल का नाश हो गया।

पाठक ! प्रमाद का फल देखिये, बलदेव मद्य पीने लगा और डूबकर मर गया। सात्यकि सांप से लड़ा। ऐसे मूर्खता के काम जहां होने लगें वहां श्रीकृष्ण जैसे सत्पुरुषों की बात कौन सुने ? इन प्राचीन आर्यों के युद्ध के पश्चात् केवल इनकी स्त्रियां ही शेष रह गई थीं।

इनमें अभिमन्यु का पुत्र एक परीक्षित भी बचा था, वह कुछ विक्षिप्त-सा था, उसके समझ में आर्ष ग्रन्थ नहीं आते थे। इसी कारण उसके समय में कुछ-कुछ पुराणों का प्रचार हो चला था। उसका पुत्र जनमेजय हुआ और उसके पीछे वज्र-नाथ ने राज्य किया। इतने समय में सम्पूर्ण वैभव का नाश हो गया। राज-सभा, धर्मसभा और विद्यासभा तीनों डूब गईं। केवल एक राजा की इच्छानुसार सब राज्य-कार्य होने लगा। विद्वान् और सच्चरित्रों को, जो विधि-निषेध की मीमांसा और व्यवस्था करने का अधिकार था, वह दूर हो गया। व्यास, जैमिनि और वैशम्पायन आदि महर्षि न रहे। चक्रवर्ती राज्य नष्ट होकर यत्र-तत्र माण्डलिक राज्य स्थापित हो गए। ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया।

ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्। ब्राह्मणास्तु भूदेवाः।

इस प्रकार की उलटी समझ लोगों में फैल गई, जिससे मनुष्य अन्धपरम्परा के दास बन गए और भी देखिये, ब्राह्मणों की लीला—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे।
सागरे यानि तीर्थानि पदे विप्रस्य दक्षिणे॥

पृथिवी में जितने तीर्थ हैं, वे सब समुद्र में आ जाते हैं और समुद्र में जितने तीर्थ हैं, वे सब ब्राह्मण के दाहिने पैर में हैं :

ऐसे लोगों के जाल में भोले-भाले लोग फंस गए। अब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं; तब इन्होंने अनेक प्रकार के व्रत. उपवास. उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्मों मे लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गए।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत्। प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते॥[1]

अग्नि के दृष्टान्त मे प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख वह साक्षात् देवता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनायें करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए। यथा—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥[2]

---

१. मनु० ९।३१७, ३१८॥ २. मनु० ९।३१९॥

यदि दुष्टाचरण वाले ब्राह्मण की कोई निन्दा करता, तो उसको ब्रह्मविरोधी कहकर उसकी हड्डी-हड्डी निकाल लेते थे। निदान ब्राह्मणों को सब प्रकार के दण्ड और शासन से मुक्त कर देने के कारण सारी बुराइयां इन्हीं में घर कर गईं। सदाचार विलुप्त हो गया धूर्त्तता और अत्याचार बढ गया मूर्खता ने देश में अपना डेरा-डण्डा जमा दिया। जब देश की ऐसी दुर्दशा हुई, तब गाजीपुर नगर में एक राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ (जो पीछे जाकर बुद्ध बना) उसने वेदों की निन्दा करके ब्राह्मणों के अत्याचार से दूसरे लोगों को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। इसके उपदेश से लाखों मनुष्य बौद्ध-धर्मानुयायी हो गए। बुद्ध और उसके पश्चात् जैनमत के फैल जाने से निरीश्वरवाद बढ़ गया। ईश्वर की पूजा के स्थान में मूर्तिपूजा प्रचलित हुई। बौद्ध और जैनमत में ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु वे उन सिद्धों और तीर्थंकरों की भक्ति वा उपासना करना सिखलाते हैं, जो उनकी दृष्टि में महात्मा वा सत्पुरुष हुए हैं। यही कारण है कि बौद्ध वा जैन लोग अपने तीर्थंकरों की मूर्तियां बनाकर रखते हैं। पहले पारसनाथ आदि तीर्थंकरों की मूर्तियां बनाकर जैनों ने उनका पूजन आरम्भ किया, फिर उनका देखा-देखी पौराणिक लोग भी अपने इष्ट देवों की मूर्तियाँ बनाने लगे। इस प्रकार वेदों का आत्मवाद और एक ईश्वर की पूजा इस देश से उठ गई। लोग मन्दिरों में जाकर मूर्तियों की उपासना करने लगे और इसी को धर्म का मुख्य अंग मानने लगे। जैनी लोगों में कुछ सहिष्णुता पाई जाती है, परन्तु इन्होंने वेद-मार्ग को विध्वंस करने के लिए कोई उपाय उठा न रखा। वेदों पर बड़े-बड़े आक्षेप किए। "वेद में अश्लील गाथायें हैं, वेद में हिंसा है, वेद में बहुदेववाद है और वेद में अधिकतर ब्राह्मणों का और कुछ-कुछ क्षत्रिय, वैश्यों का पक्षपात किया गया है।" इत्यादि आक्षेप किए। इनके विरोध और खण्डन से वर्णाश्रम व्यवस्था को बहुत कुछ हानि पहुँची। यहीं तक सन्तोष नहीं किया, किन्तु जैनियों ने बहुत-से वैदिक ग्रन्थ जलाकर भस्मसात् कर दिए।

इनके पश्चात् श्रीयुत गौड़पादाचार्य के प्रसिद्ध शिष्य स्वामी शंकराचार्यजी प्रादुर्भूत हुए। शंकर स्वामी वेद-मार्ग और वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले थे। उनकी योग्यता कैसी उच्च कक्षा की थी, यह उनके बनाये शारीरिक भाष्य से विदित होता है। शंकर स्वामी के समय में जो अनेक पाखण्ड मत चले थे और जिनका कि उन्होंने खण्डन किया है, वह शंकर-दिग्विजय के निम्नलिखित श्लोक में प्रकट होते हैं—

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रन्यैरप्यखिलैः खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम्॥

इससे अनुमान किया जा सकता है कि श्रीमान् स्वामी शंकराचार्य ने वेद-विरुद्ध मतों के खण्डन में कितना उद्योग किया है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

त्रयोदश-उपदेश

इतिहास

सुधन्वा राजा के साथ जो बौद्धमत का अनुयायी था, शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें प्रतिज्ञा यह हुई थी कि यदि शंकराचार्य पराजित हुए, तो उन्हें बौद्धमत स्वीकार करना होगा। बौद्ध पण्डित वेदों की निन्दा करते हुए कहते थे कि वेदों के बनाने वाले भाण्ड, धूर्त और राक्षस हैं। [इस प्रकार के] झूठे दोष वेदों पर लगाते हैं। यदि महीधर की तरह वेदों का अर्थ किया जावे, तो बौद्धों के आक्षेपों को अवकाश मिलता है। 'गभ' शब्द को 'भग' से बदल कर महीधर ने अर्थ का अनर्थ कर दिया है। शतपथ ब्राह्मण में इसके अर्थ प्रजा, राष्ट्र या श्री के किए हैं। शोक है कि आजकल के शास्त्री लोग भी महीधर के अर्थों को मानते हैं। अश्व शब्द के अर्थ शतपथ के प्रमाण से यदि 'अग्नि' के किए जावें जिसको कि महीधर ने गन्देपन में घसीटा है, तो बौद्धों के आक्षेप वेदों पर से दूर हो जाते हैं और यदि हठ से महीधर जैसे अनार्य टीकाकार का पक्ष किया जावे तो बौद्ध लोगों के आक्षेप कैसे दूर हो सकते है? बुद्धिमानों को इस पर विचार करना चाहिए क्योंकि महीधर के जैसे मनमाने अर्थ करने के कारण वेद [और] ईश्वर से विमुख तीर्थंकर और केवल स्वभाव को मानने वाले मत पैदा हो गए।

सुधन्वा राजा शास्त्रार्थ में हार गया और उसने वेद-मत को स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् शंकराचार्य बुद्ध गया* में गए, वहां का राजा कट्टर बौद्ध था, वर्णाश्रम व्यवस्था को यह राजा नहीं मानता था। इस राजा को भी जीतकर शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्धमत का अब ह्रास होने लगा। अब इसका कुछ आकार बदलकर जैनमत का प्रारम्भ हुआ। जैन लोग केवल युक्तिवादी थे और कृमि-कीटों के रक्षक होने के कारण मनुष्यों पर वे अधिक दया का प्रयोग नहीं करते थे। बुद्ध और जैन मतों के फैलने से क्षात्रधर्म को बहुत हानि पहुँची।

अतः पश्चात् विक्रम, भर्तृहरि, शालिवाहन और भोज आदि बहुत से राजा हुए। इसी समय में कालीदास पण्डित हुआ। ग्वालियर में भिंड नामी नगर में मिश्र लोग रहते हैं, उनके पास संजीवनी नामक एक पुस्तक है, उसमें महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है कि व्यास ने पहले एक हजार श्लोक बनाए, फिर उसके बाद व्यास के शिष्यों ने एक हजार के ६ हजार कर दिए। इनके बाद फिर भरती पर भरती होती चली गई। जिस समय जैन मत उन्नति पर था, उस समय केवल ब्रह्मवैवर्त और वायु

---

*. गया जो कि आजकल हिन्दुओं का तीर्थ है, वास्तव में बौद्ध लोगों का एक पवित्र स्थान था। अब तक भी बहुत सी मूर्तियां, जिनको हिन्दू लोग पूजते हैं, वहां बौद्धों की हैं।

पुराण आदि दो तीन पुराण मालूम थे। आजकल कहने को तो केवल १८ ही पुराण हैं, किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वास्तव में कितने पुराण हैं और इनमें क्या-क्या घर-घसीटा है। यावनी भाषा न बोले, जैन मन्दिर में न जावे इस प्रकार कट्टरपन के सैंकड़ों श्लोक बन गए हैं। हवन या उपासना करने के स्थान, जिनका नाम देवालय या देवस्थान था, अब मूर्तियों के स्थान बन गए। लोग ईश्वर के स्थान में मन्दिरों में रखी मूर्तियों की पूजा करने लगे। जैनियों के मन्दिरों की मूर्तियों को भी देवता समझकर पूजने लगे और जैनियों के देवालयों में मूर्तियां बिठाकर गपोड़े हांकने लगे और भांति भांति के हथकण्डों से लोगों को मूर्तियों का चमत्कार दिखाने लगे। लोग भी आजकल की भांति चतुर न थे, इसलिए पुजारियों के फन्दे में फंसने लगे।

जब पुजारी, वैरागी और गोसाईं आदि का जोर बढ़ चला, तब यह कहने लगे कि १८ पुराण सत्यवती-सुत व्यास ने बनाए है। इस प्रकार अनार्ष ग्रन्थों का प्रचार और आर्ष ग्रन्थों का लोप होता गया। जड़ मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा करने लगे और प्रतिष्ठामयूख और प्रतिष्ठाभास्कर आदि ग्रन्थ बना डाले, जिनमें प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्रों के नमूने देखिए—

"प्राणा इहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु,
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु"

इस प्राण-प्रतिष्ठा के गपोड़े को आर्य शास्त्रों से सहारा कहां मिल सकता है? चारों वेदों की संहिता में कहीं एक मन्त्र भी प्राणप्रतिष्ठा का नहीं मिलता। इस प्रकार के कल्पित मन्त्र पौराणिक समय में लोगों ने गढ़ लिए और कहने लगे कि प्राण-प्रतिष्ठा से मूर्ति में पूजा का अधिकार पैदा हो जाता है। मालूम होता है कि यह मूर्ति-पूजा जैन मत वालों से हममें घुस आई है और इसको सहारा देने के लिए पुराणों में इसका वर्णन किया गया है।

अवतारों का वर्णन भी पुराणों में ही मिलता है। हरिवंश में नृसिंहावतार की कथा है। अवतारों की कथाओं और मूर्ति-पूजा के प्रचार से लोगों की मननशक्ति दूर होकर मन का झुकाव कर्म-मार्ग की तरफ हो गया। मनमाने व्रत, उपवास, उद्यापन आदि लोग करते हैं। ऐसे कामों से शारीरिक स्वास्थ्य की हानि और रोगों की वृद्धि होती है; इसके अतिरिक्त इन बखेड़ों से शैव, वैष्णव, वल्लभाचारी और रामानुजी आदि अनेक प्रकार के सम्प्रदाय उत्पन्न होकर आपस में विरोध बढ़ता गया और जड़ मूर्तियों के आगे बाल-भोग रखने, उन्हें सुलाने और रामलीला करने आदि बालक्रीड़ाओं से वैदिक धर्म की निन्दा होती है और देश के प्रत्येक प्रान्त में पाप की वृद्धि होती है ऐसी और भी बहुत-सी हानियां मूर्तिपूजा से होती हैं। मन्दिरों में पुजारी लोग वैसा-ही प्रसाद देते हैं, जैसी कि उनको दक्षिणा मिलती है। इसलिए मन्दिर क्या हैं मानो सेठ लोगों की दुकानें हैं। पुजारी लोग अपने स्वार्थ के लिए आलस्य और मूर्खता को बढ़ाने वाले बहुत-से नये वाक्य बनाकर लोगों को फंसाते हैं। बहुत-से वाक्यों को अपनी इच्छा के अनुसार जोड़-मेल कर दिया है। कहते हैं कि—

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यम् । दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ॥
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा सर्वं पापं विनश्यति ॥

(१) पढ़कर भी जब मर जाना है तो दांत कटाकट करने की क्या आवश्यकता है ?

(२) यदि प्रातःकाल उठकर शिवलिंग का दर्शन करे तो सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

वाह ! क्या पुरुषार्थ है । ज्ञान के विना भोग, पुरुषार्थ और आनन्द नहीं है; परन्तु जहां ऊपर कही हुई भांति पुरुषार्थ की समझ है तो वहां भागवत जैसे पुराणों का जोर क्यों न होगा । यथार्थ विद्याओं के पठन पाठन को एक तरफ हटाकर पुराणों के केवल सुनने मे सारे माहात्म्य लाकर धर दिए है । प्रत्येक पुराण की समाप्ति पर उसके सुनने से क्या-क्या लाभ होंगे, इसके मनमाने फल वर्णन किए है ।

इस प्रकार धर्मबुद्धि बिगड़ जाने से लोग निर्बल और कायर हो गए । तभी तो ऐसी भ्रान्ति में फंस गए कि नवग्रहों से हमारी हानि होगी । इसी आधार पर फलित ज्योतिष का आडम्बर फैलाकर तदनुसार नव ग्रहों के जाप के मन्त्र बनाए गए । इन मन्त्रों के अर्थों का इन कामों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं, जिनके करते समय कि उनका प्रयोग किया जाता है, इस विषय पर कभी किसी ने विचार नही किया । उदाहरण के लिये एक ही **'शन्नो देवी'** मन्त्र को देखिए । इसको शनैश्चर देवता का मन्त्र ठहराया है और ज्योतिषी जी महाराज ने अपना खेत पकाया है । इसी प्रकार सम्प्रदायी लोगों ने तन-मन-धन गोसाई जी के अर्पण कर ऐसे-ऐसे उपदेशों से भोले-भाले लोगों के मन भ्रष्ट कर दिए ।

पाठक ! यहां भली-भांति विचार कीजिए कि प्रमाज्ञान क्या है और भ्रांतिज्ञान क्या है ? देखिए जो वस्तु जैसी हो, उसका वैसा ही ज्ञान होना प्रमाज्ञान कहलाता है—

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।[१]

प्रमाणों से अर्थों की परीक्षा करना न्याय कहलाता है । इस वाक्य को कसौटी पर लगाकर सच-झूठ की परीक्षा कीजिए ।

हमारे भाई शास्त्री लोग हठ करते हैं, यह हम सबका दुर्भाग्य है । हमारे भरत-खण्ड देश से वेदों का बहुत-सा धर्म लुप्त हो गया है और रहा-सहा हम लोगों के प्रमाद से नष्ट होता जा रहा है और उसकी जगह पाखण्ड, अनाचार और दम्भ बढ़ता जा रहा है । सदाचार और सच्चाई से हम लोग दूर होते जा रहे हैं, तभी तो हम सबकी दुर्दशा हो रही है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सनातन आर्ष ग्रन्थ वेदादि को छोड़कर पुराणों में लिपट रहे हैं और उनकी कल्पित और असम्भव गाथाओं को अपना धर्म समझ

---

१. न्याय, वात्स्यायनभाष्य १।१।१ ॥

रहे हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पापजपन का कोई उपाय भी है या नहीं ? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और ६ दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए और पढ़े लिखे विद्वान् लोगों को सच्चे धर्म का उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और गांव-गांव में आर्यसमाज स्थापना करके तथा मूर्तिपूजादि अनाचारों को दूर करके एवं ब्रह्मचर्य से तप का सामर्थ्य बढ़ाकर सब वर्णों और आश्रमों के लोगों को चाहिए कि शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ावे तो सुगमता से शीघ्र लोगों की आंखें खुल जावेंगी और दुर्दशा दूर होकर सुदशा प्राप्त होगी। मेरे जैसे एक निर्बल मनुष्य के करने से यह काम कैसे हो सकेगा, इसलिए आप सब बुद्धिमान् लोगों से आशा रखता हूँ कि आप मुझे इस शुभ कार्य में सहयोग देंगे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

चतुर्दश-उपदेश

नित्यकर्म और मुक्ति

प्रत्येक स्त्री और पुरुष के जो प्रतिदिन के कर्त्तव्य हैं, उनको आह्निक कर्म कहते हैं। धर्म-सम्बन्धी जो कर्त्तव्य हैं वे नित्यकर्म हैं। वे कर्म किसको किस प्रकार और कहां तक करने चाहिए और किसको न करने चाहिए, इस विषय पर विचार किया जाता है। बालक मूर्ख और छोटा होने के कारण माता-पिता के अधीन रहता है। ८ वर्ष की अवस्था तक उसमें धर्म-सम्बन्धी काम करने की योग्यता नहीं होती। इसलिए हमारे धर्मशास्त्रों ने व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) होने से पहले बालकों के लिए नित्यकर्म का विधान नहीं किया है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, विद्या, आयु और शारीरिक बल इत्यादि के अनुसार शास्त्रों ने नित्यकर्म की व्यवस्था की है। धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में नित्यकर्म निम्नलिखित हैं—

१. **ब्रह्मयज्ञ**—जो वेदों के पाठन-पाठन द्वारा होता है। 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ विद्या, वेद और परमात्मा तीनों के हैं। 'यज्ञ शब्द का अर्थ विचार है। इसलिए ब्रह्म-के अर्थ वेदों का विचार या परमात्मा का विचार हुआ। ब्रह्मयज्ञ के ठीक अर्थों को मन में जगह देकर यह स्पष्ट मालूम होता है आजकल जिस रीति पर ब्रह्मयज्ञ किया जाता है, वह निष्फल है और फिर यह आक्षेप मन में कभी स्थान न पावेगा कि आधुनिक ब्रह्मयज्ञ शास्त्र के अनुसार नहीं है।

२. **देवयज्ञ**—"यदग्नौ हूयते स देवयज्ञः" जो अग्नि में होम किया जाता है, वह देवयज्ञ है। कोई लोग देवयज्ञ का अभिप्राय देवताओं की पूजा समझते हैं, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों और मनुस्मृति के देखने से मालूम होता है कि इस देवयज्ञ का ठीक अभिप्राय होम अर्थात् अग्निहोत्र है। अग्नि दो प्रकार की है, एक जठराग्नि और दूसरी भौतिकाग्नि। कोई लोग कहते हैं—

'होमैर्देवान् यथाविधि अर्चयेत्।' (द्र० मनु ३।८१) होम मे विद्वानों का यथाविधि सत्कार करना चाहिए।

होम शब्द के पारिभाषिक अर्थ कभी-कभी दान और आदान के भी हो जाते हैं। फिर भी कोई मनुष्य किसी प्रकार मूर्ति-पूजा को देवयज्ञ में शामिल नहीं कर सकता।

३. **पितृयज्ञ**—"[यस्मिन्] पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः।" जिसमें पितरों को दिया जावे अर्थात् उनकी सेवा की जावे, उसे पितृयज्ञ कहते है। यहां पर पितृ शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।[1]

मुनीति, धर्म, सचाई और सच्चरित्रता आदि गुणों से युक्त अत्यन्त सहिष्णु, महात्मा जो प्राचीन ऋषि हुए हैं उन्हीं को अपने तपोबल के प्रभाव से वसु, रुद्र और आदित्य आदि की पदवियां मिला करती थीं। ऐसे ऋषि सच्चे पितर होते थे और उनका आदर-सत्कार करना पितृयज्ञ कहलाता था। २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वसु, ३६ वर्ष तक रुद्र और ४८ वर्ष तक रहने वाला आदित्य कहलाता था। छान्दोग्य-उपनिषद् में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के लिए ३ सवन बतलाये गये हैं, जो तीनों प्रकार के ब्रह्मचारियों से सम्बन्ध रखते है। इन सबके तात्पर्य पर विचार करने से मालूम होता है कि विद्या के द्वारा आत्मिक जन्म देने वाला ही पिता कहलाता है और ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं।

आजकल पितृयज्ञ कहने से जो मृतकों का श्राद्ध, और तर्पण समझा जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि मनुजी ने भी कहा है कि श्रद्धा से जो काम किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं और तृप्ति का नाम तर्पण है। इन सब अर्थों और प्रयोगों पर विचार करने से मालूम होता है कि आजकल जो देवयज्ञ और पितृयज्ञ की जो व्याख्या की जाती है, वह कवियों की अत्युक्ति ही है। भला सोचिए कि कवियों की अत्युक्ति से यथार्थ तत्त्व कैसे जाना जा सकता है? विद्या-सत्कार अर्थात् ऋषि-सत्कार और पितृ-सत्कार अर्थात् विद्वानों के सत्कार को पितृयज्ञ मानना चाहिए। श्रद्धा के विना जो किया जाता है वह धर्म-कर्म अर्थात् श्राद्ध नहीं होता। मनुजी ने कहा—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।।[2]

पाखण्डी, वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले, बिडालवृत्ति वाले, हठी, बकवादी और बगुलाभक्त मनुष्यों का वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

वेदविहित पितरों की सेवा-शुश्रूषा छोड़कर समुद्र, पहाड़, नदी और वृक्षों का तर्पण करना और इसे श्राद्ध मानना, भला पाखण्ड नहीं तो और क्या है? प्राचीन पद्धति ही यदि लेनी थी, तो ऋषियों की पद्धति स्वीकार करते।

४. **भूतयज्ञ**—"यो भूतेभ्यः क्रियते स भूतयज्ञः।" जो प्राणियों को भाग दिया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, साधारण प्राणियों का पालन करना भूतयज्ञ है।

५. **अतिथि यज्ञ**—मनुजी लिखते हैं—

---

१. मनु० २।१५६, १५४ ।।   २. मनु० ४।३० ।।

अनित्या हि स्थितिर्यस्य सोऽतिथिः सद्भिरुच्यते ।[1]

जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिसकी अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है । अतिथियज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो [उसकी सेवा करना] यह एक श्रेष्ठ कर्म है ।

अब पुनः ब्रह्मयज्ञ पर विचार करना चाहिए । इस यज्ञ के सम्बन्ध में सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिए । इसके विषय में एक सन्ध्योपनिषद् है, इस पुस्तक में विशेष व्याख्या की गई है । इस उपासना का अधिकार यदि योग्य अवस्था हो तो लड़के-लड़कियों को बराबर है । दिन और रात की सन्धि के समय में यह उपासना अवश्य करनी चाहिए । ऐसा सन्धि समय सायं प्रातः दो समय आता है, तीन बार नहीं होता । इसलिए दोपहर की सन्ध्या कदापि नहीं हो सकती । सामब्राह्मण और यजुर्वेद का ब्राह्मण देख लीजिए—

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे संध्यामुपासीत ।[2]

दिन और रात की सन्धि के समय संध्योपासना करनी चाहिए ।

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायेत् ।[3]

सूर्य के उदय और अस्त होने पर संध्या करनी चाहिए । इन प्रमाणों से केवल दो संध्या ही सिद्ध होती हैं । संध्योपासना में गायत्री महामन्त्र के अर्थ पर [विचार] करना चाहिए । इस मन्त्र में सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है । दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है । ईसाई लोगों की प्रार्थना के मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि—"हे परमेश्वर ! हमको प्रतिदिन रोटी खाने को दे ।" इसकी अपेक्षा इस आर्यों के महामन्त्र का अर्थ कैसा गम्भीर है । आधुनिक समय में जो-जो मत निकले हैं, उनकी प्रार्थना के मन्त्र इस महामन्त्र के सामने कैसे तुच्छ हैं । इस पर प्रत्येक बुद्धिमान् को विचार करना चाहिए । संध्योपासना सदा सायं-प्रातः इन दो कालों में ही करनी चाहिए इन दोनों कालों में मनोवृत्ति की स्थिरता में प्राकृतिक सहायता मिलती है । सूतक*

---

१. द्र० मनु० ३।१०२—अनित्य हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ।

२. षड्विंशब्राह्मण ४।५।। यह सामवेद का ब्राह्मण है ।

३. तै० आ० २।२।२ ।।

* हिन्दुओं में जब किसी के घर सन्तानोत्पत्ति होती है, तो उसके सम्बन्धियों के यहां दश दिन तक या तीन दिन तक सूतक माना जाता है । इसी प्रकार मृत्यु में भी । इन दिनों में पूजा-पाठ आदि वर्जित रहते हैं । महर्षि इसका स्पष्ट खण्डन करते हैं—

में सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए, अनध्याय नहीं करना चाहिए। इस विषय में मनुजी लिखते हैं—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
न विरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥[1]

वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम मन्त्रों में अनध्याय नहीं है।

नित्यकर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे, इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म का या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूँ। यहां तक नित्यकर्म का विधान हुआ।

[मुक्ति-विषय]

अब आगे मुक्ति के विषय में थोड़ा-सा विचार किया जाता है। मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। यहां प्रश्न होता है, किससे छूटना? उत्तर स्पष्ट है कि दुःख अर्थात् बन्धन से छूटना मुक्ति है। जहां बन्धन नहीं वहां मुक्ति भी नहीं। जीवात्मा बद्ध है, इसलिए इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बन्धन से पृथक् है, इसलिए उसको मुक्त-स्वभाव कहते है। मुक्ति का अधिकारी होना बड़ा ही कठिन काम है। मुक्ति की दशा में नित्य सुख का अनुभव होता है। आजकल तो लोग यह समझते हैं कि मन्नी भाजी की तरह मनमाने कामों से मुक्ति मिलती है, परन्तु यह मूर्खतापन की समझ है। मुक्ति के मनमाने चार भेद जो लोग बतलाते हैं वे ये हैं— सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य,। ये सब कल्पित है। वेदादि शास्त्रों में मुक्ति के ये भेद कहीं नहीं लिखे। प्रत्युत उनमें एक ही प्रकार की मुक्ति बतलाई है। यजुर्वेद में लिखा है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।[2]

"उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु को जीत सकते है, दूसरा और कोई मार्ग नहीं है।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुक्ति का मार्ग एक है और वह केवल परमेश्वर का ज्ञान है। इस पर प्रश्न होगा कि वह परमेश्वर कैसा है?

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।[3]

"उस परमात्मा की कोई प्रतिमा (मूर्ति या पैमाना) नहीं है, जिसका कि यश बड़ा है।" फिर तवल्कार और बृहदारण्यक उपनिषद् को भी देखना चाहिए, जिनमें बतलाया है कि जीवात्मा के भीतर भी वह परमात्मा व्यापक है तथा उसे वाणी- मन, आंख, कान और प्राणों को भी अपने-अपने कामों में लगाने वाला माना है और उसे एक तथा अद्वितीय माना है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि

---

१. मनु० २।१०५॥
२. यजु० ३१।१८॥
३. यजु० ३२।३॥

परमेश्वर के ज्ञान के विना मुक्ति पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। वह परमेश्वर अरूप, अनादि तथा अनन्त है। वही ब्रह्म सबसे बड़ा और सबका सहारा है। आजकल की मुक्ति तो यह समझी जाती है कि जीव और परमात्मा एक ही है, बस यह ज्ञान होना ही मुक्ति है। यह आजकल के वेदान्तियों का मत है; किन्तु यह सच्चा वेदान्त नहीं है और न वेदों का सिद्धान्त है। इस बात की पड़ताल करने पर कि षट् दर्शनों के प्रणेताओं की मुक्ति के विषय में क्या सम्मति है—इसका तत्त्व मालूम हो जायगा। पहले जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा में यह कहा है कि धर्म अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है और वहां "यज्ञो वै विष्णुः"[1] इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण भी दिए हैं। इस पर विचार कीजिए।

फिर कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।[2] न्यायदर्शन के रचयिता गौतम ने अत्यन्त दुःख-निवृत्ति को मुक्ति माना है।[3] मिथ्याज्ञान के दूर होने से बुद्धि, वाक् और शरीर शुद्ध होते और इनकी शुद्धि से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही मुक्ति की अवस्था है। योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मानते हैं कि चित्त-वृत्तियों का निरोध करने से शान्ति और ज्ञान प्राप्त होते हैं और इससे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सांख्यशास्त्र के प्रणेता महामुनि कपिल कहते हैं कि तीन प्रकार के दुःखों की [अत्यन्त] निवृत्ति होना ही परम पुरुषार्थ (मुक्ति) है।[4] अब देखिए कि उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्तदर्शन के रचयिता बादरायण (व्यास) क्या कहते हैं—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥[5]
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥[6]
अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥[7]
[भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥[8]
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥[9]]

व्यास के मत से मुक्ति की दशा में अभाव और भाव दोनों रहते हैं। मुक्त जीवात्मा का परमेश्वर के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है। दोनों एक अर्थात् जीवात्मा का अभाव कभी नहीं होता।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥[10]

---

१. शत० १।१।२।१३ ॥ २. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ १।१।२ ॥
३. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ १।१।२२ ॥
४. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १।१ ॥
५. वेदान्त ४।४।४ ॥ ६. वेदान्त ४।४।६ ॥ ७. वेदान्त ४।४।१० ॥
८. वेदान्त ४।४।११ ॥ ९. वेदान्त ।४।४।१२ ॥
१०. वेदान्त ४।४।२१ ॥

परमेश्वर के ज्ञान, सामर्थ्य और आनन्द कुछ जीवात्मा को प्राप्त होते हैं।

ईश्वर का आनन्द असीम है वैसा आनन्द मुक्त-जीवात्मा को हो ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म में अभेद मानने से धर्मानुष्ठान के सब साधन योग, तप और उपासना आदि सब निष्फल हो जायेंगे, इसलिए परमात्मा और जीवात्मा को एक मानना ठीक नहीं है। व्यापक और व्याप्य, सेव्य और सेवक आदि सम्बन्ध ईश्वर और जीव में वर्तमान रहता है और यही सम्बन्ध जीवात्मा के जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारे का कारण होता है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पञ्चदश-उपदेश

स्वयं कथित जीवन-चरित्र

[४ अगस्त सन् १८७५]

हमसे बहुत-से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जानें कि ग्राप ब्राह्मण हैं ग्रौर कहते हैं कि ग्राप ग्रपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की चिट्ठियां मंगा दें या ग्रापको जो पहचानता हो, उसको बतलावें। इसलिए मैं ग्रपना कुछ वृत्तान्त कहता हूं। दूसरे देशों की ग्रपेक्षा गुजरात में कुछ मोह ग्रधिक है, यदि मैं ग्रपने पूर्व मित्रों तथा सम्बन्धियों को ग्रपना पता दूं या पत्र-व्यवहार करूं तो मेरे पीछे एक ऐसी व्याधि लग जावेगी, जिससे कि मैं छूट चुका हूं। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लग जावे, पत्रादि मंगा देने की चेष्टा नहीं करता। धराङ्गधरा नाम का एक राज्य गुजरात देश में है। इसकी सीमा पर एक मोरवी नगर है, वहां मेरा जन्म हुग्रा था। मैं उदीच्य ब्राह्मण हूँ। उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं, परन्तु मैंने बड़ी कठिनता से यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में ग्रच्छी जमींदारी है। इस समय मेरी ग्रवस्था ५० वर्ष की होगी।

ग्राठवे वर्ष मेरे बाद एक बहन पैदा हुई थी। मेरा एक चचेरा दादा था वह मुझसे बहुत-ही प्यार करता था। मेरे कुटुम्बियों के इस समय १५ घर होंगे। मुझको लड़कपन में ही रुद्राध्याय सिखलाकर शुक्ल यजुर्वेद का पढ़ाना ग्रारम्भ कर दिया था। मेरे पिता ने मुझको शिव की पूजा में लगा दिया। दसवें वर्ष से पार्थिव (मिट्टी के महादेव) की पूजा करने लग गया।

मुझे पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा था, परन्तु मैंने शिवरात्रि का व्रत न किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई, वह कथा मेरे मन को बहुत मीठी लगी ग्रौर मैंने उपवास रखने का पक्का निश्चय कर लिया। मेरी मां कहती थी कि उपवास मत कर, मैंने माता का कहना न मानकर उपवास किया। मेरे यहां नगर के बाहर एक बड़ा देवल है। वहां शिवरात्रि के दिन रात के समय बहुत लोग एकत्रित होते हैं ग्रौर पूजा करते है। मेरा पिता, मैं ग्रौर बहुत मनुष्य इकट्ठे थे। पहले पहर की पूजा कर ली, दूसरे पहर की पूजा भी हो गई। ग्रब बारह बज गए ग्रौर धीरे-धीरे ग्रालस्य के कारण लोग जहां-के-तहां झुकने लगे। मेरे पिता को भी निद्रा ग्रा गई। इतने में पुजारी बाहर गया। मैं इस भय से न सोया कि कहीं मेरा उपवास निष्फल न हो जाय। इतने में यह चमत्कार हुग्रा कि मन्दिर में बिल से चूहें बाहर निकले ग्रौर महादेव की पिण्डी के चारों तरफ फिरने लगे। पिण्डी पर जो चावल चढ़ाये हुए थे, उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे। मैं जागता था, इसलिए

यह सब कौतुक देख रहा था। इससे एक दिन पहले शिवरात्रि की कथा मैं सुन ही चुका था। उसमें शिव के भयानक गणों, उसके पाशुपत अस्त्र, बैल की सवारी और उसके आश्चर्यमय सामर्थ्य के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिए चूहों के इस खेल को देखकर मेरी लड़कपन बुद्धि आश्चर्य में पड़ गई और मैंने सोचा कि जो शिव अपने पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े दैत्यों को मारता है, क्या वह ऐसे तुच्छ चूहों को भी अपने ऊपर से नहीं हटा सकता। इस प्रकार की बहुत-सी शंकायें मेरे मन में उठने लगीं ? मैंने पिताजी को जगाकर पूछा कि ये महादेव इस छोटे चूहे को क्यों नहीं हटा देते। पिता ने कहा कि तेरी बुद्धि बड़ी भ्रष्ट है, यह तो केवल देवता की मूर्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि जब मैं इसी त्रिशूलधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तब ही पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके मैं घर को गया, भूख लगी, माता से खाने को मांगा। माता कहने लगी, "मैं तुझसे पहले ही कहती थी कि तुझसे भूखा नहीं रहा जायगा। तूने हठ करके उपवास किया।" मां ने फिर मुझे खाना दिया और कहा कि दो-तीन दिन तू उनके अर्थात् पिता के पास मत जाइयो और न उनसे बोलियो, नहीं तो मार खायगा, खाना खाकर मैं सो गया। दूसरे दिन आठ बजे उठा, मैंने सारी कथा अपने दादा से कह दी। मेरे दादा ने बुद्धिमत्ता से मेरे पिता को समझा दिया कि इसको आगे विद्या पढ़नी है, इसलिए व्रत उपवास आदि इससे कुछ न कराया करो। इस समय मैं इनसे यजुर्वेद पढ़ता था और दूसरे एक पण्डित मुझे व्याकरण पढ़ाते थे। सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ। इसके बाद मैं अपनी जमींदारी के गांव में पढ़ने के लिए गया। वहां हमारे घर में एक दिन नाच होता था, उस समय मेरी छोटी बहन मरणासन्न थी, कण्ठ बन्द हो गया था। मैं वहां गया और उसके बिस्तरे के पास खड़ा हुआ। सबसे पहले मैंने मौत वहीं देखी। जब मेरी बहन मर गई, तो मुझे बड़ा भय हुआ। मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सबको इसी प्रकार मरना है। सब लोग रोते थे, पर मेरी छाती भय से धड़क रही थी। इसलिए मेरी आँखों से एक आंसू भी न गिरा। मेरी यह दशा देखकर पिता ने मुझको पाषाण हृदय कहा।

मेरी माता मुझे बहुत प्यार करती थीं, किन्तु उसने भी ऐसा ही कहा। मुझे सोने के लिए कहते थे। पर मुझे कभी अच्छी तरह नींद न आती थी; किन्तु मैं हर घड़ी चौंक-चौंक उठता था और मन में भांति-भांति के विचार उठते थे। बहन के मरने के पश्चात् लोक-रीति के अनुसार पांच-छः बार रोना होने पर भी जब मुझे रोना नहीं आया तो सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

उन्नीसवें वर्ष में मुझसे अत्यन्त स्नेह रखने वाले मेरे दादा को भी मृत्यु ने आन दबाया। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप-टप आंसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने रो-रो कर आंखें सुजा लीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चाचा की तरह मैं भी मर जाऊंगा।

ऐसा विश्वास हो जाने पर अपने मित्रों और पण्डितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया, तो मेरे मन में यह सूझी कि घर छोड़कर चला जाऊं। इस समय मेरी आयु २० वर्ष की थी।

मेरी बढ़ी हुई उदासीनता देखकर पिता ने जमींदारी का काम करने को कहा, परन्तु मैंने न किया। फिर पिताजी ने निश्चय किया कि मेरा विवाह कर दें ताकि मैं बिगड़ न जाऊं। यह विचार घर में होने लगा, यह मालूम करके मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि विवाह कभी न करूंगा। यह भेद मैंने एक मित्र से प्रकट किया तो उसने मना किया और विवाह करने के लिए जोर देने लगा। मेरा विचार घर छोड़कर चले जाने का था, पर किसी ने सलाह न दी। जो कहते विवाह करने को ही कहते। एक महीने के भीतर विवाह की तैयारी हो गई। यह देखकर मैं एक दिन शौच के मिस (बहाने) से एक धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूं। मैं एक पास के गांव में गया। इधर घर में मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात तक होती रही। इसी रात को चार घड़ी के तड़के मैं गांव से निकलकर आगे चल दिया और अपने गाँव से दस कोस के अन्तर पर एक गाँव के हनुमान् के मन्दिर में ठहरा। वहां से चलकर सायला योगी के पास गया, परन्तु वहां पर मुझे शांति नहीं मिली और लोगों से सुना कि लालाभक्त नामी एक योगी है। तब उनकी ओर चल पड़ा। मार्ग में एक वैरागी एक मूर्ति रखकर बैठा हुआ था। बात-चीत होने पर वह बोला कि अंगुली में सोने का छल्ला डालकर वैराग्य की सिद्धि कैसे होगी? मुझे इस प्रकार खिजाकर मेरे तीनों छल्ले मूर्ति की भेंट चढ़वा लिए। लालाभक्त के पास जाकर मैं योगसाधन करने लगा। रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, तो वृक्ष के ऊपर घूघू बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया। फिर वहां से अहमदाबाद के समीप कोट कांगड़े नामी गांव में आया, वहां बहुत से वैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी बैरागी के फन्दे में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा किया, परन्तु मैं जाल से छूट गया, इस स्थान पर मैं तीन महीने रहा था। यहां पर वैरागी मुझ पर हंसी उड़ाने लगे, इसलिए जो रेशमी किनारेदार धोती मैं पहनता था, वह मैंने फेंक दी। मेरे पास केवल ३) रुपये रह गए थे, इनसे सादी धोती खरीद कर पहन ली और तब से अपना ब्रह्मचारी नाम रख लिया। उन्हीं दिनों मैंने सुना कि कार्तिक के महीने में सिद्धपुर के स्थान पर एक मेला होता है। वह सोचकर कि वहां शायद मुझे कोई योगी मिल जावे और अमर होने का मार्ग बता दे, मैंने सिद्धपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में मुझे अपने गांव का आदमी मिला, उसने जाकर मेरे बाप को बतला दिया कि मैं सिद्धपुर की ओर चला गया हूं। मेरे पिता और घर के लोग बराबर मेरी खोज में ही थे। इस आदमी की जबानी मेरा पता सुनकर मेरे पिता चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर को आये। मैं एक मन्दिर में बैठा हुआ था कि एकाएक मेरे पिता सामने आकर खड़े हो गए। देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा इस भय से कि पिता मुझ को मारेंगे, मैंने उठकर उनके

पांव पकड़ लिए। वे मुझ पर बहुत-ही क्रुद्ध हुए, मैंने उनसे कहा कि एक धूर्त्त बहकाकर मुझे यहां लाया है, मैं घर जाने को तैयार ही था कि आप आ गए। उन्होंने मेरा तूबा तोड डाला और मेरी छाई फाड़ डाली और कुछ कपड़े मुझे दिए। मेरे पीछे दो सिपाही सदा के लिए कर दिए, रात को जहां मैं सोता था एक सिपाही मेरे सिरहाने बैठा जागता रहता था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊं और इसलिए मैं यह जानने के लिए कि सिपाही रात को सोता है या नहीं खुद भी जागता रहता। सिपाही को तो यह निश्चय हो जाता कि मैं सो रहा हूँ और इसलिए मैं नाक से खुर्राटे भरने लगता था। इस प्रकार तीन रातें जागना पड़ा, चौथी रात सिपाही को नींद आ गई, तब एक लोटा हाथ में लेकर बाहर निकला। यदि कोई देखपावे तो झट कह दूंगा कि शौच को जाता हूँ। वहां से निकलकर गांव के बाहर एक बाग में चला गया। प्रातःकाल होते ही एक वृक्ष पर चढ़कर बैठ गया। इस भांति एक दिन भर इस वृक्ष के ऊपर बैठा रहा। रात को जब अंधेरा हो गया, सात बजे नीचे उतरकर चल दिया। अपने गांव और घर के मनुष्यों से यह अन्तिम भेंट थी। इसके पश्चात् एक बार प्रयाग (इलाहाबाद) में मेरे गांव के बहुत-से लोग मुझ को मिले; परन्तु मैंने उनको अपना पता नहीं दिया, तब से आज तक कोई नहीं मिला।

सिद्धपुर से बड़ोदे को आया, वहां से नर्मदा नदी के तट पर विचरने लगा। इस समय नर्मदा के तट पर योगानन्द स्वामी रहते थे। यहां एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्ण-शास्त्री भी रहते थे, इनके पास मैं कुछ-कुछ पढ़ता रहा। तत्पश्चात् राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा। २३ या २४ वर्ष की अवस्था में मुझे चाणूदकनाली में एक संन्यासी मिला। मुझे पढ़ने में बहुत ही अनुराग था और संन्यास आश्रम में पढ़ने का बहुत सुभीता होता है। इसलिये उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास ले लिया, तब से ही दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया। मैंने दण्ड गुरु के पास धर दिया। चाणूद में दो गोसाईं आये जो राजयोग करते थे, मैं भी उनके साथ अहमदाबाद तक गया। वहां पर एक ब्रह्मचारी मिला। पर कुछ दिनों बाद मैंने उसका साथ छोड़ दिया। वहां से मैं जाते-जाते हरद्वार पहुँचा, वहां कुम्भ का मेला था। वहां से हिमालय पहाड पर उस जगह पहुंचा जहां से अलकनन्दा नदी निकलती है। बर्फ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठण्डा था। वहां बर्फ लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत पर पहुँच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूं। फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिए। यह निश्चय करके मैं मथुरा में आया। वहां मुझे एक धर्मात्मा संन्यासी गुरु मिले। उनका नाम स्वामी विरजानन्द था, वे पहले अलवर में रहते थे। इस समय उनकी अवस्था ८१ वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अभी तक वेद, शास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थों में बहुत रुचि थी। ये महात्मा दोनों आंखों से अन्धे थे, और इनके पेट में शूल रोग था। ये कौमुदी और शेखर आदि नवीनग्रन्थों को नहीं अच्छा समझते

थे और भागवत आदि पुराणों का भी खण्डन करते थे। सब आर्ष ग्रन्थों के वे बड़े भक्त थे। उनसे भेंट होने पर उन्होंने कहा कि तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है। मैंने उनके पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नामक थे, उन्होंने मेरे पढ़ने के समय में जो-जो उपकार मेरे साथ किए, मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने-पीने का प्रबन्ध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया था। जिस दिन उन्हें कहीं बाहर खाने के लिए जाना होता, तो वे पहले मेरे लिए भोजन बनाकर और मुझे खिलाकर बाहर जाते थे। सौभाग्य से ये उदारचेता महाशय मुझे मिल गए थे। विद्या समाप्त होने पर मैं आगरे में दो वर्ष तक रहा, परन्तु पत्रव्यवहार के द्वारा या कभी-कभी स्वयं गुरु की सेवा में उपस्थित होकर अपने सन्देह निवृत्त कर लेता था। आगरे से मैं ग्वालियर को गया, वहां कुछ-कुछ वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ किया, वहां से भी स्वामी जी को पत्रादि भेजा करता था। वहां माध्वमत के एक आचार्य हनुमन्त नामी रहते थे। वे काकन का स्वांग भरकर शास्त्रार्थ सुनने बैठा करते थे। एक-आध बार जब मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला, तो उन्होंने अशुद्धि पकड़ ली। मैंने कई बार उनसे पूछा कि आप कौन हैं, परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं एक काकन हूं, सुनने-सुनाने से कुछ बोध प्राप्त हुआ है। एक दिन इस विषय पर वार्त्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह ठीक है या नहीं। मैने कहा यदि रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुंह काला करने से स्वर्ग से भी कोई बड़ी पदवी मिलती होगी। यह सुनकर उनको बड़ा क्रोध आया और वे उठ गए। तब लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही उस मत के आचार्य हैं।

ग्वालियर से मैं रियासत करौली को गया। वहां पर एक कबीरपन्थी मिला, उसने एक बार बीर के अर्थ कबीर किये थे और कहने लगा कि एक कबीर उपनिषद् भी है। वहां से फिर मैं जयपुर को गया, वहां हरिश्चद्र नामी एक बड़े विद्वान् पण्डित थे। वहां पहले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत [का] स्थापन किया। जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह भी शैवमत की दीक्षा ले चुके थे। शैवमत के फैलने पर हजारों रुद्राक्ष की मालायें मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाई। वहां शैवमत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी-घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की माला पहनाई गई।

जयपुर से मैं पुष्कर को गया, वहां से अजमेर आया। अजमेर पहुंचकर शैवमत का भी खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच में जयपुर के महाराजा साहब लाट साहब से मिलने के लिए आगरे जाने वाले थे। इस आशंका से कि कहीं वृन्दावन निवासी प्रसिद्ध रंगाचार्य से शास्त्रार्थ न हो जावे, राजा रामसिंह ने मुझे बुलाया और मैं भी जयपुर पहुंच गया; परन्तु यह मालूम होने पर कि मैंने शैवमत का खण्डन आरम्भ कर दिया है, राजा साहब अप्रसन्न हुए। इसलिए मैं भी जयपुर छोड़कर मथुरा में स्वामीजी के पास गया और शंका-समाधान किया। वहां से मैं फिर हरद्वार को गया,

वहां अपने मठ पर पाखण्ड-मर्दन लिखकर झण्डा खड़ा किया। वहां वाद-विवाद बहुत-सा हुआ। फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इसलिए मैंने सब कुछ छोड़कर केवल एक कौपीन (लंगोट) लगा लिया और मौन धारण किया। इस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था, वह गत वर्ष बम्बई में आकर छोड़ा। वहां तक लगाना रहा था। जब से रेल में बैठना पड़ा, तब से कपड़े पहनने लगा। जो मैंने मौन धारण किया था, वह बहुत दिन सध न सका, क्योंकि बहुत से लोग मुझे पहचानते थे। एकदिन मेरी कुटी के द्वार पर एक मनुष्य यह कहने लगा—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" अर्थात् भागवत से बढ़कर और कुछ नहीं है, वेद भी भागवत से नीचे हैं। तब मुझ से यह सहन न हो सका, तब मौन-व्रत को छोड़कर मैंने भागवत का खण्डन प्रारम्भ किया। फिर यह सोचा कि ईश्वर की कृपा से जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान अपने को हुआ है वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिए। इस विचार को मन में रखकर मैं फर्रुखाबाद को गया, वहां से रामगढ़ को गया। रामगढ़ में शास्त्रार्थ शुरू किया वहां पर जब दो-चार पण्डित बोलते थे, तब मैं कोलाहल शब्द कहा करता था, इस लिए आज तक वहां के लोग मुझको कोलाहल स्वामी कहा करते हैं। वहां पर चक्राङ्कितों के चेले दश आदमी मुझे मारने को आए थे, बड़ी कठिनता से उनसे बचा। वहां से मैं फर्रुखाबाद होकर कानपुर आया। कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मारने वाले मुझे मारने को आए थे, पर एक माधवप्रसाद नामी धर्मात्मा पुरुष था, उसने मुझे बचा दिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत ग्रहण करने को तैयार था; उसने इन सब पण्डितों को नोटिस दे रखा था कि यदि आप अपने आर्यधर्म में तीन महीने के भीतर मेरा विश्वास न करा देंगे तो मैं ईसाई धर्म को स्वीकार कर लूंगा। मेरे आर्य-धर्म पर निश्चय दिला देने से वह ईसाई न हुआ। प्रयाग से मैं राम-नगर को गया। वहां के राजा की इच्छानुसार काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में यह विषय प्रविष्ट था कि वेदों में मूर्तिपूजा है या नहीं? मैंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में मिलता है; परन्तु उसके अर्थ तोल, नाप आदि के हैं। वह शास्त्रार्थ अलग छपकर प्रकाशित हुआ है; जिसको सज्जन पुरुष अवलोकन करेंगे।

इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ ही समझने चाहिएं इस पर भी शास्त्रार्थ हुआ था। गत वर्ष भाद्रपद में मैं काशी में था, आज तक चार बार काशी में आ चुका हूं। जब-जब काशी में आता हूं, तब-तब विज्ञापन देता हूं कि यदि किसी को वेद में मूर्ति-पूजा का प्रमाण मिला हो, तो मेरे पास लेकर आवे, परन्तु अब तक कोई भी प्रमाण नहीं निकाल सका।

इस प्रकार उत्तरीय भारत के समस्त प्रान्तों में मैंने भ्रमण किया है। दो वर्ष हुए कि कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जयपुर आदि नगरों में मैंने बहुत से लोगों को धर्मोपदेश दिया है। काशी, फर्रुखाबाद आदि नगरों में चार पाठशालायें

आर्य-विद्या पढ़ाने के लिए स्थापित की हैं। उनमें अध्यापकों की उच्छृङ्खलता से जैसा कि लाभ पहुंचना चाहिए था, नहीं पहुंचा। गत वर्ष बम्बई आया। यहां मैंने गुसाईं महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बम्बई में आर्यसमाज स्थापित हो गया। बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रान्तों में कुछ दिन धर्म्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हुआ हूँ।

यह मेरा पिछला इतिहास है, आर्य्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिए। ऐसा काम अकेला आदमी भली प्रकार नहीं कर सकता, फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है उसे चलाऊंगा।

अब अन्त में ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूं कि सर्वत्र आर्यसमाज कायम होकर मूर्ति-पूजादि दुराचार दूर हो जावें, वेद-शास्त्रों का सच्चा अर्थ सब की समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे। पूरी आशा है कि आप सज्जनों की सहायता से मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ें

महान् विषय है—

जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में नहीं ।

थोड़ा समय लगता है—

महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है ।

मोतियों का पाना है—

"आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसे एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना ।" (स० प्र०, ३ स०)

ऋषि सब जानते थे—

'ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान् सर्वशास्त्रविद् धर्मात्मा थे ।' (स० प्र०, ३ स०)

बुद्धि धन देते हैं—

"शीघ्र बुद्धि, धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें ।"

अनार्ष ग्रन्थ न पढ़ें

झूठा झगड़ा मचाया—

"आजकल के अनार्ष-नवीन ग्रन्थों को पढ़ने और प्राकृत (हिन्दी) भाषा वालों ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर नवीन क्षुद्रबुद्धि-कल्पित संस्कृत और भाषा के ग्रन्थ पढ़कर एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर हो के झूठा झगड़ा मचाया है ।"

संसार का नाश करने वाले—

"इनका कथन बुद्धिमानों को वा अन्यों को मानने योग्य नहीं है, क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चले तो दुःख क्यों न पावें ? वैसे ही आजकल के अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करने वाली है ।"

कठिन है—

और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी ।

अल्प लाभ—

जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना ।

आर्यसमाज के नियमोद्देश्य

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि-मूल परमेश्वर है ।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि-कर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है ।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए ।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिए ।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में ,सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

मुद्रक—सैन्ट्रस इलैक्ट्रिक प्रेस, ८० डी, कमला नगर, दिल्ली-११०००७

* ओ३म् *

दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह

तथा

विशेष शंका-समाधान

संग्रहकर्त्ता एवं अनुवादक

कविराज रघुनन्दनसिंह "निर्मल"

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

दूरभाष : २२१३२७, २२६५४७, २३३११२, २३८३६०

शाखा विक्रय केन्द्र

४५५, हरकरनदास दीपचन्द, खारी बावली, दिल्ली-६

पूर्वप्रकाशित-२२०० सृष्टिसम्वत् १९६०८५३०८१

प्रस्तुतसंस्करण-३३०० दयानन्दाब्द १५६ मूल्य सजिल्द ७) रुपये

५५००

प्रकाशकीय

१. काशी शास्त्रार्थ शताब्दी के पुण्य अवसर पर इस ग्रन्थ को पहली बार १९६९ ई० में शीघ्रता में छापा गया था, जिससे कुछ आवश्यक शास्त्रार्थ और प्रश्नोत्तर छूट गये थे। प्रथम बार इसकी एक सहस्र प्रतियाँ छपीं थीं। ७०० प्रतियाँ काशी शास्त्रार्थ शताब्दी समारोह में ही बिक गई तथा शेष भी शीघ्र ही बिक गई। काफी समय से इस ग्रन्थ के पुन: प्रकाशन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इस द्वितीय वार के प्रकाशन में उन सभी शास्त्रार्थों एवं प्रश्नोत्तरों को जो पहली बार रह गये थे संगृहीत कर दिया गया है। प्रथम वार के मुद्रण में होने वाली छापे की अशुद्धियों को भी सर्वथा अलग करने का यत्न किया गया है। इस ग्रन्थ की प्रेसकापी देखने में पं० विश्वदेव जी शास्त्री दिल्ली और आचार्य दिवाकर शर्मा शास्त्री एटा ने अथक परिश्रम किया है। हम इन दोनों विद्वानों के अतीव आभारी है। पुस्तक में शास्त्रार्थ के लिए (शा०) और प्रश्नोत्तरके लिए (प्र०) लिखा गया है।

२. इस पुस्तिका मे प० लेखराम कृत उर्दू जीवनचरित्र से उसकी आर्य-भाषा कराके एवं बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय कृत जीवनचरित्र से शास्त्रार्थ और शङ्कासमाधान का सग्रह किया है। हुगली-शास्त्रार्थ और जगन्नाथ दास द्वारा लिखित आर्य प्रश्नोत्तरी के उत्तर को "महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक पुस्तक से लिया है। सत्यधर्म विचार मेला चान्दापुर एवं काशी-शास्त्रार्थ को परोपकारिणी सभा द्वारा कृत प्रकाशन के अनुसार लिया है। सत्यासत्य विवेक (बरेली शास्त्रार्थ) को गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली द्वारा प्रकाशित दयानन्द-ग्रन्थसंग्रह से संगृहीत किया गया है। जिसका भाषार्थ उन्होंने पं० लेखराम जी कृत उर्दू जीवनचरित्र के अनुसार कराके छापा था। जिस-जिस पुस्तक से जो जो संग्रह किया है, उसका नाम और पृष्ठसंख्या भी उसके साथ दे दी है। श्री देवेन्द्रनाथ जी कृत जीवन चरित्र के दो भाग है, अत: पृष्ठसख्या अङ्क से पहले उसका सकेत १ तथा २ से किया है।

३. इस पुस्तिका में मौलवी अहमद हसन जालन्धर तथा अब्दुल रहमान

उदयपुर आदि अनेक शास्त्रार्थ ऐसे हैं जो श्री पं० लेखराम कृत उर्दू जीवन चरित्र से अनुवाद करके इस पुस्तक में प्रथम वार पृथक् छापे गये हैं।

४. इस संग्रह का क्रम समय के क्रम के अनुसार रक्खा है शास्त्रार्थ या प्रश्नोत्तर के साथ उसका समय भी इस पुस्तक में लिख दिया है ।

५. इस पुस्तक में शास्त्रार्थ के साथ साथ प्रश्नोत्तर भी उपगोगी समझकर दे दिये है। शास्त्रार्थ में भी प्राय विपक्षियो मे प्रश्नोत्तर ही है। निग्रह-स्थानादि का कथन तो हुगली शास्त्रार्थ मे ही देखा जाना है।

६. ट्रस्ट का विचार था कि विपक्षियों से हुए शास्त्रार्थ एव प्रश्नोत्तरों को सग्रहरूप में छापा जाये। जिसमे अनेक स्थानों में उपलब्ध ऋषि के तत्सम्बन्धी विचार पुस्तक रूप मे एकत्र पाठकों को मिल सके। इसी प्रकार ऋषि के १४ लघुग्रन्थों का एक सग्रह भी पुस्तक रूप में ट्रस्ट ने प्रकाशित किया है जिसमे ऋषि के समस्त विचारों का अध्ययन एव अनुसन्धान तथा उनके ग्रन्थों मे तैयार हुई सूचियो का लाभ सरलता से हो सके ।

७ श्री पं० लेखराम कृत जीवनचरित्र महर्षि-निर्वाण के पश्चात् सब से प्रथम सग्रह किया गया था। अत इसमे घटनाये सर्वाधिक है। अन्य चरित्र लेखकों ने भी इसी मे सहायता ली है। कुछ घटनाये ऐसी है जो अन्य जीवन-चरित्रों मे सर्वथा अनुपलब्ध है। उन घटनाओं के सक्षिप्त रूप मे अन्य जीवन-चरित्रों में आ जाने पर भी मूल पुस्तक का होना आवश्यक ही रहता है। अतः आर्यजनता के चिर प्रतीक्षित हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन भी आर्ष प्रचार ट्रस्ट ने सफलता पूर्वक कर दिया है। ऋषिभक्त इसे मगवा सकते है।

८. प० लेखराम कृत उर्दू जीवनचरित्र मे भाषार्थ करने का कार्य श्री प० कवराज रघुनन्दन सिह निर्मल कटरा खुशहालराय, चान्दनी चौक, दिल्ली ने बडी योग्यता और पुरुषार्थ से किया है। उस भाषार्थ के कारण ही इस पुस्तक के प्रकाशन मे अत्यन्त सरलता हुई है। अत हम उनका आभार प्रकट करते है।

दीपचन्द आर्य
प्रधान—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

प्राक्कथन

महर्षि दयानन्द सरस्वती को गुरु विरजानन्द से आर्ष ग्रन्थों के सत्य सिद्धान्तों के प्रचार की विशेष प्रेरणा मिली। दीक्षा को प्राप्त करके उन्होंने सत्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का अपने पूर्ण सामर्थ्य से प्रचार किया और अपने सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में मनुष्य जाति की उन्नति का सबसे बड़ा कारण सत्योपदेश को बताया। जैसे—'सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है'। (सत्यार्थप्रकाश-भूमिका)

महर्षि चाहते थे कि सब ही मनुष्य एक सत्य-वेदमत को स्वीकार करें जिससे मानव जाति का पूर्ण हित हो सके। एकमत हुए विना मानव जाति की उन्नति नहीं हो सकती अर्थात् मानव-जीवन का जो मुख्य उद्देश्य है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती जैसे—'**मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने कराने के लिए है न कि वाद विवाद, विरोध करने कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपात-रहित विद्वज्जन जान सकते हैं।** जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोध जाल में फंसा रखा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी एकमत हो जाये। इसके होने की युक्ति इस ग्रन्थ की पूर्ति में लिखेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एकमत में होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करें'।

(सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, भूमिका)

एकमत होने की आवश्यकता, सम्भावना और विधि क्या है इस सम्बन्ध में ऋषि के लेख बहुत स्थानों पर मिलते हैं। तदनुसार अपने जीवन काल में अकेले महर्षि ने साहित्य, शङ्कासमाधान, शास्त्रार्थ, उपदेश द्वारा पूर्ण प्रयत्न किया। उससे मानव के विचारों में महान् क्रान्ति उत्पन्न हुई। सत्य के प्रतिपादन और असत्य के खण्डन में जो युक्ति और प्रमाण आज से सौ वर्ष पूर्व ऋषि ने दिये

थे उनका विपक्षी आज तक प्रतिवाद नहीं कर सके हैं। आज भी हम उनसे पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

महर्षि सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन और असत्य का खण्डन बहुत दृढतापूर्वक करते थे। लोगों के हृदयों मे उनके शब्द घुसकर विचारों में हलचल उत्पन्न कर देते थे, अतः वे स्वय महर्षि से शङ्का-समाधान करते थे और अपना सामर्थ्य वेदादि शास्त्रों में न्यून देखकर अपने विचारों के विद्वानों से कहते थे कि यदि स्वामी दयानन्द का कथन मिथ्या है तो उनमे शास्त्रार्थ करो।

अनेक पण्डित तो महर्षि की विद्या और उनकी युक्तियाँ सुनके सामने ही नही आते थे। बहुत से विद्वान् बहाना कर देते थे। कुछ लोग सत्य का निर्णय नहीं किन्तु हुल्लड़ करना चाहते थे। कुछ की तो महर्षि मे वार्तालाप और पाडित्य को देखकर घिग्घी ही बंध जाती थी और विना शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान किये वापिस लौट जाते थे। कुछ लोग पण्डितों पर दबाव डालने थे पर पण्डित लोग चुपके से अन्यत्र खिसक जाते थे। कुछ विद्वान् तो आगमन की सूचना से ही शास्त्रार्थ-भय के कारण नगर छोड़कर चले जाते थे। कोई शास्त्रार्थ का समय निश्चित करके नहीं आते थे। कोई जनता को झूठमूठ यह दिखाना चाहते थे कि हम शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। ऐसे लोग जब महर्षि का गमन ममय निश्चित हो जाता था तब शास्त्रार्थ के लिए कहने थे किन्तु महर्षि प्रत्येक समय सत्य-निर्णय के लिए तैयार रहते थे। अनेकों प्रकार के बहाने लोग सत्य-निर्णय न करने के लिए करते थे जिनका उल्लेख जीवनचरित्रों मे मिलता है। इस पुस्तक में उनके लिखने की आवश्यकता नही।

उपर्युक्त तथ्य एव होने वाले शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधानादि के प्रभाव द्वारा बहुत मे लोग और स्वयं विपक्षी विद्वान् भी महर्षि के शिष्य वन जाने थे। प्रश्नोत्तर द्वारा बहुत मे बडे-बड़े नास्तिकों को महर्षि अपनी युक्तियों मे आस्तिक वना देते थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश ने वाराणसी में शास्त्रार्थ-शताब्दी मनाकर बहुत उत्तम कार्य किया। विपक्षियों ने शास्त्रार्थ नहीं किया बहाने बनाये। समाप्ति वाले दिन बहुत से भगड आदि तत्त्वों को सभास्थल पर लेकर आये। जिन्होंने नारे आदि मे आते ही शान्ति भङ्ग की, जिससे राज्याधिकारियों ने सभास्थल पर निषेध आज्ञा लागू कर दी। अतः शास्त्रार्थ नही हुआ।

सत्य-निर्णयार्थ परस्पर शङ्का-समाधान, वाद एवं शास्त्रार्थ बहुत उपयोगी है। यह प्राचीन ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त और व्यवहार रहा है। कुछ समय से

यह अनार्यता फैली है कि मैं अपनी कहता रहूँ, तुम अपनी कहते रहो, परन्तु कोई किसी का खण्डन न करे। यह धारणा बिल्कुल मिथ्या एवं भ्रममूलक है। इसका प्रतिवाद करना आवश्यक है। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखा है—"मनुष्य का आतमा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।" इस तथ्य को समझते हुए जन साधारण के सामने सत्य सिद्धान्तों का प्रचार और असत्य का खण्डन दृढ़ता और उत्साह पूर्वक करना चाहिए। इसका लाभ अवश्यम्भावी है।

सत्य सिद्धान्तों के प्रचार के लिये शास्त्रार्थ बहुत उपयोगी हैं। यदि इससे पूरा लाभ होता दृष्टिगोचर नहीं होता है और कुछ कठिनाई अनुभव होती है तो उसमें कार्य प्रणाली का दोष है, शास्त्रार्थ का नहीं। ऐसा समझकर उसमें उचित सुधार करना चाहिए।

हमको इस शास्त्रार्थ-शताब्दी से प्रेरणा लेनी चाहिए। आर्यसमाज में कुछ विद्वान् ऐसे हों जिनका कार्य केवल शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान करना हो। उनके शङ्का-समाधान सम्बन्धी लेख प्रत्येक आर्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हों। आर्यसमाज की प्रत्येक पत्रिका में दो लेख सिद्धान्त सम्बन्धी अवश्य हों। एक लेख में वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन विपक्षियों के प्रश्नों के उत्तर सहित हो। दूसरे लेख में मिथ्या सिद्धान्तों का खण्डन युक्ति और प्रमाण सहित हो। एवं वे विद्वान् लोग सिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य भी तैयार करें। इस प्रकार समस्त विपक्षियों का शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया जाये।

वैदिक धर्म में सिद्धान्तों की सत्यता एक बहुत बड़ी शक्ति है, जिसका समुचित उपयोग करके मानव का कल्याण करना चाहिए। जिन अन्य लौकिक न्यूनताओं से हम निराशा अनुभव करते हैं निश्चय ही वह भी उपर्युक्त शक्ति को समझकर तदनुसार दृढ़ उत्साह पूर्वक सत्य का प्रचार करते हुए पूरी हो जावेगी। जैसा कि एक आर्य द्वारा निराशा व्यक्त करने पर महर्षि ने यह तथ्य पूर्ण ही उत्तर दिया था कि 'ताजमहल के मालिक को अपने विचार का बना लो यह तुम्हारा हो जायेगा'।

वैदिक सिद्धान्त के प्रचारार्थ कुछ आर्य-नेताओं का यह कहना कि 'वर्तमान विधानसभा अथवा लोकसभा आदि में आर्यों का जाना आवश्यक है' यह उनका भ्रान्त प्रचार है। चुनाव प्रणाली में आर्य आदि सभी को समान मताधिकार है। ऐसी अवस्था में मतदाताओं का आर्य होना आवश्यक है। अन्यथा आर्येतर मतदाता आर्य नेताओं को वोट ही नहीं देंगे, हमारे नेता

आर्यसमाज को या अपने मतदाता दोनों में से एक को धोखा देंगे। मत लेने के लिए उनको सर्वप्रिय बनना पड़ेगा। यह सर्वप्रियता का लोभ धर्म-प्रचार में बाधक हो रहा है। वास्तविकता यह है कि यद्यपि वर्तमान शासन में अनेक दोष हैं तथापि धर्मप्रचार में बाधक नहीं। प्रथम अपनी सम्पूर्ण शक्ति शास्त्रार्थ आदि द्वारा वैदिक सिद्धान्तों का मण्डन और वेद-विरुद्ध मान्यताओं के खण्डन में लगानी चाहिए। मानवोन्नति का यही सबसे बड़ा साधन है। इस कार्य की उपेक्षा से आर्य सदस्यों तथा अधिकारियों तक की अवस्था प्रायः अन्यों से भिन्न नहीं रही है। कहाँ, पहले वैदिकधर्म-प्रचार में रत स्वाध्यायशील आर्यों की सत्यता का अदालतों में मान और अब कहाँ पदों के लिये निस्संकोच मिथ्या आचरण की नीति! आर्य-पुरुषों को पुनः आत्मनिरीक्षण करके कर्त्तव्य के प्रति सजग तथा सन्नद्ध हो जाना चाहिये।

विनीत—
ईश्वरदत्त एम० ए०, आर्योपदेशक,
ट्रस्टी—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह व विशेष शंकासमाधान का सूचीपत्र

शास्त्रार्थ-संग्रह की संक्षिप्त विषय-सूची

शास्त्रार्थ-संग्रह के शास्त्रार्थों की संक्षिप्त विषय-सूची भी पाठकों की सुविधा के लिये यहां प्रकाशित की जा रही है, जिससे पाठक शास्त्रार्थ के विषयों को शीघ्रता से भी देख सकते हैं और विषयानुसार एक ही विषय का अनेक बार जहाँ कुछ विशेष कथन है, उसका भी बोध कर सकेंगे। आर्य विद्वान्, पुरोहित, उपदेशक तथा अनुसन्धान करने वालों के लिये तो इस प्रकार की संक्षिप्त सूचियों से विशेष लाभ तथा समय की बचत हो जाती है। और नवीन पाठकों की भी संक्षिप्त विषय-सूची को पढकर रुचि के अनुसार विस्तृत शास्त्रार्थ को पढ़ने के लिये रुचि बढ़ेगी, ऐसी आशा से ही इस सूची का संग्रह किया गया है*।

सत्य-प्रचार एवं शास्त्रार्थ

बिना सत्य उपदेश के उपकार कभी नहीं होसकता ४७/१०, किस प्रयोजन के लिये समस्त देश में कोलाहल कर रखा है ५६/२४, मेरे सामने एक पर्दा डाल दिया जाय और वह उसकी ओट में शास्त्रार्थ कर ले ५६/२२, महाराज के मुख के सामने पर्दा डाला गया ५६/२७, हम तीनों को उचित है कि पक्षपात छोड़कर प्रीति पूर्वक सत्य का निश्चय करें ८६/८, स्वामी जी अपनी खोज तथा सत्य पर बडे दृढ हैं १३/११, बहुत अच्छा, आप किसी विषय पर बातचीत करें १६५/२०, परन्तु लोग हठ मे न मानें तो आप क्या करेंगे। २०७/१, सभ्यता पूर्वक लेख के उत्तर में स्वामी जी विलंब कभी नहीं करते २१७/२।

शास्त्रार्थ शैली

हे हलधर ! प्रकरण छोडकर मत जाओ ११/२७, कुछ लोगों का विचार कोलाहल करने का है इसलिये सबको सुनाकर कह दिया गया १३/२२-२४, आपस में शास्त्राथ का ढंग यह था २/१२, जल्प और वितण्डा सज्जनों को करना उचित नहीं ४०/२४, प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया ४१/१६, निग्रह स्थान सब पराजय के स्थान होते हैं ४१/२३, हम (पादरी) दो दिन से

* इस सूची मे संकेत—वक्ररेखा से पूर्वसंख्या पृष्ठ की तथा बाद की संख्या पंक्ति की है। (सं०)

अधिक नहीं ठहर सकते ८६/११-१८, स्वामी जी ने कहा कि अधिक नहीं तो एक वाक्य पर दस वार प्रश्न होने चाहियें १५६/२३, प्रश्नोत्तर के लिखे विना बहुत हानि है १५६/२६ मे १६०/६, असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें ६१/१०-१७, मौलवी अल्लाह के चमत्कार को सिद्ध करेंगे तथा स्वामीजी उसका खण्डन करेंगे ११४/२४ मे ११५/१ तक, तुच्छ और गर्वपूर्ण कार्रवाही के अनुसार चलना मेरे लिये आवश्यक नहीं १२६/१५, प्रबन्धकों में ८ नाम और बढ़ाये जावें १४४/११-२६, सबके सामने प्रश्नोत्तर किये जायें और लिखाया भी जावे १६०/५, १६०/३२, फिर मैं आर्ष ग्रन्थों की रीति के अनुकूल अर्थ करूंगा ६४/६ ।

ऋषि की प्रतिभा—आप ज्ञानी है या अज्ञानी १२६/१४, व्याकरण विषयक शास्त्रार्थ में पशस्त कर दिया जायेगा ६५/२५, विपक्षियों की प्रतिक्रिया—परिणाम यह निकला पंडितजी परास्त हुए ३/१७, हीरावल्लभ की न्यायप्रियता देखकर गद्-गद् हो गये ४/८, पंडित अङ्गदराम जी के सम्बन्धियों ने भी अपनी पूजा की मूर्त्तियां गंगा में फेंक दीं ७/१२, प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया ४१/१६, फिर जाति साधन मे प्रतिमा का स्थापन कर लेंगे ४१/२३, तुमको मैं एक हजार रुपया दूंगा यदि स्वामीजी को मार दो ६०/११, फिर आजीविका ही जाति रहे तब निर्वाह कैसे हो ७५/१६ ।

प्रामाणिक अप्रामाणिक (आर्ष और अनार्ष) ग्रन्थ

भागवत् में विस्तार शब्द अशुद्ध और व्याकरण के विरुद्ध ७/१, स्वामी जी ने हलधरओझा से कहा तुम तो पाणिन के बाल के समान भी नहीं हो १२/२३, (नवीन वेदान्ती) शंकर और रामानुज दोनों का ठीक नहीं प्रत्युत भेद-अभेद दोनों हैं १७/२६, कोई ने मिथ्या जाबालोपनिषद् रच लिया है ५२/२०, "अन्यक्षेत्रे-कृतं०" इस प्रकार के श्लोकों को सुनने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट होने से सदा पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। ५२/२४, पुराण शब्द का अर्थ ४८/१६ से ४६/१८, चारों वेदों को प्रमाण मानता हूँ ६१/१३–१६, पुराण उपपुराण, इनके अवलोकन और अर्थ में श्रद्धा नहीं करता इनके पुराण की कथा तो क्या कथा है ६१/३०, हम वेद, पाणिनि और मनुस्मृति (प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर) के सिवाय अन्य ग्रन्थों का प्रमाण नहीं मानते ३७/१५–५७, पुराण वञ्चक लोगों के रचे हुये हैं ३७/१६, सत्यधर्म विचार नामक पुस्तक जिसने यन्त्रालय ने छपवाई है, उसका मत उसमें है, मेरा उसके मत में आग्रह नहीं ६२/२६, सारा भारत और वाल्मीकि रचित रामायण का प्रमाण नहीं ६२/१, शाखाओं में जो कर्म कहे हैं वे वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं ६२/२३, हम ज्योतिष शास्त्र के गणित भाग को मानते हैं फलित भाग को नहीं १५०/३१ से १५१–८ तक, तर्कशास्त्र

प्रमाण और अनुभव आप्त पुरुषों का ही सत्य होता है १६६/५, पादरी साहब कहे कि प्राचीन बातें और सिद्धान्त अब मानने के योग्य नहीं तव तो तौरेत और जबूर इत्यादि ग्रन्थ..................वे भी अब न माननी चाहियें १७४/१०–१५, मौलवी साहब (प्र०) ऐसा कौन सा मत है जिसकी मूल पुस्तक सब मनुष्यों की बोलचाल और समस्त प्राकृतिक बातों को सिद्ध करने में पूर्ण हो २५६/५ से २५८/२६, महाराज ने महाभाष्य के अनुसार व्याप्ति के लक्षण किये १२६/५, महीधर की टीका प्राय: अशुद्ध है १६६/१६, स्वामी जी ने कहा वेदों में अमरकोष प्रमाण नहीं १६८/६।

वेद

वेद सच्चिदानन्द लक्षण वाले ईश्वर से प्रकाशित भये है ३२/८, वेद में परमेश्वर की स्तुति है तो क्या उसने अपनी प्रशंसा लिखी ७६/१२, भगवान् का जब स्वरूप और शरीर नहीं तो मुख कहां से आया जिससे वेद कहा ७६/१७–२६, कलम और दवात और वाणी के विना रचे नही जाते ईश्वर ने कैसे बनाये ११४/३, वेद पढने का अधिकार सबको है १६८/२३, सबमे उत्तम वेद की शिक्षा है १७५/२८, वेद और ईश्वर का कार्यकारण सम्बन्ध ३२/१३, वेद में इतिहास नही १२३/१६–२०, हजारों, लाखों ऋषिमुनि उनके (वेद के) स्थानापन्न होते रहे २२८/२५, परमात्मा ने सृष्टि की आदि मे श्री ब्रह्माजी के हृदय मे वेदो का प्रकाश किया, यह बात प्रमाण करने योग्य नही २४७/६–२६, वेद-विषयक शास्त्रार्थ मौलवी से २६१/२० से २६२/६, वेद की विशेषता क्या है ? २६४/१३ से २६५/३ तक, मौलवी से शास्त्रार्थ यदि वेद ईश्वर ने बनाया होता तो० २६६/४ से २६७/२ तक, मोक्षमूलर आदि विद्वान् भी संस्कृत भाषा तथा ऋग्वेदादि को सब भाषाओं का मूल निश्चित करते है २६६/२४।

वेदादि सच्छास्त्रों के शब्दार्थ पर विचार

ब्रह्मा के व्यभिचार विषयक—क्या एक नाम के बहुत से मनुष्य नही हो सकते ? ७/२१, "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" का तात्पर्य ११/१६, "समर्थ-पदविधि" का विधान कहां १४/७, वाहर के पदार्थ का ध्यान करना, योगी लोग को नहीं लिखा ५३/६, भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् (विभू० २६) का सत्यार्थ ५५/१०–३०, अग्नि शब्द का क्या अर्थ है ५८/२५ से ५६/१४, कृष्ण पर जो अभियोग लगाये जाते है वे सब निर्मूल हैं १०८/१७, वेद और गंगा-यमुना १०८/२२ से १०६/६, वेद मे अश्वमेधादि शब्द का तात्पर्य–११०/२४, समस्त प्रकरण पढ़ लेते तो शंका न करते १०६/१, हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे० अशुद्ध भाष्य १०६/२५, अशुद्ध भाष्य के कारण आपको सन्देह हुआ १६/२७, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी

जानने वाले वेदों के सिद्धान्तों का निर्णय करें १६७/७, क्या लक्ष्मीविष्णु की स्त्री और साकार है १६८/८, "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" का अर्थ--३७/१-८।

निम्न प्रमाण मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं करते

"देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च" ६/२३, एक भील ने द्रोणाचार्य की मूर्त्ति बनाकर और सामने रखकर धनुषविद्या सीखी १६/१-१०, देवता के स्थान कम्पायमान होते और प्रतिमा हंसती है ३०/२५, उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टा० ३२/२१, तेन पितृलोकेन महीयते ४२/३० प्रतिमा शब्द का अर्थ "प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा" ४०/२० से ४८/१४ तक, विषयवती वा प्रवृत्ति-रुत्पन्ना मनसः० ५२/३१ से ५५/३०, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्० तथा त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं० ५८/७, ६-२४, आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो० ६५/२०, से ६७/२०, गणानान्त्वा० ११३/१२-२५, मनुस्मृति मे आये प्रतिमा और देव शब्दो मे मूर्त्ति-पूजा का सम्बन्ध नहीं ७३/१४, मूर्त्तिपूजा पाणिनि के सूत्र मे सिद्ध नही २४५/१८ से २४६/१६, वेदों में आया पुराण शब्द भूतकाल वाची है और सर्वत्र द्रव्य का विशेषण ही होता है ३३/६, देवालय, देवायतन, देवागार तथा देवमन्दिर इत्यादिक सब नाम यज्ञशालाओं के ही है ४६/१६-५२/३।

धर्म और अधर्म

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—धर्म और अर्थ से कामना अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना इसको काम कहते है १०१/१७, अधर्म से काम को सिद्ध करना इसी को अनर्थ कहते है १०१/१७, धर्म अर्थादि चारो को सिद्ध करना उचित है १०१/२०, ईश्वर की आज्ञा का पालन करना इसको धर्म कहते है १०१/२१ १५१/१७, १५३/१६, २६१/६, २६४/१५,

वैदिक कर्म करने लगोगे तब तुम्हारा बड़ा मान होगा ६/३, उत्तम कर्म करना चाहिये ७७/११-२७, देखो ! सब अन्याय और अधर्म पक्षपात से होता है १०१/१३, धन की वृद्धयादि अन्याय करके करने मे अधर्म होता है १४६/२६ आत्मघात करने में पाप ही होता है १५०/१८, सत्य के कहने में अशिष्टता कभी नहीं हो सकती १८८/३२, भोजन और विवाहादि व्यवहार धर्म मे नही किन्तु विशेष रीतियों तथा समीपस्थ वर्गों मे है १२६/१६-१३०/१३, एक मेज पर खाने मे क्या लाभ होगा १३२/२२, खाना पीना आदि ये सब अपने अपने देश व्यवहार है धर्म नहीं १५१/२६, कुत्ते भी तो मिलकर एक स्थान पर खाते है परन्तु खाते-खाते आपस में लड़ने लगते हैं १६४/२३, सब पापों का पाप लोभ है २५३/१८।

भक्ष्याभक्ष्य

एक साथ खानपान सम्बन्धी प्रश्नोत्तर १३०/२०–१३१/१५, १३२/१७–२७, कयामद की अवस्था में ईश्वर चिन्तन हो सकता है १३३/३–१६, मांस-भक्षण—प्रश्नोत्तर १३१/१६–१३२–६, मांस खाना वेदविरुद्ध है ? १३१/१६, मांस खाना आत्मा के लिए हानिकर १३२/१, योगविद्या नहीं आती १३२/२, सत्य के विवेक मे वञ्चित रहता है १३२/३ ।

वर्णाश्रम

संन्यासी को किसी ग्राम में तीन दिन मे अधिक नहीं रहना चाहिये ३/१, १४६/२५–१४७/६, ब्राह्मणादि का उपनयन संस्कार होना आवश्यक है ५/२६, वर्णव्यवस्था ७६/२४–७७/६, उपनयन सम्बन्धी प्रश्न ५/२६–६/६, मनुष्य के लिये अनेक स्त्रियों के करने का निषेध वेद में लिखा है १५०/२४. पच्चीस वर्ष से पूर्व विवाह न करना २३०/१७, मनुष्य एक जाति के है अथवा कई जातियों के २५९/२–२६०/२१ ।

दार्शनिक तथा विविध विचार

लक्ष्य का तो लक्षण होता है परन्तु लक्षण का लक्षण नहीं होता ५/१३, जिम समय मे मृष्टि का क्रम हुआ है उस काल की कोई संख्या नहीं ६२/१८, मृष्टि कब उत्पन्न हुई ८०/१८, मृष्टि को क्यों उत्पन्न किया ८२/१३–२७, ९५/१८, ससार को बने कितने वर्ष हो गये ९४/१–९५/१७, जब प्रलय करता है तब इस स्थूल जगत् के पदार्थों के परमाणुओं को पृथक् कर देता है ९१/३२, सृष्टि प्रवाह मे अनादि है १४८/२५, १४९/१, परमाणु के प्रकृत, अव्याकृत, अव्यक्त, कारणादि नाम भी १४७/३३, जीव और परमात्मा में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध १४८/१५, इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि जीव के लक्षण १५०/१३, जीव तथा ईश्वर दोनों अनादि हैं १०८/५, ईश्वर के ज्ञान में जीव संख्यात हैं १५२/२२, २४८/५, जीव का प्रकार एक है और जाति अर्थात् योनियां अनेक हैं ७९/३१, १५२/२३, देह भिन्न तथा जीव मवका एक मा है जैसा चींटी का वैसा ही हाथी का ८०।७, जगत् का कारण अनादि, तथा जगत् को बनाने वाला परमात्मा, जीव भी अपने स्वरूप मे अनादि हैं ऐसे माने बिना किसी प्रकार निर्वाह नही हो मकता ९३/२९–३२, सब पदार्थों का कारण अनादि है तो भी ईश्वर को मानना अवश्य है ९७/१, जीव का कर्मानुसार न्यूनाधिक फल विषयक प्रश्नोत्तर १४९/३–२०, हम पृथिवी में सुखादिकों की वृद्धि किसी की व्यवस्था सापेक्ष होने से अनियत मानते हैं १५१/१३, आवागमन सत्य है १०७/१९–१०८/६, ११९/१४–

(शेष पृ० २६७ के पश्चात्)

ओ३म्

दयानन्द-शास्त्रार्थ प्रश्नोत्तर-संग्रह

मूर्ति-पूजा (लिखित शास्त्रार्थ)

(जयपुर की संस्कृत पाठशाला के पंडितों के साथ)

स्वामी दयानन्द ने दस या पन्द्रह प्रश्न लिखकर जयपुर की संस्कृत पाठशाला में पंडितों के पास भेजे। पंडित महाशयों ने इनके उत्तर में गाली-गलौज के सिवाय और कुछ नहीं लिखा। स्वामी जी ने इस पत्र में आठ प्रकार के दोष निकालकर हरिश्चन्द्रादि महान् पुरुषों के पास भेज दिये। उस पत्र को पढ़कर सबने अत्यन्त शोक प्रकट किया और पत्र का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। फिर सब पंडित एकत्रित होकर व्यास बक्षीराम जी के पास गये और कहा कि हमारा स्वामी जी से शास्त्रार्थ करवा दो। पंडितों के कहने पर व्यास जी ने स्वामी जी को महलों में बुलवाया, सब पंडित भी एकत्रित हुए और शास्त्रार्थ होने लगा। अन्त में पंडित निरुत्तर होकर चुप हो गए, और एक मैथिल पंडित ने कहा कि महाभाष्य की गणना व्याकरण में नहीं है। स्वामी जी ने उसको यही बात लिख देने के लिए कहा। परन्तु उन्होंने नहीं लिखा और रात्रि विशेष हो गई, यह बहाना करके चुप हो गये।

(आर्य धर्मेन्द्र जीवन, रामविलास शारदा पृ० ३१, ३२, लेखराम पृ० ५५)

लिखित शास्त्रार्थ (जैनमत)

(जयपुर के जैनगुरु के साथ)

जयपुर में जैनियों के एक गुरु ने शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की परन्तु वह स्वामी जी को अपने मकान पर ही बुलाना चाहता था इस कारण मौखिक शास्त्रार्थ न हुआ। और स्वामी जी ने १५ प्रश्न लिखकर उनके पास भेज दिये, जिनका उत्तर यती जी से न बन पड़ा परन्तु उन्होंने ८ प्रश्न लिखकर स्वामी जी के पास भेज दिये, जिनका उत्तर स्वामी जी ने बड़ी योग्यता से दिया। (आर्य धर्मेन्द्र जीवन, रामविलास शारदा पृ० ३२, लेखराम पृ० ५६)

ईसाईमत

(पादरी ग्रे साहब ग्रादि से ग्रजमेर में शास्त्रार्थ—जून १८६६)

३० मई, सन् १८६६ को स्वामी जी पुष्कर से ग्रजमेर ग्राये। वहाँ स्वामी जी का पादरी लोगों से मित्रतापूर्ण शास्त्रार्थ हुग्रा। एक तो रैवरेण्ड जे० ग्रे साहब मिशनरी प्रेस बी टेरेन मिशन ग्रजमेर ग्रौर दूसरे पादरी राबिन्सन शूलब्रेड साहब थे ग्रौर तीसरे साहब पादरी मेरवाड़ ग्रर्थात् ब्यावर थे। प्रथम तीन दिन ईश्वर, जीव, सृष्टिक्रम ग्रौर वेद-विषय में बातचीत रही। स्वामी जी ने उनके उत्तर उत्तम रीति से दिये। चौथे दिन ईसा के ईश्वर होने पर ग्रौर मर-कर जीवित होने ग्रौर ग्राकाश में चढ़ जाने पर स्वामी जी ने कुछ प्रश्न किये। दो-तीन सौ मनुष्य इस धर्मचर्चा के समय ग्राया करते थे। ग्रन्तिम दिन जब पादरी लोग इस विषय पर कोई बुद्धिपूर्ण उत्तर न दे सके तो स्कूल के लड़के ताली पीटने लगे परन्तु स्वामी जी ने रोक दिया। ग्रापस में शास्त्रार्थ का ढंग यह था कि प्रथम एक पक्ष प्रश्न ही प्रश्न करे ग्रौर दूसरा पक्ष उत्तर ही उत्तर दे, बीच में प्रश्न न करे। तत्पश्चात् इसी प्रकार दूसरा पक्ष करे। प्रथम प्रश्न पादरी लोगों ने किये जिनके उत्तर स्वामी जी ने दिये। इस शास्त्रार्थ में ईसाइयों ने एक वेदमन्त्र का भी प्रमाण दिया था जिसे स्वामी जी ने ग्रस्वीकार किया कि यह वेदमन्त्र नहीं। उन्होंने कहा कि हम वेद लाकर दिखावेंगे परन्तु वेद से न दिखला सके।

राबिन्सन साहब का जो उन दिनों बड़े पादरी थे—एक प्रश्न यह था कि ब्रह्मा जी ने जो व्यभिचार किया है उसका क्या उत्तर है ?

स्वामी जी ने कहा कि क्या एक नाम के बहुत से मनुष्य नहीं हो सकते ? फिर यह कौन बात है कि यह ब्रह्मा वही है प्रत्युत कोई ग्रौर व्यक्ति होगा। वे महर्षि ब्रह्मा ऐसे नहीं थे। (लेखराम पृष्ठ ६३)

संन्यासाश्रम

(पं० रामरत्न ग्रजमेर से संन्यासाश्रम के विषय में प्रश्नोत्तर)

सन् १८६६ में जब स्वामी जी ग्रजमेर में थे ग्रौर मूर्तिपूजा तथा भागवतादि का खण्डन कर रहे थे तो उन दिनों रामरत्न नामक एक पंडित ने जो ग्राम रामसर जिला ग्रजमेर में रहता था ग्रौर ग्राम का पटवारी भी था, सम्भवतः दस प्रश्न बनाकर भेजे थे जो इस विषय के थे—

संन्यासी को किसी ग्राम में तीन दिन से अधिक न रहना चाहिए, घोड़ों की बग्घी में न चढ़ना चाहिए आदि।

ये प्रश्न संस्कृत में थे। स्वामी जी ने पत्येक प्रश्न का उत्तर विश्वसनीय पुस्तकों के प्रमाणों सहित लिख भेजा और उसके लेख में जो अशुद्धियां थीं, वे भी साथ ही लिखकर भेज दीं। इन प्रश्नों का एक उत्तर यह था कि निस्सन्देह संन्यासी को एक स्थान पर तीन दिन से अधिक न रहना चाहिए परन्तु जहां अन्धकार हो रहा हो तो वहां उपदेश के लिये अधिक रहना उचित है। (लेखराम पृष्ठ ६६)

मूर्तिपूजा

(अनूपशहर-निवासी पं० अम्बादत्त वैद्य से शास्त्रार्थ—नवम्बर १८६७)

जब महाराज को कर्णवास में निवास करते हुए बहुत दिन हो गये और उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई तब भगवानदास आदि को महाराज की बढ़ती हुई लोकप्रियता असह्य हो गई। उन्होंने सोचा कि उनके मार्ग से दयानन्द रूपी कंटक तभी दूर हो सकता है जब उसे शास्त्रार्थ में परास्त किया जावे। अतः वह अनूपशहर निवासी पं० अम्बादत्त पर्वती को जो संस्कृत में बहुत व्युत्पन्न समझे जाते थे स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने के लिये बुला लाये। पं० अम्बादत्त से शास्त्रार्थ हुआ। परिणाम यह निकला कि पण्डित जी परास्त हुए और उन्होंने एक सत्यप्रिय मनुष्य की भांति भरी सभा में मुक्तकंठ से कहा कि जो कुछ स्वामी जी कहते हैं, वह सत्य है, मूर्तिपूजा अवैदिक और त्याज्य है।

(श्री देवेन्द्रनाथजी कृत जीवनचरित्र, भाग १, पृष्ठ १०५, लेखराम, पृ० ७६)

मूर्तिपूजा

(अनूपशहर-निवासी पं० हीरावल्लभ पर्वती का कर्णवास में शास्त्रार्थ नवम्बर १८६७)

पौराणिकों को पं० अम्बादत्त के पराजय की कालिमा धोने की चिन्ता थी ही। वे अनूपशहर गये और पं० हीरावल्लभ को बुलाकर लाये। पौष मास की किसी तिथि को पं० हीरावल्लभ कर्णवास आये और बड़े ठाठ से आये। वह अपने आराध्य देवों की मूर्तियों को एक सुन्दर सिंहासन में सजाकर साथ लाये। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। उसमें पं० हीरावल्लभ प्रवृत्त हुए तो अनोखे ढंग से। देवमूर्तियों का सिंहासन सामने रखकर और यह प्रतिज्ञा करके कि

मैं इन देवमूर्तियों को दयानन्द के हाथ से भोग लगवाकर उठूंगा। छः दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा, नियम और न्यायपूर्वक होता रहा। छठे दिन पं० हीरावल्लभ ने अस्त्र-शस्त्र डाल दिये, अपनी हार स्वीकार की, वाणी से भी और कर्म से भी। पण्डित जी ने महाराज को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और साथ ही देवमूर्तियों को भी सदा के लिए हाथ जोड़कर गंगाजल में प्रविष्ट करा दिया। उन देवमूर्तियों को जिन्हें वे दयानन्द के हाथ से भोग लगवाने की प्रतिज्ञा करके शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुए थे, स्वयं भोग लगाना छोड़कर शास्त्रार्थ से निवृत्त हुए। सभा में २००० मनुष्य उपस्थित थे। स्वामी जी पं० हीरावल्लभ की न्यायप्रियता देखकर गद्‌गद हो गये। और उन्होंने पण्डित जी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। निष्पक्ष मनुष्यों ने भी उन्हें हृदय से साधुवाद कहा। सबके मुखमंडल हर्ष से खिल उठे। मूर्तिपूजकों के हृदय शोक-सन्तप्त और उनके मुख विषाद से तेजहीन हो गये और आह करते और ठण्डे सांस भरते सभा से उठकर चले गये। इस शास्त्रार्थ का यह प्रभाव हुआ कि सैकड़ों मनुष्यों की आस्था मूर्तिपूजा के ऊपर से उठ गई और बीसियों लोगों ने पं० हीरावल्लभ का अनुकरण करते हुए अपनी देवमूर्तियां गंगा के प्रवाह में डाल दीं। (देवेन्द्रनाथ १। १११, लेखराम पृष्ठ ७७)

मूर्त्तिपूजा

(साधु कृष्णेन्द्र सरस्वती से रामघाट पर शास्त्रार्थ—सन् १८६७ अगहन १९२४ वि०)

खेमकरन जी भूतपूर्व ब्रह्मचारी वर्तमान संन्यासी कर्णवास निवासी ने वर्णन किया कि अगहन मास, संवत् १९२४ में स्वामी जी रामघाट में आये। वहाँ एक साधु कृष्णेन्द्र सरस्वती रहते थे। लोगों ने उनसे जाकर कहा कि एक स्वामो आया है जो गंगादि तीर्थ, महादेवादि की मूर्ति और भागवत, वाल्मीकि आदि सब का श्रुति और स्मृति के अतिरिक्त खंडन करता है। ग्राम में कोलाहल मच गया। अन्त में कृष्णेन्द्र को लोग उसके बार-बार अस्वीकार करने पर भी वहाँ बनखंडी पर ले आये जहां स्वामी जी ठहरे हुए थे और शास्त्रार्थ आरंभ किया। इतने में एक व्यक्ति ने कृष्णेन्द्र से पूछा कि महाराज! मैं महादेव पर जल चढ़ा आऊँ तो स्वामी जी बोले कि यहाँ तो पत्थर है, महादेव नहीं। "महादेवो कैलासे वर्तते" अर्थात् महादेव कैलास में है। तब कृष्णेन्द्र ने कहा कि यहां महादेव नहीं है?

स्वामो जी ने कहा कि वह महादेव मन्दिर के अतिरिक्त यहाँ भी है, वहाँ जाना व्यर्थ है। तब कृष्णेन्द्र ने गीता के इस श्लोक का प्रमाण दिया—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।"

स्वामी जी ने कहा कि ईश्वर निराकार है, अवतारधारी नहीं बन सकता। देह-धारना केवल जीव का धर्म है ।

इसका कोई उत्तर कृष्णेन्द्र से न आया। वह स्वामी जी के सामने बैठा-बैठा ही घबरा गया और घबराकर वही गीता का श्लोक बार-बार लोगों की ओर मुख करके (मुख से कफ निकलता था) पढ़ने लगा। तब स्वामी जी ने कहा कि तू लोगों से शास्त्रार्थ करता है या मुझसे शास्त्रार्थ करता है? मेरे सामने होकर बात कर ।

फिर जब इस पर भी वह बात न कर सका और कुछ दशा भी ठीक न रही तो "गन्धवती पृथिवी" "धूमवती अग्निः" इस प्रकार की न्याय की बात चली, जिस पर उसने कहा कि लक्षण का भी लक्षण होता है। स्वामी जी ने कहा कि लक्ष्य का तो लक्षण होता है परन्तु लक्षण का लक्षण नहीं होता। पूज्य का पूज्य और चून (आटा) का चून क्या होगा ?

इस पर सब लोग हँस पड़े और वह घबराकर उठ खड़ा हुआ। सब लोग कहने लगे और जान गये कि स्वामी जी की जीत हुई ।

(लेखराम पृष्ठ १००, १०३)

यज्ञोपवीत

(शिवलाल वैश्य रईस डिबाई, जि० बुलन्दशहर से प्रश्नोत्तर—फरवरी १८६८)

ठाकुर शिवलाल वैश्य रईस डिबाई जि० बुलन्दशहर ने वर्णन किया कि दूसरी बार स्वामी जी मुझे फागुन बदि १३ संवत् १६२४ तदनुसार २१ फरवरी, सन् १८६८ को कर्णवास में मिले। वहां पहुँचकर क्या देखता हूं कि आप दो-चार ठाकुरों और वैश्यों के लड़कों के उपनयन संस्कार कराने का यत्न कर रहे हैं। मैंने जाकर नमस्कार किया और प्रश्न किया ।

प्रश्न—महाराज ! यदि यज्ञोपवीत न हो तो क्या हानि ?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का उपनयन संस्कार होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक उपनयन संस्कार नहीं होता तब तक मनुष्य को वैदिक कार्य करने का अधिकार नहीं ।

प्रश्न—एक व्यक्ति उपनयन संस्कार करावे परन्तु शुभ कर्म्म न करे और

दूसरा उपनयन संस्कार नहीं करावे और सत्यभाषणादि कर्म में तत्पर हो, उन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि श्रेष्ठ वह है जो उत्तम कर्म करता है परन्तु संस्कार होना आवश्यक है क्योंकि संस्कार न होना वेद, शास्त्र के विरुद्ध है और जो वेद-शास्त्र के विपरीत करना है वह ईश्वरीय आज्ञा को नहीं मानता और ईश्रीय आज्ञा को न मानना मानो नास्तिक होने का लक्षण है।

(लेखराम पृष्ठ ६४)

मूर्त्तिपूजा

(पं० अंगदराम शास्त्री से शास्त्रार्थ सोरों में—संवत् १६२५)

गुसाईं बलदेवगिरि जी ने वर्णन किया कि स्वामी जी जब संवत् १६२५ में सोरों में आये थे तो उनका वहाँ अंगदराम शास्त्री से शास्त्रार्थ हुआ। पंडित अंगदराम जी संस्कृत के पूर्ण विद्वान् और व्याकरण के पूरे प्रकाण्ड पंडित थे। बीसियों पंडित उनसे संस्कृत पढ़ते थे और केवल पढ़ाते ही नहीं प्रत्युत वे पंडितों में शिरोमणि गिने जाते थे। इस ओर उनकी समानता करने वाला कोई न था और न किसी का साहस पड़ता था कि अंगदराम जी से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हो। उनके नाम से ही पंडित लोग घबरा जाते थे। विशेषतया वह न्याय और व्याकरण में पूर्ण दक्षता रखते थे। कस्बा बदरिया जो सोरों के अत्यन्त समीप है, वहाँ के रहने वाले थे। पंडित नारायण चक्रांकित जिसे स्वामी जी ने हराकर अपना शिष्य बनाया था, वह पं० अंगदराम के पास पढ़ा करता था। उसने जाकर पं० अङ्गदराम जी से कहा कि एक ऐसे स्वामी आये हैं जिनके सामने किसी को मुख से बात निकालने की भी शक्ति नहीं। पंडित जी तुम चलो। पंडित अङ्गदराम जी आये और आते ही संस्कृत में मूर्तिपूजा पर विचार होने लगा। यह पंडित जी महाराज शालिग्राम की पूजा करते थे, और नित्य भागवत की कथा बाँचा करते थे। स्वामी जी ने वेद और सत्य-शास्त्रों के प्रमाणों से मूर्तिपूजा का अत्यन्त बुद्धिपूर्वक खंडन किया और साथ ही भागवत को भी खंडन करने से न छोड़ा। पंडित अङ्गदराम जी से भागवत के विषय में बहुत सी बातें हुईं। वे बहुत विद्वान् थे, स्वामी जी की विद्या पर मोहित हो गये। स्वामी जी ने उनको भागवत के बहुत से दोष बतलाये थे। अन्तिम दोष यह था—

"कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः
राज्ञां चोभयवंशानां चरितं परमाद्भुतम् ॥"

यह दशम स्कन्ध का पहला श्लोक है। इस में स्वामी जी ने विस्तार शब्द अशुद्ध और व्याकरण के विरुद्ध बतलाया था कि विस्तर चाहिए, विस्तार नहीं। क्योंकि अष्टाध्यायी में लिखा है विस्तर शब्द में "घञ्" प्रत्यय हो अशब्द में। इस पर स्वामी जी ने बहुत से श्लोकों का प्रमाण दिया कि देखो "विस्तरेण व्याख्याता" सब स्थान पर ऐसा लिखा है कि बिस्तार अशुद्ध है। वार्ता या वंश के लिये विस्तर और मापादि के लिए विस्तार आता है। उसी को सुनकर पंडित अंगदराम जी बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि महाराज! आपकी बातों को कहाँ तक श्रवण करूं—सब सत्य हैं। अन्त में पंडित जी अपना पूर्ण सन्तोष हो जाने के पश्चात् शालिग्राम की मूर्ति जिसे वह पूजते थे, सामने गंगा में डाल दी और भागवतादि पुराणों की कथा करनी पूर्णरूप से छोड़ दी प्रत्युत भागवत का बहुत तिरस्कार किया। उनकी यह दशा देखकर गुसाईं बलदेवगिरि जी ने भी बहुत सी बहलियां बटियां गंगा में फेंक दीं और पंडित अङ्गदराम जी के सम्बन्धियों ने भी अपनी पूजा की मूर्तियां गंगा में फेंक दीं। (लेखराम पृष्ठ १०८)

मूर्त्तिपूजा

(ठाकुर किशनसिंह से कायमगंज में प्रश्नोत्तर—संवत् १९२५)

पंडित शामलाल कान्यकुब्ज कायमगंज ने वर्णन किया कि जब स्वामी जी शिवालय में आनकर उतरे तो लोगों से पूछा कि यह क्या है? लोगों ने कहा कि यह शिवालय है, कहा कि तुम लोग स्वयं ही कहते हो कि शिवालय तो कैलास में है क्योंकि शिव वहां रहते हैं। इसलिए यह तो सराय बैठक है। हम को भी स्मरण किया, हम ठाकुर किशनसिंह भूश्रित सहित वहाँ गये। किशनसिंह ने पूछा कि तुम शिवलिंग पूजा का निषेध करते हो परन्तु इसका तो शास्त्रों में लेख है।

स्वामी ने कहा कि कैसी लज्जा की बात है कि तुम लिंग की पूजा करते हो और फिर जब लिंग पृथक् होकर यहां आ गया तो शिव कैलास में हीजड़ा रह गया। (लेखराम पृष्ठ ११८)

क्या मौहम्मद पैगम्बर है?

(मुसलमानों से फर्रुखाबाद में प्रश्नोत्तर—सं० १९२५)

ला० मुन्नीलाल वैश्य ने वर्णन किया कि स्वामी जी संवत् १९२५ में जब फर्रुखाबाद में ठहरे हुए थे तो एक दिन तीसरे पहर चार पांच मुसलमान स्वामी जी के पास गये। मुसलमानों ने पूछा कि "मौहम्मद को खुदा ने हमारे लिए भेजा है या नहीं?"

स्वामी जी ने हम से कहा कि नियम होना चाहिए कि सत्य को सुनकर मनुष्य विचार करे न कि घबराकर लड़ने को दौड़े। अब तो यह धार्मिक बात करते हैं पर पीछे युद्ध होगा। मैंने उनसे कहा कि स्वामी जी कहते हैं फिर लड़ोगे तो नहीं? उन्होंने कहा कि हम ऐसा नहीं करेंगे, आप तो बलवान् हैं। सारांश यह कि यह बात स्वामी जी ने तीन बार कही तब कहा कि "मौहम्मद अच्छा मनुष्य नहीं था। तुम लोगों ने उसका अनुकरण किया यह बुरा किया। जब चोटी कटवाई तो दाढ़ी रखने से क्या प्रयोजन? ऊँची बांग देते हो, यह क्या ईश्वर की उपासना है?"

खुतने के विषय में भी पूछा था परन्तु कोई उत्तर मुसलमान न दे सके। अन्त में चले गये। (लेखराम पृष्ठ १२५)

आदम हव्वा का वियोग

(मौलवी अहमद अली दूबान से कायमगंज में प्रश्नोत्तर—नवम्बर, १८६८)

मौलवी अहमद अली दूबान से मनुष्योत्पत्ति विषय पर बातचीत हुई तो स्वामी जी ने पूछा कि आदम-हव्वा का वियोग क्यों हुआ? खुदा ने उनके मन में प्रेम क्यों न उत्पन्न किया? जो वियोग का दुःख न सहते। इसका मौलवी कोई उत्तर न दे सका। मौलवी स्वामी जी की बात से प्रसन्न हुआ और उनके कथन की पुष्टि करता रहा। उसने महाराज की बहुत प्रशंसा की और कहा यह फकीर बहुत बड़ा आलिम (विद्वान्) है और बुतपरस्त नहीं है।

(देवेन्द्रनाथ १। १३०. लेखराम पृ० ११९-१२०)

मूर्त्तिपूजा

(पं० हरिशंकर कन्नौज से प्रश्नोत्तर—संवत् १९२६)

पंडित हरिशंकर जी ने वर्णन किया कि संवत् १९२६ में जब स्वामी जी कन्नौज में ठहरे हुए थे तो मूर्तिपूजा पर हमारी उनसे यह बातचीत हुई—

स्वामी जी ने कहा कि मूर्तिपूजा का शास्त्रों में निषेध है।

हमने कहा कि आप वचन पढ़ें।

स्वामी जी ने कहा कि तुम कोई विधिवचन पढ़ो। हमने कहा कि श्रुति, स्मृति, सदाचार इत्यादि अर्थात् सदाचार श्रुति, स्मृति के अनुसार है और मूर्तिपूजा सदाचार है (उस समय हमने और ग्रन्थ नहीं देखे थे और न वेद पढ़े थे)।

स्वामी जी ने कहा कि सदाचार पंचमहायज्ञ है न कि मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजन के कारण से लोगों ने बलिवैश्वादिक पंचयज्ञ छोड़ दिये हैं, जब उसमे अश्रद्धा होगी तब वह काम करने लगेंगे और जब वैदिक कर्म करने लगोगे तब तुम्हारा बड़ा मान होगा।

हमने कहा कि वैदिककर्म तो अब कोई कर नहीं सकेगा और मूर्तिपूजा पर अश्रद्धा हो जावेगी तो इससे लोक भ्रष्ट हो जावेंगे। (लेखराम पृष्ठ १२७, १२८)

मूर्त्तिपूजा

(पंडित श्रीगोपाल जी से फर्रुखाबाद में शास्त्रार्थ—२४ मई, १८६६)

जब श्री स्वामी जी महाराज फर्रुखावाद में धर्म-प्रचार तथा पाखंड का खंडन कर रहे थे तो वहां के पंडितों में हलचल मच गई और उन्होंने जिला मेरठ के रहने वाले पंडित श्रीगोपाल जी को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। इस शास्त्रार्थ में पीताम्बरदास जी मध्यस्थ थे और उनके अतिरिक्त दस पांच पंडित और भी थे। विश्रान्त घाट पर जहाँ स्वामी जी उतरे थे सब लोग एकत्रित हुए और पंडित श्रीगोपाल जी भी गये। उस समय श्रीगोपाल जी तथा स्वामी जी के मध्य निम्नलिखित बातचीत हुई—

पंडित जी बोले कि "भो स्वामिन् मया रात्रौ विचारः कृतः" हे स्वामी! मैंने रात्रि में विचार किया है। आप मूर्तिपूजा का क्यों और कैसे खंडन करते हैं। यह मूर्तिपूजा तो सर्वथा लिखी है।

स्वामी जी—कुत्र लिखितमस्ति तदुच्यताम्" अर्थात् कहां लिखी है वह कहो और यह संस्कृत अशुद्ध है।

पंडित जी ने संस्कृत की अशुद्धि तो स्वीकार न की परन्तु मूर्तिपूजा के प्रमाण में मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १७२ पढ़ा—

"देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च"

स्वामी जी—"अस्यार्थः क्रियताम्" अर्थात् इसका अर्थ करो।

पंडित जी—देवता का पूजन करे, सायं-प्रातः हवन करे और पूजन चूँकि प्रतिमा का ही हो सकता है और का नहीं इसलिये इससे मूर्तिपूजन सिद्ध है।

स्वामी जी—व्युत्पत्ति द्वारा इसका अर्थ करो। अर्च पूजायाम् अर्थात् अर्चा पूजा और पूजा सत्कार को कहते हैं। यहां अग्निहोत्र और विद्वानों के

सत्कार का अभिप्राय है, मूर्तिपूजा का नहीं। इस पर कुछ समय तक शास्त्रार्थ चलता रहा। श्री गोपाल जो निश्चय करके गये थे कि स्वामी जी को परास्त करेंगे वह बात न हुई और न मूर्तिपूजन का प्रतिपादन हुआ। इस पर स्वामी जी की विद्वत्ता की ख्याति और भी नगर में फैल गई और इसका कारण भी श्रीगोपाल हुए क्योंकि उसने उस समय यद्यपि अपनी भूल न मानी परन्तु दूसरे दिन पंडितों से पूछता फिरता था कि पूजा शब्द कहीं नपुंसक भी होता है या नहीं क्योंकि मैंने वहां भूल से पूजा नपुंसक लिंग बोल दिया है। पंडितों ने कहा कि नहीं, वह तो स्त्रीलिंग होता है।

इस अवसर पर श्रीगोपाल ने अपनी अपकीर्ति देखकर अपनी सफलता का यह एक उपाय सोचा कि काशी जाकर स्वामी जी के विरुद्ध मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्थापत्र लाऊं और उनको शास्त्रार्थ में इस बहाने से हराने का यत्न करूं। यह निश्चय कर वह बनारस गये। पं० शालिग्राम जी शास्त्री मुख्याध्यापक गवर्नमेण्ट कालिज अजमेर वर्णन करते हैं कि जब स्वामी जी ने फर्रुखाबाद हमारे नगर में आकर मूर्तिपूजा का खंडन आरम्भ किया तब पंडित श्रीगोपाल जी बनारस में हमारे पास आये कि आप फर्रुखाबाद नगर के रहने वाले हैं। आजकल एक स्वामी-दयानन्द नामक वहां आये हैं और मूर्तिपूजा का खंडन करते हैं, कृपा करके हमें व्यवस्था ले दीजिये। हमने उनके लिये प्रमाण लिखने का निश्चय किया परन्तु हमारे गुरु पंडित राजाराम शास्त्री ने कहा कि तुम क्यों परिश्रम करते हो। पहले भी एक बार दक्षिण में मूर्तिखंडन की चर्चा हुई थी उस समय हमने काशी के पंडितों के हस्ताक्षर से एक व्यवस्था लिखी थी उसकी प्रतिलिपि भेज दो। मैंने उसकी प्रतिलिपि करके काशी के पंडितों के हस्ताक्षर कराने के पश्चात् उनको दे दी। श्रीगोपाल जी के कुछ रुपये भी हस्ताक्षर कराने में पंडितों की भेंट पूजा में व्यय हुए थे। हमने पहली बार श्रीगोपाल के मुख से ही स्वामी जी का नाम सुना था।

(लेखराम १२१, ५७५)

मूर्तिपूजा

(पं० हलधर ओझा मैथिल से फर्रुखाबाद में शास्त्रार्थ—१९ जून, १८६९)

जेठ सुदि दशमी, शनिवार, संवत् १९२६ तदनुसार १९ जून, सन् १८६९ रात्रि को आठ बजे के समय ला० प्रेमदास तथा देवीदास साहुकार, पंडित उमादत्त, पंडित पीताम्बरदास, पंडित रामसहाय शास्त्री, पंडित गौरीशंकर, पंडित ललिताप्रसाद, पंडित गणेश शुक्ल, पंडित चरनामल शुक्ल, पंडित माधवाचार्य्य, पंडित बृजकिशोर, ला० जगन्नाथ प्रसाद, पंडित दिनेशराम,

पंडित विहारीदत्त सनाढ्य, पंडित गंगादत्त पुरोहित, पंडित हलधर ओझा को साथ लेकर नगर के बाहर गंगातट पर स्वामी जी के निवास-स्थान पर गये। लाला जगन्नाथ प्रसाद रईस फर्रुखाबाद ने आगे बढ़कर स्वामी जी को सूचना दी (उस समय स्वामी जी पूर्वाभिमुख बैठे हुए खर्बूजा खा रहे थे) कि महाराज हलधर आया है। स्वामी जी ने उनकी ओर से दृष्टि नीचे कर ली और खर्बूजा छोड़ दिया और फिर सिर उठाकर कहा कि आने दो। उक्त लाला साहब नीचे आकर उनको ले गए। हलधर ने जाकर प्रणाम किया। स्वामी जी ने उत्तर में कहा अरे हलधर आनन्द है?

"अरे हलधर आनन्दो जातः?"

उसने कहा महाराज आनन्द है।

यह पहले निश्चय हो गया कि शास्त्रार्थ मूर्तिपूजा पर हो परन्तु मूर्तिपूजा पर आरम्भ होते ही बात सुरापान पर जा पड़ी क्योंकि यह हलधर तांत्रिक पंडित था जो मांस-मद्य खाता-पीता था और उसे उचित समझता था। मैथिल ब्राह्मण प्रायः तांत्रिक होते हैं और मांस-मद्य खाते-पीते हैं। हलधर ने प्रमाण दिया—

"सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्।"

अर्थात्—सौत्रामणि यज्ञ में सुरा पीनी चाहिये। स्वामी जी ने कहा कि सुरा शब्द से अच्छे फल की रसरूप औषधि का वर्णन है, मद्य का नहीं। मद्य अर्थ करने वालों का अच्छी तरह खंडन किया और कहा कि इसका अर्थ यह है कि सौत्रामणि यज्ञ में सोमरस अर्थात् सोमवल्ली का रस पीवे।

फिर हलधर ने स्वामी जी से संन्यासी के लक्षण पूछे। स्वामी जी ने सब लक्षण बतला दिये। तत्पश्चात् स्वामी जी ने हलधर से पूछा कि आप ब्राह्मण के लक्षण कहें। परन्तु वह उससे न बन सके और संस्कृत में गड़बड़ करने लगा। तब स्वामी जी ने कहा कि हलधर "भाषायां वद, भाषायां वद" अर्थात् भाषा में बात कर, भाषा में बात कर। इस पर वह बहुत घबरा गया और प्रकरण छोड़कर दूसरी ओर जाने लगा। तब स्वामी जी ने कहा कि हे हलधर! प्रकरण छोड़कर मत जाओ, प्रकरण पर रहो।

"भो हलधर प्रकरणं विहाय मा गच्छ।" हलधर ने इसका उत्तर दिया—

"अहं तु न प्रकरणं विहाय गच्छामि परन्तु श्रीमतां पुनः पुनः प्रकरण-मभिनयते, प्रकरणशब्दस्य कथं सिद्धिः"?

अर्थात् मैं तो प्रकरण छोड़कर नहीं जाता परन्तु आप बार-बार प्रकरण शब्द कहते हैं। बतलाइये प्रकरण शब्द किस प्रकार सिद्ध होता है ?

स्वामी जी—

"प्रपूर्वात् कृधातोर्ल्युट् प्रत्यये कृते सति प्रकरणशब्दस्य सिद्धिर्भवति" अर्थात् "कृ" धातु से "ल्युट्" प्रत्यय करने से प्रकरण शब्द सिद्ध होता है।

हलधर—

"कृ धातु: समर्थो भवति किं वाऽसमर्थो भवति" अर्थात् 'कृ' धातु समर्थ होती है या असमर्थ ?

स्वामी जी—

"समर्थो भवति। समर्थ: पदविधि:" अर्थात् 'कृ' धातु समर्थ होती है और इस सूत्र में समर्थ-पदविधि है जितने पद प्रसिद्ध होते हैं।

हलधर—यह तो कहिये कि समर्थ किस को कहते हैं और असमर्थ किस को कहते हैं ?

स्वामी जी—'सापेक्षोऽसमर्थो भवति' अर्थात् अपेक्षा करने वाला असमर्थ होता है। यह महाभाष्य का वाक्य है।

हलधर—यह वाक्य महाभाष्य में नहीं लिखा है—यह तो केवल आपकी संस्कृत है।

स्वामी जी बृजकिशोर पंडित से बोले कि दूसरे अध्याय का पहला अंक महाभाष्य का निकालिये। जब निकाला और देखा गया तो वही बात निकली जो स्वामी जी कहते थे।

अन्त में निरुत्तर होकर हलधर ओझा ने कहा कि महाभाष्यकार भी पंडित है और मैं भी पंडित हैं। मैं क्या उससे कम हूँ।

स्वामी जी ने कहा कि तुम तो उसके बाल के समान भी नहीं हो। यदि हो तो कहो कि कलम संज्ञा किस की है ?

हलधर इसका कुछ उत्तर न दे सके। जब हलधर से कुछ उत्तर न बन सका तब स्वामी जी ने कहा कि महाभाष्य में "अकथितं च" इस सूत्र को देख लो कि कलम संज्ञा कर्म की है। इस पर सब लोग जान गये कि हलधर ओझा की कितनी विद्या है। इसी प्रकार शास्त्रार्थ व्याकरण पर होते-होते एक बजे रात का समय हो गया। अन्त में यह निश्चय पाया कि "समर्थ: पदविधि:"—यह सूत्र यदि सर्वत्र लगे तो हलधर जी की हार हो गई और यदि एक

स्थान पर लगे तो स्वामी जी की। यह निश्चय होने से सब लोग हलधर सहित चले आये।

ला० जगन्नाथप्रसाद तथा पंडित मुन्नीलाल जी ने कहा कि हम और सब पंडित लोग एक साथ ही चले जाते थे। मार्ग में सब पंडितों ने कहा कि स्वामी जी ने बड़ा हठ किया क्योंकि यह केवल सूत्र में लगता है, सर्वत्र नहीं लगता। चूंकि हम स्वामी जी के हितचिन्तक थे इसलिये प्रातःकाल हम दोनों स्वामी जी के पास गये। वह एकादशी का दिन था। हमने स्वामी जी से अलग जाकर कहा कि महाराज! अब यहां तक ही रहने दो। उन्होंने कहा कि क्यों? हमने कहा कि रात को सब पंडित कहते थे कि "समर्थः पदविधिः" यह सूत्र केवल सूत्र में ही लगता है, सर्वत्र नहीं। अभी न हमारी हार है और न उनकी। यदि बात बनी रहे तो अच्छा है। तब स्वामी जी ने क्रोध करके कहा कि गोवध का पाप तुझे है यदि उसे न लावे और गोवध का पाप उसे है यदि वह न आवे। तब हमारा मुंह बिगड़ गया और हमने जान लिया कि स्वामी जी अपनी खोज तथा सत्य पर बड़े दृढ़ हैं अतः हम चले आये।

उस दूसरी रात के लिये दरियों का प्रबंध हो गया था परन्तु स्वामी जी चटाई पर ही बैठे रहे। आठ बजे रात के सब एकत्रित हुए—रात चांदनी थी। कुशल क्षेम पूछकर बैठ गये। सबके सामने स्वामी जी ने कहा कि भाई कल हमारा तुम्हारा किस बात पर शास्त्रार्थ था। क्या इसी बात पर था या नहीं कि यदि केवल सूत्र पर लगे तो हमारी पराजय और यदि सर्वत्र लगे तो तेरी पराजय। वह मौन रहा परन्तु पीताम्बरदास ने कहा कि हां महाराज! कल यही बात निश्चित हुई थी जिसे सब पण्डितों ने स्वीकार किया। इस रात शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पहले यह ज्ञात हुआ कि कुछ लोगों का विचार कोलाहल करने का है इसलिये सबको सुनाकर कह दिया गया कि जिस किसी को स्वामी जी से बात करने की इच्छा हो वह अकेला-अकेला करे। यदि कोई बीच में बोलेगा तो उठा दिया जायेगा। पंडितों के अतिरिक्त जो और लोग थे उनको कहा गया कि आप लोग यहां से उठकर नीचे चबूतरे पर सुनें। इस पर गौरीशंकर कशमीरी ब्राह्मण क्रोधित होकर अपने घर को चला गया और उसी दिन से स्वामी जी के विरुद्ध हो गया।

शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पहले स्वामी जी ने हलधर से कहा कि हलधर, तू अभी नवीन पढ़कर आया है और गृहस्थी है। तू अब यदि समझ ले कि मेरी हार हो गई तो कुछ हानि नहीं परन्तु तुम्हारी हार होने में तेरी हानि है। हलधर ने इस बात की कुछ पर्वा न की और उसी हठ पर अड़ा रहा। तब स्वामी जी ने

पं० बृजकिशोर को आवाज दी कि बृजकिशोर ! महाभाष्य लाओ। दीपक भी पास मगालिया। महाभाष्य खोलकर इस सूत्र को सबके सामने सर्वत्र लगा दिया। जिस पर हलधर बिल्कुल मौन हो गया। पंडित लोग और बातें करने लगे। स्वामी जी ने कहा कि नहीं जिस बात पर हमारा शास्त्रार्थ हुआ है पहले उसका निर्णय कर दो कि किसकी हार हुई। तब सब चुप हो गये। ला० जगन्नाथप्रसाद जी ने कहा कि जो बात हो वह सच-सच कह दो तब सबने स्वीकार किया कि कल यही ठहरी थी कि "समर्थः पदविधिः"—यह सूत्र सर्वत्र लगता है या एक स्थान पर। जो बात कल हलधर ने कही थी वह अशुद्ध सिद्ध हुई। इतना सुनकर हलधर निश्चेष्ट सा हो गया और दुःख से गिरने लगा। उसके साथियों ने उसे संभाल लिया। उस रात को पहली रात से बहुत अधिक मनुष्य थे। अंततः हलधर को पराजित होने के पश्चात् लोग उठा ले गये। शेष पण्डित भी चले गये। केवल पण्डित पीताम्बरदास, उमादत्त, रामसहाय शास्त्री, मुन्नीलाल तथा ला० जगन्नाथप्रसाद जी बैठे रहे। रात एकादशी की थी। कुछ पुण्योपार्जन के विचार से और कुछ सत्योपदेश के लिये वहाँ रात भर जागते रहे। आज भी एक बजे तक शास्त्रार्थ होता रहा।

फिर उसी रात को स्वामी जी का पण्डित उमादत्त जी से मित्रतापूर्वक वार्तालाप हुआ। बीच में पण्डित रामसहाय जी बोलने लगे। स्वामी जी ने उन्हें कहा कि आप बूढ़े हैं, शास्त्रार्थ में अपमान हो जाता है, आप सुनते रहें जिस पर वह बुद्धिमानी से फिर मौन रहे। प्रातःकाल सब गंगास्नान करके अपने घर को चले गये और उनके चले जाने के पश्चात् बिना किसी को सूचना दिये स्वामी जी भी कानपुर की ओर चले गये। (लेखराम पृ० ५८३-५८६)

ईश्वरीय-ज्ञान

(मौलवी से कानपुर में प्रश्नोत्तर—सन् १८६९)

रायबहादुर दरगाही लाल वकील तथा आनरेरी मैजिस्ट्रेट कानपुर ने वर्णन किया कि जब स्वामी जी कानपुर में हमारे घाट पर ठहरे हुए थे, तो एक मौलवी आये। स्वामी जी ने उससे कुरान के विषय में कहा कि कुरान तुम्हारा ईश्वरीय वचन नहीं हो सकता इसलिये कि उसकी बिस्मिल्लाह अशुद्ध है। मौलवी ने अर्थ किये। स्वामी जी ने कहा कि यदि ईश्वर ने बनाया है तो फिर वह किस ईश्वर के नाम से आरम्भ करता है? इस पर वह मौन होकर चले गये। (लेखराम पृष्ठ १३५-१३६)

मूर्तिपूजा

(पं० हलधर ओझा शास्त्री से कानपुर में शास्त्रार्थ—३१ जौलाई, १८६६)

कानपुर नगर में भैरव घाट के नीचे फर्श पर शास्त्रार्थ हुआ था। मुख्य-न्यायाधीश और डब्लू थेन साहब बहादुर ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट कानपुर तथा नगर कोतवाल आदि सब सम्मानित व्यक्ति वहां उपस्थित थे। उपस्थिति २०-२५ हजार मनुष्यों की थी। दो बजे से मनुष्य एकत्रित होने आरम्भ हुए। साढ़े चार बजे से शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। शास्त्रार्थ का विषय "मूर्ति-पूजन" था। स्वामी जी के सम्मुख लक्ष्मण शास्त्री भद्दूर वाले और हलधर ओझा दोनों उपस्थित थे। शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ। मिस्टर थेन साहब बहादुर जो अच्छे संस्कृतज्ञ थे, मध्यस्थ नियत हुए। सूर्य्यास्त होने के पश्चात् शास्त्रार्थ समाप्त हुआ।

स्वामी जी नीचे भैरव घाट पर उतरे हुए थे। प्रथम सब लोगों ने यह चाहा कि वह घाट के ऊपर आकर शास्त्रार्थ करें और कोतवाल आदि अधिकारियों ने भी स्वामी जी से कहा कि आप ऊपर आ जायें। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मैंने किसी को नहीं बुलाया, जिसका जी चाहे वह यहां आ जाये और जिसका जी चाहे वह न आवे। इस पर सब नीचे चले आये।

स्वर्गीय बाबू श्यामाचरण बंगाली मुख्य प्रधान, पंडित काशीनारायण न्यायाधीश (जो इस समय बनारस में रहते हैं) तथा सुल्तान अहमद कोतवाल आदि सब सम्मानित व्यक्ति उपस्थित थे। अन्त में सबके सामने मिस्टर थेन साहब मध्यस्थ ने निर्णय दिया था कि स्वामी जी जीते हैं और उनकी विद्वत्ता की बहुत प्रशंसा की थी। पण्डित शिवसहाय जी ने वर्णन किया कि उस दिन मैं उपस्थित था। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। हलधर ओझा अपने साथ लक्ष्मण शास्त्री को भी लाया था। प्रथम प्रश्न हलधर ओझा ने यह किया कि आपने जो विज्ञापन दिया है जिसका विषय "अष्ट गप्प" और "अष्ट सत्य" है—उसमें व्याकरण की अशुद्धि है।

स्वामी जी—ये बातें पाठशाला के विद्यार्थियों की हैं। ऐसे शास्त्रार्थ सदा पाठशालाओं में हुआ करते हैं। आज वह विषय छेड़ो जिसके लिए हजारों मनुष्य एकत्रित हैं। व्याकरण के बारे में कल मेरे पास आना—मैं समझा दूंगा।

तब ओझा ने प्रश्न किया कि आप महाभारत को मानते हैं?

स्वामी जी ने कहा कि हम मानते है।

ओझा ने एक श्लोक भारत का पढा जिसका अभिप्राय यह था कि

एक भील ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर और सामने रखकर धनुष-विद्या सीखी।

स्वामी—मैं तो यह कहता हूँ कि कहीं प्रतिमापूजा की आज्ञा बतलाओ इसमें तो आज्ञा नहीं पाई जाती है प्रत्युत लिखा है कि एक भील ने ऐसा किया जैसा कि सदा अज्ञानी लोग आज तक किया करते हैं। वह कोई ऋषि, मुनि न था, न उसको किसी ने ऐसी शिक्षा दी थी और यदि यह बात कहो कि उसको ऐसा करने से धनुष-विद्या आगई तो उसका कारण द्रोणाचार्य की मूर्ति न थी, प्रत्युत अभ्यास का परिणाम था जैसा कि अंग्रेज लोग चाँदमारी के द्वारा सीखते हैं परन्तु वे कोई मूर्त्ति नहीं धरते। फिर उस पर ओझा जी चुप रहे और दूसरा यह प्रश्न किया—

ओझा जी—वेद में प्रतिमा की आज्ञा नहीं है तो निषेध कहाँ है?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि जैसे किसी स्वामी ने सेवक को आज्ञा दी कि तू पश्चिम को चला जा, इससे स्वयं ही तीन दिशाओं का निषेध हो गया। अब उसका यह पूछना कि उत्तर दक्षिण को न जाऊं व्यर्थ है। इसलिये जो वेद ने उचित समझा, कह दिया और नहीं लिखा वही निषेध है।

इसके पश्चात् थेन साहब को सन्देह हुआ कि ये स्वामी जी कुछ पढ़े हैं या केवल मुख से ही शास्त्रार्थ करते हैं। इसकी परीक्षा के लिये एक पत्रा जो हलधर लाये थे वह परीक्षार्थ स्वामी जी के सामने रख दिया। स्वामी जी ने पढ़कर सुना दिया। इस पर साहब बहादुर ने स्वामी जी से प्रश्न किया।

थेन साहब—आप किसको मानते हैं?

स्वामी जी—एक ईश्वर को।

तत्पश्चात् थेन साहब ने छड़ी और टोपी उठाई और कहा कि ठीक बात है, अच्छा प्रणाम। उनके उठते ही सब उठ खड़े हुए और कोलाहल मचाते हुए चले कि बोलो श्री गंगा जी की जय। यह सारा कार्य स्वर्गीय प्रागनारायण तिवारी का था और रुपया या आठ आने के पैसे भी ओझा जी के सिर से लुटाए और शोर मचाया कि ओझा जीते और स्वामी जी हारे और उनको गाड़ी में चढ़ाकर ले गये। (लेखराम पृष्ठ ५८६-५९६)

"कानपुर शास्त्रार्थ के विषय में मध्यस्थ मिस्टर थेन की सम्मति"

Gentlemen, At the time in question I dccided in favour of Daya Nand Saraswati Fakir, and I believe his arguments are in accordance with the Vedas I think he won thy day. If you wish tt I will give you my reasons for my decision in a few days.

Cawnpore

Yours obediently
(Sd.) W. Thaina

अनुवाद

सज्जनो, शास्त्रार्थ के समय मैं ने दयानन्द सरस्वती फकीर (साधु) के पक्ष में निर्णय दिया था और मैं विश्वास करता हूं कि उनकी युक्तियां वेदों के अनुकूल थीं। मेरा विचार है कि उस दिन उनकी विजय हुई। यदि आप चाहेंगे तो मैं अपने इस निर्णय के कारण कुछ दिनों में दे दूंगा।

कानपुर

(हस्ताक्षर) डब्ल्यू० थेन

नवीन वेदान्त

(साधु मायाराम परमहंस, बनारस वासी से प्रश्नोत्तर—सन् १८६६)

"ब्रह्म और जीव की एकता पर प्रश्न"

साधु मायाराम जी परमहंस उदासी ने वर्णन किया कि जब स्वामी जी का काशी में शास्त्रार्थ हुआ तब हम कलकत्ता में थे। हमने एक साधु के मुख से सुना था कि बनारस में दयानन्द के साथ विशुद्धानन्दादि ने बुद्धिपूर्वक शास्त्रार्थ नहीं किया प्रत्युत धूर्तता की जो बुरी बात है। एक बार हम एक ब्रह्मचारी के साथ आनन्दबाग में जहां दयानन्द जी उतरे हुए थे—विचरते हुए गये। हमारा विचार तो नहीं था परन्तु ब्रह्मचारी ले गया। उनके पास पहुँचकर ब्रह्मचारी ने प्रश्न किया कि शारीरक पर शंकर और रामानुजादि लोगों के भाष्य हैं—एक द्वैत और दूसरा अद्वैत बताता है—हम किस को मानें।

स्वामी दयानन्द ने कहा कि दोनों का ठीक नहीं, प्रत्युत भेद अभेद दोनों हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक है इसलिए अभेद है। ब्रह्म जीव नहीं इसलिए भेद है। हमने आक्षेप किया कि फिर शंकर मतवाले जो अभेद मानते हैं अर्थात् जीव-ब्रह्म की एकता, उनको क्या फल प्राप्त होगा?

उत्तर दिया कि उनका निश्चय मिथ्या है, मिथ्या फल होगा।

हम कोई और प्रश्न करना चाहते थे परन्तु ब्रह्मचारी ने चलने का निश्चय किया। स्वामी जी संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। (लेखराम पृ० १५३)

मूर्त्ति पूजा

काशी शास्त्रार्थ

कार्तिक सुदि १२ संवत् १९२६

काशी शास्त्रार्थ (वैदिक यन्त्रालय काशी में मुद्रित संवत् १९३७ के अनुसार)

भूमिका

मैं पाठकों को इस काशी के शास्त्रार्थ का (जो कि संवत् १९२६, मि० कार्तिक सुदि १२, मंगलवार के दिन "स्वामी दयानन्द सरस्वती जी" का काशीस्थ 'स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती' तथा 'बालशास्त्री' आदि पण्डितों के साथ हुआ था) तात्पर्य सहज में प्रकाशित होने के लिये विदित करता हूँ।

इस संवाद में स्वामी जी का पक्ष पाषाणमूर्तिपूजादिखण्डन-विषय और काशीवासी पण्डित लोगों का मण्डन का विषय था। उनको वेद-प्रमाण से मण्डन करना उचित था सो कुछ भी न कर सके। क्योंकि जो कोई भी पाषाणादि मूर्तिपूजादि में वैदिक प्रमाण होता तो क्यों न कहते और स्वपक्ष को वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किये विना वेदों को छोड़कर अन्य मनुस्मृति आदि ग्रन्थ वेदों के अनुकूल हैं वा नहीं, इस प्रकरणान्तर में क्यों जा गिरते? क्योंकि जो पूर्व प्रतिज्ञा को छोड़ के प्रकरणान्तर में जाना है वही पराजय का स्थान है। ऐसे हुए पश्चात् भी जिस-जिस ग्रन्थान्तर में से जो-जो पुराण आदि शब्दों से ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थों को सिद्ध करने लगे थे सो भी सिद्ध न कर सके। पश्चात् प्रतिमा शब्द से मूर्त्तिपूजा को सिद्ध करना चाहा था वह भी न हो सका। पुनः पुराण शब्द विशेष्य वा विशेषणवाची इस में स्वामी जी का पक्ष विशेषण-वाची और काशीस्थ पंडितों का पक्ष विशेष्यवाची सिद्ध करना था, इसमें बहुत इधर उधर के वचन बोले परन्तु सर्वत्र स्वामी जी ने विशेषणवाची, पुराण शब्द को सिद्ध कर दिया और काशीस्थ पण्डित लोग विशेष्यवाची सिद्ध नहीं कर सके। सो आप लोग देखिए कि शास्त्रार्थ की इन बातों से क्या ठीक-ठीक विदित होता है?

और भी देखने की बात है कि जब माधवाचार्य्य दो पत्रे निकाल के सबके सामने पटक के बोले थे कि यहां पुराण शब्द किस का विशेषण है उस पर स्वामी जी ने उसको विशेषणवाची सिद्ध कर दिया परन्तु काशी-निवासी पंडितों से

कुछ भी न बन पड़ा। एक बड़ी शोचनीय यह बात उन्होंने की जो किसी सभ्य मनुष्य के करने योग्य न थी कि ये लोग सभा में काशीराज महाराज और काशीस्थ विद्वानों के सम्मुख असभ्यता का वचन बोले। क्या स्वामी जी के कहने पर भी काशीराज आदि चुप होके बैठे रहें और बुरे वचन बोलने वालों को न रोकें? क्या स्वामी जी का पांच मिनिट दो पत्रों के देखने में लगाके प्रत्युत्तर देना विद्वानों की बात नहीं थी? और क्या सबसे बुरी बात यह नहीं थी कि सब सभा के बीच ताली शब्द लड़कों के सदृश किया और ऐसे महा असभ्यता के व्यवहार करने में कोई भी उनको रोकने वाला न हुआ? और क्या एकदम उठके चुप होके बगीचे से बाहर निकल जाना और क्या सभा में वा अन्यत्र झूठा हल्ला करना धार्मिक और विद्वानों के आचरण से विरुद्ध नहीं था?

यह तो हुआ सो हुआ परन्तु एक महा खोटा काम उन्होंने और किया जो सभा के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है कि एक पुस्तक स्वामी जी की झूठी निन्दा के लिए काशीराज के छापेखाने में छपाकर प्रसिद्ध किया और चाहा कि उनकी बदनामी करें और करावें परन्तु इतनी झूठी चेष्टा किये पर भी स्वामी जी उनके कर्मों पर ध्यान न देकर वा उपेक्षा करके पुनरपि उनको वेदोक्त उपदेश प्रीति से आज तक बराबर करते ही जाते हैं। और उक्त २६ के संवत् से लेके अब संवत् १९३७ तक छठी वार काशी जी में आके सदा विज्ञापन लगाते जाते हैं कि पुनरपि जो कुछ आप लोगों ने वैदिक प्रमाण वा कोई युक्ति पाषाणादि मूर्त्तिपूजा आदि के सिद्ध करने के लिये पाई हो तो सभ्यतापूर्वक सभा करके फिर भी कुछ कहो वा सुनो। इस पर भी कुछ नहीं करते। यह भी कितने निश्चय करने की बात है। परन्तु ठीक है कि जो कोई दृढ प्रमाण वा युक्ति काशीस्थ पंडित लोग पाते अथवा कहीं वेदशास्त्र में प्रमाण होता तो क्या सम्मुख होके अपने पक्ष को सिद्ध करने न लगते और स्वामी जी के सामने न होते?

इससे यही निश्चित सिद्धान्त जानना चाहिए कि जो इस विषय में स्वामी जी की बात है वही ठीक है। और देखो! स्वामी जी की यह बात संवत् १९२६ के विज्ञापन से भी कि जिसमें सभा के होने के अत्युत्तम नियम छपवा के प्रसिद्ध किये थे; सत्य ठहरती है।

उस पर पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य्य ने अनर्थयुक्त विज्ञापन छपवा के प्रसिद्ध किया था। उस पर स्वामी जी के अभिप्राय से युक्त दूसरा विज्ञापन उसके उत्तर में पंडित भीमसेन शर्मा ने छपवाकर कि जिसमें स्वामीविशुद्धानन्द-

सरस्वती जी और बालशास्त्री जो से शास्त्रार्थ होने की सूचना थी, प्रसिद्ध किया था, उस पर दोनों में से कोई एक भी शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त न हुआ। क्या अब भी किसी को शंका रह सकती है जो-जो स्वामी जी कहते हैं वह सत्य है वा नहीं ? किन्तु निश्चय करके जानना चाहिए कि स्वामी जी की सब बातें वेद और युक्ति के अनुकूल होने से सर्वथा सत्य ही हैं।

और जहां छान्दोग्य उपनिषद् आदि को स्वामी जी ने वेद नाम से कहा है वहां वहां उन पण्डितों के मत के अनुसार कहा है किन्तु ऐसा स्वामी जी का मत नहीं। स्वामी जी मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानते हैं क्योंकि जो मन्त्रसंहिता हैं वे ईश्वरोक्त होने से निर्भ्रान्त, सत्यार्थयुक्त हैं और ब्राह्मणग्रन्थ जीवोक्त अर्थात् ऋषि, मुनि आदि विद्वानों के कहे हैं वे भी प्रमाण तो हैं परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और विरुद्धार्थ होने से अप्रमाण हो भी सकते हैं। मंत्रसंहिता तो किसी के विरुद्धार्थ होने से अप्रमाण कभी नहीं हो सकती क्योंकि वे तो स्वतःप्रमाण हैं। (प्रबन्धकर्त्ता—वै० य० काशी)

अथ काशीस्थ शास्त्रार्थः

धर्माधर्मयोर्मध्ये शास्त्रार्थविचारो विदितो भवतु। एको दिगम्बरस्सत्य-शास्त्रार्थविद्दयानन्दसरस्वती स्वामी गंगातटे विहरति। स ऋग्वेदादिसत्य-शास्त्रेभ्यो निश्चयं कृत्वैवं वदति—"वेदेषु पाषाणादिमूर्तिपूजनविधानं शैवशाक्त-गाणपतवैष्णवादिसम्प्रदाया रुद्राक्षत्रिपुंड्रादिधारणं च नास्त्येव; तस्मादेतत् सर्वं मिथ्यैवास्ति; नाचरणीयं कदाचित्। कुतः ? एतत् वेदविरुद्धाप्रसिद्धाचरणे महत्पापं भवतीतीयं वेदादिषु मर्यादा लिखितास्ति।"

एवं हरद्वारमारभ्य गङ्गातटे अन्यत्रापि यत्र कुत्रचिद् दयानन्दसरस्वती स्वामी खण्डनं कुर्वन् सन् काशीमागत्य दुर्गाकुण्डसमीप आनन्दारामे यदा स्थितिं कृतवान् तदा काशीनगरे महान् कोलाहलो जातः। बहुभिः पण्डितैर्वेदादिपुस्तकानां मध्ये विचारः कृतः। परन्तु क्वापि पाषाणादिमूर्तिपूजनादिविधानं न लब्धम्।

प्रायेण बहूनां पाषाणपूजनादिष्वाग्रहो महानस्ति, अतः काशीराजमहाराजेन बहून् पण्डितानाहूय पृष्टं किं कर्त्तव्यमिति ? तदा सर्वैर्जनैर्निश्चयः कृतो येन केन प्रकारेण दयानन्दस्वामिना सह शास्त्रार्थं कृत्वा बहुकालात् प्रवृत्तस्याचारस्य स्थापनं यथा भवेत् तथा कर्त्तव्यमेवेति।

पुनः कार्त्तिकशुक्लद्वादश्यामेकोनविंशतिशतषड्विंशतितमे संवत्सरे (१९२६) मङ्गलवासरे महाराजः काशीनरेशो बहुभिः पण्डितैः सह शास्त्रार्थकरणार्थ-मानन्दारामं यत्र दयानन्दस्वामिना निवासः कृतः, तत्रागतः।

तदा दयानन्दस्वामिना महाराजं प्रत्युक्तम्—वेदानां पुस्तकान्यानीतानि न वा ?

तदा महाराजेनोक्तम्—वेदाः पण्डितानां कण्ठस्थाः सन्ति किं प्रयोजनं पुस्तकानामिति ?

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—पुस्तकैर्विना पूर्वापरप्रकरणस्य यथावद्-विचारस्तु न भवति ।

अस्तु तावत् पुस्तकानि नानीतानि ।

तदा पण्डितरघुनाथप्रसादकोटपालेन नियमः कृतो दयानन्दस्वामिना सहैकैकः पण्डितो वदतु न तु युगपदिति ।

तदादौ ताराचरणनैयायिको विचारार्थमुद्यतः । तं प्रति स्वामिदयानन्देनोक्तम्—युष्माकं वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमस्ति न वेति ?

तदा ताराचरणेनोक्तम्—सर्वेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदेषु प्रामाण्य-स्वीकारोऽस्तीति ।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—वेदे पाषाणादिमूर्तिपूजनस्य यत्र प्रमाणं भवेत्तद्दर्शनीयम् । नास्ति चेद्वद नास्तीति ।

तदा ताराचरणभट्टाचार्येणोक्तम्—वेदेषु प्रमाणमस्ति वा नास्ति परन्तु वेदानामेव प्रामाण्यं नान्येषामिति यो ब्रूयात्तं प्रति किं वदेत् ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अन्यो विचारस्तु पश्चाद् भविष्यति वेदविचार एव मुख्योऽस्ति तस्मात् स एवादौ कर्त्तव्यः । कुतो वेदोक्तकर्मैव मुख्यमस्त्यतः । मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेद-विरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति ।

तदा तारचरणभट्टाचार्य्येणोक्तम्—मनुस्मृतेः क्वास्ति वेदमूलमिति ।

स्वामिनोक्तम्—'यद् वै किंचन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः' इति सामवेदे :०: ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमित्यस्य व्यास-सूत्रस्य किं मूलमस्तीति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्य प्रकरणस्योपरि विचारो न कर्त्तव्य इति ।

पुनर्विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वदैव त्वं यदि जानासीति ।

:०: इद पण्डितानामेव मतमङ्गीकृत्योक्तमतो नेदं स्वामिनो मतमिति वेद्यम् ।

तदा दयानन्दस्वामिना प्रकरणान्तरे गमनम्भविष्यतीति मत्वा नेदमुक्तम्।

कदाचित् कण्ठस्थं यस्य न भवेत् स पुस्तकं दृष्ट्वा वदेदिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कण्ठस्थं नास्ति चेच्छास्त्रार्थं कर्तुं कथमुद्यतः काशीनगरे चेति।

तदा स्वामिनोक्तम्—भवतः सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति ?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—मम सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति।

तदा स्वामिनोक्तम्—धर्मस्य किं स्वरूपमिति ?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति।

तदा स्वामिनोक्तम्—इदन्तु तव संस्कृतं, नास्त्यस्य प्रामाण्यं, कण्ठस्थां श्रुतिं स्मृतिं वा वदेति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—"चोदनालक्षणार्थो धर्मः" इति जैमिनि-सूत्रमिति। ❀

तदा स्वामिनोक्तम्—चोदना का, चोदना नाम प्रेरणा तत्रापि श्रुतिर्वा स्मृतिर्वक्तव्या यत्र प्रेरणा भवेत्।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना किमपि नोक्तम्।

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्तु तावद्धर्मस्वरूपप्रतिपादिका श्रुतिर्वा स्मृतिस्तु नोक्ता किं च धर्मस्य कति लक्षणानि भवन्ति वदतु भवानिति ?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—एकमेव लक्षणं धर्मस्येति।

तदा स्वामिनोक्तम्—किं च तदिति ?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना किमपि नोक्तम्।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—धर्मस्य तु दश लक्षणानि सन्ति भवता कथमुक्तमेकमेवेति ?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कानि तानि लक्षणानीति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

इति मनुस्मृतेः श्लोकोऽस्ति :०:।

❀ इदन्तु सूत्रमस्ति, नेयं श्रुतिर्वा स्मृतिः, सर्वं मम कण्ठस्थमस्तीति प्रतिज्ञायेदानीं कण्ठस्थं नोच्यत इति प्रतिज्ञाहानेस्तस्य कुतो न पराजय इति वेद्यम्।

:०: अत्रापि तस्य प्रतिज्ञाहानेर्निग्रहस्थानं जातमिति बोध्यम्।

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—अहं सर्वं धर्म्मशास्त्रं पठितवानिति ।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—त्वमधर्म्मस्य लक्षणानि वदेति ।

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम् ।

तदा बहुभिर्युगपत् पृष्टम्—प्रतिमा शब्दो वेदे नास्ति किमिति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—प्रतिमाशब्दस्त्वस्तीति ।

तदा तैरुक्तम्—क्वास्तीति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—सामवेदस्य ब्राह्मणे चेति ।

तदा तैरुक्तम्—किं च तद्वचनमिति ।

तदा स्वामिनोक्तम्—देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसंतीत्यादीनि ।

तदा तैरुक्तम्—प्रतिमाशब्दस्तु वेदे* वर्त्तते भवान् कथं खण्डनं करोति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—प्रतिमाशब्देनैव पाषाणपूजनादेः प्रामाण्यं न भवति । प्रतिमाशब्दस्यार्थःक र्त्तव्य इति ।

तदा तैरुक्तम्—यस्मिन् प्रकरणेऽयं मंत्रोऽस्ति तस्य कोऽर्थ इति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अथातोद्भुतशांतिं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य त्रातारमिन्द्रमित्यादयस्तत्रैव सर्वे मूलमंत्रा लिखिताः । एतेषां मध्यात् प्रतिमन्त्रेण त्रित्रिसहस्राण्याहुतयः कार्यास्ततो व्याहृतिभिः पञ्च पञ्चाहुतयश्चेति लिखित्वा सामगानं च लिखितम् । अनेनैव कर्म्मणाद्भुतशांतिर्विहिता । यस्मिन्मंत्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मंत्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपि तु ब्रह्मलोकविषय एव तद्यथा—"स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेति" प्राच्या दिशोद्भुतदर्शनशांतिमुक्त्वा ततो दक्षिणस्याः पश्चिमाया दिशः शांतिं कथयित्वा उत्तरस्या दिशः शान्तिरुक्ता । ततो भूमेश्चेति मर्त्यलोकस्य प्रकरणं समाप्यान्तरिक्षस्य शान्तिरुक्ता । ततो दिवश्च शान्तिविधानमुक्तम् । ततः परस्य स्वर्गस्य च नाम ब्रह्मलोकस्यैवेति ।

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—यस्यां यस्यां दिशि या या देवता तस्यास्तस्या देवतायाः शान्तिकरणेन दृष्टिविघ्नोपशान्तिर्भवतीति ।

तदा स्वामिनोक्तम्—इदं तु सत्यं परन्तु विघ्नदर्शयिता कोऽस्तीति ?

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—इन्द्रियाणि दर्शयितॄणीति ।

तदा स्वामिनोक्तम्—इन्द्रियाणि तु द्रष्टॄणि भवन्ति न तु दर्शयितॄणि, परन्तु स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेत्यत्र स शब्दवाच्यः कोऽस्तीति ?

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम् ।

---

* अत्रापि तेषामवेदे ब्राह्मणग्रन्थे वेदबुद्धित्वाद् भ्रान्तिरेवास्तीति वेद्यम् ।

तदा शिवसहायेन प्रयागस्थेनोक्तम्—अन्तरिक्षादिगमनं शान्तिकरणस्य फलमनेनोच्यते चेति ।

तदा स्वामिनोक्तम्—भवता तत्प्रकरणं दृष्टं किम् ? दृष्टं चेत्तर्हि कस्यापि मन्त्रस्यार्थं वदेति ।

तदा शिवसहायेन मौनं कृतम् ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वेदाः कस्माज्जाता इति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—वेदा ईश्वराज्जाता इति ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कस्मादीश्वराज्जाताः ? किं न्यायशास्त्रोक्ताद्वा योगशास्त्रोक्ताद्वा वेदान्तशास्त्रोक्ताद्वेति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—ईश्वरा बहवो भवन्ति किमिति ?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—ईश्वरस्त्वेक एव परन्तु वेदा कीदृग्लक्षणादीश्वराज्जाता इति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—सच्चिदानन्दलक्षणादीश्वराद्वेदा जाता इति ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कोऽस्ति सम्बन्धः ? किं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो वा जन्यजनकभावो वा समवायसम्बन्धो वा स्वस्वामिभाव इति तादात्म्यभावो वेति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—कार्यकारणभावः सम्बन्धश्चेति ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेति यथा प्रतीकोपासनमुक्तं तथा शालिग्रामपूजनमपि ग्राह्यमिति ।

तदा स्वामिनोक्तम्—यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादिवचनं वेदेषु+ दृश्यन्ते तथा पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते । पुनः कथं ग्राह्यम्भवेदिति ?

तदा माधवाचार्येणोक्तम्—'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च' इति मन्त्रस्थेन पूर्त्तशब्देन कस्य ग्रहणमिति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—वापीकूपतडागारामाणामेव नान्यस्येति ।

तदा माधवाचार्य्येणोक्तम्—पाषाणादिमूर्त्तिपूजनमत्र कथं न गृह्यते चेति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—पूर्त्तशब्दस्तु पूर्त्तिवाची वर्त्तते तस्मान्न कदाचित्पाषाणादिमूर्त्तिपूजनग्रहणं सम्भवति । यदि शंकास्ति तर्हि निरुक्तमस्य मन्त्रस्य पश्य ब्राह्मणं चेति ।

+ इदमपि पण्डितमतानुसारेणोक्तम् । नेदं स्वामिनो मतमिति बोध्यम् ।

ततो माधवाचार्य्येणोक्तम्—पुराणशब्दो वेदेष्वस्ति न वेति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—पुराणशब्दस्तु बहुषु स्थलेषु वेदेषु दृश्यते परन्तु पुराण-शब्देन कदाचिद् ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थानां ग्रहणं न भवति। कुतः ? पुराणशब्दस्तु भूतकालवाच्यस्ति सर्वत्र द्रव्यविशेषणं चेति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—"एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानि" इत्यत्र बृहदारण्यकोपनिषदि पठितस्य सर्वस्य प्रामाण्यं वर्त्तते न वेति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्त्येव प्रामाण्यमिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—श्लोकस्यापि प्रामाण्यं चेत्तदा सर्वेषां प्रामाण्यमागतमिति।

तदा स्वामिनोक्तम्—सत्यानामेव श्लोकानां प्रामाण्यं नान्येषामिति।

यदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमिति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—पुस्तकमानय पश्चाद्विचारः कर्त्तव्य इति।

तदा माधवाचार्य्येण वेदस्य+द्वे पत्रे निस्सारिते। अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्त्वेति।

तदा स्वामिनोक्तम्—कीदृशमस्ति वचनं पठ्यतामिति।

तदा माधवाचार्य्येण पाठः कृतस्तत्रेदं वचनमस्ति "ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति"

तदा स्वामिनोक्तम्— पुराणानि ब्राह्मणानि नाम सनातनानीति विशेषणमिति।

तदा बालशास्त्र्यादिभिरुक्तम्—ब्राह्मणानि नवीनानि भवन्ति किमिति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—नवीनानि ब्राह्मणानीति कस्यचिच्छङ्कापि माभूदिति विशेषणार्थः।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्— इतिहासशब्दव्यवधानेन कथं विशेषणं भवेदिति ?

तदा स्वामिनोक्तम्— अयं नियमोऽस्ति किं व्यवधानाद्विशेषणयोगो न भवेत्सन्निधानादेव भवेदिति ?

'अजो नित्यश्शाश्वतोऽयम्पुराणो न' इति दूरस्थस्य देहिनो विशेषणानि

+ इदमपि तन्मतमनुसृत्योक्तं नेदं स्वामिनो मतमिति वेदितव्यमेते पत्रे तु गृह्यसूत्रस्याभवतामिति च।

गीतायां कथम्भवन्ति ? व्याकरणेऽपि नियमो नास्ति समीपस्थमेव विशेषणं भवेन्न दूरस्थमिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्— इतिहासस्यात्र पुराणशब्दो विशेषणं नास्ति तस्मादितिहासो नवीनो ग्राह्यः किमिति ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अन्यत्रास्तीतिहासस्य पुराणशब्दो विशेषणं तद्यथा— 'इतिहासः पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' इत्युक्तम्।

तदा वामनाचार्यादिभिरयं पाठ एव वेदे नास्तीत्युक्तम्।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्–यदि वेदेष्वयम्पाठो × न भवेच्चेन्मम पराजयो यद्ययम्पाठो वेदे यथावद् भवेत्तदा भवताम्पराजयश्चेयम्प्रतिज्ञा लेख्येत्युक्तन्तदा सर्वैर्मौनं कृतमिति।

तदा स्वामिनोक्तम्—इदानीं व्याकरणे कल्मसंज्ञा क्वापि लिखिता न वेति ?

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—एकस्मिन् सूत्रे संज्ञा तु न कृता परन्तु महाभाष्यकारेणोपहासः कृतः इति।

तदा स्वामिनोक्तम्—कस्य सूत्रस्य महाभाष्ये संज्ञा तु न कृतोपहासश्चेत्युदाहरणप्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं वदेति ?

बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तमन्येनापि चेति।

तदा माधवाचार्येण द्वे पत्रे वेदस्य + निस्सार्य्य सर्वेषां पण्डितानाम्मध्ये प्रक्षिप्ते। अत्र यज्ञसमाप्तौ सत्यां दशमे दिवसे पुराणानां पाठं शृणुयादिति लिखितमत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्तम्।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना दयानन्दस्वामिनो हस्ते पत्रे दत्ते।

तदा स्वामी पत्रे द्वे गृहीत्वा पञ्चक्षणमात्रं विचारं कृतवान्। तत्रेदं वचनं वर्तते—"दशमे दिवसे यज्ञान्ते पुराणविद्यावेदः, इत्यस्य श्रवणं यजमानः कुर्य्यादिति।"

अस्यायमर्थः—पुराणी चासौ विद्या च पुराणविद्या पुराणविद्यैव वेदः पुराणविद्यावेद इति नाम ब्रह्मविद्यैव ग्राह्या। कुतः ? एतदन्यत्रर्ग्वेदादीनां श्रवणमुक्तं न चोपनिषदाम्। तस्मादुपनिषदामेव ग्रहणं नान्येषाम्। पुराणविद्यावेदोऽपि ब्रह्मविद्यैव भवितुमर्हति नान्ये नवीना ब्रह्मवैवर्तादयो ग्रन्थाश्चेति। यदि

× इदमपि पण्डितानां मतं नैव स्वामिन इति वेद्यम्।

+ एते पत्रे तु गृह्यसूत्रस्य भवतामिति।

ह्येवं पाठो भवेद् ब्रह्मवैवर्तादयोऽष्टादश ग्रन्था: पुराणानि चेति, क्वाप्येवं वेदेषु :०: पाठो नास्त्येव तस्मात्कदाचित्तेषां ग्रहणं न भवदेवेत्यर्थकथनस्येच्छा कृता।

तदा विशुद्धानन्दस्वामी मम विलम्बो भवतीदानीं गच्छामीत्युक्त्वा गमनायोत्थितोऽभूत्। ततः सर्वे पण्डिता उत्थाय कोलाहलं कृत्वा गताः। एवं च तेषां कोलाहलमात्रेण सर्वेषां निश्चयो भविष्यति दयानन्दस्वामिनः पराजयो जात इति।

अथात्र बुद्धिमद्भिर्विचारः कर्त्तव्यः कस्य जयो जातः कस्य पराजयश्चेति।

दयानन्दस्वामिनश्चत्वारः पूर्वोक्ताः पूर्वपक्षास्सन्ति। तेषां चतुर्णां प्रामाण्यं नैव वेदेषु निःसृतं पुनस्तस्य पराजयः कथं भवेत्? पाषाणादिमूर्तिपूजनरचनादि-विधायकं वेदवाक्यं सभायामेतैः सर्वैर्नोक्तम्।

येषां वेदविरुद्धेषु च पाषाणादिमूर्तिपूजनादिषु शैवशाक्तवैष्णवादिसंप्रदाया-दिषु रुद्राक्षतुलसीकाष्ठमालाधारणादिषु त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरचनादिषु नवीनेषु ब्रह्मवैवर्तादिग्रन्थेषु च महानाग्रहोऽस्ति तेषामेव पराजयो जात इति तथ्यमेवेति॥

भाषार्थ

एक दयानन्द सरस्वती नामक संन्यासी दिगम्बर गंगा के तीर विचरते रहते हैं जो सत्पुरुष और सत्यशास्त्रों के वेत्ता हैं, उन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदादि का विचार किया है। सो ऐसा सत्यशास्त्रों को देख निश्चय करके कहते हैं कि "पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, शैव, शाक्त, गाणपत और वैष्णव आदि संप्रदायों और रुद्राक्ष, तुलसी माला, त्रिपुण्ड्रादि धारण का विधान कहीं भी वेदों में नहीं है। इससे ये सब मिथ्या ही हैं। कदापि इनका आचरण न करना चाहिये। क्योंकि वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध के आचरण से बड़ा पाप होता है ऐसी मर्यादा वेदों में लिखी है।"

इस हेतु से उक्त स्वामी जी हरिद्वार से लेकर सर्वत्र इसका खण्डन करते हुए काशी में आके दुर्गाकुण्ड के समीप आनन्दबाग में स्थित हुए। उनके आने की धूम मची। बहुत से पण्डितों ने वेदों के पुस्तकों में विचार करना आरम्भ किया। परन्तु पाषाणादि मूर्तिपूजा का विधान कहीं भी किसी को न मिला।

बहुधा करके इसके पूजन में आग्रह बहुतों को है। इससे काशीराज महाराज ने बहुत से पण्डितों को बुलाकर पूछा कि इस विषय में क्या करना चाहिये? तब सब ने ऐसा निश्चय करके कहा कि किसी प्रकार से दयानन्द

:०: इदमपि तन्मतमेवास्ति न स्वामिन इति।

सरस्वती स्वामी के साथ शास्त्रार्थ करके बहुकाल से प्रवृत्त आचार को जैसे स्थापना हो सके करना चाहिए।

निदान कार्तिक सुदि १२, सं० १९२६, मंगलवार को महाराज काशी-नरेश बहुत से पण्डितों को साथ लेकर जब स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने के हेतु आए तब दयानन्द स्वामी जी ने महाराज से पूछा कि आप वेदों की पुस्तक ले आए हैं वा नहीं ?

महाराज ने कहा कि वेद सम्पूर्ण पंडितों को कंठस्थ हैं। पुस्तकों का क्या प्रयोजन है ?

तब दयानन्द सरस्वती जी ने कहा कि पुस्तकों के विना पूर्वापर प्रकरण का विचार ठीक-ठीक नहीं हो सकता। भला पुस्तक नहीं लाए तो नहीं सही परन्तु किस विषय पर विचार होगा ?

पंडितों ने कहा कि तुम मूर्त्तिपूजा का खंडन करते हो। हम लोग उसका मंडन करेंगे।

पुनः स्वामी जी ने कहा कि जो कोई आप लोगों में मुख्य हो वही एक पंडित मुझ से संवाद करे।

पंडित रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने यह नियम किया कि स्वामी जी से एक-एक पंडित विचार करे।

पुनः सब से पहले ताराचरण नैयायिक स्वामी जी से विचार हेतु सम्मुख प्रवृत्त हुए।

स्वामी जी ने उन से पूछा कि आप वेदों का प्रमाण मानते हैं वा नहीं ?

उन्होंने उत्तर दिया कि जो वर्णाश्रम में स्थित हैं उन सबको वेदों का प्रमाण ही है।*

इस पर स्वामी जी ने कहा कि कहीं वेदों में पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजन का प्रमाण है वा नहीं ? यदि हो तो दिखाइए और जो नहीं तो कहिये कि नहीं है।

पंडित ताराचरण ने कहा कि वेदों में प्रमाण है वा नहीं परन्तु जो एक वेदों ही का प्रमाण मानता है औरों का नहीं उसके प्रति क्या कहना चाहिए ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि औरों का विचार पीछे होगा। वेदों का विचार मुख्य है। इस निमित्त से इस का विचार पहले ही करना चाहिए। क्योंकि

* इससे यह समझना कि स्वामी जी भी वर्णाश्रमस्थ हैं वेदों को मानते हैं।

वेदोक्त ही कर्म्म मुख्य है। और मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं इस से इनका भी प्रमाण है। क्योंकि जो-जो वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध हैं उनका प्रमाण नहीं होता।

पंडित ताराचरण ने कहा कि मनुस्मृति का वेदों में कहां मूल है ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि 'जो जो मनु जी ने कहा है सो-सो औषधों का भी औषध है' ऐसा सामवद के ब्राह्मण में कहा है।:०:

विशुद्धादन्द स्वामी जी ने कहा कि 'रचना की अनुपपत्ति होने से अनुमानप्रतिपाद्य प्रधान, जगत् का कारण नहीं' व्यास जी के इस सूत्र का वेदों में क्या मूल है ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह प्रकरण से भिन्न बात है। इस पर विचार करना न चाहिए।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि यदि तुम जानते हो तो अवश्य कहो।

इस पर स्वामी जी ने यह समझकर कि प्रकरणान्तर में वार्त्ता जा रहेगी; कहा जो कदाचित् किसी को कंठ न हो तो पुस्तक देखकर कहा जा सकता है।

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो कंठस्थ नहीं है तो काशी नगर में शास्त्रार्थ करने को क्यों उद्यत हुए ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि आप को सब कण्ठाग्र है ?

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि हां हमको कंठस्थ है।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि कहिये धर्म्म का क्या स्वरूप है ?

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो वेदप्रतिपाद्य फलसहित अर्थ है वही धर्म कहलाता है।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह आप का संस्कृत है। इसका क्या प्रमाण है, श्रुति वा स्मृति कहिये।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो चोदनालक्षण अर्थ है सो धर्म कहलाता है। यह जैमिनि का सूत्र है।

स्वामी जी ने कहा कि यह सूत्र है। यहां श्रुति वा स्मृति को कंठ से क्यों

:०: यह कहना उन पण्डितों के मत के अनुसार ठीक है परन्तु स्वामी जी तो ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते किन्तु मन्त्रभाग ही को वेद मानते हैं।

नहीं कहते ? और चोदना नाम प्रेरणा का है वहां भी श्रुति वा स्मृति कहना चाहिए जहाँ प्रेरणा होती है ।

जब इसमें विशुद्धानन्द स्वामी ने कुछ भी न कहा तब स्वामी जी ने कहा कि अच्छा आपने धर्म का स्वरूप तो न कहा परन्तु धर्म के कितने लक्षण हैं कहिये ?

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि धर्म का एक ही लक्षण है ।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि वह कैसा है ?

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कुछ भी न कहा ।

तब स्वामी जी ने कहा धर्म्म के तो दश लक्षण हैं। आप एक ही क्यों कहते हैं !

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि वे कौन लक्षण हैं ?

इस पर स्वामी जी ने मनुस्मृति का वचन कहा कि—धैर्य्य १, क्षमा २, दम ३, चोरी का त्याग ४, शौच ५, इन्द्रियों का निग्रह ६, बुद्धि ७, विद्या का बढ़ाना ८, सत्य ९, और अक्रोध अर्थात् क्रोध का त्याग १० । ये दश धर्म के लक्षण हैं। फिर आप कैसे एक लक्षण कहते हैं ?

तब बालशास्त्री ने कहा कि हाँ हमने सब धर्मशास्त्र देखा है ।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि आप अधर्म का लक्षण कहिये ?

तब बालशास्त्री जी ने कुछ भी उत्तर न दिया ।

फिर बहुत से पण्डितों ने इकट्ठे हल्ला करके पूछा कि वेद में प्रतिमा शब्द है वा नहीं ?

इस पर स्वामी जी ने प्रतिमा शब्द तो है ।

फिर उन लोगों ने कहा कि कहाँ पर है ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि सामवेद के ब्राह्मण में है ।

फिर उन लोगों ने कहा कि वह कौन सा वचन है ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह है—"देवता के स्थान कम्पायमान होते और प्रतिमा हँसती है इत्यादि :०: ।"

फिर उन लोगों ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में भी है फिर आप कैसे खंडन करते हैं ?

:०: यह वेदवचन नहीं किन्तु सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण का है परन्तु वहाँ भी यह प्रक्षिप्त है क्योंकि वेदों से विरुद्ध है ।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि प्रतिमा शब्द से पाषाणादि मूर्त्तिपूजनादि का प्रमाण नहीं हो सकता है। इसलिए प्रतिमा शब्द का अर्थ करना चाहिए इसका क्या अर्थ है ?

तब उन लोगों ने कहा कि जिस प्रकरण में यह मन्त्र है उस प्रकरण का क्या अर्थ है ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह अर्थ है—अब अद्भुत शान्ति की व्याख्या करते हैं ऐसा प्रारम्भ करके फिर रक्षा करने के लिए, इन्द्र [त्रातारमिन्द्र] इत्यादि सब मूलमन्त्र वहीं सामवेद के ब्राह्मण में लिखे हैं। इनमें से प्रति मन्त्र करके तीन हजार आहुति करनी चाहिए । इस के अनन्तर व्याहृति करके पांच-पांच आहुति करनी चाहियें। ऐसा लिख के सामगान भी करना लिखा है। इस क्रम करके अद्भुत शान्ति का विधान किया है। जिस मन्त्र में प्रतिमा शब्द है सो मन्त्र मृत्युलोक विषयक नहीं किन्तु ब्रह्मलोक विषयक है। सो ऐसा है कि 'जब विघ्नकर्त्ता देवता पूर्वदिशा में वर्त्तमान होवे' इत्यादि मन्त्रों से अद्भुतदर्शन की शान्ति कहकर फिर दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा और उत्तर दिशा, इसके अनन्तर भूमि की शान्ति कहकर मृत्युलोक का प्रकरण समाप्त कर अन्तरिक्ष की शान्ति कहके, इसके अनन्तर स्वर्गलोक फिर परमस्वर्ग अर्थात् ब्रह्मलोक की शान्ति कही है। इस पर सब चुप रहे।

फिर बालशास्त्री ने कहा कि जिस-जिस दिशा में जो-जो देवता है उस-उस की शान्ति करने से अद्भुत देखने वालों के विघ्न की शान्ति होती है।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह तो सत्य है परन्तु इस प्रकार में विघ्न दिखाने वाला कौन है ?

तब बालशास्त्री ने कहा कि इन्द्रियां दिखाने वाली हैं।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि इन्द्रियां तो देखने वाली हैं दिखाने वाली नहीं। परन्तु 'स प्राची दिशमन्वावर्त्ततेऽथेत्यत्र' इत्यादि मन्त्रों में 'स' शब्द का वाच्यार्थ क्या है ? तब बालशास्त्री ने कुछ न कहा।

फिर पण्डित शिवसहाय जी ने कहा कि अन्तरिक्ष आदि गमन, शान्ति करने से फल इस मन्त्र करके कहा जाता है।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि आपने वह प्रकरण देखा है तो किसी मन्त्र का अर्थ तो कहिये ?

तब शिवसहाय जी चुप हो रहे।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि वेद किससे उत्पन्न हुए हैं ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा किस ईश्वर से? क्या न्यायशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से वा योगशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से? अथवा वेदान्तशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से? इत्यादि।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि क्या ईश्वर बहुत से हैं?

तब विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि ईश्वर तो एक ही है परन्तु वेद कौन से लक्षण वाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि सच्चिदानन्द लक्षण वाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि ईश्वर और वेदों से क्या सम्बन्ध है? क्या प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव वा जन्यजनकभाव अथवा समवायसम्बन्ध वा स्वस्वामिभाव अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है? इत्यादि।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि कार्य्यकारणभाव सम्बन्ध है।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि जैसे मन में ब्रह्मबुद्धि और सूर्य्य में ब्रह्मबुद्धि करके प्रतीक उपासना कही है वैसे ही शालिग्राम के पूजन का ग्रहण करना चाहिए।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि जैसे "मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन वेदों :०: में देखने में आते हैं वैसे "पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन वेदादि में नहीं देख पड़ता फिर क्योंकर इस का ग्रहण हो सकता है?

तब माधवाचार्य्य ने कहा कि "उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते स ए सृजेथामयञ्च" इति। इस मन्त्र में पूर्त्त शब्द से किसका ग्रहण है?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि वापी, कूप, तड़ाग और आराम का ग्रहण है?

माधवाचार्य्य ने कहा कि इससे पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का ग्रहण क्यों नहीं होता है?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि पूर्त्त शब्द पूर्त्ति का वाचक है। इससे कदा-

:०: यह भी उन्हीं पण्डितों का मत है स्वामी जी का नहीं, क्योंकि स्वामी जी तो ब्राह्मण पुस्तकों को ईश्वरकृत नहीं मानते।

चित् पाषाणादि मूर्तिपूजन का ग्रहण नहीं हो सकता यदि शंका हो तो इस मन्त्र का निरुक्त ब्राह्मण देखिए ।

तब माधवाचार्य्य ने कहा कि पुराण शब्द वेदों में है वा नहीं ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि पुराण शब्द तो बहुत सी जगह वेदों में है परन्तु पुराण से ब्रह्मवैवर्त्तादिक ग्रन्थों का कदाचित् ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि पुराणशब्द भूतकालवाची है और सर्वत्र द्रव्य का विशेषण ही होता है ।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि बृहदारण्यक उपनिषद् के इस मन्त्र में कि "एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानीति" यह सब जो पठित है इसका प्रमाण है वा नहीं ?

इस पर स्मामी जी ने कहा—हां प्रमाण है ।

फिर विशुद्धानन्द जी ने कहा कि यदि श्लोक का भी प्रमाण है तो सबका प्रमाण आया ।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि सत्य श्लोकों ही का प्रमाण होता है औरों का नहीं ।

तब विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि पुस्तक लाइए तब इसका विचार हो ।

माधवाचार्य ने वेदों के दो पत्रे :०: निकाले और कहा कि यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है ?

स्वामी जी ने कहा कि कैसा वचन है पढ़िये ।

तब माधवाचार्य्य ने यह पढ़ा 'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानीति' ।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यहां पुराण शब्द ब्राह्मण का विशेषण है अर्थात् पुराने नाम सनातन ब्राह्मण हैं ।

तब बालशास्त्री जी आदि ने कहा कि ब्राह्मण कोई नवीन भी होते हैं ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि नवीन ब्राह्मण नहीं हैं परन्तु ऐसी शंका भी किसी को न हो इसलिये यहां यह विशेषण कहा है ।

:०: यह भी उन्हीं का मत है स्वामी जी का नहीं, क्योंकि ये गृह्यसूत्र के पत्रे थे ।

तब विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि यहाँ इतिहास शब्द के व्यवधान होने से कैसे विशेषण होगा ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि क्या ऐसा नियम है कि व्यवधान से विशेषण नहीं होता और अव्यवधान ही में होता है क्योंकि 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इस श्लोक में दूरस्थ देही का भी क्या विशेषण नहीं है ? और कहीं व्याकरणादि में भी यह नियम नहीं किया है कि समीपस्थ ही विशेषण होते हैं दूरस्थ नहीं।

तब विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि यहां इतिहास का तो पुराण शब्द विशेषण नहीं है। इससे क्या इतिहास नवीन ग्रहण करना चाहिए ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि और जगह पर इतिहास का विशेषण पुराण शब्द है—सुनिये "इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः" इत्यादि में कहा है।

तब वामनाचार्य आदिकों ने कहा कि वेदों में यह पाठ ही कहीं भी नहीं है। इस पर स्वामी जी ने कहा कि यदि वेद :०: में यह पाठ न होवे तो हमारा पराजय हो और जो हो तो तुम्हारा पराजय हो यह प्रतिज्ञा लिखो। तब सब चुप हो रहे।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि व्याकरण जानने वाले इस पर कहें कि व्याकरण में कहीं कल्मसंज्ञा करी है वा नहीं ?

तब बालशास्त्री जी ने कहा कि संज्ञा तो नहीं की है परन्तु एक सूत्र में भाष्यकार ने उपहास किया है।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि किस सूत्र से महाभाष्य में संज्ञा तो नहीं की और उपहास किया है। यदि जानते हो तो इसके उदाहरण पूर्वक समाधान कहो ?

तब बालशास्त्री और औरों ने कुछ भी न कहा। माधवाचार्य ने दो पत्रे वेदों के+ निकालकर सब पण्डितों के बीच में रख दिये और कहा कि यहां 'यज्ञ के समाप्त होने पर यजमान दशवें दिन पुराणों का पाठ सुने' ऐसा लिखा है। यहां पुराण शब्द किस का विशेषण है ?

स्वामी जी ने कहा कि पढ़ो इसमें किस प्रकार का पाठ है ? जब किसी ने

:०: यह उन्हीं पण्डितों के मतानुसार कहा है किन्तु स्वामी जी तो छान्दोग्य उपनिषद् को वेद नहीं मानते।

+ ये पत्रे गृह्यसूत्र के पाठ के थे वेदों के नहीं।

पाठ न किया तब विशुद्धानन्द जी ने पत्रे उठा के स्वामी जी की ओर करके कहा कि तुम ही पढ़ो।

स्वामी जी ने कहा कि आप ही इसका पाठ कीजिए।

तब विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि मैं ऐनक के विना पाठ नहीं कर सकता ऐसा कहके वे पत्रे उठाकर विशुद्धानन्द स्वामी जी ने दयानन्द स्वामी जी के हाथ में दिये।

इस पर स्वामी जी दोनों पत्रे लेकर विचार करने लगे। इसमें अनुमान है कि ५ पल व्यतीत हुए होंगे कि ज्यों ही स्वामी जी यह उत्तर कहा चाहते थे कि—

"पुरानी जो विद्या है उसे पुराणविद्या कहते हैं और जो पुराणविद्या वेद है वही पुराणविद्या वेद कहाता है। इत्यादि से यहाँ ब्रह्मविद्या ही का ग्रहण है क्योंकि पूर्व प्रकरण में ऋग्वेदादि चारों वेद आदि का तो श्रवण कहा है, परन्तु उपनिषदों का नहीं कहा। इसलिए यहाँ उपनिषदों का ही ग्रहण है, औरों का नहीं। पुरानी विद्या वेदों ही की ब्रह्मविद्या है। इससे ब्रह्मवैवर्त्तादि नवीन ग्रन्थों का ग्रहण कभी नहीं कर सकते क्योंकि जो यहाँ ऐसा पाठ होता कि ब्रह्मवैवर्त्तादि १८ (अठारह) ग्रन्थ पुराण हैं सो तो वेद में * कहीं ऐसा पाठ नहीं है। इसलिये कदाचित् अठारहों का ग्रहण नहीं हो सकता।" कि विशुद्धानन्द स्वामी उठ खड़े हुए और कहा कि हमको विलम्ब होता है हम जाते हैं।

तब सबके सब उठ खड़े हुए और कोलाहल करते हुए चले गये। इस अभिप्राय से कि लोगों पर विदित हो कि दयानन्द स्वामी का पराजय :o: हुआ। परन्तु जो दयानन्द स्वामी जी के ४ पूर्वोक्त प्रश्न हैं उनका वेद में तो प्रमाण ही न निकला फिर क्योंकर उनका पराजय हुआ ? ॥ इति ॥

(लेखराम पृ० ५७०, दिग्विजयार्क पृ० १५)

---

* यह पण्डितों के मतानुसार कहा है, यह स्वामी जी का मत नहीं है।

:o: क्या किसी का भी इस शास्त्रार्थ से ऐसा निश्चय हो सकता है कि स्वामी जी का पराजय और काशीस्थ पण्डितों का विजय हुआ ? किन्तु इस शास्त्रार्थ से यह तो ठीक निश्चय होता है कि स्वामी-दयानन्द सरस्वती जी का विजय हुआ और काशीस्थों का नहीं। क्योंकि स्वामी जी का तो वेदोक्त सत्य-मत है उसका विजय क्योंकर न होवे ? काशीस्थ पण्डितों का पुराण और तन्त्रोक्त जो पाषाणादि मूर्त्तिपूजादि है उनका पराजय होना कौन रोक सकता है ? यह निश्चय है कि असत्य पक्ष वालों का पराजय और सत्य वालों का सर्वदा विजय होता है ॥

धर्म और मूर्त्तिपूजा

(मिर्जापुर के रामरतन लड्ढा से शास्त्रार्थ—माघ, सं० १९२६ वि०)

इतने में रामरतन लड्ढा ने कहा कि महाराज यह हमारे मिर्जापुर के पंडित हैं, आप इनके सामने कुछ कहें। स्वामी जी ने उससे पूछा कि तुम किस मन्दिर के शिष्य हो? उसने कहा कि हम नाथ जी के शिष्य हैं। स्वामी जी ने कहा कि तुम्हारा आचार्य वेश्या-पुत्र और तुम उसके शिष्य हुए, यह तुमको अनधिकार है। स्वामी जी ने हम से पूछा कि इनको अधिकार है या नहीं? हमने कहा कि अधिकार नहीं। फिर स्वामी जी ने हमसे पूछा धर्म क्या है और उसका स्वरूप क्या है? हमने कहा कि आपके इस कथन में दोष है। बोले इसमें क्या दोष है? हमने कहा धर्म का रूप नहीं है, उसका स्वरूप पूछना अनुचित है। तब स्वामी जी ने मनुस्मृति और महाभारत से धर्म का स्वरूप बतलाना आरम्भ किया। हमने कहा कि जो वेद का प्रतिपादित है वही धर्म है।

तथाकथित प्रतिष्ठा आदि के मंत्रों में प्रतिष्ठा न निकली न आवाहन। तब स्वामी जी ने पूछा कि वेद में प्रतिमापूजन है या नहीं? हमने उत्तर दिया कि है। उस पर स्वामी जी ने कहा कि कहाँ? हमने कहा कि प्रतिष्ठा और आवाहन वेदमंत्रों से होता है क्या वह प्रमाण नहीं। तब स्वामी जी ने कहा कि वह प्रतिष्ठा और आवाहन वेदमंत्र कहो। तब हमने मन्त्र कहा। स्वामी जी ने कहा कि इसका अर्थ कहो। जब अर्थ किया तो उनमें प्रतिष्ठा और आवाहन का कुछ प्रयोजन न आया। फिर हमने पूजन और पुष्प चढ़ाने और धूप दीप नैवेद्य आदि के मन्त्र उनके आगे पढ़े। उनका अर्थ भी स्वामी जी ने सुनाया कि इनका अर्थ तो यह है; फिर तुम उनसे कैसे नैवेद्य आदि चढ़ाते हो। और नवग्रह पूजा के जो मन्त्र हैं उनका भी अर्थ देखिये। उनका अर्थ भी करके सुनाया। उससे भी सूर्य और बृहस्पति के अतिरिक्त किसी ग्रह का सम्बन्ध न निकला।

(लेखराम पृष्ठ १९५)

गीता के श्लोक का अर्थ

(एक सज्जन से मिरजापुर में प्रश्नोत्तर—अप्रैल, १८७०)

एक दिन एक सज्जन जो गीता का बड़ा प्रेमी था, स्वामी जी के पास आकर बोला कि महाराज मैंने गीता की अनेक टीकाएँ देखी हैं परन्तु इस श्लोकार्ध का अर्थ समझ में नहीं आया। आप अनुग्रह करके इसका अर्थ मुझे समझा दें।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

स्वामी जी ने इसका अर्थ किया कि "धर्म्मान्" शब्द को यहाँ "अधर्म्मान्" समझना चाहिये। "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" व्याकरण के नियम के अनुसार "सर्वं" में जो वकार में अकार है वह "अधर्म्मान्" के अकार में तद्रूप हो गया, अर्थात् वह वकार का अकार उसमें मिल गया, इस प्रकार यद्यपि "अधर्म्मान्" शब्द ने "धर्म्मान्" का रूप ग्रहण कर लिया, परन्तु वास्तव में "अधर्म्मान्" ही रहा। यह अर्थ सुनकर वह मनुष्य बहुत प्रसन्न हुआ और स्वामी जी से उसने इस अर्थ की पुष्टि में प्रमाण मांगा तो उन्होंने वेद के दो तीन मन्त्रों का प्रमाण देकर उसका संतोष कर दिया।

(देवेन्द्रनाथ १ । १६१, लेखराम १६८)

मूर्त्तिपूजा

(पं० रुद्रदत्त और पं० चन्द्रदत्त पौराणिक से आरा में शास्त्रार्थ—अगस्त, १८७२)

पं० रुद्रदत्त और पं० चन्द्रदत्त पौराणिक से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ था। पं० रुद्रदत्त ने मूर्तिपूजा के पक्ष में पुराणों के प्रमाण प्रस्तुत किये। स्वामी जी ने उन्हें यह कहकर आग्रह किया कि हम वेद, पाणिनि और मनुस्मृति (प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर) के सिवाय अन्य ग्रन्थों का प्रमाण नहीं मानते।

तत्पश्चात् यह प्रसंग उठा कि पुराण किसने बनाये। स्वामी जी ने कहा कि वञ्चक लोगों के रचे हुए हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध में प्रायः सारे ही राजा मर गये थे, राजगृह की स्त्रियाँ उत्पथगामिनी हो गईं, ब्राह्मण असहाय हो गये, अनेक प्रकार के वञ्चक लोग उत्पन्न हो गये, उन्होंने पुराणादि की रचना कर डाली, उन्होंने यह भी कहा कि महाभारत का युद्ध भारतवर्ष की अनेक प्रकार की अवनतियों का मूल हुआ है। तन्त्र-ग्रन्थों के विषय में स्वामी जी ने अनेक बातें कहीं। जिन्हें सुनकर पं० रुद्रदत्त चिढ़ गये और चटक कर बोले कि ऐसी बातें अश्राव्य हैं इस स्थान से चले जाना ही उचित है। स्वामी जी ने कहा कि आप तो कुछ विचार करते नहीं, इसी से किसी परिणाम पर नहीं पहुँचते। वेदान्त का प्रसंग उठने पर स्वामी जी ने प्रमाण-चैतन्य, प्रमेय-चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य के विषय में प्रश्न किये जिनके उत्तर यथामति पं० रुद्रदत्त ने दिये।

स्वामी जी दीप्त प्रभाकर के समान थे। उनके गम्भीर विचार और अतिमानुषिक प्रतिभा के सामने पं० रुद्रदत्त प्रभृति कितनी देर ठहर सकते थे।

वह अपना श्रेय सभा-स्थल से शीघ्रादपि शीघ्र चले जाने में ही समझते थे। वह केवल वहां से चले जाने का बहाना ढूंढते थे। अतः जब स्वामी जी ने तन्त्र ग्रन्थों की तीव्र आलोचना की तो उन्होंने यह प्रकट किया कि उक्त आलोचना असह्य है और सभास्थल से उठकर चले गये। (देवेन्द्रनाथ १। २१२)

जातिपांति और ईश्वर-विषयक

(पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती कलकत्ता निवासी की शंकाओं का समाधान)

सन् १८७३ का प्रारम्भ

श्री चक्रवर्ती के प्रश्न तथा उनके उत्तर का विवरण

प्रश्न—जातिभेद है या नहीं?

उत्तर—मनुष्य एक जाति, पशु एक जाति, पक्षी एक जाति, जातिभेद इसी प्रकार है।

उनके इस उत्तर को सुनकर हम मौन हो गये तब स्वामी जी ने कहा कि तुम्हारा प्रश्न कदाचित् यह है कि वर्णभेद है या नहीं? हमने कहा यही हमारा अभिप्राय है। स्वामी जी ने कहा—निस्सन्देह वर्णभेद है। जो वेदज्ञ और पंडित है, वह ब्राह्मण; जो उससे न्यून और ज्ञानवान् हैं वे क्षत्रिय; जो व्यापार करते हैं वे वैश्य और जो मूर्ख हैं वे शूद्र हैं। और जो महामूर्ख वह अतिशूद्र हैं। तब हम बहुत प्रसन्न हुए और इसी से स्वामी जी पर हमारी भक्ति आई।

दूसरा प्रश्न—हमारा यह था कि ईश्वर मूर्तिवाला साकार है या निराकार?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वर्त्तमान संस्कृत पुस्तकों में तो बहुत से ईश्वर बताये हैं। तुम कौन-सा ईश्वर चाहते हो, सच्चिदानन्द आदि लक्षणवाला चाहते हो तो वह ईश्वर एक है और निराकार है।

हमने पूछा कि वह जो संसार का स्वामी है उसका आकार है या नहीं? स्वामी जी ने उत्तर दिया उसका आकार नहीं है। वह तो सच्चिदानन्द है, यही उसका लक्षण है।

चौथा प्रश्न—हमने चौथा प्रश्न पूछा कि उसके मिलने का क्या उपाय है? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि बहुत दिन तक योग करने रूपी कर्म से ईश्वर की उपलब्धि होती है।

हमने पूछा—वह योग किस प्रकार का है? उस पर स्वामी जी ने अष्टांग

योग की बातें हमको लिख दीं। वह कागज हमारे पास है और मौखिक इस प्रकार समझाया कि जब रात तीन घड़ी शेष रह जाये उस समय उठकर मुंह हाथ धो पद्मासन लगाये। जहां तुम्हारी इच्छा हो बैठे, परन्तु स्थान निर्जन हो। गायत्री का अर्थ सहित ध्यान करो और वह अर्थ भी लिख दिया जो अबतक मेरे पास विद्यमान है। (लेखराम पृष्ठ २१५-२१६)

मूर्ति पूजा

हुगली-शास्त्रार्थ

(चैत्र शुक्ला एकादशी, संवत् १९३०, ८ अप्रैल, १८७३)

एक पण्डित ताराचरण तर्करत्न नामक भाटपाड़ा ग्राम के निवासी हैं। जो कि ग्राम हुगली के पास है। उस ग्राम में उनकी जन्मभूमि है। परन्तु आजकल श्रीयुत काशीराज महाराज के पास रहते हैं। संवत् १९२९ में वे अपनी जन्मभूमि मेंग ये थे। वहां से कलिकाता में भी गये थे और किसी स्थान में ठहरे थे।

जिनके स्थान में मैं ठहरा था, उनका नाम श्रीयुत राजा ज्योतीन्द्र मोहन ठाकुर तथा राजा शौरिन्द्र मोहन ठाकुर है। उनके पास तीन बार जा-जाकरके ताराचरण ने प्रतिज्ञा की थी कि हम आज अवश्य शास्त्रार्थ करने को चलेंगे। ऐसे ही तीन दिन तक कहते रहे। परन्तु एक बार भी न आये। इस से बुद्धिमान् लोगों ने उनकी बात झूठी ही जान ली।

मैं कलिकाता से हुगली में आया और श्रीयुत वृन्दावनचन्द्र मण्डल जी के बाग में ठहरा था। सो एक दिन उन्होंने अपने स्थान में सभा की। उस में मैं भी वक्तृत्व करने के लिए गया था। तथा बहुत पुरुष सुनने को आये थे। उनसे मैं अपना अभिप्राय कहता था। वे सब लोग सुनते थे। उसी समय में ताराचरण पण्डित जी भी वंहां आये। तब उनसे बृन्दावन चन्द्रादिकों ने कहा कि आप सभा में आइये। जो इच्छा हो, सो कहिये। परन्तु सभा के बीच में पण्डित ताराचरण नहीं आये। किन्तु ऊपर जाकर दूर से गर्जते थे।

वहां भी उन्होंने जान लिया कि पण्डित जी कहते तो हैं, परन्तु समीप क्यों नहीं जाते। इस से जैसे वे ताराचरण जी थे, वैसे ही उन्होंने जान लिये। फिर जब नव घण्टा बज गया, तब लोगों ने मेरे से कहा कि अब समय दश घण्टा का है। उठना चाहिए। बहुत रात आ गई।

फिर मैं और सब सभास्थ लोग उठे। उठके अपने-अपने स्थान में चले गये। फिर मैं बाग में चला आया। उसके दूसरे दिन बृन्दावनचन्द्र मंडल जी ने

मेरे से कहा कि उस वक्त ताराचरण भी आये थे। जब मैंने उनसे कहा कि सभा में क्यों नहीं आये ?

उन्होंने कहा कि वे तो बड़ा अभिमान करते हैं। तब मैंने उनसे कहा—जो अभिमान करता है, सो पण्डित नहीं होता। किन्तु वह काम मूर्ख का ही है। और जो पण्डित होता है, सो तो कभी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करता। जो ताराचरण पण्डित जी अभिमान में डूबे जावें, तब तो उनको मेरे पास एक बार ले आइये। फिर वे अभिमान-समुद्र में डूबने से बच जायें तो अच्छा हो।

तब वृन्दावनचन्द्रादिकों ने कहा कि आप बाग में चलिये। और जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा शास्त्रार्थ कीजिये। पण्डित जी की कुछ इच्छा न देखी, तब वृन्दावनचन्द्र से मैंने कहा कि आप उनसे कहें कि कुछ चिन्ता आप न करें। स्वामी जी ने हम से कह दिया है कि पण्डित जी प्रसन्नता से आवें। मैं किसी से विरोध नहीं रखता। तब तो पण्डित जी ने कहा हम चलेंगे।

सो मंगलवार की सन्ध्या समय में बहुत लोग नगर से शास्त्रार्थ सुनने को आये। :०:

वृन्दावनचन्द्र भी बहुत लोगों के साथ आये। तथा पाठशालाओं के अध्यक्ष श्री भूदेव मुकुर्ज्या आये। तथा श्री हरिहर तर्कसिद्धान्त पण्डित भी आये। उसके पीछे पण्डित ताराचरण जी सशिष्य तथा अपने ग्राम-निवासियों के साथ आये, जो कि उनके पक्षपाती थे।

ये सब लोग आ के सभा के स्थान में इकट्ठे भये। तब मैं भी उस स्थान में आया। फिर यथायोग्य बैठे। तब ताराचरण जी ने प्रतिज्ञा की कि हम प्रतिमा का स्थापन पक्ष लेते हैं। फिर मैंने कहा कि जो आपकी इच्छा हो सो लीजिये। मैं तो इस बात का खण्डन ही करूंगा।

तब उन ने मुझसे कहा कि संवाद में वाद होना ठीक है, वा जल्प अथवा वितण्डा। उन से मैंने कहा कि वाद ही होना उचित है। क्योंकि जल्प और वितण्डा सज्जनों को करना कभी उचित नहीं। वाद गौतमोक्त लेना। तब उन्होंने भी स्वीकार किया।

फिर दूसरी यह प्रतिज्ञा उस समय में की गई कि चार वेद तथा चार उप-वेद, छः वेदों के अंग और छः दर्शन मुनियों के किये तथा मुनि और ऋषियों के किये छः शास्त्रों के व्याख्यान, उन्हों के वचन प्रमाण से ही कहना। अन्य कोई का प्रमाण नहीं। तब उन ने भी स्वीकार किया, मैंने भी।

:०: चैत सु० ११, संवत् १९३०, ८ एप्रिल, १८७३।

+तर्करत्न—पातंजल सूत्रम्—

चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगो वितर्कः।

इति व्यासवचनम्।

तर्करत्न के हाथ में पुस्तक भी थी। उसको देखा। तब भी मिथ्या ही उनने लिखा। क्योंकि योग-शास्त्र पढ़ा होय, तब उस शास्त्र को जान सकता है। तर्करत्न ने पढ़ा तो था नहीं। इससे उनने अशुद्ध लिखा। जो पढ़ा भया होता है, सो ऐसा भ्रष्ट कभी नहीं लिखता। देखना चाहिये कि ऐसा पातंजल-शास्त्र में सूत्र ही नहीं है। किन्तु ऐसा सूत्र तो है—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी, इति।

सो इस सूत्र के व्याख्यान में "नासिकाग्रे धारयत" इत्यादिक वहां लिखा है। यह तो उनने जाना भी नहीं। इससे उनका लिखना भ्रष्ट है। फिर लिखते हैं कि—

इति व्यासर्वचनम्।

इस प्रकार का वचन व्यास जी ने कहीं योगशास्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा। इससे यह भी उनका वचन भ्रष्ट ही है। फिर यह लिखा कि—

स्वरूपे साक्षाद्वती प्रज्ञा आभोगः स च स्थूल-विषयत्वात् स्थूल इत्यादि।

यह भी उनका लिखना अशुद्ध ही है। क्योंकि प्रतिज्ञा तो ऐसी पूर्व की गई थी कि वेदादिक शास्त्र-वचनों से ही प्रतिमा पूजन का स्थापन हम करेंगे। और वचन फिर लिखा वाचस्पति का। इससे तर्करत्न की प्रतिज्ञा-हानि हो गई। प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया। क्योंकि— प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरमित्यादिक निग्रह स्थान होते हैं। यद्यपि हमको जय तथा पराजय की इच्छा कभी नहीं है, तथापि गौतम मुनि जी ने छब्बीस निग्रह स्थान लिखे हैं।

निग्रह स्थान सब पराजय के स्थान ही होते हैं। और, पहले प्रतिज्ञा की थी कि जल्प और वितण्डा न करेंगे। फिर जाति-साधन से प्रतिमा का स्थापन करने लगे। क्योंकि प्रतिमा भी स्थूल साधर्म्य से आती है।

स्वामी जी—

यावान् जागरितावस्थाविषयः तावान् सर्वः स्थूलः कृत, इत्यादि।

मैंने उनको ज्ञापक से जना दिया कि ये गृहस्थ हैं। इनकी अप्रतिष्ठा न हो

+ जहां-जहां तर्करत्न शब्द आवे, वहां-वहां ताराचरण पण्डित जी को जान लेना। और जहां-जहां स्वामी शब्द आवे, वहां-वहां दयानन्द सरस्वती स्वामी जी को जान लेना।

जाय। तदपि उनने कुछ भी नहीं जाना। जानें तो तब, जब कुछ शास्त्र पढ़ा हो। अथवा बुद्धि शुद्ध हो।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षेत्यादिक चौबीस प्रकार का शास्त्रार्थ जाति के विषय में गौतम मुनि जी ने लिखा है। इसके नहीं जानने से जल्प और वितण्डा तर्करत्न ने किये। क्योंकि—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ १ ॥

सप्रतिपक्षस्थापना हो तो वितण्डा ॥ २ ॥

जैसा कि इन सूत्रों का अभिप्राय है, वैसा ही तर्करत्न जी ने प्रतिमापूजन का स्थापन करने में जल्प और वितंडा ही किया।

इससे दूसरे बेर प्रतिज्ञा हानि उनने की। द्वितीय पराजय उनका हुआ।

यदुक्तं भवता तेनैव प्रतिमापूजनमेव सिद्ध्यत्येव तस्य स्थूलत्वात्।

इसमें तीन बेर 'एव' शब्द लिखने से यह जाना गया कि ताराचरण जी को संस्कृत का यथावत् बोध भी नहीं है। इससे तर्करत्न जी अभिमान में डूबे जाते हैं। क्योंकि हम बड़े पण्डित हैं। इस प्रकार का जो स्वमुख से कहना है, सोई विद्याहीनता को जनाता है। फिर लोकान्तरस्थ शब्द से मैंने उनको जनाया कि जो चतुर्भुज को आप लेते हो, सो तो वैकुंठ में सुने जाते हैं। "उप" अर्थात् समीप "आसना" अर्थात् स्थिति सो मनुष्य लोक में रहने वाला कैसे कर सकेगा? कभी नहीं, और, जो पाषाणादिक की मूर्ति शिल्पी की रची भई; सो तो विष्णु है नहीं। तब भी पंडित जी कुछ नहीं समझे। क्योंकि जो कुछ विद्या पढ़ी होती, अथवा सत्पुरुषों का संग किया होता, तो समझ जाते। सो तो कभी किया नहीं। इससे ताराचरण जी उस बात को न समझ सके। फिर एक कहीं से सुनी सुनाई ब्राह्मण की श्रुति विना प्रसंग से पढ़ी। सो यह है—

अथ स यदा पितॄनावाहयति पितृलोकेन तेन सम्पन्नो महीयते।

इस श्रुति से लोकान्तरस्थ की भी उपासना आती है। इस अभिप्राय से देखना चाहिए। इस श्रुति में उपासना लेशमात्र नहीं आती। क्योंकि यह श्रुति जिस योगी को अणिमादिक सिद्धि हो गई हैं, वह सिद्ध जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, उस-उस लोक को उसी समय प्राप्त होता है। सो जब पितृलोक में जाने की इच्छा करता है, पितृलोक को प्राप्त होके आनन्द करता है। क्योंकि—

तेन पितृलोकेन महीयते।

इत्युक्तत्वात्। ऐसे इच्छा मात्र से ही ब्रह्मलोकादिक में विहार करता है।

इससे इस श्रुति में मरकर उस लोक में जाता है, अथवा पितरों की उपासना इस लोक में करता है, इस अभिप्राय के नहीं होने से, ताराचरण जी का कहना मिथ्या ही है। इससे क्या आया कि अर्थान्तर का जो कहना है, सो निग्रह स्थान ही है। निग्रह स्थान के होने से पराजय हो गया।

स्वामी जी—

सर्वः स्थूल इत्येनेत्यादि देहान्तरगतस्य प्राप्तित्वादिति दिव्ययोग देहप्राप्तित्वाद्योगिनो न तु प्राकृतदेहस्य माहात्म्यमिदमित्यर्थस्य जागरूकत्वात् देहान्तरम्।

अर्थात् जो दिव्य योग सिद्धियों से प्राप्त होता है, उस देह से यह बात होती है। और जो अयोगी का देह नाम शरीर, उससे कभी यह बात नहीं होती।

तर्करत्न—

प्रथमतः अस्माभिरित्यादि०

दूषण अथवा भूषण का ज्ञान तो, विद्या होने से होता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि दूषण तो आपके वचनों में है, परन्तु आपने नहीं जाने। यह आपकी बुद्धि का दोष है। जो आपने प्रत्यक्ष दिखाये दूषणों को भी नहीं जाना। ऐसे दूषणों को तो बालक भी जान सकता है।

तन्मध्ये प्रतिमापि वर्तते इत्येवेत्यादि०।

आप देख लीजिये कि हम वाद ही करेंगे, जल्प और वितण्डा कभी नहीं।

स्वामी जी—

फिर बार-बार स्थूलत्व साधर्म्य से ही प्रतिमापूजन स्थापन किया चाहते हो। सो अपनी प्रतिज्ञा को आप ही नाश करते हैं। और फिर चाहते हो कि हमारा विजय होवे। सो कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि विजय तो पूर्ण विद्या और सत्य भाषण करने से होता है। सो आप में एक भी नहीं। इससे आप विजय की इच्छा कभी मत करो। किन्तु आपको अपने पराजय की इच्छा करनी, उचित है। किंच जो आप लोगों की इच्छा होवे, तो वेदादिक सत्यशास्त्रों को अर्थ-ज्ञान सहित पढ़ेंगे तथा पढ़ावेंगे, तब फिर आप लोगों का पराजय कभी न होगा। किन्तु सर्वत्र विजय ही होगा। अन्यथा नहीं।

दृष्टान्तत्वेनेत्यादि० छान्दोग्य०

दहर विद्यायामित्यादि० चेति।

उस श्रुति का एक अंश दार्ष्टान्ति में नहीं मिलने से, वह आपका कहना मिथ्या ही है। सो मैंने कह दिया। पहले उससे जान लेना।

यह किसने कहा कि जीवता पुरुष को उपासना का अधिकार नहीं है।

सो यह आपका कहना मिथ्या ही है। क्योंकि ब्रह्मविद्या का और पाषाणादिक मूर्तिपूजन का क्या प्रसंग है? कुछ भी नहीं। इससे यह भी अर्थान्तर है। अर्थान्तर के होने से निग्रहस्थान अर्थात् पराजय स्थान आपका है। सो आप यथावत् विचार करके जान लेवें।

तर्करत्न—

प्रथमतः अस्माभिः यत् भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते इत्येवेति।

आप जान लेवें कि साधर्म्य हेतु प्रमाण से ही बोलते हैं। इससे आपके कहे जितने दूषण हैं, वे सब आपके ऊपर ही आ गये। क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा अर्थात् वाद ही हम करेंगे, ऐसी प्रथमतः कह चुके हैं। फिर जल्प और वितंडा ही बारम्बार करते हैं। इससे अपना पराजय आप ही कर चुके। क्योंकि आपको जो विद्या और बुद्धि होती, तो कभी ऐसी भ्रष्ट बात न करते और निग्रहस्थान में बारम्बार न आते। आपको संस्कृत भाषण करने का भी यथावत् ज्ञान नहीं है। क्योंकि—

प्रथमतः अस्माभिः यत्

ऐसा भ्रष्ट असम्बद्ध भाषण कभी न करते।

किंच—

प्रथमतोस्माभिर्यत्

ऐसा श्रेष्ठ और संबद्ध संकृत ही कहते।

दृष्टान्ते सर्वविषयाणां साम्यप्रयोजनं नास्तीति।

यह भी आपका कहना भ्रष्ट ही है। क्योंकि मैंने कब ऐसा कहा था कि सब प्रकार से दृष्टान्त मिलता है। वह श्रुति एक अंश से आपके अभिप्राय से मिलती नहीं। इसमें मैंने कहा कि इस श्रुति का पढ़ना आपका मिथ्या ही है। ऐसा ही आपका कहना सब भ्रष्ट है।

स्वामी—

भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते०।

यह आपका जो कहना है, सो प्रतिज्ञान्तर ही है। क्योंकि स्थूलत्व तुल्य जो प्रतिमा में और गर्दभादिकों में है। इस हेतु से ही प्रतिमा-पूजन का स्थापन करा चाहते हो। सो फिर भी जल्प और वितण्डा ही आती है, वाद नहीं। इससे बारम्बार आपका पराजय होता गया। फिर भी आपको बुद्धि वा लज्जा न आई। यह बड़ा आश्चर्य जानना चाहिए कि अभिमान तो पंडितता का करें; और काम करें अपण्डित का।

तर्करत्न—

प्रतिमापि वर्त्तते इत्यादि अयं तु प्रकृतविषयस्य साधकः न तु प्रतिज्ञान्तरं इत्यादि।

स्वामी—प्रकृत विषय यही है कि प्रतिमापूजन का स्थापन, सो स्थापना वाद से और वेदादिक सत्यशास्त्रों के प्रमाण से ही करना। फिर उस प्रतिज्ञा को छोड़ के जल्प तथा वितण्डा और मिथ्या कल्पित वचन ये वाचस्पत्यादिकों के उनसे स्थापन करने में लग गये। अहो इत्याश्चर्य कि ताराचरण जी की बुद्धि विद्या के विना बहुत छोटी है। जो प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही भूल जाती है। यह आपका दोष नहीं; किन्तु आपकी बुद्धि का दोष है। और आपके काम, क्रोध, अविद्या, लोभ, मोह, भय विषयासक्त्यादिक दोषों का दोष है। तर्करत्न जी ! यह आप देख लीजिए कि कितने बड़े-बड़े दोष आप में हैं ?

प्रथम तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन पक्ष लेके फिर जब कुछ भी स्थापना न हो सका।

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

अपने आप ही खण्डन प्रतिमा-पूजन का करने लगे कि भ्रममूल अर्थात् प्रतिमा-पूजन मिथ्या ही है। इससे आपके पक्ष का आपने ही खण्डन कर दिया। फिर मिथ्या ग्रन्थ, जो पंचदशी, उसके प्रमाण देने लग गये। और जो प्रथम वेदादिक जो बीस सनातन ऋषि मुनियों के किये मूल और व्याख्यान तथा परमेश्वर के किये चार वेद इनके प्रमाण से बोलेंगे, सो आपकी प्रतिज्ञा मिथ्या हो गई। प्रतिज्ञा के मिथ्या होने से आपका पराजय भी हो गया फिर—

भ्रान्तिरस्माकं न दूषणीया।

वह भी पहले आपका कहना है। सो कोई भी पण्डित न कहेगा कि भ्रान्ति भूषण होता है। यह तो आपकी भ्रान्त बुद्धि का ही वैभव है और जो सज्जन लोग हैं, वे तो भ्रान्ति को दूषण ही जानते हैं। तथा—

भ्रमः खलु द्विविधः। इत्यादि०

यह पंचदशी का वचन है। यह प्रतिज्ञा से विरुद्ध ही है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में इसकी गणना नहीं है।

पाषाणादि की रचित मूर्त्ति में देव बुद्धि का जो कर्त्ता है सो दीपप्रभा में मणिभ्रम की नाईं ही है, क्योंकि दीप तो कभी मणि न होगा, और मणि तो सदा मणि ही रहेगा। सो आपने मुख से तो कहा परन्तु हृदय में शून्यता के होने से कुछ भी नहीं जाना। ऐसा ही आपका सब कथन भ्रष्ट है। आपको जो कुछ भी ज्ञान होय, तब तो जान सकते, अन्यथा नहीं।

तर्करत्न जी ने आगे-आगे जो कुछ कहा है, सो-सो भ्रष्ट ही है। बुद्धिमान् लोग विचार लेवें। ताराचरण जी इस प्रकार के मनुष्य हैं कि कोई बुद्धिमान् के सामने जैसा बालक। और भाषण वा श्रवण करने के योग्य भी नहीं, क्योंकि जिसको बुद्धि और विद्या होती है, सोई कहने वा श्रवण में समर्थ होता है। सो तर्करत्न जी में न बुद्धि है, और न कुछ विद्या है। इससे न कहने, न सुनने में समर्थ हो सकते हैं। इनका नाम जो तर्करत्न कोई ने रखा है सो अयोग्य ही रखा है। क्योंकि—

अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।

यह गोतम मुनि जी का सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस पदार्थ का तत्त्वज्ञान अर्थात् जिसका यथावत् स्वरूप ज्ञान न होवे, उसके ज्ञान के वास्ते कारण अर्थात् हेतु और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उपपत्ति अर्थात् यथावत् युक्ति से ऊह नाम वितर्क अर्थात् विविध विचार और युक्तिपूर्वक विविध वाक्य कहना, विनयपूर्वक श्रेष्ठों से, उसे तर्क कहते हैं। तर्क सो इसका लेशमात्र सम्बन्ध भी ताराचरण जी में नहीं होने से, तर्करत्न तो नाम अनर्थक है।

किन्तु इनके कथन में थोड़े से दोष मैंने दिखाये हैं। जैसा कि समुद्र के आगे एक बिन्दु। किन्तु उनके भाषण में केवल दोष ही हैं, गुण एक भी नहीं सो विद्वान् लोग विचार कर लेवें।

वेई ये ताराचरण जी हैं कि जब काशी नगर के पण्डितों से आनन्दबाग में सभा भई थी उसमें बहुत विशुद्धानन्द स्वामी तथा बालशास्त्री इत्यादिक पण्डित आये थे। उनके सामने डेढ़ पहर तक एक बात में मौन करके बैठे रहे थे। दूसरी बात भी मुख से नहीं निकली थी और जो उनका कुछ भी सामर्थ्य होता, तो अन्य पण्डित लोग क्यों शास्त्रार्थ करते। जब उनने—

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

कहा, तब उसी वक्त श्री भूदेव मुखर्ज्या आदिक श्रेष्ठ लोग उठ गये कि पण्डित आये तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन करने को, किन्तु वह अपना आप खण्डन कर चुके। पंण्डित कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसा कहके उठके चले गये। फिर अन्य पुरुषों से उनने कहा कि पण्डित हार गया।

स्वामी—

श्रीमत्कथनेनैव प्रतिमापूजनविघातो जात एवेति शिष्टा विचारयन्तु।

ताराचरण जी से मैंने कहा कि आपके कहने से ही प्रतिमा-पूजन का विघात अर्थात् खण्डन हो गया और मैं तो खण्डन करता ही हूँ।

फिर पंडित जी चुप होके ऊपर के स्थान में चले गये। उसके पीछे मैं भी ऊपर जाने को चला। तब पंडित सीढ़ी में मिले। मैंने उनका हाथ पकड़ लिया।

श्रोर, कहा कि ऊपर आश्रो। फिर ऊपर जाके सब वृन्दावनचन्द्रादिकों के सामने उन पण्डित ताराचरण से मैंने कहा कि आप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं ?

तब वे बोले कि मैं तो काक-भाषा का खण्डन करता हूँ। और सत्य-शास्त्र पढ़ने तथा पढ़ाने का उपदेश भी करता हूँ। और, पाषाणादिक मूर्त्ति-पूजन भी मिथ्या ही जानता हूँ। परन्तु मैं जो सत्य-सत्य कहूँ, तो मेरी आजीविका नष्ट हो जाये। तथा काशीराज महाराज जो सुनें तो मुझको निकाल बाहर कर देवें। इससे मैं सत्य-सत्य नहीं कह सकता हूँ। जैसे कि आप सत्य-सत्य कहते हैं।

देखना चाहिए कि इस प्रकार के मनुष्यों से जगत् का उपकार तो कुछ नहीं बनता; किन्तु अनुपकार ही सदा बनता है। विना सत्य उपदेश के उपकार कभी नहीं हो सकता। इतना मुझको अवकाश नहीं है कि मिथ्यावादी पुरुषों के साथ सम्भाषण किया करें। जो-जो मैंने लिखा है, इसमें इसी से सज्जन लोग जान लेवें।

(महर्षि के पत्र विज्ञापन, लेखराम पृ० २२३-२२५, दिग्विजयार्क पृ० ११)

प्रतिमा-पूजन विचार

इसके आगे जिन शब्दों के अर्थ के नहीं जानने से, टीकाकारों को भ्रम हो गया है, तथा नवीन ग्रन्थ बनाने वाले और कहने वाले तथा सुनने वाले को भी भ्रम होता है, उन शब्दों का शास्त्र रीति तथा प्रमाण और युक्ति से, जो ठीक-ठीक अर्थ है, उन्हों का प्रकाश संक्षेप से लिखा जाता है। प्रथम तो एक प्रतिमा शब्द है।

प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा।

अर्थात् प्रतिमानम् जिससे प्रमाण अर्थात् परिमाण किया जाय, उसको कहना प्रतिमा, जैसे कि छटांक, आधपाव, पावसेर, सेर, पसेरी इत्यादि और यज्ञ के चमसादिक पात्र। क्योंकि इन से पदार्थों के परिमाण किये जाते हैं। इससे इन्हों का ही नाम है प्रतिमा। यही अर्थ मनु भगवान् ने मनुस्मृति में लिखा है—

तुलामानं प्रतिमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥

पक्ष-पक्ष में, वा मास-मास में, अथवा छटवें-छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करे। क्योंकि तराजू की दण्डी में भीतर छिद्र करके, पारा उसमें डाल देते हैं। जब कोई पदार्थ को तौल के लेने लगते हैं, तब दण्डी को पीछे नमा देते हैं। फिर पारा पीछे जाने से चीज अधिक आती है। और, जब देने के समय में दण्डी आगे नमा देते हैं उससे चीज थोड़ी जाती है। इससे तुला की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा

जिस से कि अधिक न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हों का ही नाम प्रतिमा। इसी वास्ते प्रतिमा के भेदक अर्थात् घाट बाढ़ तोलने वाले के ऊपर दण्ड लिखा है—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पंच दद्याच्छतानि च ॥

यह मनु जी का श्लोक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि, जिसके ऊपर ध्वजा बांधी.जाती है, और प्रतिमा छटांक आदिक बटखरे, इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे, उनको उससे राजा बनवा लेवे। और, जैसा जिसका ऐश्वर्य, उसके योग्य दण्ड करे। जो दरिद्र, होवे, तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे। जो कुछ धनाढ्य होवे, तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे। और जो बहुत धनाढ्य होवे, उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे। इससे सज्जन लोग बटखरा तथा चमसादिक यज्ञ के पात्र उन्हों को ही प्रतिमा शब्द से निश्चित जानें।

दूसरा पुराण शब्द है—

पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः।

जो पुराण पदार्थ होवे, उसको कहते हैं पुराणा। सो सदा विशेषण वाची ही रहता है। तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदि शब्द सब हैं। तथा उनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं। जो विशेषण वाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्तक होते हैं। जैसे कि यह चीज पुरानी है,। तथा, यह चीज नवीन है। पुराण शब्द जो है, सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है। यह पदार्थ पुराना है अर्थात् नया नहीं। और, यह पदार्थ नया है अर्थात् पूराना नहीं। जहां-जहां वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहां-वहां इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं। ऐसा ही अर्थ गोतम मुनि जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यायन मुनि का किया भाष्य, उसमें लिखा है।

वहां ब्राह्मण पुस्तक जो शतपथादिक. उनों का ही नाम पुराण है। तथा शंकराचार्य जी ने भी शारीरिक भाष्य में, और उपनिषद्भाष्य में, ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही पुराण शब्द से ग्रहण किया है। जो देखना चाहे, सो उन शास्त्रों में देख लेवे। वह इस प्रकार से कहा है कि जहां-जहां प्रश्न और उत्तरपूर्वक कथा होवे, उसका नाम इतिहास है। और जहां-जहां वंश-कथा होवे ब्राह्मण पुस्तकों में, उसका नाम पुराण है। और ऐसे जो कहते हैं कि अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है। क्योंकि उस

बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में प्रमाण कहीं नहीं है। और कथा भी इनों में अयुक्त ही है। इन्हों का नाम कोई पुराण रक्खें, तो इनों से पूछना चाहिए कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं ? सब ग्रन्थों से वेद ही पुराने हैं। और यह बात कहते हैं कि अश्वमेध की जो पूर्त्ति हो जाय, उसके दसवें दिन पुराण की कथा यजमान सुने। सो तो ठीक-ठीक है कि ब्राह्मण पुस्तक की कथा सुने और, जो ऐसा कहे कि ब्रह्मवैवर्तादिकों की क्यों नहीं सुने ? उससे पूछना चाहिये कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जब-जब अश्वमेध भये थे, तब-तब किस की कथा सुनी थी। क्योंकि उस वक्त व्यास जी का जन्म भी नहीं भया था। तब पुराण कहाँ थे। और जो ऐसा कहे कि व्यास जी युग-युग में थे, यह बात भी उसकी मिथ्या है। क्योंकि अब तक युधिष्ठिरादिकों का निशान दिल्ली आदिकों में देख पड़ता है। उसी वक्त व्यास जी और व्यास जी की माता आदिक वर्तमान थे। इससे यह भी उनका कहना मिथ्या ही है। पुराण जितने ब्रह्मवैवर्तादिक वे सब सम्प्रदायी लोगों ने अपने-अपने मतलब के वास्ते बना लिये हैं। व्यास जी का वा अन्य ऋषि-मुनियों का किया एक भी पुराण नहीं है। क्योंकि वे बड़े विद्वान् थे और धर्मात्मा। उनका वचन सत्य ही है तथा छः दर्शनों में उनों के सत्य वचन देखने में आते ! मिथ्या एक नहीं। और पुराणों में मिथ्या कथा तथा परस्पर विरोध ही है। और, जैसे वे सम्प्रदायी लोग हैं, वैसे ही उनके बनाये पुराण भी सब नष्ट हैं। सो सज्जनों को ऐसा ही जानना उचित है, अन्यथा नहीं।

तीसरा देवालय और चौथा देवपूजा शब्द है। देवालय, देवायतन, देवागार तथा देवमन्दिर, इत्यादिक सब नाम यज्ञशालाओं के ही हैं। क्योंकि जिस स्थान में देवपूजा होवे, उसके नाम हैं, देवालयादिक। और देव संज्ञा है परमेश्वर की। तथा परमेश्वर की आज्ञा जो वेद उसके मन्त्रों की भी देव संज्ञा है। देव जो होता है, सोई देवता है। यह बात पूर्वमीमांसा शास्त्र में विस्तार से लिखी है। जिसको देखने की इच्छा हो, वह उस शास्त्र में देख ले। जो कि शास्त्र कर्मकाण्ड के ऊपर है। वे जैमिनि मुनि के किये सूत्र हैं। यहाँ तक उसमें लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादिक देव जो देवलोक में रहते है, उसका भी पूजन कभी न करना चाहिये, एक परमेश्वर के विना। सो वेद में इस प्रकार से निषेध किया है कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।

यह यजुर्वेद की श्रुति है। ब्रह्मादिक जो देव, वे जब यज्ञ करते हैं, तब उनों से अन्य कौन देव हैं, जो कि उनके यज्ञों में आके भाग लेवें। सो उनों से आगे कोई देव नहीं है। और जो कोई मानेगा तो उनके मत में अनवस्था दोष

आवेगा। इससे परमेश्वर और वेदों के मन्त्र उनों को ही देव और देवता मानना उचित है। अन्य कोई नहीं।

अग्निर्देवतेत्यादिक जो यजुर्वेद में लिखा है, सो अग्नि आदिक सब नाम परमेश्वर ही के हैं। क्योंकि देवता शब्द के विशेषण देने से इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणम्॥ १॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ २॥

एतमग्निं वदन्त्येके, मनुमेके प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ३॥

इन श्लोकों से आत्मा, जो परमेश्वर, उसी का देवता नाम है। और, अग्न्यादिक जितने नाम हैं, वे भी परमेश्वर के ही हैं। परन्तु जहां-जहां ऐसा प्रकरण हो कि उपासना, स्तुति, प्रार्थना तथा इस प्रकार के विशेषण वहां-वहां परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्यत्र नहीं। किन्तु 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' सिवाय परमेश्व के कोई में सब जगह नहीं ठहर सकता। और 'प्रशासितारं सर्वेषामित्यादिक' विशेषणों से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। क्योंकि सबका शासन करने वाला विना परमेश्वर से कोई नहीं। तथा सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म और पर पुरुष परमेश्वर से भिन्न, ऐसा कोई नहीं हो सकता है। निरुक्त में भी यह लिखा है कि—

यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः।

जहां-जहां देवता शब्द आवे, तहां-तहां उस नामवाले मन्त्र को ही लेना। जैसा कि 'अग्निर्देवता' इसमें अग्नि शब्द आया, सो जिस मन्त्र में अग्नि शब्द होवे, उस मन्त्र का ही ग्रहण करना अग्निमीडे पुरोहितमिति' यह मन्त्र ही देवता है। अन्य कोई नहीं। इससे क्या आया कि परमेश्वर और वेदों के मन्त्र ही देव और देवता हैं। जिस स्थान में होम, परमेश्वर का विचार, ध्यान और समाधि करें, उसके नाम हैं देवालयादिक। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण भी है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिसेवनम्॥ १॥
स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैर्नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ २॥

इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है, सोई देवपूजा है अन्य कोई

नहीं। और होम स्थान जितने हैं, वे ही देवलयादिक शब्दों से लिये जाते हैं।

पूजा नाम सत्कार। क्योंकि 'अतिथिपूजनम् होमैर्देवानर्चयेत्।' अतिथियों का पूजन, नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र इन्हों का सत्कार इसका नाम है पूजा, अन्य का नहीं। और पाषाणादि मूर्त्ति स्थान देवालयादिक शब्दों से भी नहीं लेना तथा घण्टा-नादादि पूजा शब्द से भी कभी नहीं लेना। देवल और देवलक शब्द का यह अर्थ है कि—

यद्वित्तं यज्ञशीलानां, देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं प्रचक्षते ॥ १ ॥

यह मनु का श्लोक है। इसका अभिप्राय है कि जिन्हों का यज्ञ करने का शील अर्थात् स्वभाव होवे, उसका सब धन यज्ञ के वास्ते ही होता है। अर्थात् देवार्थ धन है।

यद्दैवं तदेव देवस्वम्

अर्थात् होम के लिए जो धन होवे, उसका नाम देवस्व है। सो भिक्षा अथवा प्रतिग्रह करके यज्ञ के नाम से धन लेके, यज्ञ तो करें नहीं, और उस धन से अपना व्यवहार करे, इसका नाम है देवल। सो इसकी शास्त्र में निन्दा लिखी है। देवपितृकार्य में उसको निमन्त्रण कभी न करना चाहिए। ऐसा उसका निषेध लिखा है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह होता है देवलक।

कुत्सितो देवलो देवलकः कुत्सिते इत्यनेन कन् प्रत्ययः।

देवलक तो अत्यन्त निन्दित है।

एक यह अन्धकार लोगों का देखना चाहिए कि—

विद्वान् भोजनीयः सत्कर्तव्यश्चेति।

विद्वान् को भोजन कराना चाहिये और उसका सत्कार भी करना चाहिये। इससे कोई की ऐसी बुद्धि न होगी कि पाषाणादिक मूर्ति को भोजन कराना, वा उसका सत्कार करना चाहिये। वह भी बात ऐसी ही है।

एक बात वे लोग कहते हैं कि पाषाणादिक तो देव नहीं हैं, परन्तु भाव से वे देव हो जाते हैं। उनसे पूछना चाहिये कि भाव सत्य होता है, वा मिथ्या? जो वे कहें कि भाव सत्य होता है, फिर उनसे पूछना चाहिये कि कोई भी मनुष्य दुःख का भाव नहीं करता, फिर उसको क्यों दुःख होता है और सुख का भाव सब मनुष्य सदा चाहते हैं। फिर उनको सुख सदा क्यों नहीं होता? फिर वे कहते हैं कि यह बात तो कर्म से होती है। अच्छा तो आपका भाव कुछ भी नहीं ठहरा। अर्थात् मिथ्या ही हुआ है। सत्य नहीं हुआ। आपसे मैं पूछता हूँ कि अग्नि में जल का भाव करके हाथ डाले, तो क्या वह न जल जायेगा? किन्तु

जल ही जायेगा। इससे क्या आया पाषाण को पाषाण ही मानना और देव को देव मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इससे जो जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसको सज्जन लोग मानें।

काश्यादिक स्थान, गंगादिक तीर्थ, एकादशी आदिक व्रत, राम, शिव, कृष्णादिक नाम स्मरण तथा तोबा शब्द वा यीसू के विश्वास से पापों का छूटना और मुक्ति का होना, तिलक, छाप, माला-धारण तथा शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव, क्रिश्चन और मुहम्मदी और नानक, कबीर आदिक सम्प्रदाय, इन्हों से पाप सब छूट जाते हैं। और मुक्ति भी हो जाती है। यह अन्यथा बुद्धि ही है। क्योंकि इस प्रकार के सुनने और मिथ्या निश्चय के होने से सब लोग पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं। कोई न भी होगा। कभी कोई मनुष्य पाप करने में भय नहीं करते हैं। जैसे—

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, काशीक्षेत्रे विनश्यति।
काशीक्षेत्रे कृतं पापं पंचक्रोश्यां विनश्यति ॥ १ ॥

पंचक्रोश्यां कृतं पापमन्तर्गृह्यां विनश्यति।
अन्तर्गृह्यां कृतं पापमविमुक्ते विनश्यति ॥ २ ॥

अविमुक्ते कृतं पापं स्मरणादेव नश्यति।
काश्यां तु मरणान्मुक्तिर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ३ ॥

इत्यादिक श्लोक काशीखण्डादिकों में लिखे हैं। काश्यां मरणान्मुक्तिः कोई पुरुष इसको श्रुति कहता है। सो यह वचन उसका मिथ्या ही है। क्योंकि चारों वेदों के बीच में कहीं नहीं है। कोई ने मिथ्या जाबालोपनिषद् रच लिया है। किन्तु अथर्ववेद के संहिता में तथा कोई वेद के ब्राह्मण में इस प्रकार की श्रुति है नहीं। इससे यह श्रुति तो कभी नहीं हो सकती। किन्तु कोई ने मिथ्या कल्पना कर ली है। जैसे कि 'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं' इत्यादि श्लोक मिथ्या बना लिये हैं। इस प्रकार के श्लोकों को सुनने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट होने से सदा पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे सब सज्जन लोगों को निश्चित जानना चाहिये कि जितने-जितने इस प्रकार के माहात्म्य लिखे हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। इन्हों से मनुष्यों का बड़ा अनुपकार होता है। जो कोई धर्मात्मा बुद्धिमान् राजा होवे, तो इन पुस्तकों का पठन-पाठन, सुनना-सुनाना, बन्द कर दें और वेदादि सत्य शास्त्रों की यथावत् प्रवृत्ति करा देवे। तब इस उपद्रव की यथावत् शांति होने से सब मनुष्य शिष्ट हो जायें, अन्यथा नहीं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। (योग० समा० ३५)
इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—

एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्येति ।

इससे प्रतिमा-पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन्हों में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और, बाह्यमुख जो वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना, योगी लोग को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और, जो होवे, तो मूर्तिमान् धन, पुत्र, दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता कोई की भी नहीं होती। इस वास्ते यह सूत्र लिखा—

विशोका वा ज्योतिष्मती (योग० समा० ६६)

इसका यह भाष्य है—

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो बुद्धिसंवित् बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पन्तत्र स्थिति-वैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरंग-महोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्र-मात्मानमनुविद्यास्मीति एव तावत् संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषय-वती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

इसमें यह देखना चाहिये कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी। इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से, बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि इन्हों की, जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।

तथा अस्मिता मात्रा अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है, तब चित्त निस्तरंग, अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नाईं एकरस व्यापक होता है। तथा शान्त, निरुपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है, अर्थात् मेरा आत्मा है, सो विगत अर्थात् शोकरहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं। तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।

सू०—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ (योग० समा० ३८)

भाष्य०—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानावलम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ।

जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है, तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान् चित्त होता है, ऐसा ही जागृतावस्था में, जब योगी ध्यान करता है, इस प्रकार आलम्ब से तब योगी का चित्त स्थिर हो जाता है ।

सू०—यथाभिमतध्यानाद्वा ।। (योग० समा० ३६)

भाष्य०—यद्वाभिमतं तदेव ध्यायेत् तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति । नासिकाग्रे धारयतो या गन्धसंवित् ।

इससे लेके 'निद्राज्ञानालम्बनं वा' यहां तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हों में से कोई स्थान में योगी चित्त को धारण करें ।

जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये ।

सू०—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (योग० विभू० १)

भाष्य०—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति । बन्धो धारणा नाभि हृदय मूर्द्धा ज्योति ।

अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, इत्यादिक देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे । तथा बाह्य विषय जैसा कि ओङ्कार वा गायत्री मन्त्र, इनमें चित्त लगावे, हृदय से । क्योंकि—

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (योग० स० पाद २८)

यह सूत्र है योग का । इसका योगी जप, अर्थात् चित्त से पुनः पुनः आवृत्ति करे । और इसका अर्थ जो ईश्वर, उसको हृदय में विचारे ।

सू०—तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० स० २७)

ओङ्कार का वाच्य ईश्वर है । और, उसका वाचक ओङ्कार है । बाह्य विषय से इनको ही लेना, और कोई को नहीं । क्योंकि अन्य प्रमाण कहीं नहीं ।

सू०—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (योग० विभू० २)

भाष्य०—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।

तीन देशों में अर्थात् नाभि आदिकों में, ध्येय जो आत्मा, उस आलम्बन की, और चित्त की एकतानता, अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से

भिन्न न रहे, तथा आत्मा चित्त से पृथक् न रहे, उसका नाम है, सदृशप्रवाह। जब चित्त से प्रत्येक चेतन से ही युक्त रहे, अन्य प्रत्यय कोई पदार्थान्तर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ।

सू०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (योग० विभू० ३)

जब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का पृथक् भाव न रहे, तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गई।

सू०—त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्य। (योग० विभू० ७)

यमादिक पांच अङ्गों से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग हैं। और यमादिक बहिरङ्ग हैं।

सू०—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।। (विभू० २६)

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।। २७ ।।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।। २८ ।।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।। २९ ।।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।। ३२ ।।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ।। ३३ ।।

इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है कि धारणादिक तीन अङ्ग आभ्यन्तर के हैं। सो हृदय में ही योगी परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग ज्ञान से ही योगी जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है, और से नहीं। इस विषय में जो कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जाने। क्योंकि—

सू०—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।। (समा० २)

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।। (समा० ३)

जब योगी चित्तवृत्तियो को निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उस चेतनस्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, अन्यत्र नहीं।

सू०—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। (योग० समा० ८)

विपरीत ज्ञान जो होता है, उसी को मिथ्या ज्ञान कहते हैं। उसको तो योगी छोड़ के ही होता है, अन्यथा कभी नही। इससे क्या आया कि कोई योग-शास्त्र से पाषाणादिक मूर्ति का पूजन कहे, सो मिथ्या ही कहता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

श्लोक

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यवचना।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रशरणा,
स को दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः ॥
श्रीदयानन्दसरस्वती स्वामिना विरचितमिदमिति विज्ञेयम् ॥

मूर्त्तिपूजा

(पं० जगन्नाथ से छपरा में शास्त्रार्थ—मई, १८७३)

स्वामी जी छपरा पधारे तो जनता को उनके शुभ आगमन की सूचना देने व अवैदिक पाखण्डों पर उनके समर्थकों को शास्त्रार्थ के लिए आहूत करने के लिये नगर में विज्ञापन वितरण किया गया। छपरे में यदि कोई पं० स्वामी जी से शास्त्रार्थ कर सकता था तो पं० जगन्नाथ थे। पौराणिक वर्ग उन्हीं के पास गये, और उनसे जाकर प्रार्थना की कि महाराज चलिये और नास्तिक दयानन्द से धर्म की रक्षा कीजिये। परन्तु पण्डित जी शास्त्रार्थ के नाम से कानों पर हाथ धर गये। उन्होंने कहा कि शास्त्रार्थ करने से मुझे नास्तिक का मुख देखना पड़ेगा जिसका शास्त्रों में निषेध है और मैंने ऐसा किया भी तो मुझे कठोर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

पण्डित जी के यह वचन सुनकर पौराणिक धर्म के पृष्ठपोषकों की आशाओं पर पाला पड़ गया। और वे तेजोहीन और हताश होकर वापस चले आये। महाराज ने जब यह सुना तो उन्होंने पण्डित जगन्नाथ को इस उलझन से निकालने का एक विलक्षण परन्तु सरल उपाय बताया। उन्होंने कहा कि यदि पण्डित महोदय मेरा मुख नहीं देखना चाहते हैं तो मेरे सामने एक पर्दा डाल दिया जाय और वह उसकी ओट में शास्त्रार्थ कर लें परन्तु शास्त्रार्थ करें तो सही।

अब तो पण्डित जी भी निरुपाय हो गये। जो प्रधान आक्षेप उन्हें था वह भी न रहा और उन्हें शास्त्रार्थ के लिये क्षेत्र में आना ही पड़ा। वह सभास्थल में दलबल सहित पधारे। महाराज के मुख के सामने वास्तव में पर्दा डाला गया। एक ओर महाराज बैठे और पर्दे के दूसरी ओर पण्डित जगन्नाथ आसन पर सुशोभित हुए और विचित्र और मनोरंजक ढंग से शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

प्रथम स्वामी जी ने पण्डित जी से कुछ प्रश्न स्मृतियों में से किये, जिनका

उत्तर पण्डित जी ने दिया तो सही, परन्तु उनकी संस्कृत व्याकरण की अशुद्धियों से भरी हुई थी और उनका उत्तर भी स्मृतियों के कथनानुसार न था। स्वामी जी ने उनकी अशुद्धियों का भरी सभा में वर्णन किया और उनके उत्तर की पोल खोली। स्वामी जी के बे रोक-टोक, स्पष्ट, सुगम और ललित संस्कृत में भाषण और पण्डित जी के उत्तर की भाषा और भाव की अशुद्धियों और दोषों के स्पष्टीकरण से पण्डित जी के मुंह पर मुहर लग गई और उन्होंने हूं हां तक न की। पण्डित जी की इस दशा व दुर्दशा को देखकर जनता को विश्वास हो गया कि पण्डित जगन्नाथ पाण्डित्य में शून्य हैं और उनका पक्ष भी निर्बल और वेद के प्रतिकूल है। (लेखराम पृ० २२७)

मूर्त्तिपूजा

(पंडित दुर्गादत्त डुमराओं निवासी से शास्त्रार्थ—अगस्त १८७३)

नोट—२६ जौलाई, सन् १८७३ से ८ अगस्त, सन् १८७३ तक स्वामी जी रियासत डुमराओं में ठहरे थे। उसी बीच में पंडित दुर्गादत्त डुमराओं निवासी से उनका यह शास्त्रार्थ हुआ था। महाराजा साहब डुमराओं ने रायबहादुर दीवान जयप्रकाश जी के द्वारा पंडित दुर्गादत्त जी को बुलाया और स्वामी जी को भी रेलवे वाली कोठी से तालाब के ऊपर वाली कोठी पर बुलाया। राजा साहब और दीवान साहब के अतिरिक्त वहां तीन सौ के लगभग मनुष्य थे। पंडित जी चूंकि महादेव के पुजारी थे और यह निश्चय हो चुका था कि शास्त्रार्थ मूर्तिखण्डन पर नहीं होगा इसलिये पण्डित जी इस विचार से कि मूर्ति के विना यात्रा करनी पाप है—शिवलिंग की मूर्ति साथ ले गये और अपने सामने कुर्सी पर रख दी और वार्ता आरम्भ हुई—

स्वामी जी—हम द्वैत मानते हैं। पंडित जी ने कहा कि इस श्रुति "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" से विरोध होता है अर्थात आप का द्वैत मानना इस के विरुद्ध है।

स्वामी जी—इसका यह अर्थ नहीं जो आप समझे। इसका यह अर्थ है कि जैसे किसी के घर में कोई उपस्थित न हो तो वह कहता है कि यहां मैं एक ही हूँ और कोई नहीं परन्तु गाँव वाले और नाते कुटुम्ब का निषेध नहीं। वे विद्यमान हैं, उनका अस्वीकार नहीं। इसलिए सजातीय तथा जाति. स्वगत भेद शून्य जो शंकराचार्य का मत है वह मिथ्या है, हम उसको नहीं मानते। यहाँ केवल दूसरे ब्रह्म का निषेध है न कि जीव का।

पण्डित जी—इस सिद्धान्त को तो हम नहीं मानते।

स्वामी जी—शंकराचार्य के सिद्धान्त को न मानने में हमने तो युक्ति दी है। परन्तु जो मानते तो आपके पास क्या प्रमाण है ?

इसका उन्होंने कोई उत्तर न दिया।

स्वामी जी ने मूर्त्ति के विषय में आक्षेप किया कि मूर्त्तिपूजा में श्रुति का प्रमाण नहीं।

पण्डित जी ने—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(यजु० ३१ । ११)

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् (यजु० ३ । ६०)

यह दो श्रुति प्रमाण दीं कि यदि मुख नहीं तो चारों वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुई और मूर्त्ति नहीं तो मुख कहां से आया और दूसरा मन्त्र विशेष शिव की पूजा का है जिसके तीन नेत्र हैं और जाबालोपनिषद् में लिखा है—

धिक् भस्मरहितं भालं धिक् ग्राममशिवालयम्।

इत्यादि प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा सिद्ध है। आप कैसे कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा में श्रुति प्रमाण नहीं है।

स्वामी जी ने प्रथम उन दो मन्त्रों का व्याकरण और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यथार्थ अर्थ करके उनके भ्रम को निवारण करने का प्रयत्न किया और बताया कि प्रामाणिक उपनिषदों में जाबाल नहीं है, वह जालोपनिषद् है—उसमें किसी ने वाक्यजाल रचा है। वेद के विरुद्ध है इसलिए अप्रमाण है। इस पर पण्डित जी ने कुछ उत्तर न दिया। समस्त श्रोतागण परिचित तथा स्वयं दीवान साहब साक्षी हैं।

फिर गीता के श्लोक "सर्वधर्मान् परित्यज्य" पर कुछ बातचीत होकर हंसी खुशी से सभा विसर्जित हुई। (लेखराम २२८-२२९)

अग्नि शब्द का क्या अर्थ है ?

(मोहम्याह नीलकंठ घोरी क्रिश्चियन से प्रयाग में संवाद)

बुधवार, १ जौलाई, सन् १८७४ के अन्त तक स्वामी जी प्रयाग में रहे। मोहम्याह नीलकंठ घोरी नामक एक क्रिश्चियन मरहठा जेण्टलमैन प्रोफेसर मैक्स-मूलर का किया हुआ ऋग्वेदभाष्य ले आया। यह बतलाने के लिए कि अग्नि के अर्थ केवल आग के हैं, ईश्वर के नहीं। स्वामी जी ने उसको यह उत्तर दिया कि

यदि प्रोफेसर मैक्समूलर ने वेदमन्त्रों का भाष्य करने के लिए केवल इन्हीं अर्थों का प्रयोग किया है तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि एक पक्षपातपूर्ण ईसाई होने के कारण उसकी हार्दिक इच्छा है कि वेदार्थ को बिगाड़े ताकि भारतवासी अज्ञानता में फंसकर वेदों को छोड़ दें और बाइबिल को ग्रहण करें। अतः उसके पक्षपातपूर्ण होने के कारण उसका भाष्य प्रामाणिक नहीं हो सकता। तत्पश्चात् स्वामी जी ने हिन्दू मरहठों के सामने जिन्होंने अपने हिन्दू धर्म से भटके हुए भाई को अपना धार्मिक अगुआ (अधिवक्ता) बनाया था—ईसाइयों के ईश्वर के विषय में अज्ञानतापूर्ण विचारों को प्रकट करने के लिये तौरेत बाबल के बुर्ज वाली कहानी की ओर संकेत किया जिसमें यह लिखा है कि प्राचीन पाश्चात्य जातियों ने ईसाइयों की देवमाला में आकाश पर चढ़ने का यत्न किया। उनके इस साहसपूर्ण निश्चय से ईसाइयों का ईश्वर चौंक पड़ा। अत्यन्त भयभीत होकर अपने बचाव के लिये बाबल के बुर्ज बनाने वालों की वाणी में गड़बड़ कर दी जो एक दूसरे की बात को समझने के अयोग्य होकर काम छोड़ बैठे और ईश्वर मनुष्यों के इस बर्बरतापूर्ण आक्रमण से बच गया।

ईसाइयों के ईश्वर का अपनी ही सृष्टि से डर जाना अत्यन्त अद्भुत और वर्णन से बाहर की बात है। निस्सन्देह वह अत्यन्त ही असभ्य होने चाहियें जिन्होंने कि आकाश की प्रकट और दिखलावे की महराबदार छत को परिमित ऊँचाई समझकर उस पर कृत्रिम साधनों से चढ़ना सम्भव समझा। इससे यह प्रतीत होता है कि ईसाइयों का विश्वास है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक और द्रष्टा नहीं प्रत्युत इसके विपरीत वह एक विशेष स्थान में सीमित है जिसके विषय में वे ठीक-ठीक नहीं बतला सकते।

ईसाई मरहठे ने इस आक्षेप का कुछ उत्तर न दिया परन्तु उसके और हिन्दू भाई कुछ बोले और विशेषतया काशीनाथ शास्त्री ने अत्यन्त धृष्टतापूर्ण शब्दों में स्वामी जी से पूछा कि किस प्रयोजन के लिये समस्त देश में कोलाहल कर रखा है।

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मुझसे पहले पण्डितों ने बड़ी धूर्तता फैलाई है और उनकी बुद्धि पत्थरों के पूजने से पथरा गई है अर्थात् उनकी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये। जिसके कारण वे सत्य के सिद्धान्त को न समझ सके। शास्त्री फिर मौन होकर अपने मित्रों सहित चला गया।

(लेखराम पृष्ठ २४२)

वल्लभ मत

(वल्लभाचार्य-मतवालों के साथ शास्त्रार्थ बम्बई में १६ नवम्बर, १८७४)

बम्बई पहुँचकर जब स्वामी जी को वल्लभाचार्य मत का समस्त वृत्तांत विदित हुआ तो उसका यथार्थ ज्ञान हो जाने के पश्चात् उन्होंने लगातार उस मत के खंडन और उसकी पोल खोलने के लिये भाषण देने और उपदेश करने आरम्भ किये और ब्रह्म सम्बन्ध वाले मन्त्र की भी जिससे वह चेले और चेलियों का तन मन धन अपने अर्पण कराके ब्रह्मसम्बन्ध कराते हैं अच्छी प्रकार छीछालेदर की। गुसाईं जी की बहुत हानि होने लगी तब जीवनजी गुसाईं ने स्वामी जी के सेवक बलदेवसिंह जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण को बुलाकर कहा कि तुमको मैं एक हजार रुपया दूंगा यदि स्वामी जी को मार दो। उसी समय पाँच रुपया नगद और ५ सेर मिठाई प्रसाद के रूप में दी और हजार रुपये देने की प्रतिज्ञा करके एक रुक्का (प्रतिज्ञापत्र) लिख दिया। बलदेवसिंह अभी स्वामी जी के पास पहुँचा नहीं था उनको सूचना मिल गई कि तुम्हारा रसोइया जीवन जी के पास खड़ा है। जब वह पहुँचा तब स्वामी ने पूछा कि तुम गोकुलियों के मन्दिर में गये थे ?

बलदेवसिंह—हाँ महाराज गया था।

स्वामी जी—क्या ठहरा ?

बलदेवसिंह—पाँच रुपया नकद और पांच सेर मिठाई और यह रुक्का लिखकर दिया है कि मार दो तो हजार रुपये ले लो।

स्वामी जी—मुझको कई बार विष दिया गया है परन्तु मरा नहीं। बनारस में विष दिया गया, कर्णवास में राव कर्णसिंह चक्रांकिती ने पान में विष दिया तब भी नहीं मरा और अब भी नहीं मरूँगा।

बलदेवसिंह—महाराज मेरे कुल का काम विष देना नहीं है और फिर ऐसे को जिससे समस्त जगत् को लाभ पहुँच रहा है।

स्वामी जी ने मिठाई फिकवा दी और रुक्का फाड़कर फेंक दिया और कहा कि "सावधान, भविष्य में उनके यहां कभी मत जाना"।

(लेखराम पृ० २४६)

अज्ञातनामा के प्रश्नों का उत्तर

बम्बई के रहने वाले किसी अज्ञात "प-ग-न" नाम ने कार्तिक शुक्ल ४, शुक्रवार, संवत् १६३१ को २४ प्रश्न छपवाकर स्वामी जी के पास भिजवाये। स्वामी-पूर्णानन्द ने स्वामी-दयानन्द सरस्वती जी की सम्मति से इन प्रश्नों के उत्तर में निम्नलिखित विज्ञापन-पत्र प्रकाशित किया—

"विज्ञापन-पत्र"

विदित हो कि जैसा स्वामी नारायण है वैसा मैं नहीं हूँ और जिस प्रकार जयपुर नगर के गोसाईं की पराजय हुई—ऐसा भी मैं नहीं हूँ। बम्बई नगर के निवासी किसी एक हरिभक्तों के चरणों के इच्छुक "प-ग-न" ऐसे गुप्त नाम वाले पुरुष के सवत् १६३१, कार्तिक शुक्ल पक्ष ४, शुक्रवार को "ज्ञानदीपक" यन्त्रालय के छपे हुए २४ प्रश्नो का उत्तर दिया जाता है—

पहले प्रश्न का उत्तर—प्रत्यक्षादि प्रमाणो को स्वीकार करता हूँ।

दूसरे प्रश्न का उत्तर—चारो वेदों को प्रमाण मानता हूँ।

तीसरे प्रश्न का उत्तर—चारों संहिताओ को प्रमाण मानता हूँ परन्तु परिशिष्ट को छोड़कर (अर्थात् परिशिष्ट को प्रमाण नहीं मानता, वह अप्रमाण है) ब्राह्मणादिकों को मै मत के रूप में स्वीकार नहीं करता परन्तु उनके रचयिता जो ऋषि है उनकी वेद विषय में कैसी सम्मति है, यह जानने के लिए अध्ययन करता हूँ कि उन्होंने कैसा अर्थ किया है और उनका क्या सिद्धांत है।

चौथे का उत्तर—तीसरे में समझ लेना।

पाँचवें का उत्तर—शिक्षादिक जो वेदांग हैं और उनके कर्ता जो मुनि हैं उनकी वेद के विषय में कैसी सम्मति है यह जानने के लिये देखता हूँ। उनको मत मान के स्वीकार नहीं करता।

छठे का उत्तर—वेद, वेदांग, भाष्य और उनके व्याख्यान जो आर्ष अर्थात् ऋषिप्रणीत हैं उनको मत मानकर स्वीकार नहीं करता किन्तु परीक्षा के लिये वे ठीक किये गये हैं वा नहीं किये गये इसलिये देखता हूँ, वह मेरा मत नहीं है।

सातवें का उत्तर—जैमिनीकृत पूर्वमीमांसा, व्यासकृत उत्तरमीमासा, चरणव्यूह—इनको भी मत मानकर संग्रह नहीं करता किन्तु इनके मत की परीक्षा के लिये देखता हूँ, और प्रकार नही।

आठवें का उत्तर—पुराण, उपपुराण, तंत्रग्रन्थ, इनके अवलोकन और अर्थ में श्रद्धा ही नहीं करता, इनके प्रमाण की कथा तो क्या कथा है।

नववें का उत्तर—सारी भारत और वाल्मीकिरचित रामायण का प्रमाण नहीं क्योंकि लोक में बहुत प्रकार व्यवहार है। उनके वृत्तान्त का जानना ही उनका अभिप्राय है क्योंकि वह मर चुके हैं।

दसवें का उत्तर भी नववें में समझ लेना।

ग्यारहवें का उत्तर—मनुस्मृति को मनु का मत जानने के लिये देखता हूँ उसको इष्ट समझ कर नहीं।

बारहवें का उत्तर—याज्ञवल्क्यादि और मिताक्षरादि का तो प्रमाण ही नहीं करता।

तेरहवें का उत्तर—बारहवें मैं समझ लेना।

चौदहवें का उत्तर—विष्णुस्वामि आदि जो सम्प्रदाय हैं उनका प्रमाण मैं लेशमात्र भी नहीं करता प्रत्युत उनका खण्डन करता हूँ क्योंकि ये सारे सम्प्रदाय वेद-विरुद्ध हैं।

पन्द्रहवें का उत्तर चौदहवें में समझ लेना।

सोलहवें का उत्तर—मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ प्रत्युत वेद का अनुयायी हूँ, ऐसा समझना चाहिये।

सत्रहवें का उत्तर—जगदुत्पत्ति जैसी वेद में लिखी है और जिसने की है, उस सारे को उसी प्रकार मानता हूँ।

अठारहवें का उत्तर—जिस समय मे सृष्टि का क्रम हुआ है उस काल को कोई संख्या नहीं है, यह जानना चाहिये।

उन्नीसवें का उत्तर—वेदोक्त जो यज्ञादि कर्म है वह यथाशक्ति सब करने चाहियें।

बीसवें का उत्तर—वेदोक्त जो विधि है वह माननी चाहिये, और नहीं।

इक्कीसवें का उत्तर—शाखाओं में जो कर्म कहे हुए हैं वे वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं, विरुद्ध होने से नहीं।

बाईसवें का उत्तर— परमेश्वर का कदाचित् जन्म-मरण नहीं होता। (जिसके जन्म-मरण होते हैं, वह ईश्वर ही नहीं है) सर्वशक्तिमान् होने से, अन्तर्यामी होने से, निरवयव होने से, परिपूर्ण होने से, न्यायकारी होने से।

तेईसवें का उत्तर—मैं संन्यासाश्रम में हूँ।

चौबीसवें का उत्तर—सत्य धर्म विचार नामक पुस्तक जिसने यन्त्रालय में छपवाई, उसका मत उसमें है, मेरा उसके मत में आग्रह नहीं।

यदि हम आर्य्य लोग वेदोक्त धर्म के विषय में प्रीतिपूर्वक पक्षपात को

छोड़कर विचार करें तो सब प्रकार कल्याण ही कल्याण है, यही मेरी इच्छा है। तिसके लिये नित्य सभा होनी चाहिए तो श्रेष्ठ समझो। जिस प्रकार से बहुत प्रकार के सम्प्रदायों का नाश हो जाये वैसा सबको करना चाहिये।

परन्तु १३, १४, १५, प्रश्नों का पीसे को फिर पीसना उसके सामन पुनरुक्त दोष से दूषित को न समझकर यह मैं ने जाना कि जिसको प्रश्न करने का ज्ञान नहीं उसके समागम में उचित विचार किस प्रकार हो सकेगा, ऐसी मेरी सम्मति है क्योंकि जहां भोजन की ही चिन्ता है वहां धन का एकत्रित होना असम्भव है और जिसने प्रश्न किये उसने अपना नाम भी नहीं लिखा, यह भी एक दोष है। ऐसा सज्जनों को समझना चाहिए। इसमें स्वामी जी की सम्मति है। इसके उपरान्त जो कोई अपना प्रकट नाम लिखने के विना प्रश्न करेगा, उसका उत्तर उसी से दिलाऊंगा और जिस सम्प्रदाय को जो मानता है उसको संक्षेपतया जब तक न कहेगा तब तक उसका भी उसी से दिलाऊंगा। प्रसिद्ध कर्त्ता स्वमी पूर्णानन्द, कार्तिक शुक्ल ७, सोमवार, संवत् १९३१, तदनुसार १६ नवम्बर, सन् १८७४। उसके पश्चात् न तो उस पहले प्रश्नकर्त्ता ने मुख दिखलाया और न किसी और ने सम्मुख होकर शास्त्रार्थ किया और गिट्टूलाल शास्त्री आदि वैष्णव मत के विद्वानों ने कभी शास्त्रार्थ करने का नाम लिया और न कभी स्पष्ट अपना नाम लिखकर कोई विज्ञापन प्रकाशित किया। रणक्षेत्र का वीर बनकर सामने आना और मूर्त्तिपूजा को वेदानुकूल सिद्ध करना तो नितान्त असम्भव और जान का जंजाल हो गया। (लेखराम पृष्ठ २४६-२४८)

मूर्त्तिपूजा

(भड़ौंच में पण्डितों से शास्त्रार्थ—दिसम्बर, १८७४)

स्वामीजी के व्याख्यान भडौंच में नर्मदा के तट पर भृगुऋषि की धर्मशाला मे हुए। पहले व्याख्यान की समाप्ति पर पण्डित माधवराव त्र्यम्बकराव स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को सम्मुख आये। पण्डित माधवराव दक्षिणी ब्राह्मण थे। और अनेक सम्भ्रान्त लोग उनके शिष्य थे। वह थे तो गृहस्थी, परन्तु महन्त समझे जाते थे और भडौंच के लोग उनका बहुत सम्मान करते थे कट्टर सनातनी और दाम्भिक थे। वे सभा में शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से ही आये थे और अपने अनेक शिष्यों को साथ ले आये थे। उनके एक शिष्य ने स्वामी जी से कहा कि पण्डित माधवराव आपसे शास्त्रार्थ करने के इच्छुक हैं। स्वामी जी के यहां क्या देर थी? उन्होंने तुरन्त उत्तर दे दिया कि हम उद्यत हैं। इस पर पण्डित माधवराव आगे आये और निम्न प्रकार प्रश्नोत्तर हुए।

दया०—आपने क्या पढ़ा है?

माधव०—कौमुदी आदि व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा है।

दया० जब आपने वेदादि आर्ष ग्रन्थ पढ़े ही नहीं तो आप उनके विषय में शास्त्रार्थ कैसे करोगे ?

माधव०—मैंने कुछ ऋग्वेद भी पढ़ा है।

दया०—चारों वेदों में से किसी मन्त्र को लेकर उसका पदच्छेद पूर्वक अर्थ करके दिखाइये कि उससे मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है। फिर मैं आर्ष ग्रन्थों की रीति के अनुकूल उसका अर्थ करूंगा और तत्पश्चात् आपके और अपने अर्थ काशी आदि स्थानों के बड़े-बड़े पण्डितों के पास भेज दिये जायेंगे कि वे किसके अर्थों का अनुमोदन करते हैं।

स्वामी जी के इतना कहते ही पण्डित कृष्णराम ने चारों वेदों के पुस्तक स्वामी जी के सामने लाकर रख दिये। तब स्वामी जी ने कहा कि चारों वेदों में से किसी वेद का कोई मन्त्र निकालकर अर्थ कीजिए। पं० माधवराव ने ऋग्वेद का एक मन्त्र निकाला और उसका अर्थ करने लगे स्वामी जी ने पद-पद पर उनके अर्थों की अशुद्धि दिखानी आरम्भ की। परिणाम यह हुआ कि पण्डित माधवराव थोड़ी ही देर में चुप होकर बैठ गये। तब स्वामी जी ने उनसे कहा कि अभी आप कुछ और पढ़िए और तब शास्त्रार्थ करने आइए। माधवराव ने समझा कि स्वामी जी मेरा अपमान करते हैं, विशेषकर शिष्यों के सामने, इस प्रकार के पराजय से वह बहुत क्रोध में आये और उसी दशा में अपने शिष्यों सहित सभा से उठकर चले गये। शास्त्रार्थ के बीच में ही माधवराव का एक शिष्य स्वामी जी की ओर हाथ करके उनके लिए कुछ अपशब्द कह बैठा था। इस पर बलदेवसिंह को इतना आवेश आया कि वह खड़े हो गये और कड़क कर बोले कि क्या तुम श्रीमहाराज का अपमान करने आये हो, मेरी उपस्थित में ऐसा नहीं हो सकता। स्वामी जी माधवराव के शिष्य के असभ्य व्यवहार से तनिक भी धैर्य्यच्युत नहीं हुए। वे गम्भीर जलवत् शान्त रहे। उन्होंने बलदेव सिंह को यह कहकर शान्त कर दिया कि क्यों क्रोध करते हो, यह भी तो हमारा भाई है।

(देवेन्द्रनाथ १।३०९)

मूर्त्ति-पूजा और अद्वैतवाद

(पं० महीधर व पं० जीवनराम शास्त्री से शास्त्रार्थ राजकोट में—जनवरी १८७५)

महाराज के उपदेशों से लाभ उठाने अनेक लोग उनके पास आते थे। कोई-कोई किसी विषय पर वाद-प्रतिवाद भी करते थे। एक दिन पं० महीधर और जीवनराम शास्त्री उनके साथ मूर्त्ति-पूजा और अद्वैतवाद पर शास्त्रार्थ

करने आये। पण्डित महीधर ने पहले मूर्त्ति-पूजा सिद्ध करने का प्रयास किया, परन्तु स्वामी जी ने शीघ्र ही उन्हें निरुत्तर कर दिया। फिर उन्होंने वेदान्त पर बातचीत की। स्वामी जी ने उनसे कहा कि यदि आप ब्रह्म हैं तो अपने शरीर के साढ़ेतीन करोड़ लोमों में से एक को उखाड़ कर पुनः स्थापित कर दीजिये। ब्रह्म सर्वज्ञ और आप अल्पज्ञ हैं, फिर आप ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? इस पर पं० महीधर कुछ न कहसके और निरुत्तर हो गये। (देवेन्द्रनाथ १। ३१७, लेखरामपृ० २५३)

मूर्त्तिपूजा

(अहमदाबाद में पंडितों से शास्त्रार्थ—जनवरी १८७५)

२७ जनवरी को रावबहादुर विट्ठलदास के गृह पर एक सभा हुई। जिसका उद्देश्य स्वामी जी की विदासूचक संवर्द्धना करना और आर्य्यसमाज-स्थापना के विषय में परामर्श करना था। सभा में बेचरदास अम्बाईदास, गोपालराव हरि देशमुख, भोलानाथ साराभाई, अम्बालाल सागरलाल प्रभृति महानुभाव उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त शास्त्रीगण भी थे। जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—शास्त्री सेवकराम, लल्लूभाई बापू जी, भोलानाथ भगवान्।

शास्त्रीगण कहते थे कि मूर्त्तिपूजा हमारे शास्त्रों के अनुकूल है। इस पर बेचरदास अम्बाईदास ने उनसे कहा कि स्वामी जी आपसे शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, आप उनसे शास्त्रार्थ क्यों नहीं कर लेते ? परन्तु शास्त्री लोग इस पर सहमत नहीं हुए। उनसे शास्त्रार्थ न करने का कारण पूछा गया। उन्होंने कहा कि स्वामी जी ने—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्येन सविता रथेन देवो भुवनानि पश्यन्॥ यजु० ३३।४३॥

वेदमन्त्र का अर्थ अशुद्ध किया है। इस पर सब लोगों ने पण्डितों से अपना अर्थ करने का अनुरोध किया और कहा कि यह प्रतिपादित करो कि स्वामी जी ने भूल की है और आपका अर्थ ठीक है। अपने किए हुए अर्थों के नीचे अपने हस्ताक्षर कर दो। कुछ पण्डित तो सहमत हो गये और उन्होंने अर्थ करके हस्ताक्षर कर दिये और कुछ इस पर भी सहमत न हुए। स्वामी जी ने निम्न अर्थ करके उस पर हस्ताक्षर कर दिये।

स्वामी जी के किये अर्थ—

(आकृष्णेन) आकर्षणात्मना (रजसा) रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा (रथेन(रमणीयेन (देवः) द्योतनात्मकः (सविता) प्रसवकर्ता वृष्ट्यादेः (मर्त्यम्)

मर्त्यलोकम् (अमृतम्) ओषध्यादिरसं (निवेशयन्) प्रवेशयन् (भुवनानि पश्यन्) दर्शयन् (याति) रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन ।

(सविता) सर्वस्य जगत उत्पादकः (देवः) सर्वस्य प्रकाशकः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (अमृतम्) सत्योपदेशरूपम् (निवेशयन्) प्रवेशयन् सर्वाणि (भुवनानि) सर्वज्ञतया (पश्यन्) सन् (आकृष्णेन) सर्वस्याकर्षणस्वरूपेण परमाणूनां धारणेन वा (रथेन) रमणीयेनानन्दस्वरूपेण वर्त्तमानः सन् (याति) धर्म्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः ।

संवत् १९३१ पौष बदि षष्ठी, बुधवार, ७ काल, ४० मिनिट सही सम्मतिरत्र दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः ।

शास्त्रियों के किये अर्थ—

(आकृष्णेन) ईषत्कृष्णेन (रजसा वतमानः) सहितः (सविता देवः) सूर्य्यः (अमृतम्) स्वर्गं (मर्त्यम्) भूलोकं (निवेशयन्) स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् (हिरण्येन रथेन) स्यन्दनेन (भुवनानि पश्यन् याति) गच्छति ।

सही—लल्लूभाई बापूशास्त्रिणः सम्मतोऽयमर्थ ।
शास्त्री सेवकराम रामनाथः ।
सम्मतिरत्र भास्करशास्त्रिणः ।
सम्मतिरत्र अमृतरामशास्त्रिणः ।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने एक वक्तृता दी जिसमें कहा कि सबको वेदों का अनुकरण करना चाहिये ।

गोपालरावहरि, भोलानाथ, अम्बालाल आदि ने दोनों के अर्थों को देख और समझकर कहा कि शास्त्री अविवेकी और दुराग्रही हैं, स्वामी जी का किया अर्थ ही ठीक है ।

इस मन्त्र का जो अर्थ स्वामी जी ने किया था, उस पर उन निष्कारण वैरी पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री ने बहुत आक्षेप किया और उसे अशुद्ध बताया था । उसके सम्बन्ध में स्वामी जी ने अपने एक पत्र में संवत् १९३१, फाल्गुन शुक्ला ९ को गोपालराव हरि देशमुख को लिखा था कि उस विष्णु शास्त्री के विषय में एक बानगी लिखते हैं कि ऐसी मूर्खता कोई विद्यार्थी भी नहीं करेगा । 'ऋ गतिप्रापणयोः' इस धातु से रथ शब्द सिद्ध होता है । 'रमु क्रीडायाम्' इस धातु से नहीं, इससे यह अर्थ निर्युक्त और निर्मूल है । स्वामी जी ने लिखा है कि पाणिनिमुनिरचित उणादिगण सूत्र प्रमाण—

'हनि-कुषि-नी-रमि-काशिभ्यः' क्थन् । हयः, कुष्ठः, निथः, रथः, काष्ठम् ।

यास्को निरुक्तकारः—रथो रंहतेर्गतिकर्मणः इत्यत्र रममाणोऽस्मिस्तिष्ठतीति वेति ॥

इससे 'रम' धातु से ही रथ शब्द सिद्ध होने से "रमणीयो रथो रमतेऽस्मिन्निति वा।"

इन प्रमाणों को देखते हुए कौन कह सकता है कि विष्णुपरशुराम शास्त्री ने स्वामी जी पर रथ शब्द की निरुक्ति को अशुद्ध कहकर अपने नाम और विद्वत्ता को कलङ्कित नहीं किया ? उनका ऐसा करना केवल छिद्रान्वेषण करने के अभिप्राय से ही था।

उपर्युक्त प्रचार से वेदार्थविषयक बातचीत होने के पश्चात् शास्त्रियों का स्वामी जी से मूर्त्तिपूजा और वर्णाश्रम पर भी वार्तालाप हुआ था। शास्त्रियों ने भोलानाथ साराभाई और अम्बालाल सागरमल को मध्यस्थ बनाया था। विचार की समाप्ति पर दोनों ही मध्यस्थों ने अपनी सम्मति स्वामी जी के पक्ष में व शास्त्रियों के विरुद्ध दी थी। अन्त में लोगों ने स्वामी जी को धन्यवाद दिया और गोपालराव हरि देशमुख ने उनके भाषण से सन्तुष्ट होकर उन्हें एक सुन्दर पीताम्बर भेंट किया।

रावबहादुर गोपालरावहरि देशमुख पहले वेदों के विरोध में लेख और पुस्तक लिखा करते थे। स्वामी जी के बम्बई में दर्शन, सत्संग और व्याख्यानश्रवण से उनका संशयोच्छेदन हो गया और वे स्वामी जी के भक्त बन गये। स्वामी जी उन्हीं के निमन्त्रण पर अहमदाबाद गये थे।

(देवेन्द्रनाथ १ । ३२३, लेखराम पृ० २५८)

व्याकरण एवं नियोग

(बम्बई में पण्डितों से शास्त्रार्थ—मार्च, १८७५)

किसी कारण से बम्बई के पंडितों की यह धारणा हो गई थी कि स्वामी जी व्याकरण में बहुत व्युत्पन्न नहीं हैं। अतः उन्होंने सोचा कि यदि दयानन्द को व्याकरण विषयक शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया जायगा तो उनकी ख्याति और प्रभाव मन्द पड़ जायेंगे और फिर धर्म्म-विषय में भी लोग उनके कथन में श्रद्धा और विश्वास न करेंगे। अतः उन्होंने उक्त विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए स्वामी जी को आहूत किया। ज्यों ही शास्त्रीगण के यह शब्द महाराज के कर्णगोचर हुए, त्यों ही उन्होंने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया और शास्त्रार्थ की तिथि १० मार्च, सन् १८७५ नियत हो गई।

नियत दिवस और समय पर सभा-मण्डप में अपूर्व चहल-पहल दिखाई देने लगी। बड़े-बड़े सेठ आये, साहूकार आये, बैरिस्टर और सालिसिटर आये,

कालेजों के महोपाध्याय और स्कूलों के उपाध्याय आये, शिक्षित लोग भी आये और अशिक्षित भी, उष्णीषमण्डित पण्डित आये और दयानन्द को पराजित करने की आशा साथ लाये। दयानन्द भी आये, उनका मुखमण्डल सदा की भाँति प्रसन्न था, उस पर न चिन्ता की रेखा थी और न भय का चिह्न। सभास्थल में एक बड़ा सिंहासन बनाया गया था और उस पर वेदादि की पुस्तकें प्रमाण के लिये रक्खी गई थीं। स्वामी जी आकर सिंहासन पर विराजमान हो गये। पंडितों ने इस पर आपत्ति की तो स्वामी जी ने कहा कि हम संन्यासी होने के कारण बैठे हैं। आप लोग हमसे कुछ प्रश्न करें, यदि हम उत्तर न दे सकेंगे तो हम सिंहासन से उत्तर जायेंगे और आप बैठ जाना।

श्री आत्माराम बापू-दल शास्त्रार्थ-सभा के सभापति पद पर प्रतिष्ठित हुए। पण्डितों की ओर से पण्डित खेमजी बालजी जोशी ने भाषण आरम्भ किया। जोशी जी वाक्पटु समझे जाते थे, अतः श्रोतृवर्ग उनके कथन को उत्कण्ठा और आशा से सुनने लगे। परन्तु जोशी जी ने प्रकृत विषय पर तो कुछ नहीं कहा, इधर-उधर की बातें कहनी आरम्भ कर दीं। श्रोता उकताने लगे और उनकी ओर से जोशी जी को चुप कराने की चेष्टा होने लगी। परन्तु वह चुप होने वाले न थे, वह अप्रासंगिक बातें कहते ही रहे। अन्त में श्रोतृगण उनकी बातों से सर्वथा विरक्त हो गये और उन्हें अधिक समय नष्ट करने का अवकाश देने से श्रोताओं ने इन्कार कर दिया। इस पर जोशी जी को चुप होना ही पड़ा। तत्पश्चात् पण्डित इच्छाशंकर मुकुल ने स्वामी जी से व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न आरम्भ किये। स्वामी जी उनके उत्तर देते रहे। जब पंडित इच्छाशंकर के प्रश्न समाप्त हो गये और वह स्वामी जी के उत्तरों पर कोई आपत्ति न कर सके तो फिर स्वामी जी ने उनसे प्रश्न करने आरम्भ किये। पंडितों के उत्तर लिखे गये और स्वामी जी ने महाभाष्यादि ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा उनके उत्तरों को भ्रम-पूर्ण सिद्ध कर दिया। पंडितगण स्वामी जी के आक्षेपों का निराकरण न कर सके और विवश होकर उन्हें अपनी भ्रान्ति स्वीकार करनी पड़ी। सब लोगों को प्रतीत हो गया कि पण्डित वर्ग तो स्वामी जी से क्या उनके शिष्यों से भी तर्क करने की योग्यता नहीं रखता।

तत्पश्चात् पण्डितों ने नियोग पर कुछ आक्षेप किया जिनका उत्तर स्वामी जी ने इस ढंग से और ऐसी योग्यता और प्रबल युक्तियों से दिया कि पण्डितों को अनन्योपाय होकर मौन ही धारण करना पड़ा। पण्डितों की इस बार भी स्वामी जी को परास्त करने की आशा निराशा में ही परिणत हुई और वह खिन्न और विषादपूर्ण हृदयों के साथ घरों को लौटकर आये।

(देवेन्द्रनाथ १। ३२८, लेखराम पृष्ठ २५१)

मूर्त्तिपूजा

(बम्बई में शास्त्रार्थ' आचार्य कमलनयन जी से—१२ जून, १८७५)

बम्बई में नियमपूर्वक समाज स्थापित करके स्वामी जी द्वितीय वार अहमदाबाद पधारे और वहाँ प्रबल युक्तियों से स्वामी जी नारायणमत की समीक्षा की। बम्बई से स्वामी जी के चले आने के पश्चात् वहाँ के पौराणिक पंडितों ने यह प्रसिद्ध किया कि स्वामी जी शीघ्र यहाँ से चले गये नहीं तो हम उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत थे। जब इनके मिथ्या प्रवाह से लोगों में कुछ भ्रान्ति सी होने लगी तो समाज के मंत्री ने बम्बई से तार भेजकर स्वामी जी को अहमदाबाद से बुलवाया। स्वामी जी के आते ही पौराणिक पंडितों को मुँह दिखाना कठिन हो गया। लोगों के आग्रह करने पर भी शास्त्रार्थ से जी चुराने लगे। पं० कमलनयन आचार्य भी जो बम्बई के पौराणिक पंडितों के शिरोमणि माने जाते थे शास्त्रार्थ से बचने लगे। निदान बहुत से प्रतिष्ठित सभ्य लोगों के बाधित करने पर उन्होंने बड़ी कठिनता से स्वामी जी के सम्मुख आना स्वीकार किया। १२ जून शास्त्रार्थ की तिथि नियत हुई। शास्त्रार्थ का स्थान फ्राम जी क्राउस जी इनस्टीट्यूट' नियत हुआ। नियत समय पहले से लोग आने लगे। दोपहर के तीन बजे पश्चात् स्वामी जी पधारे और उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा के साथ एक उच्च स्थान पर कुरसी पर बिठाया गया। उनके सामने ही एक कुरसी आचार्य कमलनयन जी के लिए बिछायी गई। बीच में लगभग डेढ़ सौ प्रामाणिक संस्कृत की पुस्तकें रक्खी गई जिससे कि दोनों पक्षों को प्रमाणों के देखने का सुभीता रहे। चौंतरे के नीचे आठ कुर्सियां समाचार पत्रों के पत्र-प्रेषकों के लिए क्रम से लगाई गई थीं। ये वास्तव में दोनों ओर की उक्तियां लिखने के लिये आये थे। इस सभा में बम्बई के लगभग समस्त सेठ, साहूकार, अधिकारी और प्रतिष्ठित शिक्षित पुरुष उपस्थित थे। यथा रायबहादुर बेचरदास अलबाईदास, सेठ लक्ष्मीदास खेम जी, सेठ मथुरादास लोजी, राव बहादुर दादूबा पाण्डुरङ्ग, भाई शंकरनाना भाई गंगादास किशोरदास, हरगोविन्ददास, राणा मनसुखराम सूरजराम, रणछोड़ भाई उदयराम, विष्णु परशुराम इत्यादि प्रायः श्रीमान् और विद्वान् उपस्थित थे। इस समय यह खबर उड़ी कि आचार्य कमलनयन जी यहां इसलिए नहीं आवेंगे कि यह जगह एक पारसी की है। कारण यह था कि रामानुज सम्प्रदाय के यह आचार्य थे और इनके अनुयायी नहीं चाहते थे कि हमारे आचार्य के गौरव में अन्तर पड़े। परन्तु ज्यों त्यों आध घण्टे के पीछे आचार्य जी अपने २५-३० शिष्यों के सहित सभा में सुशोभित हुए और स्वामी जी के सामने वाली कुर्सी पर विराजमान हो गये, निदान राव बहादूर बेचरदास अलबाईदास जी को सभापति बनाया गया और उन्होंने आरम्भ में एक उपयुक्त वक्तृता की जिसका सार यह था कि वास्तव में

हम सब पौराणिक और मूर्त्तिपूजक हैं और मैं स्वयं मूर्त्तिपूजा किया करता हूँ। परन्तु हम सब यहां पर शास्त्रार्थ सुनने एकत्र हुए हैं। आग्रह और पक्ष को अपने चित्त से हटाकर स्वामी जी और आचार्य जी की विद्यापूरित और सारगर्भित वक्तृताओं को सुनें और सत्य को ग्रहण करें। हठ और विवाद से काम न ले। इस समयय सब से प्रधान विषय मूर्त्तिपूजा है। स्वामी जी का यह पक्ष है कि मूर्त्तिपूजा वेदों से निषिद्ध है और इसलिए वह पापकर्म है। आचार्य जी का पक्ष इसके सर्वथा विपरीत है अर्थात् वे मूर्तिपूजा को वेद-विहित समझते हैं। बस अब हमें दोनों महाशयों की उचित प्रत्युक्तियों को एकाग्र मन होकर बड़े ध्यान से सुनना चाहिए। किसी प्रकार का क्रोध, आवेग और कोलाहल नहीं करना चाहिए। अन्त में सेठ साहब ने यह भी विज्ञापित कर दिया था कि वास्तव में यह शास्त्रार्थ दो महाशयों के परस्पर प्रतिज्ञा का परिणाम है जिन्होंने इसके व्यय का सारा भार परस्पर आधा बाँटकर अपने ऊपर लिया है उनके नाम ठक्कर जीवन दयालु जी और मारवाड़ी शिवनारायण वेनीचन्द हैं। ठक्कर जी ने मारवाड़ी शिवनाराण वेनीचन्द से (जो सदा आचार्य कमलनयन जी के पक्ष का आश्रय लिया करते हैं) यह कहा था कि यदि आचार्य जी शास्त्रार्थ में स्वामी जी को जीत लेंगे तो मैं आचार्य जी का शिष्य हो जाऊँगा अन्यथा आपको स्वामी जी का भक्त होना पड़ेगा। शास्त्रार्थ का विषय मूर्त्तिपूजा है। मैं फिर निवेदन करता हूँ कि आप सब महाशय स्वस्थचित्त होकर आचार्य जी और स्वामी जी की पाण्डित्य भरी वक्तृताओं को सुनें और अपने लिए उसका परिणाम निकालें।

सेठ साहब अपनी वक्तृता समाप्त करके बैठ गये। तदनन्तर मारवाड़ी शिवनारायण वेनीचन्द ने यह विवाद उपस्थित किया कि ठक्कर जी से मैंने यह भी कह दिया था कि मूर्त्तिपूजा की सिद्धि में पुराणों के भी प्रमाण दिये जावेंगे। परन्तु ठक्कर जी के प्रतिज्ञा पत्र प्रस्तुत करने पर वे मौन हो गये, यह प्रतिज्ञा-पत्र सेठ साहब ने सभा में उच्चैः स्वर से सबको सुना दिया। उसमें इस बात की गन्ध भी नहीं थी। निदान मारवाड़ी जी को चुप होना पड़ा। अब आचार्य कमलनयन जी की वारी आई, वे कहने लगे कि कितने पण्डित इस सभा में उपस्थित हैं, पहले वे मुझे अपने-अपने मत से सूचना देवें कि किन-किन सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते हैं। यह सुनकर विचारशील पुरुषों ने कहा कि यह एक अत्यन्त असङ्गत और व्यर्थ प्रश्न है। आपको इस समय साधारण रीति पर किसी के विश्वास वा मत से कुछ प्रयोजन न होना चाहिए। सभापति आप की सम्मति से नियत-हो चुके हैं बाकी सब श्रोतागण शेष हैं उनको शास्त्रार्थ की समाप्ति पर अधिकार है कि कुछ सम्मति निर्धारण करें। परन्तु आचार्य जी ऐसी युक्ति-युक्त बातों को कब सुनते थे कहने लगे कि हम कैसे समझें कि यह लोग किन-

किन सम्प्रदायों के और ठीक-ठीक सम्मति निर्धारण कर सकेंगे या नहीं ? यह सुनकर प० कालिदास गोविन्द जी शास्त्री खड़े हुए और आचार्य जी को सम्बोधन करके कहने लगे कि आप व्यर्थ इस प्रकार की बातों से अपना और उपस्थित लोगों का समय नष्ट करना चाहते हैं । मैं आप के सम्मुख प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं निष्पक्ष और सत्य-सत्य जो कुछ मेरी समझ में आवेगा अन्त में प्रकट कर दूंगा और जो कुछ शास्त्रार्थ सुनने के बाद मेरी सम्मति होगी वह भी नहीं छिपाऊँगा और आप दोनों की वक्तृता अक्षरशः लिखता जाऊंगा । शोक कि आचार्य जी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया । तब स्वामी जी ने कोमलता और प्रीति के साथ आचार्य जी से कहा कि आज का दिन मैं अत्यन्त मांगलिक समझता हूँ कि आप धर्म के एक आवश्यक विषय पर मुझ से वार्तालाप करने के लिए यहाँ पधारे हैं और लोगों के इतने संग्रह से यह प्रकट है कि लोगों में सत्यासत्य के निर्णय करने का सच्चा और प्रबल उत्साह है । मेरा जो पक्ष है वह सभापति महाशय ने बड़ी उत्तमता के साथ सर्व साधारण को अभी सुना दिया है इसी प्रकार आपका भी । अब आप को उचित है कि मूर्त्तिपूजा को वेदों में सिद्ध करें, प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाण देवें जिससे प्रकट हो कि प्रमाण और प्रतिष्ठा (मुर्त्ति में प्राण का सचार हो जाता है) आवाहन (जिससे उनको बुलाया जाता है) विसर्जन (जिससे उनको विदा किया जाता है) पूजन (जिससे उन्हें प्रसन्न और आनन्दित किया जाता है) इत्यादि करना सार्थक और उचित है । यों तो इस समय एक सज्जन और विचारशील सेठ साहब सभापति हैं परन्तु मेरी सम्मति में मेरे और आपके वास्तविक मध्यस्थ चारों वेद हैं । आप विश्वास रखें हम में से लेशमात्र भी किसी का पक्ष न करेंगे । उचित रीति यह है कि हमारे कथोपकथन अक्षरशः पीछे से प्रकाशित कर दिये जावें जिससे कि सर्वत्र पण्डितों को अपनी स्वतंत्र सम्मति निर्धारण करने का अवसर मिल सके । स्वामी जी की यह समीचीन उक्ति सुनकर भी आचार्य जी की समझ में नहीं आया और वे अपना हठ करते रहे कि हमने जो कुछ कहा है जब तक वह नहीं होगा शास्त्रार्थ नहीं हो सकता । जिसका स्पष्ट यह आशय था कि हम शात्रार्थ नहीं करते । यह व्यवस्था देखकर सेठ मथुरादास लोजी खड़े हुए और उन्होंने आदि से अन्त तक वह कार्यवाही सुनायी जो उन्होंने कुछ प्रतिष्ठित पुरुषों की प्रेरणा से आचार्य कमलनयन जी से शास्त्रार्थ के विषय में की थी ।

आचार्य जी में इतना साहस कब हो सकता था कि सेठ जी के एक शब्द का भी प्रत्याख्यान करें । निदान अत्यन्त लज्जित होकर विना कुछ कहे सुने सभा से उठकर चल दिये । इस पर प्रधान सभा ने आचार्य जी को सम्बोधन करके

कहा कि आप इस प्रकार विना कुछ कहे जाते हैं यह उचित नहीं है। सहस्रों मनुष्य आज बडे उत्साह से आपके पाण्डित्य का चमत्कार देखने आये थे, उनको बडी भारी निराशा होगी। स्वामी जी ने फिर आचार्य जी से कहा कि आजकल मूर्त्तिपूजा से लाखों मनुष्यों का निर्वाह होता है यदि आप उनकी आजीविका स्थिर रखना चाहते हैं तो इससे बढ़कर और कौन-सा अवसर होगा। परन्तु आचार्य को तो वहां एक क्षण भर ठहरना भी कठिन हो गया था। वे अपने मन में कहते थे कि वह कौन-सी घडी हो जो मैं अपने घर पहुँच जाऊँ। परिणाम यह हुआ कि आचार्य जी जैसे कोरे आये थे वैसे ही चले गये। आचार्य जी के चले जाने के पश्चात् सेठ छबीलदास लल्लूभाई और राजमोहन राजेश्वरी बोल जी ठाकुर ने रामानुज सम्प्रदाय के आचार्य की इस उदासीनता पर अत्यन्त शोक प्रकट किया। इसी सभा में सेठ गोबिन्ददास बाबा ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि मूर्त्तिपूजा सनातन से चली आती है वा यह आधुनिक है। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि बहुत थोडे काल से यह प्रवृत्त हुई है। बुद्ध और जैन के पश्चात् बहुत से कम समझ मनुष्यों ने इसको चला दिया था नहीं तो संस्कृत के प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थों में इसका कहीं नाम तक नहीं पाया जाता। इसके पश्चात् स्वामी जी ने इसी सभा में अपना यौक्तिक व्याख्यान मूर्त्तिपूजा के खंडन में प्रारम्भ किया और वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा को महापाप सिद्ध कर दिया। समाप्ति पर सभापति ने स्वामी जी के गले में फूलों का हार डाला और सेठ छबीलदास लल्लूभाई इन्हें अपनी जोडी में सवार कराकर इनके आश्रम तक पहुँचा आये। (आर्यधर्मेन्द्र जीवन, रामविलास शारदा पृ० ११७)

मूर्त्तिपूजा

(बम्बई में पण्डितों से शास्त्रार्थ—मार्च, १८७६)

जब बम्बई के शास्त्रीगण सब प्रकार से तैयारी कर चुके तो स्वामी जी को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया गया। उन्होंने तत्क्षण शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ का विषय वही पुराना विषय था कि मूर्त्तिपूजा वेदविहित है वा नहीं। शास्त्रार्थ की तिथि २७ मार्च, सन् १८७६ और स्थान भाई जीवन जी का हाल नियत हुआ।

नियत तिथि पर शास्त्रार्थ-सभा संगठित हुई। दर्शकों से हाल इतना खचाखच भर गया था कि खड़े होने तक को जगह न रही थी और बहुत से लोगों को घर लौट आना पड़ा। स्वामी जी यथासमय बिना किसी आडम्बर के सभा में उपस्थित हो गये। पंडित रामलाल भी पधारे और बड़े दलबल और घोर गर्ज के साथ पधारे। उनके साथ अनेक स्थानीय शास्त्री और उनके शिष्य तथा

श्रद्धालु जन थे। शास्त्रार्थ-सभा में मध्यस्थ का आसन श्री भूभाऊ जी शास्त्री ने ग्रहण किया। शास्त्रार्थ उचित भावानुकूल और ऐसे ढग मे हुआ कि उसमें भाग लेने वालों के लिये वह प्रशंसनीय था।

पंडित गट्टूलाल जी ने भी शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया था, परन्तु वह सभास्थल में नहीं पधारे। उनके लाने के लिए गाड़ी भी भेजी गई परन्तु उन्होंने कहला भेजा कि हमको वमन हो गया है, हम नहीं आ सकते, हमारी ओर से पंडित रामलाल ही शास्त्रार्थ करेंगे।

स्वामी जी ने प्रथम ही पण्डित रामलाल से यह स्वीकार करा लिया कि आर्य्यों का मौलिक धर्म-ग्रन्थ वेद है और फिर उनसे वेद का कोई मन्त्र वा पंक्ति दिखाने को कहा कि जिसमें मूर्तिपूजा की ओर संकेत हो। पंडित रामलाल ने पुराण और स्मृतियों के प्रमाण उपस्थित किये। स्वामी जी ने कहा कि ये ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं, यदि कोई वेदमन्त्र स्मरण हो तो कहिये। इस पर पंडित रामलाल ने फिर मनुस्मृति के प्रमाण प्रस्तुत किये। स्वामी जी ने कहा कि इन प्रमाणों में आये हुए प्रतिमा और देव शब्दों से मूर्तिपूजा का कोई सम्बन्ध नहीं है और उनके यथार्थ अर्थ करके दिखाये और यह भी कहा कि पण्डित जी के बताए हुए ग्रन्थों में पण्डितों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के निमित्त बहुत से असत्य भाग प्रक्षिप्त कर दिये हैं। अतः वह उन ग्रन्थों का प्रमाण उक्त असत्य भागों को छोड़कर ही स्वीकार करते हैं। मौलिक धर्म्म-ग्रन्थ वेद में एक शब्द भी नहीं है, जिससे मूर्तिपूजा का प्रतिपादन होता हो, अन्य ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकते।

तदनन्तर पंडित रामलाल ने फिर भी स्मृतियों और पुराणों के प्रमाण उपस्थित किये। इस पर मध्यस्थ ने कहा कि पंडित जी! स्वामी जी प्रश्न कुछ और करते हैं और आप उत्तर कुछ और ही देते है। यह सभा और पण्डितों का नियम नहीं। जैसे किसी ने द्वारिका का मार्ग पूछा और उसने कलकत्ते का मार्ग बतलाया, ऐसा ही आपका यह शास्त्रार्थ है। अन्त में पंडित रामलाल ने कहा कि हम मूर्तिपूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते परन्तु मनुस्मृति, ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध कर सकते है। इसी पर शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

शास्त्रार्थ-सभा साढ़े ग्यारह बजे रात्रि के विसर्जन हुई। शास्त्रार्थ के अन्त में अनेक लोगों ने भाई जीवन जी को धन्यवाद दिया कि उनके उद्योग से ऐसा चमत्कारिक परिणाम प्राप्त हुआ। सब लोग यह विश्वास लेकर घरों को लौटे कि आर्य्यों के मौलिक धर्मग्रन्थ वेद में मूर्त्ति-पूजा की कोई आज्ञा नहीं है।

(देवेन्द्रनाथ १। ३६५, लेखराम पृ० २४६-२५०)

मूर्त्तिपूजा

(पं० रालाल शास्त्री से बम्बई में शास्त्रार्थ—२७ मार्च, १८७६)

जब स्वामी जी बम्बई से पूर्व की ओर जाने को उद्यत हुए उस समय यहां के पण्डितों ने स्वयं दूर रहकर रामलाल जी को जो नदियां शान्ति के विद्वान् थे, शास्त्रार्थ क्षेत्र में आने के लिए उद्यत किया। उसने एक हूकाभाई जीवन जी के घर में बहुत झगड़े के पश्चात् चैत सुदि संवत् १९३३ सोमवार के दिन शास्त्रार्थ आरम्भ किया। बहुत से भद्रपुरुष उस शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे। दोनों पक्षों की सम्मति से पण्डित बहुजाऊ जी शास्त्री घारीपुरी निवासी सभापति निश्चित हुए।

स्वामी जी—वेद के किस मन्त्र मे मूर्त्तिपूजा का विधान है सो बतलाइये ?

पण्डित रामलाल जी पुराण और स्मृतियों के श्लोक बोलने लगे।

स्वामी जी—ये ग्रन्थ मानने के योग्य नहीं हैं। वेद का यदि कोई मन्त्र स्मरण हो तो कहिए—

पण्डित जी ने मनुस्मृति के वे श्लोक जिनमें प्रतिमा, देव शब्द थे, बोले।

स्वामी जी ने सब श्लोकों के यथार्थ प्रमाण सहित अर्थ कर दिये कि इनका मूर्त्ति-पूजा से कोई सम्बन्ध नहीं था।

पण्डित जी फिर और स्मृतियों और पुराणों के श्लोक बोलने लगे परन्तु अन्त तक वेद का कोई मन्त्र न बोले (तब मध्यस्थ जी बोले)।

मध्यस्थ पण्डित बहुजाऊ जी शास्त्री बोले कि रामलाल जी! स्वामी जी प्रश्न कुछ और करते हैं और आप उत्तर कुछ ही देते हैं। यह सभा और पण्डित का नियम नहीं है जैसे किसी ने किसी से द्वारिका का मार्ग पूछा और बतलाने वाले ने कलकत्ते का मार्ग बतलाया। इसी प्रकार का यह आपका शास्त्रार्थ है। ऐसा कहने पर भी रामलाल ने कोई वेद का प्रमाण नहीं दिया। तब सबकी सम्मति से सभा विसर्जित हुई और सभापति ने सब से स्पष्ट कह दिया कि "आज पण्डित रामलाल पाषाण-पूजन वेदोक्त सिद्ध न कर सके।"

इस प्रकार सत्य कह देने पर इस सत्यवक्ता शास्त्री को कितने ही स्वार्थी पण्डितों ने सताने में कोई कमी न रखी।

फिर चैत संवत् १९४० में इन्हीं पण्डित महोदय की मैनेजर वेदभाष्य तथा वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से भेंट हुई और वह सारी की सारी "देश हितैषी" पत्रिका चैत मास उक्त संवत् में प्रकाशित हो गई जो रोचकता से रहित नहीं है।

मैनेजर—आपने संस्कृत विद्या का बहुत दिन तक अध्ययन किया है और

आप इस भाषा के विद्वान् हैं और धर्मशास्त्र के ग्रन्थ देखे होंगे और आपके अतिरिक्त काशी आदि स्थानों में और भी बहुत विद्वान् हैं और स्वामी दयानन्द सरस्वती भी बड़े विद्वान् हैं सो आप सब लोग जानते होंगे। फिर क्या कारण है कि आप लोगों और स्वामी जी की धर्म-सम्बन्धी विषयों में बातें नहीं मिलती है। स्वामी जी चारों वेदों को प्रामाणिक मानते हैं तब उनमें लिखी बातों को क्या आप लोग सिद्ध नहीं कर सकते ? जो स्वामी जी सत्य कहते तो आप लोगों को उनका कहना मानना और जो असत्य कहते हैं तो उनकी बातों का सभा करके खण्डन करना चाहिए सो आप लोग दोनों बातों में से एक भी नहीं करते इसका क्या कारण है ?

पण्डित रामलाल जी—स्वामी जी सन्यासी हैं, उनको किसी की पर्वाह नहीं। उन्होंने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन बहुत दिनों तक किया है। वे समर्थ हैं उनकी बुद्धि बड़ी प्रबल है। वे कहते सो शास्त्रानुसार सत्य ही कहते हैं परन्तु हमारी शक्ति नहीं कि उनका सामना कर सके क्यों कि हम लोग गृहस्थी हैं, हमें अनेक बातों की अपेक्षा बनी रहती है फिर हम स्वामी जी की सी बातें कैसे कह सकते हैं ? संसार में और भी चर्चा फैली हुई है जो उसके विरुद्ध कहें तो हमारे कहने से भी कुछ भी न हो और लोग विमुख हो जावे, फिर आजीविका ही जाती रहे, तब निर्वाह कैसे होय ?

मैनेजर—इससे सिद्ध हुआ कि आप अधर्म की जीविका करते हैं क्योंकि आप जानते हैं कि यह बात मिथ्या है फिर उससे द्रव्योपार्जन करना अधर्म है। देखो ! स्वामी जी ने असत्य को छोड़कर सत्य ग्रहण किया तो थोड़े काल में उनका कितना मान हुआ है। इसी प्रकार जो आप लोग भी सत्य को स्वीकार करें तो वैसा ही सम्मान और नाम आप लोगों का क्यों न हो ?

पण्डित जी—क्या करे, सर्व संसार में ऐसी ही प्रवृत्ति हो रही है, उससे विरुद्ध हम लोग कहें तो कोई नहीं मानता। इस प्रकार तो स्वामी जी का ही निर्वाह हो सकता है, हम गृहस्थियों का नही। (पृष्ठ ८-९)

(लेखराम पृष्ठ २७२ से २७३)

मोक्ष एवं ईसा पर विश्वास

(फर्रुखाबाद में दो पादरियों से प्रश्नोत्तर—मई, १८७६)

एक दिन स्वामी से दो पादरियों की धर्म-विषय पर बातचीत हो रही थी। उनमें से एक पादरी का नाम लूकस था। दूसरा देशी ईसाई था।

लूकस—आपके मत से मोक्ष का क्या उपाय है ?

दया०—हमसे पादरी विल्मन ने भी यही प्रश्न किया था। उन्होंने कहा मोक्ष का साधारण मनुष्यों के लिये एक प्रकार का उपाय है अर्थात् ईश्वरप्राप्ति *और ईसाइयों के लिए अन्य प्रकार का अर्थात्* ईसा पर विश्वास लाना। हमने इस पर उनसे कहा था कि पहला ही उपाय ठीक है।

लूकस—मनुष्य ईसा पर विश्वास करने से ही मुक्ति पा सकता है, क्योंकि वह ईश्वर का पुत्र और मनुष्यों का परित्राता था और इसलिए ईश्वर ने उसे भेजा था। इसका प्रमाण यह कि ईसा ने बहुत से मृत पुरुषों को जिलाया था।

दया०—सत्य वेदोक्त धर्म में ईश्वर के अवलम्बन से ही मोक्ष होता है। महाभारत में लिखा है कि शुक्राचार्य ने संजीविनी विद्या से मृत पुरुषों को जिलाया था। अब हम शुक्राचार्य को ईश्वर का अवतार मानें या उन्हें ईश्वर का भेजा हुआ मानें। यदि उत्तम उपदेश देने से ही ईसा को परित्राता कहते हो तो बायबिल की अपेक्षा भगवद्गीता में अधिक उत्तम उपदेश हैं, इसलिए भगवद्-गीता के वक्ता श्री कृष्ण भी परित्राता थे कि उन्होंने उत्तम कर्म किये थे, तो शंकराचार्य अपेक्षाकृत उत्तमोत्तम कर्म कर गये हैं, इसलिये शंकराचार्य भी परि-त्राता हैं।

पादरी साहब इन बातों का कुछ उत्तर न दे सके।

स्वामी जी ने पादरी साहब से यह भी कहा था कि तुम्हारे देश में बहुत बल है इसलिये तुम्हारी परिश्रम में अनास्था हो गई है। अतएव तुम्हारी मध्यस्थ अवस्था नहीं रही है और तुम क्रमशः अवनति की ओर जा रहे हो। इसके पश्चात् स्वामी जी ने शरबतादि से सत्कार करके पादरी साहब को विदा किया।

(देवेन्द्रनाथ २।२)

विविध प्रश्नोत्तर

(ला० ब्रिजलाल साहब रईस, लखनऊ से प्रश्नोत्तर—सितम्बर-अक्तूबर १८७६)

प्रश्न—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किस प्रकार हैं, कब से है और किसके बनाये हैं।

उत्तर—कर्मों की दृष्टि से चरों वर्ण ठीक हैं और लोकव्यवहार से ठीक नहीं हैं अर्थात् जो जैसा कर्म करे वैसा ही उसका वर्ण है। उदाहरणार्थ जो ब्रह्म-विद्या जाने वह ब्राह्मण, जो युद्ध करे वह क्षत्रिय, लेन-देन हिसाब-किताब करे वह वैश्य, जो सेवा करे वह शूद्र है। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय या शूद्र का काम करे तो ब्राह्मण नहीं सारांश यह कि वर्ण कर्मों से होता है, जन्म से नहीं। जन्म से चारों वर्ण

(वर्तमान अवस्था में) लगभग बारह सौ वर्ष से बने हैं। जिसने बनाये उसका नाम इस समय स्मरण नहीं परन्तु महाभारतादि से पीछे बने हैं।

प्रश्न २— क्या ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से और क्षत्रिय भुजा से उत्पन्न हुए हैं?

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि जैसे शरीर में मुख श्रेष्ठ है ऐसे सब वर्णों में ब्रह्म का जानने वाला श्रेष्ठ है। इसी कारण कह दिया कि ब्राह्मण मुख से हुआ इसी प्रकार और वर्णों का समझ लो।

प्रश्न ३—ब्राह्मण यज्ञोपवीत किस लिए रखते हैं?

उत्तर—यज्ञोपवीत केवल विद्या का एक चिह्न है।

प्रश्न ४—कोई कर्म करना चाहिए या नहीं?

उत्तर—उत्तम कर्म करना चाहिए।

प्रश्न ५—उत्तम कर्म कौन से है?

उत्तर—सत्य बोलना, परोपकारादि उत्तम कर्म हैं।

प्रश्न ६—सत्य किसे कहते हैं?

उत्तर—जिह्वा से सत्य बोलना, जो मन में होवे वह वाणी से कहना या ऐसा विचार करके कहना जो कभी झूठ न हो।

प्रश्न ७—मूर्त्ति पूजना कैसा है?

उत्तर—बुरा है। कदापि मूर्ति-पूजन न करना चाहिए। इस मुर्त्ति-पूजा के कारण संसार में अन्धकार फैल गया।

प्रश्न ८—विना मूर्त्ति के किस का ध्यान करे और किस प्रकार?

उत्तर—जैसे सुख दुःख का ध्यान मन में होता है वैसे परमेश्वर का ध्यान मन में होना चाहिए, मूर्त्ति की कुछ आवश्यकता नहीं।

प्रश्न ९—क्या कर्म करना चाहिए?

उत्तर--दो समय सन्ध्या करे और सत्य बोले और जो श्रेष्ठ कर्म परोपकार के हों वे करें।

प्रश्न १०—सन्ध्या दो समय करनी चाहिए या तीन समय?

उत्तर—केवल दो समय प्रातः-सायं, तीन समय नहीं।

प्रश्न ११—बार बार या प्रत्येक बार मन्त्र जपना या परमेश्वर का नाम लेना चाहिए या नहीं और जैसे ब्राह्मण लाख दो लाख मन्त्र या परमेश्वर के नाम का जाप और पुरश्चरण करते हैं यह ठीक है या नहीं है?

उत्तर— पहचानना चाहिए। जाप और पुनश्चरण करना कुछ आवश्यक नहीं।

प्रश्न १२—परमेश्वर का कोई और रूप है या नहीं ?

उत्तर—उसका कोई रूप और रङ्ग नहीं है, वह अरूप है और जो कुछ इस संसार में दिखलाई देता है उसी का रूप है क्योंकि केवल एक अर्थात् वही एक सबका बनाने और उत्पन्न करने वाला है।

प्रश्न १३—ईश्वर संसार में दिखलाई क्यों नहीं देता है ?

उत्तर—यदि दिखलाई देता तो कदाचित् सब कोई अपना मनोरथ पूर्ण करने को कहते और उसे तंग करते। दूसरे जिन तत्त्वों से मनुष्य का यह शरीर बना है उनसे उसका देखना असम्भव है। तीसरे जिसने जिसको उत्पन्न किया उसको वह क्योंकर देख सकता है ?

प्रश्न १४—जब दिखाई नहीं देता तो किस प्रकार उसको पहचाने ?

उत्तर—दिखलाई तो देता है अर्थात् यह मनुष्य, पशु, वृक्षादि सब वस्तुए जो संसार में दिखलाई देती हैं उन सबका कोई एक अर्थात् वही एक बनाने वाला प्रतीत होता है, यही उसका देखना है और जैसे सुख-दुःख पहचाना जाता है वैसे ही उसको पहचाने।

प्रश्न १५—ब्रह्म हम में और सब में है या नहीं ?

उत्तर—सब में है और हम में भी है।

प्रश्न १६—किस प्रकार विदित हो ?

उत्तर—जिस प्रकार दुःख-सुख का प्रभाव मन में विदिन होता है उसी प्रकार वह भी विदित हो सकता है।

प्रश्न १७—सब स्थानों पर एक समान है या न्यूनाधिक ?

उत्तर—सर्वत्र एक समान है परन्तु यह बात है कि जितना जिसके आत्मा में उस चेतन का प्रकाश है अर्थात् जिसको जितना ज्ञान है उतना उसको अनुभव होता है।

प्रश्न १८—देव किसको कहते हैं ?

उत्तर— जो मनुष्य विद्यावान् और बुद्धिमान् पंडित हो उसको देव कहते है।

प्रश्न १९—रामलीला देखना दोष है ?

उत्तर—हां दोष है। हजार हत्या के समान दोष है और इसी प्रकार मूर्त्ति-पूजा करना हजार हत्या के समान पाप है। क्योंकि विना आकृति के प्रतिबिम्ब

नहीं उतर सकता और जबकि उसकी आकृति नहीं तो मूर्त्ति कैसी ? यदि किसी का फोटोग्राफ से या और किसी प्रकार यथार्थ प्रतिबिम्ब उतारकर संस्मरण को और देखने को सम्मुख रखा जाये तो वह ठीक है परन्तु उसकी अर्थात् ब्रह्म की मूर्ति और आकृति बनाना और प्रतिलिपि की पतिलिपि बनाकर कुछ का कुछ कर देना नितान्त अशुद्ध और अनुचित है।

पश्न २०—संस्कृत भाषा कब से है और क्यों उसको अच्छा कहते हैं ?

उत्तर—संस्कृत भाषा सदा से है और अत्यन्त शुद्ध है। इसके समान कोई भाषा अच्छी नहीं है। उदाहरणार्थ यदि, फारसी और अंग्रेजी में केवल "ब" प्रकट किया चाहें तो शुद्ध पकट नहीं किया जा सकता अर्थात् फारसी में "बे" और अंग्रेजी में "बी" है परन्तु जिसमें और कोई सम्मिलित न हो यह केवल संस्कृत भाषा में ही प्रकट करने का गुण है।

प्रश्न २१— वेद में परमेश्वर की स्तुति है तो क्या उसने अपनी प्रशंसा लिखी ?

उत्तर—जैसे माता पिता अपने पुत्र को सिखाते हैं कि माता, पिता और गुरु की सेवा करो, उनका कहा मानो। उसी प्रकार भगवान् ने सिखाने के लिये वेद में लिखा है।

प्रश्न २२—भगवान् का जब स्वरूप और शरीर नहीं तो मुख कहाँ से आया कि जिससे वेद कहा ?

उत्तर—भगवान् ने चार ऋपियों अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा के हृदय में प्रकाश करके वेद बताया।

प्रश्न २३—अब विदित हुआ कि चार वेद उन चार ऋषियों के बनाये हुए हैं।

उत्तर—नहीं, नहीं, भगवान् के वेद बनाये और कहे है क्योंकि वे चारों कुछ पढ़े न थे और न कुछ जानते थे। उनके द्वारा आप ही कहे हैं।

प्रश्न २४—भगवान् ने उनके हृदय में किस प्रकार आकर वेद कहा ?

उत्तर—जैसे कोई मनुष्य पित्त वा सन्ताप में आप ही आप बोलने लगता है उसी प्रकार उस भगवान् ने उन चारों के घट में जिह्वा में प्रकाश करके कहा और उन्होंने उसकी शक्ति से विवश होकर कहा। इसलिये प्रकट है कि भगवान् ने वेद कहे हैं।

प्रश्न २५—जीव एक है या अनेक ?

उत्तर—जीव का प्रकार एक है और जाति अर्थात् योनियाँ अनेक है।

उदाहरणार्थ मनुष्य की एक जाति है और पशु की दूसरी जाति है। इसी प्रकार और जातियां भी समझ लो।

प्रश्न २६—यह जीव प्रत्येक देह में जाता है और छोटा-बड़ा हो जाता है।

उत्तर—जैसे जल में जो रंग मिला दोगे वैसा ही जल हो जावेगा। इसी प्रकार जिस देह में यह जीव जावेगा वैसा ही उसका रूप, रंग और छोटा-बड़ा देह होगा परन्तु जीव सबका एक सा है जैसा चींटी का वैसा ही हाथी का।

(लेखराम पृष्ठ २७७ से २८०)

सृष्टयुत्पत्ति आदि

(पादरी पार्कर साहब से मुरादाबाद में शास्त्रार्थ—नवम्बर, १८७६)

पहली बार स्वामी जी सन् १८७६ में मुरादाबाद पधारे। यहां स्वामी जी का पादरी पार्कर साहब से कई दिन तक प्रातःकाल लिखित शास्त्रार्थ होता रहा।

साहू श्यामसुन्दर जी रईस मुरादाबाद ने वर्णन किया कि पादरी पार्कर साहब का शास्त्रार्थ राजा जयकिशनदास साहब बहादुर की कोठी पर कम से कम १५ दिन तक होता रहा। मैं नित्य जाया करता था। कुँवर परमानन्द, रूपकिशोर अध्यापक मिशन स्कूल, मास्टर हरिसिंह तथा और भी कई सज्जन जाया करते थे। अन्तिम दिन का विषय था कि सृष्टि कब उत्पन्न हुई। पादरी साहब का कथन था कि सृष्टि पांच हजार वर्ष से उत्पन्न हुई और स्वामी जी इसका खंडन करते थे।

इसी समय में ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन कमेटी की सभा उस कोठी के एक कमरे में हुआ करती थी। उस अन्तिम दिन स्वामी जी दूसरे कमरे में जाकर एक बिल्लौर का पत्थर उठाकर लाये कि आप लोग विज्ञान जानते हैं, इसको विज्ञान से सिद्ध करें कि कितने वर्ष में यह पत्थर इस रूप में आया। अन्त में खोज से यही सिद्ध हुआ कि वह कई लाख वर्ष में बना है। फिर कहा कि जब सृष्टि नहीं थी तो यह पत्थर कैसे बन गया? जिस पर पादरी साहब ने यह निकम्मा बहाना किया कि हम मनुष्य की उत्पत्ति को पाँच हजार वर्ष कहते हैं। इस पर स्वामी जी ने कहा कि जब सृष्टि की उत्पत्ति की चर्चा है तो सृष्टि के भीतर मनुष्यादि सब आ गये। इसी पर शास्त्रार्थ समाप्त हुआ था। पादरी साहब ने इस शास्त्रार्थ का वृत्तान्त किसी समाचारपत्र में भी प्रकाशित कराया था परन्तु उसका नाम मुझे ज्ञात नहीं और यह भी सुना कि पादरी साहब ने एक चिट्ठी अमरीका भेजी कि हमने आजतक ऐसा विद्वान् पंडित कोई नहीं देखा।

बाबू रूपकिशोर जी ने वर्णन किया कि रैवरेण्ड डब्ल्यू पार्कर साहब और स्वामी जी के मध्य जो शास्त्रार्थ हुआ था वह मैंने लिखा था, परन्तु खेद है कि मेरे पुत्र के प्रमाद से वे कागज नष्ट हो गये। अब जो कण्ठस्थ मुझे ज्ञात है वह लिखवाता हूँ। इस शास्त्रार्थ में तीन अंग्रेज सज्जन उपस्थित थे। एक पादरी पार्कर, दूसरे मिस्टर बेली साहब और तीसरे एक और पादरी साहब। इनके अतिरिक्त डिप्टी इमदाद अली, बाबू रामचन्द्र बोस, कुंवर परमानन्द. मास्टर हरिसिंह और इसी प्रकार ४०-५० मनुष्य थे। शास्त्रार्थ लिखा जाता था। १४-१५ दिन शास्त्रार्थ होता रहा। बेली साहब अब अलीगढ़ में रजिस्ट्रार हैं। प्रतिदिन प्रातः दो तीन घंटे बैठते थे।

अन्त में एक बात मुझे स्मरण है कि स्वामी जी ने सिद्ध कर दिया था कि मसीह मूर्तिपूजा की शिक्षा देता था क्योंकि ईश्वर को किसी के द्वारा मानता तथा किसी के द्वारा इच्छापूर्ति की प्रार्थना करता है वह मूर्तिपूजक है और हम मूर्तिपूजक नहीं हैं। (लेखराम पृष्ठ ४४१)

विविध प्रश्नोत्तर

(अम्बहटा निवासी मुंशी चंडीप्रसाद के प्रश्न तथा स्वामी दयानन्द जी के उत्तर)

१५ मार्च, १८७७

प्रश्न—वेद शास्त्र के अनुसार हिन्दुओं को किस किस की उपासना करनी चाहिए और जन्मदिवस से लेकर मृत्यु पर्यन्त क्या-क्या काम करने चाहिए।

उत्तर—नारायण के अतिरिक्त और किसी की उपासना नहीं करनी चाहिए। विद्या प्राप्त करके मन की शुद्धि करनी चाहिए। और सत्य व्यवहार पूर्वक आजीविकार्थ तथा अन्य सासारिक कार्य करने उचित हैं।

प्रश्न—प्रायः हिन्दू और उदाहरणार्थ कायस्थ क्षत्रिय आदि मद्य और शिकार खाते-पीते हैं सो यह काम भी करने उचित हैं वा नहीं?

उत्तर—मद्य और शिकार का खाना-पीना न चाहिए और बुद्धि के अनुसार भी प्राणधारी का खाना अत्याचार में सम्मिलित है और वेद तथा शास्त्र की दृष्टि से भी निषिद्ध है।

प्रश्न—भूत, चुड़ैल, जिन्न और परी की छाया कही कुछ है या नहीं? क्योंकि लोग प्रायः ऐसी घटना होने पर मुल्लाओं, स्थानों और कब्रों आदि से उनको भगाने की इच्छा करते है।

उत्तर—भूत और चुड़ैल और जिन्न और परी की छाया कहीं कुछ नहीं है, यह लोगों का भ्रममात्र है। यदि ये होते तो फिरंगियों को छाया अवश्य होती।

प्रश्न—शरीर के नष्ट होने पर यह आत्मा कहाँ जाती है ?

उत्तर— मृत्यु के पश्चात् आत्मा शरीर से पृथक् होकर 'यमराज' अर्थात् वायु के यहाँ चली जाती है।

प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म होता है या नहीं और स्वर्ग और नरक का क्या वर्णन है ? कोई ऐसी बुद्धिगम्य युक्ति नहीं है कि जिससे आवागमन तथा स्वर्ग और नरक का वृत्तान्त भली प्रकार विदित हो जाय; कारण यह है कि जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् का वृत्तान्त किसी को विदित नहीं हुआ।

उत्तर पुनर्जन्म अवश्य होता है और स्वर्ग और नरक भी सर्वत्र विद्यमान है। जिस प्रकार मनुष्य बुद्धि के द्वारा पहचान सकता है कि पृथिवी और आकाश तथा मनुष्यों और पशुओं को उत्पन्न करने वाला परमात्मा है; इसी प्रकार विद्या प्राप्ति के द्वारा वह स्वर्ग और नरक की परिस्थिति को यहाँ जान सकता है।

प्रश्न—ईश्वर ने सृष्टि को क्यों उत्पन्न किया ? और उत्पन्न करने में उसका क्या उद्देश्य था ?

उत्तर—जैसे आँख का काम है देखना और कान का काम है सुनना और देखने या सुनने में आंख या कान का कोई उद्देश्य नहीं होता परन्तु वह तो उसका प्राकृतिक का स्वभाव ही है। इसी प्रकार सृष्टि की रचना करना नारायण का काम ही है और उत्पन्न करने और उसके संहार करने में उसका उद्देश्य कोई नहीं है।

प्रश्न—आवागमन कब तक होता रहेगा ?

उत्तर—इस विषय में तुम्हारा सन्तोष सत्यार्थप्रकाश तथा वेदभाष्य के एक दो ग्रन्थ पढ़ने पर ही हो सकेगा मौखिक रूप से बतलाने पर तुम्हारा सन्तोष नहीं हो सकता।

प्रश्न—ईश्वर ने सृष्टि कब उत्पन्न की थी ? और चारों युगों अर्थात् सतयुग द्वापर, त्रेता, कलियुग में से प्रत्येक की कितनी-कितनी अवधि है।

उत्तर—ऐसी बातें वेदों से भली प्रकार सिद्ध हो सकती हैं। प्रत्येक युग की अवधि भिन्न है, वेदशास्त्र के भाष्य से तुम स्वयं देख लोगे।

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का विवाह कितनी आयु में करना चाहिए और उसकी क्या विधि होनी चाहिए ?

उत्तर—विवाह के समय पुरुष की आयु कम से कम २४ वर्ष और स्त्री की आयु १६ वर्ष होनी चाहिए।…… …………और विवाह स्त्री-पुरुष को अपनी

रुचि के अनुसार करना चाहिए।.........नहीं तो माता और पिता का पसन्द किया हुआ सम्बन्ध स्त्री-पुरुष को कब पसन्द हो सकता है ?

प्रश्न—वेद के दृष्टिकोण से विधवा स्त्री अथवा पुरुष का पुनः विवाह होना उचित है या नहीं ? और यह कि अपनी स्त्री के जीवित रहते अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरा और तीसरा विवाह करने से पुरुष को कुछ दोष तो नहीं लगता ?

उत्तर—विधवा स्त्री का पुनर्विवाह होना चाहिए और अपनी स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह का पात्र नहीं है; परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसको अधिकार है कि वह पुनः विवाह चाहे करे या न करे। ऐसा ही अधिकार विधवा स्त्री को भी होना चाहिए।

प्रश्न—गुरु किसको बनाना चाहिए और वह कितने गुणों से युक्त हो ?

उत्तर—गुरु पिता आदि को बनाना चाहिए। और उनकी आज्ञा का पालन करे और उनकी प्रसन्नता का अभिलाषी रहे।

प्रश्न—यदि कोई ब्राह्मण या वैश्य या कोई अन्य व्यक्ति हिन्दुओं के धर्म में से हानि और लाभ को समझे बिना अथवा किसी मनुष्य के कहने सुनने से मुसलमान या ईसाई हो जावे और उसके पश्चात् यदि वह व्यक्ति अपने अपराधों की क्षमा का प्रार्थी हो तो उसको अपनी जाति में सम्मिलित कर लेना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—निस्सन्देह, यदि वह अपने अपराधों की क्षमा का प्रार्थी हो तो समाज को चाहिए कि उसको अपनी बिरादरी में सम्मिलत कर लें।

प्रश्न—ईश्वर किस स्थान पर रहता है क्योंकि प्रकटरूप में तो उसका कोई रंग रूप किसी की दृष्टि में आता नहीं।

उत्तर—नारायण सर्वव्यापक है अर्थात् सर्वत्र विद्यमान तथा द्रष्टा है। जो कोई मनुष्य ज्ञान से अपने हृदय-दर्पण को शुद्ध रखता है वह उसे देख सकता है। वस्तुतः तो अज्ञानियों की दृष्टि से वह दूर है।

प्रश्न—ब्रह्मा के चार मुख थे या नहीं ? और वेद को ब्रह्मा ने किसी कागज पर लिखा था या उसको वे पूरे पूरे चारों वेद कण्ठस्थ थे ?

उत्तर—ब्रह्मा के चार मुख नहीं प्रत्युत चारों वेद उसके मुख में (कण्ठस्थ) थे। यदि उसके चारों ओर चार मुख होते तो उसको सोना और विश्राम करना कठिन हो जाता। मूर्खों ने चारों वेद कंठस्थ थे इसके स्थान पर चार मुंह कल्पित कर लिए।

प्रश्न—ईश्वर ने जो पृथिवी तथा आकाश, सूर्य तथा नक्षत्र दिन तथा रात, मनुष्य तथा पशु और भिन्न-भिन्न प्रकार की भिन्न-भिन्न वर्णों और आकृतियों की वस्तुयें बनायी हैं वे किसी सामग्री या मसाले से बनायीं हैं या और किसी *प्रकार बनायी हैं ?*

उत्तर—नारायण को किसी मसाले की आवश्यकता नहीं है। वह तो स्वयं निर्विवाद रचयिता है और ये सारी वस्तुएं उसने माया या प्रकृति से बनाई है।

प्रश्न—आपके कथन से विदित हुआ कि ब्रह्मा के चार मुख नहीं थे और न किसी का कोई वर्ण था परन्तु कर्म के अनुसार वर्ण निश्चित हुए अर्थात् जो वेद शास्त्र पढ़कर उसके अनुसार उपदेश करता था वह ब्राह्मण, और जो बाहुबल में वीर और प्रजा का पालन करता था वह क्षत्रिय और जो व्यवहार अर्थात् कृषि करता था वह वैश्य और जो मजदूरी चाकरी करता था वह शूद्र कहलाता था। इस लेख के बाद यह बात अवश्य माननीय हो जाती है कि यदि किसी चमार या भंगी या कसाई जिसने विद्याप्राप्त की तो वह भी पण्डित के तुल्य है। अबप्रश्न यह उठता है कि यदि वह चमार या भंगी या कसाई, जिसने विद्या प्राप्त की है यह चाहे कि मैं किसी ब्राह्मण के घर में अपना विवाह करूँ तो ब्राह्मण को भी उचित है या नहीं कि अपना कन्या उसको विवाह दे ?

उत्तर—यदि इन छोटे व्यवसाय करने वालों में से किसी ने विद्या प्राप्त की हो तो वह वस्तुतः पण्डित के तुल्य है परन्तु एक कारण कि बहुत समय तक (अवर) व्यवसायी मनुष्यों में उसका पालन हुआ हो आवश्यक है कि नीचता की गन्ध उसके मस्तिष्क से न जावे तो उसका ब्राह्मण की कन्या से सम्बन्ध होना उचित नहीं।

प्रश्न--हिन्दुओं में विवाह के पश्चात् जो मुकाबले अर्थात् गौने की प्रथा प्रचलित है, वह भी होनी चाहिए या नहीं क्योंकि और जातियों में यह प्रथा बिल्कुल नहीं है; अर्थात् मुसलमान और ईसाई इस प्रथा को नहीं मानते।

उत्तर—यह प्रथा व्यर्थ है; यदि वेद में युक्ति-युक्त कारणों से इस प्रथा का उल्लेख होता तो उसका करना आवश्यक हो सकता था। जिन जातियों में यह प्रथा नहीं है उनमें क्या बुराई है ?

/ प्रश्न—दशहरा, होली, दीवाली और हिन्दुओं के त्योहारों में जो प्रथायें अब प्रचलित है वे भी ठीक हैं या नहीं ?

उत्तर—होली और दीवाली आदि उचित रूप से मनानी चाहिए।

प्रश्न—स्त्रियों को भी विद्या प्राप्त करनी चाहिए या नहीं ?

उत्तर—स्त्रियों को विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। क्योंकि विना विद्या के मनुष्य की बुद्धि पशु की बुद्धि के तुल्य होती है।

प्रश्न—हिन्दू लोग जो पण्डितों से जन्मपत्र लिखवाते हैं और पण्डित लोग भी इन कुंभ, धन, मकर, की राशियों का वृत्तान्त शास्त्रीय पत्रे से जानकर मंगल, सूर्य और शनि की खोटी दशा और हानि लाभ बतलाते हैं जिनमें से प्रायः बातें तो ठीक निकलती हैं बहुत सी अशुद्ध होती हैं इसका क्या कारण है ?

उत्तर—यह जन्मपत्र नहीं प्रत्युत रोगपत्र है। पण्डित किसी को खोटी दशा के जप करने के लिये अवश्य कुछ न कुछ बतलाता है। बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी बातों को नहीं माना करते।

प्रश्न— भारत के लोग स्त्रियों को इस प्रयोजन से कि वे व्यभिचरिणी न हों परदे में रखते हैं और ईसाई अपनी स्त्रियों को परदे में नहीं रखते और स्थान-स्थान पर भ्रमण कराते हैं। इतना होने पर भी भारत की स्त्रियाँ ईसाई स्त्रियों से अधिक व्यभिचारिणी दिखाई देती हैं। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—स्त्रियों को परदे में रखना आजन्म कारागार में डालना है। जब उनको विद्या होगी वह स्वयं अपनी विद्या द्वारा बुद्धिमती होकर प्रत्येक प्रकार के दोषों से रहित और पवित्र रह सकती हैं।............(लेखराम पृ० २८७, २८८)

॥ ओं खम्ब्रह्म ॥

मेला चांदापुर

सत्यधर्मविचार

(अनेक विषयों पर विचार)

१९-२० मार्च, १८७७ में (संवत् १९३७ छपे के अनुसार) जिसको मुन्शी बख्तावर सिंह एडीटर आर्यदर्पण ने शोधकर भाषा और उर्दू में वैदिक यन्त्रालय काशी में अपने प्रबन्ध से छापकर प्रकाशित किया था।

धर्मचर्चा ब्रह्मविचार मेला चांदापुर□ कि जिसमें बड़े बड़े विद्वान्×

□ यहां यह मेला मुन्शी प्यारेलाल साहब की ओर से प्रतिवर्ष हुआ करता है।

× इस धर्मचर्चा में आर्य्यों की ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और मुन्शी इन्द्रमणि जी, ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट साहब, पादरी नोबिल साहब, पादरी पार्कर साहब और पादरी जान्सन साहब और मुसलमानों की ओर से मौलवी मौहम्मद कासिम साहब, सैयद अब्दुल मंसूर साहब विचार के लिये आये थे।

आर्य्यों, ईसाइयों और मुसलमानों की ओर से एक सत्य के निर्णय के लिये इकट्ठे हुए थे; सज्जन पाठकगणों के हितार्थ मुद्रित किया जाता है कि जिसमे प्रत्येक मतों का अभिप्राय सब पर प्रकाशित हो जावे। सब सज्जनों को; किसी मत के क्यों न हों; उचित है कि पक्षपातरहित होकर इसको सुहृद्भाव से देखें।

विदित हो कि यह मेला दो दिन रहा। मेले के आरम्भ से पूर्व कई लोगों ने स्वामी जी के समीप जाकर कहा कि आर्य और मुसलमान मिल के ईसाइयों का खण्डन करें तो अच्छा है। इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि यह मेला सत्य और असत्य के निर्णय के लिये किया गया है। इसलिये हम तीनों को उचित है कि पक्षपात छोड़कर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें। किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं।

इसके पश्चात् विचार का समय नियत किया गया। पादरियों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं ठहर सकते और यही विज्ञापन में भी छापा गया था। इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि हम इस प्रतिज्ञा पर आये थे कि मेला कम में कम पांच और अधिक से अधिक आठ दिन तक रहेगा। क्योंकि इतने दिनों में सब मतों का अभिप्राय अच्छे प्रकार ज्ञात हो सकता है। जब इस पर वे लोग प्रसन्न न हुए तब **मुन्शी इन्द्रमणि जी** ने कहा कि स्वामी जी! आप निश्चित रहें। सच्चा मत एक दिन में प्रकट हो जावेगा। फिर निम्नलिखित पांच प्रश्नों पर विचार करना सब ने स्वीकार किया।

पहले दिन की सभा

मुन्शी प्यारेलाल साहब ने खड़े होकर सबसे पहले कहा—

"प्रथम ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्य्यामी है। हम लोगों के बड़े भाग्य हैं कि उसने हम सब को ऐसे राजप्रबंध समय में उत्पन्न किया कि जिसमें सब लोग निर्विघ्नता से निर्भय होकर मत-मतान्तरों का विचार कर सकते हैं। धन्य है इस आज के दिन को और बड़े भाग्य हैं इस भूमि के कि ऐसे सज्जन पुरुष और ऐसे ऐसे विद्वान् मतमतान्तरों के जानने वाले यहां सुशोभित हुए हैं। आशा है कि सब विद्वान् अपने अपने मतों की वार्ताओं को कोमल वाणी से कहेंगे कि जिससे सत्य और असत्य का निर्णय होकर मनुष्यों की सत्य मार्ग में प्रवृत्ति हो जावेगी।"

इसके पश्चात् जब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से पाँच-पाँच मनुष्य और आर्य्यों की ओर से **स्वामी जी** और **मुन्शी इन्द्रमणि जी** दो ही विचार के लिये नियत किये गये तब मौलवियों और पादरियों ने हठ किया कि आर्य्यों की ओर से भी पाँच मनुष्य होने चाहियें। इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि आर्य्यों की

ओर से हम दो ही बहुत हैं। तब मौलवियों ने पंडित लक्ष्मण शास्त्री जी का नाम अपने ही आप पादरियों से लिखवाना चाहा। तब स्वामी जी ने उनसे यह कहा कि आप लोगों को अपनी अपनी ओर के मनुष्यों के लिखवाने का अधिकार है; हमारी ओर का कुछ नहीं। और पण्डित से यह कहा कि आप नहीं जानते ये लोग हमारे और तुम्हारे बीच विरोध कराके आप तमाशा देखना चाहते हैं। इस बात के कहने पर भी एक मौलवी ने पंडित जी का हाथ पकड़ के उनसे कहा कि तुम भी अपना नाम लिखवा दो। इनके कहने से क्या होता है। तिस पर स्वामी जी ने कहा कि अच्छा जो सब आर्य्य लोगों की सम्मति हो तो इनका भी नाम लिखवा दो नहीं तो केवल आप लोगों के कहने से इनका नाम नहीं लिखा जावेगा। फिर एक **मौलवी साहब** उठकर बोले कि सब हिंदुओं से पूछा जावे कि इन दोनों के नाम लिखाने में सब की सम्मति है वा नहीं। इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि जैसे आपको सिवाय फिर्के सुन्नत जमात के अहलेशिया आदि फिर्कों ने सम्मति करके नहीं बिठलाया और जैसे कि पादरी साहब को रोमन कैथोलिक फिर्कों ने नियत नहीं किया; ऐसे ही आर्य्य लोगों में भी बहुत सों को हमारे बिठलाने में सम्मति और बहुत सों की असम्मति होगी। परन्तु आप लोगों को हमारे बीच गड़बड़ मचाने का कुछ अधिकार नहीं है। **मुन्शी इन्द्रमणि जी** ने कहा कि हम सब आर्य्य लोग वेदादि शास्त्रों को मानते हैं और पण्डित जी भी इन्हीं को मानते हैं। जो किसी का मत आर्य्य लोगों से वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध हो तो चौथा पन्थ नियत करके भले ही बिठला दीजियेगा।

इन बातों से मौलवियों का यह अभिप्राय था कि ये लोग आपस में झगड़ें तो हम तमाशा देखें। पंडित जी का नाम लिखना आर्य्य लोगों ने योग्य न समझा। फिर मौलवी लोग नमाज पढ़ने को चले गये और जब लौटकर आये तब उनमें से मौलवी मुहम्मद कासिम साहब ने कहा कि प्रथम मैं एक घंटे तक उन प्रश्नों के सिवाय और कुछ अपने मत के अनुसार कहना चाहता हूं। उसमें जो किसी की कुछ शंका होगी तो उसका मैं समाधान करूंगा। इसको सब ने स्वीकार किया। मौलवी साहब के कथन का तात्पर्य यह है—

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् यह कहा कि जिस-जिस समय में जो-जो हाकिम हो उसी की सेवा करनी उचित है। जैसे कि इस समय जो गवर्नर है उसी की सेवा करते और उसी की आज्ञा मानते हैं और जिसकी कि आज्ञापालन का समय व्यतीत हो गया न कोई उसकी सेवा करता है और न उसकी आज्ञा को मानता है। और जैसे जब कोई कानून व्यर्थ हो जाता है तो उसके अनुसार कोई नहीं चलता परन्तु जो कानून उसकी जगह

नियत किया जाता है उसी के अनुसार सब को चलना होता है। तो इन्हीं दृष्टांतों के समान जो-जो अवतार और पैगम्बर पूर्व समय में थे और जो-जो पुस्तकें तौरेत, जबूर, बाइबिल उनके समय में उतरी थीं अब उनके अनुसार न चलना चाहिये। इस समय के सब से पिछले पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब हैं। इस लिये उनको पैगम्बर मानना चाहिये। और जो ईश्वरवाक्य अर्थात् कुरान उनके समय में उतरा है उस पर विश्वास करना चाहिये। और हम श्री राम और श्री कृष्ण आदि और ईसामसीह की निन्दा नहीं करते। क्योंकि वे अपने-अपने समय में अवतार और पैगम्बर थे। परन्तु इस समय तो हजरत मुहम्मद साहब का ही हुकुम चलता है; दूसरे का नहीं। जो कोई हमारे मजहब वा कुरानशरीफ वा हजरत मुहम्मद साहब को बुरा कहेगा, वह मारे जाने के योग्य है।

पादरी नोबिल साहब—मुहम्मद साहब के पैगम्बर और कुरान के ईश्वरीय वाक्य होने में सन्देह है क्योंकि कुरान में जो-जो बातें लिखी हैं सो-सो बाइबिल की हैं। इसलिये कुरान अलग आसमानी पुस्तक नहीं हो सकता। और हजरत ईसामसीह के अवतार होने में कुछ सन्देह नहीं। क्योंकि उसके व्याख्यान से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सत्यमार्ग बतलाने वाला था। केवल उसके व्याख्यान से ही मनुष्य मुक्ति पा सकता है और उसने चमत्कार भी दिखलाये थे।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—हम हजरत ईसा को अवतार तो मानते हैं और बाइबिल को आसमानी पुस्तक भी मानते हैं परन्तु ईसाइयों ने उसमें बहुत कुछ घटत-बढ़त कर दी है इसलिये यह वही मूल नहीं है। और जो कि उसका कुरान ने खण्डन भी कर दिया है इसलिये वह विश्वास के योग्य नहीं रही। और हमारे हजरत पैगम्बर साहब का अवतार सबसे पिछला है, इसलिये हमारा मत सच्चा है।

फिर और मौलवियों ने बाइबिल में से एक आयत पादरी साहब को दिखलाई और कहा कि देखिये आप ही लोगों ने लिखा है कि इस आयत का पता नहीं लगता।

पादरी नोबिल साहब—जिस मनुष्य ने यह लिखा है वह सत्यवादी था। जो उसने लेखक-भूल को प्रसिद्ध कर दिया तो कुछ बुरा नहीं किया। और हम लोग सत्य को चाहते हैं असत्य को नहीं, इसलिये हमारा मत सत्य है।

मौलवी मुहम्मद कासिम—यह तो ठीक है कि कुछ बुरा नहीं किया परन्तु जब कि किसी पुस्तक में वा दस्तावेज में एक भी बात झूठ लिखी हुई विदित हो जावे तो वह पुस्तक कदाचित् माननीय नहीं रहती और न वह दस्तावेज ही अदालत में स्वीकार हो सकता है।

पादरी नोबिल साहब—क्या कुरान में लेखकदोष नहीं हो सकता। इस बात पर हठ करना अच्छा नहीं। और जो हम सत्य ही को मानते हैं और सत्य ही की खोज करते हैं इस कारण उस लेखक-भूल को हमने स्वीकार कर लिया। और तुम्हारे कुरान में बहुत घटत-बढ़त हुई। जिसके प्रमाण में एक मौलवी ईसाई ने अरबी भाषा में बहुत कुछ कहा और सूरतों के प्रमाण दिये।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—आप बड़े सत्य के खोजी हैं! (मुख बनाकर) जो आप सत्य ही को स्वीकार करते हैं तो तीन ईश्वर क्यों मानते हो?

पादरी नोबिल साहब—हम तीन ईश्वर नहीं मानते। वे तीनों एक ही हैं अर्थात् केवल एक ईश्वर से ही प्रयोजन है। ईसामसीह में मनुष्यता और ईश्वरता दोनों थीं। इस कारण वह दोनों व्यवहारों को करता है। अर्थात् मनुष्य के आत्मा से मनुष्यों का व्यवहार और ईश्वर के आत्मा से ईश्वर का व्यवहार अर्थात् चमत्कार दिखलाना।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब-वाह वाह! एक घर में दो तलवार क्योंकर रह सकती हैं? यह कहना पादरी साहब का अत्यन्त मिथ्या है। उसने तो कहीं नहीं कहा कि मैं ईश्वर हूं। तुम हठ से उसको ईश्वर नाते हो।

पादरी नौबिल साहब—एक आयत अंजील की पढ़ी और कहा कि यह एक आयत है जिसमें मसीह ने अपने आपको ईश्वर कहा है और कई एक चमत्कार भी दिखलाये हैं। इससे उसके ईश्वर होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—जो वह ईश्वर था तो अपने आपको फांसी से क्यों न बचा सका?

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—कुरान में कई एक आयतों का परस्पर विरोध दिखलाया और कहा कि हुकुम का खंडन हो सकता है; समाचार का नहीं हो सकता। सो आप के कुरान में समाचारों का खंडन है। पहिले वैतूल-मुकद्दस की ओर शिर नमाते थे फिर काबे की ओर नमाने लगे। और कई आयतों का अर्थ भी सुनाया और कहा कि ईसामसीह पर विश्वास लाये विना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। और तुम्हारे कुरान में बाइबिल का और ईसामसीह का मानना लिखा है। तुम लोग क्यों नहीं मानते हो?

ऐसी ही बातों के होते होते सन्ध्या हो गई।

दूसरे दिन की सभा

प्रातःकाल के साढ़े सात बजे सब लोग आये, और वे पांच प्रश्न कि जो स्वीकार हो चुके थे पढ़े गये। वे पांच प्रश्न ये हैं—

१—सृष्टि को परमेश्वर ने किस चीज से, किस समय और किसलिये बनाया ?

२—ईश्वर सब में व्यापक है वा नहीं ?

३—ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है ?

४—वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है ?

५—मुक्ति क्या है और किस प्रकार मिल सकती है ?

इसके पश्चात् कुछ देर तक यह बात आपस में होती रही कि एक दूसरे को कहता था कि पहले वह वर्णन करे। तदनन्तर **पादरी स्काट साहब** ने पहले प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ किया और यह भी कहा कि यद्यपि यह प्रश्न किसी काम का नहीं। मेरी समझ में ऐसे प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ है। परन्तु जब कि सब की सम्मति है तो मैं इसका उत्तर देता हूँ—

पादरी स्काट साहब—यद्यपि हम नही जानते कि ईश्वर ने यह संसार किस चीज से बनाया है। परन्तु इतना हम जान सकते हैं कि अभाव से भाव में लाया है। क्योंकि पहले सिवाय ईश्वर के दूसरा पदार्थ कुछ न था। उसने अपने हुकुम से सृष्टि को रचा है। यद्यपि यह भी हम नहीं जान सकते कि उसने कब इस संसार को रचा परन्तु उसका आदि तो है। वर्षों की गगना हमको नही जान पड़ती और न सिवाय ईश्वर के कोई जान सकता है। इसलिये इस बात पर अधिक कहना ठीक नहीं।

ईश्वर ने किसलिये इस जगत् को रचा। यद्यपि इसका भी उत्तर हम लोग ठीक-ठीक नहीं जान सकते परन्तु इतना हम जानते हैं कि संसार के सुख के लिये ईश्वर ने यह सृष्टि की है कि जिसमें हम लोग सुख पावें और सब प्रकार के आनन्द करें।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—उसने अपने शरीर से प्रकट अर्थात् उत्पन्न किया। उससे हम अलग नहीं। जो अलग होते तो उस की प्रभुता में न होते। कब से यह संसार बना यह कहना व्यर्थ है। क्योंकि हमको रोटी खाने से काम है; न यह कि रोटी कब बनी है। यह जगत् सृष्टि के लिये रचा गया है, क्योंकि सब पदार्थ मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचे हैं। और हमको अपनी भक्ति के लिये ईश्वर ने रचा है। देखो ! पृथिवी हमारे लिये है; हम पृथिवी के लिये नहीं। क्योंकि जो हम न हों तो पृथिवी की कुछ हानि नहीं। परन्तु पृथिवी के न होने से हमारी बड़ी हानि होती है। ऐसे ही जल, वायु, अग्नि आदि सब पदार्थ मनुष्य के लिये रचे गये हैं। मनुष्य सब सृष्टि में श्रेष्ठ है। उसको बुद्धि भी इसी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये दी है अर्थात् मनुष्य को अपनी भक्ति के लिये और इस जगत् को मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—पहले मेरी सब मुसलमानों और ईसाइयों और सुनने वालों से यह प्रार्थना है कि यह मेला केवल सत्य के निर्णय के लिये किया गया है। और यह ही मेला करने वालों का प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौन सा मत सत्य है। जिसको सत्य समझें उसको अङ्गीकार करें। इसलिये यहां हार और जीत की अभिलाषा किसी को न करनी चाहिये। क्योंकि सज्जनों का यह ही मत होना चाहिये कि सत्य की सर्वदा जीत और असत्य की सर्वदा हार होती रहे। परन्तु जैसे मौलवी लोग कहते हैं कि पादरी साहब ने यह झूठ कही। ऐसे ही ईसाई कहते हैं कि मौलवी साहब ने यह बात झूठी कही, ऐसी वार्ता करना उचित नहीं। विद्वानों के बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने-अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मंडन और असत्य का खंडन कोमल वाणी के साथ करें कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक दूसरे की निन्दा करना, बुरे-बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से कहना कि वह हारा और मैं जीता, ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। सब प्रकार पक्षपात छोड़कर सत्यभाषण करना सब को उचित है। और एक दूसरे से विरोधवाद करना यह अविद्वानों का स्वभाव है; विद्वानों का नहीं। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि कोई इस मेले में अथवा और कहीं कठोर वचन का भाषण न करें।

अब मैं पहले प्रश्न का उत्तर कि "ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से और किस समय और किस लिये रचा है" अपनी छोटी सी बुद्धि और विद्या के अनुसार देता हूँ—

परमात्मा ने सब संसार को प्रकृति से अर्थात् जिसको अव्यक्त अव्याकृत और परमाणु नामों से कहते हैं; रचा है। सो यह ही जगत् का उपादान कारण है। जिसका वेदादि शास्त्रों में नित्य करके निर्णय किया है और यह सनातन है। जैसे ईश्वर अनादि है वैसे ही सब जगत् का कारण भी अनादि है। जैसे ईश्वर का आदि और अन्त नहीं वैसे ही इस जगत् के कारण का भी आदि अन्त नहीं है। जितने इस जगत् में पदार्थ दीखते हैं उनके कारण से एक परमाणु भी अधिक वा न्यून कभी नहीं होता। जब ईश्वर इस जगत् को रचता है तब कारण से कार्य रचता है। सो जैसा कि यह कार्यजगत् दीखता है वैसा ही इसका कारण है। सूक्ष्म द्रव्यों को मिलाकर स्थूल द्रव्यों को रचता है तब स्थूल द्रव्य होकर देखने और व्यवहार के योग्य होते हैं। और यह जो अनेक प्रकार का जगत् दीखता है उसको इसी कारण से ईश्वर ने रचा है। जब प्रलय करता है तब इस स्थूल जगत् के पदार्थों के परमाणुओं को पृथक्-पृथक् कर देता है। क्योंकि जो-जो स्थूल से सूक्ष्म होता है वह आँखों से

दीखने में नहीं आता। तब बालबुद्धि लोग ऐसा समझते हैं कि वह द्रव्य नहीं रहा। परन्तु वह सूक्ष्म होकर आकाश में ही रहता है क्योंकि कारण का नाश कभी नहीं होता और नाश अदर्शन को कहते हैं अर्थात् वह देखने में न आवे। जब एक-एक परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं जब उनका दर्शन :०: नहीं होता। फिर जब वे ही परमाणु मिलकर स्थूल द्रव्य होते हैं तब दृष्टि में आते हैं। यह नाश और उत्पत्ति की व्यवस्था ईश्वर सदा से करता आया है और ऐसे ही सदा करता जायेगा। इसकी संख्या नहीं कि कितनी वार ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की और कितनी वार कर सकेगा। इस बात को कोई नहीं कह सकता।

अब इस विषय को जानना चाहिये कि जो लोग 'नास्ति' अर्थात् अभाव मे 'अस्ति' अर्थात् भाव मानते हैं और शब्द से जगत् की उत्पत्ति जानते हैं उनका कहना किसी प्रकार से ठीक नहीं हो सकता क्योंकि अभाव से भाव का होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने आँखों से देखा तो जो उसके पुत्र होता तो वन्ध्या क्यों कहलाती? फिर उसके पुत्र का अभाव होने से उसके पुत्र का विवाह कब हो सकता है? और जैसे कोई कहे कि मैं किसी स्थान में नहीं था और यहां आया हूँ अथवा सर्प बिल में न था और निकल भी आया, तो ऐसी वार्ता विद्वानों की नहीं होती। इसमें कोई प्रमाण नहीं क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं फिर वह क्योंकर हो सकती है। जैसे कि हम लोग अपने-अपने स्थानों में न होते तो यहां चांदापुर में कभी न आ सकते। देखो शास्त्र में भी लिखा है कि—"नासत आत्मलाभः। न सत आत्महानम्" अर्थात् जो है सो आगे को होता है और जो नहीं है वह कभी नहीं हो सकता। इससे

:०: जब कोई वस्तु अत्यन्त छोटी हो जाती है तो फिर उसे और छोटा करना असम्भव है। जो किसी वस्तु के टुकड़े करते-करते उसको इतना छोटा कर दें कि फिर उसके टुकड़े होना असम्भव हो जावे तो उसको परमाणु कहते हैं जितनी वस्तुएँ संसार में हैं वे सब परमाणु से बनती हैं। जब किसी पत्थर को तोड़ डालते हैं और उसके अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों को पृथक्-पृथक् कर देते हैं तो वे परमाणु कि जिनके इकट्ठे होने से फिर पत्थर बनता है; सदा किसी न किसी स्वरूप से बने रहते हैं। एक परमाणु का भी इस संसार में से अभाव नहीं होता। केवल स्वरूप और गुणों में भेद हुआ करता है। जब मोम की बत्ती को जलाते हैं तो देखने में यह जान पड़ता है कि थोड़ी देर में सब बत्ती नहीं रहती। न जाने कि क्या हो गई। परन्तु वे परमाणु जितने बत्ती में थे और ही रूप के वायु के सदृश हो जाते हैं। उनमें के एक परमाणु का भी अभाव कदाचित् नहीं होता॥

स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिना भाव के भाव कभी नहीं हो सकता। क्योंकि इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका कारण कोई न हो।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव से भाव अर्थात् अस्ति से अस्ति होती है। नास्ति से अस्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यह "वदतो व्याघात" अर्थात् अपनी बात को आप ही काटने के सदृश बात है। पहले किसी वस्तु का अन्यथाभाव कहकर फिर यह कहना कि उसका भाव हो गया; पूर्वापर विरोध है। इसको कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता और न किसी प्रमाण से ही सिद्ध कर सकता है कि बिना कारण के कोई कार्य हो सके। इसलिये अभाव से भाव तथा अर्थात् नास्ति से वा हुकुम से जगत् की उत्पत्ति का होना सर्वथा असम्भव है। इससे यह ही जानना चाहिये कि ईश्वर ने जगत् के अनादि उपादान कारण से ही सब संसार को रचा है; अन्यथा नहीं।

यहाँ दो प्रकार का विचार स्थित होता है। एक—यह कि जो जगत् का कारण ईश्वर हो तो ईश्वर ही सारे जगत् का रूप हुआ तो ज्ञान, सुख, दुःख, जन्म, मरण, हानि, लाभ, नरक, स्वर्ग, क्षुधा, तृषा, ज्वर आदि रोग बन्ध और मोक्ष सब ईश्वर में ही घटते हैं। फिर कुत्ता, बिल्ली, चोर, दुष्ट आदि सब ईश्वर ही बन गये। दूसरा—यह कि जो सामग्री मानें तो ईश्वर कारीगर के समान होता है, तो उत्तर यह है कि कारण तीन प्रकार का होता है। एक उपादान—कि जिसको ग्रहण करके किसी पदार्थ को बनावे। जैसे मट्टी लेकर घड़ा और सोना लेकर गहना और रूई लेकर कपड़ा बनाया जाय। दूसरा निमित्त—जैसे कुम्हार अपनी विद्या और सामर्थ्य के साथ घड़े को बनाता है। तीसरा साधारण—जैसे चाक आदि साधन और दिशा, काल इत्यादि।

अब जो ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानें तो ईश्वर ही जगत्‌रूप बनता है क्योंकि मट्टी से घड़ा अलग नहीं हो सकता। और जो निमित्त मानें तो जैसे कुम्हार मट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता और जो साधारण मानें जैसे मट्टी से अपने आप बिना कुम्हार घड़ा नहीं बन सकता। इन दोनों व्यवस्थाओं में वह पराधीन वा जड़ ठहरता है। इस लिये जो यह कहते हैं कि ईश्वर जगत् रूप बन गया है तो उनके कहने से चोर आदि होने का दोष ईश्वर में आता है। इससे ऐसी व्यवस्था माननी चाहिये कि जगत् का कारण अनादि है और नाना प्रकार के जगत् को बनाने वाला परमात्मा है। और इसी प्रकार जीव भी अपने स्वरूप से अनादि हैं और स्थूल कार्यजगत् तथा जीवों के कर्म नित्यप्रवाह से अनादि हैं। ऐसे माने बिना किसी प्रकार से निर्वाह नहीं हो सकता।

अब यह कि ईश्वर ने किस समय जगत् को बनाया अर्थात् संसार को बने कितने वर्ष हो गये ? इसका उत्तर दिया जाता है—

सुनो भाइयो ! इस प्रश्न का हम लोग तो उत्तर दे सकते हैं आप लोग नहीं दे सकते। क्योंकि जब आप लोगों के मतों में से कोई अठारह सौ वर्ष से, कोई तेरह सौ वर्ष से और कोई पांच सौ वर्ष से उत्पत्ति कहता है तो फिर आप लोगों के मत में इतिहास के वर्षों का लेख किसी प्रकार नहीं हो सकता। और हम आर्य लोग सदा से कि जब से यह सृष्टि हुई बराबर विद्वान् होते चले आये हैं। देखो ! इस देश से और सब देशों में विद्या गई है। इस बात में सब देश वालों के इतिहासों का प्रमाण है कि आर्यावर्त्त देश से मिस्र देश में और वहाँ से यूनान और यूनान से योरोप आदि में विद्या फैली है। इसलिये इसका इतिहास किसी दूसरे मत में नहीं हो सकता।

देखो ! हम आर्य लोग संसार की उत्पत्ति और प्रलय विषय में वेद आदि शास्त्रों की रीति से सदा से जानते हैं कि हजार चतुर्युगी का एक ब्राह्मदिन और इतने ही युगों की एक ब्राह्म-रात्रि होती है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति होके जब तक कि वर्तमान होता है उसका नाम ब्राह्मदिन है। और प्रलय होके जब तक हजार चतुर्युगीपर्य्यन्त उत्पत्ति नहीं होती उसका नाम ब्राह्म-रात्रि है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं और एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगियों का होता है। सो इस समय सातवां वैवस्वत मन्वन्तर वर्तमान हो रहा है। और इससे पहले ये छः मन्वन्तर बीत चुके हैं—स्वायम्भव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष। अर्थात् १९६०८५२९७६ वर्षों का भोग हो चुका है और अब २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। सो हमारे देश के इतिहास में यथार्थ क्रम से सब बातें लिखी हैं। और ज्योतिष शास्त्र में भी मिति-वार प्रति संवत् घटाते बढ़ाते रहे हैं। और ज्योतिष की रीति से जो वर्ष पत्र बनता है उसमें भी यथावत् सबको क्रम से लिखते चले आते हैं। अर्थात् एक-एक वर्ष घटाते और एक-एक वर्ष भोगने में आज तक बढ़ाते आये हैं। इस बात में सब आर्य्यावर्त्त देश के इतिहास एक हैं। किसी में कुछ विरोध नहीं।

फिर जब कि जैन मतवाले और मुसलमान इस देश के इतिहासों को नष्ट करने लगे तब आर्य लोगों ने सृष्टि के इतिहास को कण्ठ कर लिया। सो बालक से लेके वृद्ध तक नित्यप्रति उच्चारण करते हैं कि जिसको संकल्प कहते हैं और वह यह है—

ओं तत्सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीयेप्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे

कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्य्यावर्त्तान्तरैकदेशेऽमुकनगरेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमास-पक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्त्तेऽत्रेदं कार्यं कृतं क्रियते वा ।।

जो इसको ही विचार लें तो इससे सृष्टि के वर्षों की गणना बराबर जान पड़ती है ।

जो कोई यह कहे कि हम इस बात को नहीं मान सकते तो उसको उत्तर यह है कि जो परम्परा से मिति, वार, दिन चढ़ाते चले आते हैं और जब कि इतिहासों और ज्योतिष शास्त्रों में भी इसी प्रकार लिखा है तो फिर इसको मिथ्या कोई नहीं कह सकता । जैसे कि बहीखाते में प्रतिदिन मिति वार लिखते हैं और उसको कोई झूठ नहीं कह सकता । और जो यह कहता है उससे भी पूछना चाहिए कि तुम्हारे मत में सृष्टि की उत्पत्ति को कितने वर्ष हुए हैं ? तब वह या तो छः हजार या सात हजार या आठ हजार वर्ष बतलावेगा । तो वह भी अपने पुस्तकों के अनुसार कहता है तो इसी प्रकार उसको भी कोई नहीं मानेगा क्योंकि यह पुस्तक की बात है ।

और देखो भूगर्भविद्या से जो देखा जाता है तो उससे भी यह ही गणना ठीक-ठीक आती है । इसलिए हम लोगों के मत में तो जगत् के वर्षों की गिनती बन सकती है और किसी के मत में कदाचित् नहीं । इसलिये यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति के वर्षों की सबको ठीक माननी उचित है ।

अब यह कि ईश्वर ने किस लिए सृष्टि को उत्पन्न किया ? इसका उत्तर दिया जाता है—

जीव और जगत् का कारण स्वरूप से अनादि, और जीव के कर्म तथा कार्यजगत् नित्यप्रवाह से अनादि हैं । जब प्रलय होता है तब जीवों के कुछ कर्म शेष रह जाते हैं तो उनके भोग कराने के लिए और फल देने के लिए ईश्वर सृष्टि को रचता है और अपने पक्षपातरहित न्याय को प्रकाशित करता है । ईश्वर में जो ज्ञान, बल दया आदि और रचने की अत्यन्त शक्ति है उनके सफल करने के लिये उसने सृष्टि रची है । जैसे आंख देखने के लिए और कान सुनने के लिए हैं वैसे रचनाशक्ति रचने के लिये है । सो अपनी सामर्थ्य की सफलता करने के लिए ईश्वर ने इस जगत् को रचा है कि सब लोग सब पदार्थों से सुख पावें । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए जीवों के नेत्र आदि साधन भी रचे हैं । इसी प्रकार सृष्टि के रचने में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि जो समय कम रहने से अब नहीं कहे जा सकते । विद्वान् लोग आप जान लेंगे ।

पादरी स्काट साहब—जिसकी सीमा होती है वह अनादि नहीं हो सकता ।

जगत् की सीमा का निरूपण है इसलिये वह अनादि नहीं हो सकता। कोई पदार्थ अपने आपको नहीं रच सकता परन्तु ईश्वर ने जगत् को अपनी सामर्थ्य से रचा है। कोई नहीं जानता कि ईश्वर ने किस पदार्थ से रचा है और पंडित जी ने भी नहीं बताया कि किस पदार्थ से जगत् को रचा।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—जब कि सब पदार्थ सदा से हैं तो ईश्वर को मानना व्यर्थ है। कोई उत्पत्ति का समय नहीं कह सकता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(पादरी साहब के उत्तर में)–पादरी साहब मेरे कहने को नहीं समझे। मैं तो केवल जगत् के कारण को ही अनादि कहता हूँ और जो कार्य है सो अनादि नहीं होता। जैसे मेरा शरीर साढ़े तीन हाथ का है सो उत्पन्न होने से पहले ऐसा न था और न नाश होने के पश्चात् ही ऐसा रहेगा। पर इसमें जितने परमाणु हैं वे नष्ट नहीं होते। इस शरीर के परमाणु पृथक्-पृथक् होकर आकाश में बने रहते हैं और उन परमाणुओं में जो संयोग और वियोग :०: की शक्ति है तो वह सदा उनमें रहती है। जैसा मट्टी से घड़ा बनाथा जो कि बनाने के पहले नहीं था और नाश होने के पश्चात् भी नहीं रहेगा परन्तु जो मट्टी है वह नष्ट नहीं होती। और जो गुण अर्थात् चिकनापन उसमें है कि जिससे वह पिण्डाकार होता है वह भी मट्टी में सदा से है। वैसे ही संयोग और वियोग होने की योग्तता परमाणुओं में सदा से है। इससे यह समझना चाहिए कि जिन परमाणु द्रव्यों से यह जगत् बना है वे द्रव्य अनादि हैं, कार्य द्रव्य नहीं। और मैंने यह कब कहा था कि जगत् के पदार्थ स्वयं अपने को बना सकते हैं मेरा कहना तो यह था कि ईश्वर ने उस कारण से जगत् को रचा है।

और जो पादरी साहब ने कहा कि शक्ति से जगत् को रचा है तो मैं पूछता हूँ कि शक्ति कोई वस्तु है वा नहीं? जो कहो कि है तो वह अनादि हुई। और जो कहो कि नहीं तो उससे आगे को दूसरी कोई वस्तु भी नहीं बन सकती। और जो पादरी साहब ने कहा कि पंडित जी ने यह नहीं बताया कि किससे यह जगत् बना है उसको प्रकृति आदि नामों से कि जिसको परमाणु भी कहते हैं; कहा था।

:०: सब लोग देखते हैं कि अग्नि में बहुत से पदार्थ जल जाते हैं। अब विचार करना चाहिये कि जब कोई पदार्थ जल जाता है तो क्या हो जाता है देखने में आता है कि लकडी जलकर थोड़ी सी राख रह जाती है। तो अब यह विचारना चाहिए कि जलने से वह पदार्थ ही नष्ट हो जाता है वा उसका स्वरूप ही बदल जाता है? जब मोमबत्ती जलाते हैं तो देखने में वह मोम नहीं रहता। यह जान पड़ता कि कहां गया परन्तु उस मोम का स्वरूप बदलकर वायु के सदृश हो जाता है और इसी कारण वायु में मिल जाने से दृष्टि में नहीं आता।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—सब पदार्थों का कारण अनादि है तो भी ईश्वर को मानना अवश्य है क्योंकि मट्टी में यह सामर्थ्य नहीं कि आप से आप घड़ा बन जाय। जो कारण होता है वह आप कार्यरूप नहीं बन सकता क्योंकि उसमें बनने का ज्ञान नहीं होता। और कोई जीव भी उसको नहीं बना सकता। आज तक किसी ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई जैसा कि यह मेरा रोम है ऐसी वस्तु कोई नहीं बना सकता। और आजतक ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ और न है कि जो परमाणुओं को पकड़ के किसी युक्ति सेउनसे ऐसी वस्तु बना सके। कोई दो त्रसरेणुओं का भी संयोग नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल उस परमेश्वर की ही यह सामर्थ्य है कि सब जगत् को रचे।

देखो ! एक आंख की रचना में ही कितनी विद्या का दृष्टान्त है। आज तक बड़े-बड़े वैद्य अपनी बुद्धि लगाते चले आते हैं तो भी आंख की विद्या अधूरी ही है। कोई नहीं जानता कि किस-किस प्रकार और क्या-क्या गुण ईश्वर ने उसमें रक्खे हैं। *इसलिये सूर्य, चांद आदि जगत् का रचना और धारण करना ईश्वर ही का काम है। तथा जीवों के कर्मों के फल का पहुँचाना यह भी परमात्मा ही का काम है किसी दूसरे का नहीं। इससे ईश्वर को मानना अवश्य है।

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—जब दो वस्तु हैं—एक कार्य, दूसरा कारण तो दोनों अनादि नहीं हो सकते। इससे ईश्वर ने नास्ति से अस्ति अपनी सामर्थ्य से की है।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—गुण दो प्रकार के होते हैं—एक अन्तस्थ दूसरे बाह्य। अन्तस्थ तो अपने में होते हैं और बाह्य दूसरे से अपने में आते हैं। और अन्तस्थ गुण दूसरे में जाकर वैसे ही बन जाते हैं परन्तु जिसके गुण होते हैं

---

*इसकी परीक्षा के लिये एक बोतल के भीतर मोमबत्ती जलाओ और उसका मुख बन्द कर दो तो उस बत्ती का जितना भाग वायु के सदृश हो जावेगा वह बोतल से बाहर नहीं जा सकेगा। पर थोड़ी देर के पीछे यह दिखलाई देगा कि वह बत्ती बुझ गई। अब यह सोचना चाहिए कि बत्ती क्यों बुझगई और बोतल के वायु में अब कुछ भेद हुआ वा नहीं ? इस बात की परीक्षा इस प्रकार होगी कि थोड़ा सा चूने का पानी उस बोतल में और एक और बोतल में जिसमें केवल वायु भरा हुआ हो और उसमें कोई बत्ती न जली हो, डालो; तो यह दिखालाई देगा कि जिस बोतल में जली है उसमें चूने का रंग दूध सा हो जावेगा और दूसरी बोतल का जैसे का तैसा रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि बत्ती के जलाने से कोई नई वस्तु बोतल के वायु में मिल गई है। वह एक वस्तु वायु के सदृश है कि जो दृष्टि मे नहीं आती। अब देखना चाहिए कि मोमबत्ती का कोई परमाणु नष्ट नही होता पर जिन पदार्थों से वह बत्ती बनी है उनका स्वरूप भिन्न हो जाता है ॥

वह उससे पृथक् होता है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस बर्तन में पड़ता है वैसा ही बन जाता है परन्तु सूर्य नहीं हो जाता। वैसे ही ईश्वर ने हमको अपनी इच्छा से बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(ईसाई साहब के उत्तर में)—आप दोनों के अनादि होने में क्यों शंका करते हैं? क्योंकि जितने पदार्थ इस जगत् में बने हैं उन सबका कारण अर्थात् परमाणु आदि सब अनादि हैं। और जीव भी अनादि हैं कि जिनकी संख्या कोई नहीं बता सकता। और नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती सो मैं पहले कह चुका हूँ। परन्तु आप जो कहते हैं कि शक्ति से बनाया तो बतलाओ कि शक्ति क्या वस्तु है? जो कहो कि कोई वस्तु है तो फिर वही कारण ठहरने से अनादि हुई। और ईश्वर के नाम, गुण, कर्म सब अनादि हैं; कोई अब नहीं बने।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—आप जो यह कहो कि भीतर के गुणों से जगत् बना है तो भी नहीं हो सकता क्योंकि गुण द्रव्य के बिना अलग नहीं रह सकते और गुण द्रव्य से बन भी नहीं सकता। जब भीतर के गुणों से जगत् बना है तो जगत् भी ईश्वर हुआ। जो यह कहो कि बाहर के गुणों से जगत् बना तो ईश्वर के सिवाय आपको भी वे गुण और द्रव्य अनादि मानने पड़ेंगे। और जो यह कहो कि इच्छा से हम लोग बन गये तो मेरा यह प्रश्न है कि इच्छा कोई वस्तु है वा गुण है? जो वस्तु कहोगे तो वह अनादि ठहर जायगी और जो गुण मनोगे तो जैसे केवल इच्छा से घड़ा नहीं बन सकता परन्तु मट्टी से बनता है तो वैसे ही इच्छा से हम लोग नहीं बन सकते।

पादरी स्काट साहब—हम लोग इतना जानते हैं कि नास्ति से अस्ति को ईश्वर ने बनाया। यह हम नहीं जानते कि किस पदार्थ से और किस प्रकार यह जगत् बनाया। इसको ईश्वर ही जानता है। मनुष्य कोई नहीं जान सकता।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब–ईश्वर ने अपने प्रकाश से जगत् बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(पादरी साहब के उत्तर में) कार्य को देखकर कारण को देखना चाहिये कि जो वस्तु कार्य है वैसा ही उसका कारण होता है। जैसे घड़े को देखकर उसका कारण मिट्टी जान लिया जाता है कि जो वस्तु घड़ा है वही वस्तु मट्टी है। आप कहते हैं कि अपनी शक्ति से जगत् को रचा, सो मेरा यह प्रश्न कि वह शक्ति अनादि है वा पीछे से बनी है? जो अनादि है तो द्रव्यरूप उसको मान लो तो उसी को जगत् का अनादि कारण मानना चाहिये।

(मौलवी साहब के उत्तर)—नूर कहते हैं प्रकाश को, उस प्रकाश से कोई दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। परन्तु वह नूर मूर्तिमान् द्रव्य को प्रसिद्ध दिखला

सकना है और वह प्रकाश करने वाले पदार्थ के विना अलग नहीं रह सकता। इससे जगत् का जो कारण प्रकृति आदि अनादि है उसको माने विना किसी प्रकार से किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। और हम लोग भी कार्य को अनादि नही मानते परन्तु जिससे कार्य बना है उस कारण को अनादि मानते हैं।

एक हिन्दुस्तानी ईसाई साहब—जो ईश्वर ने अपनी प्रकृति से सब संसार को रचा तो उसकी प्रकृति में सब संसार सनातन था। और वह उसकी प्रकृति में अनादि था तो ईश्वर की सीमा हो गई।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—जबकि ईश्वर की प्रकृति में सब जगत् था तब ही तो वह अनादि हुआ और वही अनादि वस्तु रचने से सीमा में आई। अर्थात् लम्बा-चौड़ा, बड़ा-छोटा आदि सब प्रकार का ईश्वर ने उसमें से बनाया। इसलिये रचे जाने से केवल जगत् ही की सीमा हुई; ईश्वर की नहीं।

अब देखिये मैंने जो पहले कहा था कि नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती किन्तु भाव से ही भाव होता है सो आप लोगों के कहने से भी वह बात सिद्ध हो गई कि जगत् का कारण अनादि है।

ईसाई साहब—सुनो भाई मौलवी साहबो ! कि पण्डित जी इसका उत्तर हजार प्रकार से दे सकते हैं। हम और तुम हजारों मिलकर भी इन से बात करें तो भी पण्डित जी बराबर उत्तर दे सकते हैं। इसलिये इस विषय में अधिक कहना उचित नहीं।

ग्यारह बजे तक यह वार्ता सिद्ध हुई। फिर सब लोग अपने-अपने डेरों को चले गये। और सब जगह मेले में यही बातचीत होती थी कि जैसा पण्डित जी को सुनते थे उससे सहस्रगुणा पाया।

दोपहर के पश्चात् की सभा

फिर एक बजे सब लोग आये और इस पर विचार किया कि अब समय बहुत थोड़ा और बातें बहुत बाकी हैं इसलिये केवल मुक्ति विषय पर विचार करना उचित है। प्रथम थोड़ी देर तक ये बातें होती रही कि पहले कौन वर्णन करे ? एक दूसरे पर टालता था। तब स्वामी जी ने कहा कि उसी क्रम से भाषण होना चाहिये। अर्थात् पहले पादरी साहब, फिर मौलवी साहब और फिर मैं। परन्तु जब पादरी साहब और मौलवी साहब दोनों ने कहा कि हम पहले न बोलेंगे तब स्वामी जी ने ही पहले कहना स्वीकार किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—मुक्ति कहते हैं छूट जाने को अर्थात् जितने दुःख हैं उनसे सब छूटकर एक सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर

सदा आनन्द में रहना फिर जन्म-मरण आदि दुःखसागर में नहीं गिरना। इसी का नाम मुक्ति है। वह किस प्रकार से होती है? इसका पहला साधन सत्य का आचरण है और वह सत्य आत्मा और परमात्मा की साक्षी से निश्चय करना चाहिये अर्थात् जिसमें आत्मा और परमात्मा की साक्षी न हो, वह असत्य है। जैसे किसी ने चोरी की। जब वह पकड़ा गया उससे राजपुरुष ने पूछा कि तू ने चोरी की या नहीं? तब तक वह कहता है कि मैंने चोरी नहीं की। परन्तु उसका आत्मा भीतर से कह रहा है कि मैंने चोरी की है। तथा जब कोई झूठ की इच्छा करता है तब अन्तर्यामी परमेश्वर उसको जता देता है कि यह बुरी बात है। इसको तू मत कर। और लज्जा, शंका और भय आदि उसके आत्मा में उत्पन्न कर देता है। और जब सत्य की इच्छा करता है तब उसके आत्मा में आनन्द कर देता है। और प्रेरणा करता है कि यह काम तू कर। अपना आत्मा जैसे सत्य काम करने में निर्भय और प्रसन्न होता है वैसे झूठ में नहीं होता। जब परमात्मा की आज्ञा को तोड़कर बुरा काम कर लेता है तब उस की मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और उसी को असुर, दुष्ट, दैत्य और नीच कहते हैं। इसमें वेद का प्रमाण है कि—

आसुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

यजुर्वेद, अध्याय ४०। मन्त्र ३॥

आत्मा का हिंसन करने वाला अर्थात् जो परमेश्वर की आज्ञा को तोड़ता है और अपने आत्मा के ज्ञान के विरुद्ध बोलता, करता और मानता है उसी का नाम असुर, राक्षस, दुष्ट, पापी, नीच आदि होता है।

मुक्ति के मिलने के साधन ये हैं १—सत्य आचरण। २—सत्यविद्या अर्थात् ईश्वरकृत वेदविद्या को यथावत् पढ़कर ज्ञान की उन्नति और सत्य का पालन यथावत् करना। ३—सत्यपुरुष ज्ञानियों का संग करना। ४—योगाभ्यास करके अपने मन, इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना और ज्ञान को बढ़ाना। ५—परमेश्वर की स्तुति करना अर्थात् उसके गुणों की कथा सुनना और विचारना। ६—प्रार्थना कि जो इस प्रकार होती है कि—हे जगदीश्वर! हे कृपानिधे! हे अस्मत्पितः! असत्य से हम लोगों को छुड़ा के सत्य में स्थिर कर और हे भगवन्! हम को अन्धकार अर्थात् अज्ञान और अधर्म आदि दुष्ट कामों से अलग करके विद्या और धर्म आदि श्रेष्ठ कामों में सदा के लिये स्थापन कर। और हे ब्रह्म! हम को जन्म-मरणरूप संसार के दुःखों से छुड़ाकर अपनी कृपाकटाक्ष से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर।

जब सत्य मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को जीव भजता है तब वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता-पिता के पास नीचे आना चाहता है वा नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता है तब हजारों आवश्यकता के कामों को भी माता पिता छोड़कर और दौड़कर अपने लड़के को उठाकर गोद में लेते हैं कि हमारा लड़का कहीं गिर पड़ेगा तो उसको चोट लगने से उसको दुःख होगा। और जैसे माता-पिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है, तब वह अनन्तशक्तिरूप हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिए रखता है। फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता है और वह सदा आनन्द में रहता है।

पक्षपात को छोड़कर सत्य ग्रहण और असत्य का परित्याग कर के अर्थ को सिद्ध करना चाहिए। देखो ! सब अन्याय और अधर्म पक्षपात से होता है। जैसे कि मौलवी साहब का वस्त्र बहुत अच्छा है। मुझ को मिले तो मैं उसको ओढ़कर सुख पाऊं। इसमें अपने सुख का पक्षपात किया और मौलवी साहब के सुख-दुःख का कुछ विचार न किया। इसी प्रकार पक्षपात से ही नित्य अधर्म होता है। अधर्म से काम को सिद्ध करना इसी को अनर्थ कहते हैं। और धर्म और अर्थ से कामना अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना इस को काम कहते हैं। और अधर्म अर्थात् अनर्थ से काम को सिद्धि करना इसको कुकाम कहते हैं। इसलिये इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना उचित है। इसमें यह बात है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करना इसको धर्म, और उसकी आज्ञा का तोड़ना इसको धर्म कहते हैं। सो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं और कोई नहीं। और मुक्ति सत्य पुरुषार्थ से सिद्ध होती है; अन्यथा नहीं।

पादरी स्काट साहब—पण्डित जी ने कहा कि सब दुःखों से छूटने का नाम मुक्ति है, परन्तु मैं कहता हूँ कि सब पापों से बचने और स्वर्ग में पहुँचने का नाम मुक्ति है। कारण यह कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था परन्तु शैतान ने उसको बहका के उससे पाप करा दिया। इससे उसकी सब सन्तान भी पापी है। जैसे घड़ी बनाने वाले ने उसकी चाल स्वतन्त्र रक्खी है और वह आप ही चलती है। ऐसे मनुष्य भी अपनी इच्छा से पाप कहते हैं तो फिर अपने ऐश्वर्य से मुक्ति नहीं पा सकते और न पापों से बच सकते हैं। इसलिए प्रभु ईसामसीह पर विश्वास किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे हिन्दू लोग कहते हैं कि कलियुग मनुष्यों को पाप कराके बिगाड़ता है इससे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु ईसामसीह पर विश्वास करने से वे भी बच सकते हैं।

प्रभु ईसामसीह जिस-जिस देश में गये अर्थात् उसकी शिक्षा जहां-जहां गई है वहां-वहां मनुष्य पापों से बचते जाते हैं। देखो ! इस समय सिवाय ईसाइयों के और किसी के मत में भलाई और अच्छे गुणों की उन्नति है ? मैं एक दृष्टान्त देता हूँ कि जैसे पण्डित जी बलवान् हैं ऐसे ही इङ्गलिस्तान में एक मनुष्य बलवान् था। परन्तु वह मद्यपान, चोरी, व्यभिचार आदि बुरे काम करता था। जब वह ईसामसीह पर विश्वास लाया तब सब बुराइयों से छूट गया। और मैंने भी जब मसीह पर विश्वास किया तब मुक्ति को पाया और बुरे कामों से बच गया। सो ईसामसीह की आज्ञा के विरुद्ध आचरण से मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये सबको ईसामसीह पर विश्वास लाना चाहिए। उसी से मुक्ति हो सकती है और किसी प्रकार नहीं।

मौलवी मुहम्मद कासिम साहब—हम लोग यह नहीं कह सकते कि पण्डित जी ने जो मुक्ति के साधन कहे केवल उन से हो मुक्ति हो सकती है। क्योंकि ईश्वर की इच्छा है जिसको चाहे उसको मुक्ति दे और जिसको न चाहे न दे। जैसे समय का हाकिम जिस अपराधी से प्रसन्न हो उसको छोड़ दे और जिससे अप्रसन्न हो उसको कैद में डाल दे। उसकी इच्छा है जो चाहे सो करे। उस पर हमारा ऐश्वर्य नहीं है। न जाने ईश्वर क्या करेगा। पर समय के हाकिम पर विश्वास रखना चाहिए। इस समय का हाकिम हमारा पैगम्बर है। उस पर विश्वास लाने से मुक्ति होती है। हाँ ! यह बात अवश्य है कि विद्या से अच्छे काम हो सकते हैं परन्तु मुक्ति तो केवल उसी के हाथ में है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(पादरी साहब के उत्तर में)—आपने जो यह कहा कि दुःखों से छूटना मुक्ति नहीं, पापों से छूटने का नाम मुक्ति है। सो मेरे अभिप्राय को न समझकर यह बात कहा है। क्योंकि मैं तो और पहले साधन में ही सब पापों अर्थात् असत्य कामों से बचना कह चुका हूँ। और बुरे कामों का फल भी दुःख कहाता है अर्थात् जब पाप करेगा तो दुःख से नहीं बच सकता इसके अनन्तर और, साधनों में भी स्पष्ट कहा है कि अधर्म छोड़कर धर्म का आचरण करना मुक्ति का साधन है। जो पादरी साहब इन बातों को समझते तो कदाचित् ऐसी बात न कहते।

दूसरे, जो आप यह कहते हैं कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था परन्तु शैतान ने बहकाकर पाप करा दिया तो उसकी संतान भी इसी कारण से पापी हो गई। सो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि आप लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते ही हैं। सो जब कि ईश्वर के पवित्र बनाये आदम को शैतान ने बिगाड़ दिया और ईश्वर के राज्य में विघ्न करके ईश्वर की व्यवस्था को तोड़ डाला तो

इससे ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकता। और ईश्वर की बनाई हुई वस्तु को कोई नहीं बिगाड़ सकता है।

और एक आदम ने पाप किया तो उसकी सारी सन्तान पापी हो गई यह सर्वथा असम्भव और मिथ्या है। जो पाप करता है वही दु:ख पाता है दूसरा कोई नहीं पा सकता और ऐसी बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। और देखो एक आदम और हव्वा से किसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि बहन और भाई का विवाह होना बड़े दोष की बात है। इसलिए ऐसी व्यवस्था मानना चाहिए कि सृष्टि के आदि में बहुत से पुरुष और स्त्री परमेश्वर ने रचे।

और जो यह कहा कि शैतान बहकाता है तो मेरा यह प्रश्न है कि जब शैतान ने सबको बहकाया तो फिर शैतान को किस ने बहकाया? जो कहो कि शैतान आप से आप ही बहक गया तो सब जीव भी आप से आप ही बहक गये होंगे फिर शैतान को बहकाने वाला मानना व्यर्थ है। जो कहो कि शैतान को भी किसी ने बहकाया है तो सिवाय ईश्वर के दूसरा कोई बहकानेवाला शैतान को नहीं है। तो फिर जब ईश्वर ने ही सबको बहकाया तब मुक्ति देनेवाला कोई भी आप लोगों के मत में न रहा और न मुक्ति पानेवाला। क्योंकि जब परमात्मा ही बहकानेवाला ठहरा तो बचानेवाला कोई भी नहीं हो सकता। और यह बात परमात्मा के स्वभाव से भी विरुद्ध है क्योंकि वह न्यायकारी और सत्य कामों का ही कर्त्ता है तथा अच्छे कामों में ही प्रसन्न होता है। वह किसी को दु:ख देनेवाला और बहकानेवाला नहीं।

और देखो! कैसे आश्चर्य की बात है कि यदि शैतान ईश्वर के राज्य में इतना गड़बड़ करता है फिर भी ईश्वर उसको दण्ड न देता है, न मारता है न कारागृह में डालता है। इससे स्पष्ट परमात्मा की निर्बलता पायी जाती है और विदित होता है कि परमात्मा ही को बहकाने की इच्छा है। इससे यह बात ठीक नहीं। और न शैतान कोई मनुष्य है। जब तक शैतान के माननेवाले शैतान का मानना न छोड़ेंगे तब तक पाप करने से नहीं बच सकते क्योंकि वे समझते हैं कि हम तो पापी ही नहीं। जैसा शैतान ने आदम को और उसकी सन्तान को बहका के पापी किया वैसा ही परमात्मा ने आदम की सन्तान के पाप के बदले में अपने एकलौते बेटे को शूली पर चढ़ा दिया। फिर हम को क्या डर है। और जो हम से कुछ पाप भी होता है तो हमारा विश्वास ईसामसीह पर है वह आप क्षमा करा देगा। क्योंकि उसने हमारे पापों के बदले में जान दी है। इसलिये ऐसी व्यवस्था माननेवाले पापों से नहीं बच सकते।

और जो घड़ी का दृष्टान्त दिया था सो ठीक है। क्योंकि सब अपने-अपने

काम करने में स्वतन्त्र हैं परन्तु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के करने के लिये है; बुरे के लिये नहीं। और जो आपने यह कहा कि स्वर्ग में पहुँचना मुश्किल है। शैतान के बहकाने के कारण मनुष्यों में शक्ति नहीं कि पापों से छूटकर मुक्ति पा सकें यह बात भी ठीक नहीं। क्योंकि जब मनुष्य स्वतन्त्र हैं और शैतान कोई मनुष्य नहीं तो आप दोषों से बचकर परमात्मा की कृपा से मुक्ति को पा सकते हैं। और स्वर्ग से आदम गेहूँ खाने के कारण निकाला गया और यह ही आदम को पाप हुआ कि गेहूँ खाया तो मैं आप से पूछता हूं कि आदम ने तो गेहूँ खाया और पापी हो गया और स्वर्ग से निकाला गया। आप लोग जो उस स्वर्ग की इच्छा करते हैं तो क्या आप लोग वहां सब पदार्थ खावेंगे ? तो क्या पाप नहीं होगा ? और वहां से निकाले नहीं जाओगे ? इससे यह बात भी ठीक नहीं हो सकती।

और आप लोगों ने ईश्वर को मनुष्य के सदृश माना होगा अर्थात् जैसे मनुष्य सर्वज्ञ नहीं वैसे ही आपने परमात्मा को भी माना होगा कि जिससे आप वहां गवाही और वकील की आवश्यकता बतलाते हैं। परन्तु आपके ऐसे कहने से ईश्वर की ईश्वरता सब नष्ट हो जाती है। वह सब कुछ जानता है उसको गवाही और वकील की कुछ आवश्यकता नहीं है। और उसको किसी की सिफारिश की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि सिफारिश न जानने वाले से की जाती है। और देखिये ! आपके कहने से परमात्मा पराधीन ठहरता है क्योंकि विना ईसामसीह की गवाही वा सिफारिश के वह किसी को मुक्ति नहीं दे सकता और कुछ भी नहीं जानता। इससे परमात्मा में अल्पज्ञता आती है कि जिससे वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ किसी प्रकार नहीं हो सकता। और देखो ! जबकि वह न्यायकारी है तो किसी की सिफारिश और मिथ्या प्रशंसा से न्याय के विरुद्ध कदाचित् नहीं कर सकता जो विरुद्ध करता है तो न्यायकारी नहीं ठहर सकता।

इसी प्रकार जो आप मनुष्य हाकिम के सदृश ईश्वर के दरबार में भी फरिश्तों का होना मानोगे तो और बहुत से दोष ईश्वर में आवेंगे। इससे ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता क्योंकि जो सर्वव्यापक है तो शरीरवाला न होना चाहिये। और जो सर्वव्यापक नहीं है तो अवश्य है कि शरीरवाला हो। और शरीरवाला होने से उसकी शक्ति सब पर घेरने वाली न हुई। और शरीरवाला जितना दूर का ज्ञान रखता है पर उसको पकड़ और मार नहीं सकता। और जो शरीरवाला होगा उसका जन्म और मरण भी अवश्य होगा। इसलिये ईश्वर को किसी एक जगह पर और फरिश्तों का उसके दरबार में होना, ऐसी बातें मानना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। नहीं तो ईश्वर की सीमा हो जायगी।

देखो ! हम आर्य्य लोगों के शास्त्रों को यथावत् पढ़े बिना लोगों को उल्टा निश्चय हो जाता है अर्थात् कुछ का कुछ मान लिया जाता है । जो पादरी साहब ने कलियुग के विषय में कहा सो ठीक नहीं । क्योंकि हम आर्य्य लोग युगों की व्यवस्था इस प्रकार से नहीं मानते । ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—

कलिश्शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥

(ऐत० पञ्जिका ७ । कण्डिका १५)

अर्थात् जो पुरुष सर्वथा अधर्म करता है और नाममात्र धर्म करता है उसको कलि, और जो आधा अधर्म और आधा धर्म करता है उसको द्वापर और एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है उसको त्रेता और जो सर्वथा धर्म करता है उसको सतयुग कहते हैं ।

इसके जाने विना कोई बात कह देना ठीक नहीं हो सकती । इससे जो कोई बुरा काम करता है वह दुःख पाने से कदाचित् नहीं बच सकता । और जो कोई अच्छा काम करता है वह दुःख पाने से बच जाता है; किसी ही देश में चाहे क्यों न हो ।

क्या ईसामसीह के विना ईश्वर अपने सामर्थ्य से अपने भक्तों को नहीं बचा सकता है ? वह अपने भक्तों को सब प्रकार से बचा सकता है । उसको किसी पैगम्बर की आवश्यकता नहीं । हाँ ! यह सच है कि जब जिस-जिस देश में शिक्षा करनेवाले धर्मात्मा उत्तम पुरुष होते हैं उस-उस देश के मनुष्य पापों से बच जाते हैं । और उन्हीं देशों में सुख और गुणों की वृद्धि होती है । यह भी सब लोगों के लिये सुधार है । इसका कुछ मत से प्रयोजन नहीं । देखो ! आर्य लोगों में पूर्व उपदेश की व्यवस्था अच्छी थी । इससे उस समय में वे सुधरे हुए थे । इस समय में अनेक कारणों से सत्य उपदेश कम होने से जो किसी बात का बिगाड हो तो इससे आर्य लोगों के सनातन मत में कोई दोष नहीं आ सकता । क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के समय से लेके आजतक आर्यों ही का मत चला आता है । वह कुछ बहुत नहीं बिगड़ा ।

देखो ! जितने १८०० वा १३०० वर्षों के भीतर ईसाइयों और मुसलमानों के मतों में आपस के विरोध से फिरके हो गये हैं । उनके सामने जो १९६०८५२९७६ वर्षों के भीतर आर्यों के मत में बिगाड़ा हुआ तो वह बहुत ही कम है । और आप लोगों में जितना सुधार है सो मत के कारण नहीं किन्तु पार्लिमेण्ट आदि के उत्तम प्रबन्ध से है, जो ये न रहें, मत से कुछ भी सुधार न हो । और पादरी साहब ने जो इङ्गलिस्तान के दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त मेरे साथ मिलाकर दिया

सो इस प्रकार कहना उनको योग्य न था। परन्तु न जाने किस प्रकार से यह वात भूल से उनके मुख से निकली।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—ईश्वर चाहे सो करे ऐसा ठीक नहीं। क्योंकि वह पूर्ण विद्या और ठीक-ठीक न्याय पर सदा रहता है। किसी का पक्षपात नहीं करता। इस कहने से कि जो चाहे सो करे यह भी आता है कि ईश्वर ही बुराई भी करता होगा और उसी की इच्छा से बुराई होती है, यह कहना ईश्वर में नहीं बनता। ईश्वर जो कोई मुक्ति का काम करता है उसी को मुक्ति देता है। मुक्ति के काम के विना किसी को मुक्ति नहीं देता, क्योंकि वह अन्याय कभी नहीं करता। जो विना पाप-पुण्य के देखे जिसको चाहे दुःख देवे और जिसको चाहे सुख तो ईश्वर में अन्याय आदि प्रमाद लगता है। सो वह ऐसा कभी नहीं करता। जैसे अग्नि का स्वभाव प्रकाश और जलाने का है। इनके विरुद्ध नहीं कर सकता। वैसे ही परमात्मा भी अपने न्याय के स्वभाव से विरुद्ध पक्षपात से कोई व्यवस्था नहीं कर सकता।

सब समय का हाकिम मुक्ति के लिए परमेश्वर ही है; दूसरे कोई नहीं। और जो कोई दूसरे को माने, उसका मानना व्यर्थ है। मुक्ति दूसरे पर विश्वास करने से कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर जो मुक्ति देने में दूसरे के आधीन है या दूसरे के कहने से दे सकता है तो मुक्ति देने में ईश्वर पराधीन है तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। वह किसी का सहाय अपने काम में नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। मैं जानता हूँ कि सब विद्वान् ऐसा ही मानते होंगे। जो पक्षपात से औरों के दिखाने को न मानते हों तो दूसरी बात है।

इसमें मुझको बड़ा आश्चर्य है कि परमात्मा को "लाशरीक" भी मानते हैं और फिर पैगम्बरों को भी मुक्ति देने में उसके साथ मिला देते हैं। यह बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर धर्मात्मा मनुष्यों को मुक्ति के काम करने से मुक्ति स्वतन्त्रता से दे सकता है किसी की सहयता के आधीन नहीं। मनुष्य को ही आपस में सहायता की आवश्यकता है; ईश्वर को नहीं। न वह मिथ्या प्रसन्न होनेवाला है। जो मिथ्या प्रसन्न होकर अन्याय करे। वह तो अपने सत्य धर्म और न्याय से सदा युक्त है और अपने सत्य प्रेम से भरे हुए भक्तों को यथावत् मुक्ति देकर और सब दुःखों से बचाकर सदा के लिये आनन्द में रखता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं।।

इतने में चार बज गये। स्वामी जी ने कहा कि हमारा व्याख्यान बाकी है। मौलवी साहब ने कहा कि हमारे नमाज का समय आ गया। पादरी स्काट साहब ने स्वामी जी से कहा कि हमको आपसे एकान्त में कुछ कहना है सो

वे दोनों तो उधर गये। इधर एक ओर तो एक मौलवी मेज पर जूता पहने हुए खड़े होकर और दूसरी ओर पादरी अपने मत का व्याख्यान देने लगे।

और कितने ही लोगों ने यह उड़ा दिया कि मेला हो चुका। तब स्वामी जी ने पादरी और आर्य लोगों से पूछा कि यह क्या गड़बड़ हो रहा है? मौलवी लोग नमाज पढ़कर आये वा नहीं? उन्होंने उत्तर दिया कि मेला तो हो चुका। इसपर **स्वामी जी** बोले कि ऐसे झटपट मेला किसने समाप्त कर दिया? न किसी की सम्मति ली गई न किसी से पूछा गया। अब आगे कुछ बातचीत होगी वा नहीं?

जब वहाँ बहुत गड़बड़ देखी और संवाद की कोई व्यवस्था न जान पड़ी तो लोगों ने स्वामी जी से कहा कि आप भी चलिये। मेला तो पूरा हो ही गया। इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि हमारी इच्छा तो यह थी कि कम से कम पांच दिन मेला रहता। इसके उत्तर में **पादरी साहबों** ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं रह सकते। फिर स्वामी जी आकर अपने डेरे पर धर्मसंवाद करने लगे। उस दिन रात को पादरी स्काट साहब और दो पादरियों के साथ स्वामी जी के डेरे पर आये। स्वामी जी ने कुरसियां बिछवा कर आदरपूर्वक उनको बिठलाया और आप भी बैठ गये। फिर आपस में बातचीत होने लगी—

पादरी साहबों ने पूछा कि—आवागमन सत्य है वा असत्य? और इसका क्या प्रमाण है?

स्वामी जी ने कहा कि—आवागमन सत्य है और जो जैसे कर्म करता है वैसा ही शरीर पाता है जो अच्छे काम करता है तो मनुष्य का और जो बुरे करता है तो पक्षी आदि का शरीर पाता है। और जो बहुत उत्तम काम करता है वह देवता अर्थात् विद्वान् और बुद्धिमान् होता है देखो! जब बालक उत्पन्न होता है तब उसी समय अपनी माता का दूध पीने लगता है। कारण यही है कि उसको पहले जन्म का अभ्यास बना रहता है। यह भी एक प्रमाण है और धनाढ्य, कङ्गाल, सुखी, दुःखी अनेक प्रकार के ऊँच-नीच देखने से विदित है कि कर्मों का फल है। कर्म से देह और देह से आवागमन सिद्ध है। जीव अनादि हैं कि जिनका आदि और अन्त नहीं। जिस योनि में जीव जन्म लेता है उसका कुछ स्वभाव भी बना रहता है। इसी कारण मनुष्य आदि विचित्र स्वभाव और प्रकृति आदि के होते हैं। इससे भी आवागमन सिद्ध होता है।

इसी प्रकार और बहुत से प्रमाण आवागमन के हैं। परन्तु जीव का एक बार उत्पन्न होना और फिर कभी न होना इसका कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो मैंने कहा उसके विरुद्ध होना चाहिये था, सो ऐसा होना असंभव है। और

फिर यह बात कि मरा और हवालात हुई अर्थात् जब कयामत होगी तब उसका हिसाब और किताब होगा तब तक बेचारा हवालात में रहा मानना अच्छा नहीं।

फिर पादरी साहब चले गये। मौलवियों ने शाहजहांपुर जाकर मुन्शी इन्द्रमणि जी को लिखा कि जो आप यहां आवें तो हम आप से शास्त्रार्थ करना चाहते हैं परन्तु जब स्वामी जी और मुन्शी जी वहां पहुँचे तो किसी ने शास्त्रार्थ का नाम तक भी न लिया। (दिग्विजयार्क पृ० ४१, लेखराम २९२ से ३१४)

ऋषिकालांकब्रह्माब्दे नभश्शुक्ले दले तिथौ।
द्वादश्यां मंगले वारे ग्रन्थोऽयं पूरितो मया॥

श्रीकृष्ण तथा ईसाईमत

(लुधियाना में पादरी वेरी साहब से प्रश्नोत्तर—अप्रैल, १८७७)

स्वामी जी महाराज ३१ मार्च, सन् १८७७ को लुधियाना पहुँचे और १९ अप्रैल, सन् १८७७ तक वहां रहे। इसी बीच में एक दिन पादरी वेरी साहब मिस्टर कारस्टीफन साहब बहादुर जूडीशल असिस्टैण्ट कमिश्नर सहित वहां आये और स्वामी जी से कृष्ण जी के विषय में शंका की और बातचीत के बीच में कहा कि कृष्ण जी के ऐसे कामों के साथ उनका महात्मा होना बुद्धि स्वीकार नहीं करती। स्वामी जी ने कहा कि यह जो अभियोग लगाये जाते हैं सब निर्मूल हैं। उन्होंने ऐसा कोई कार्य्य नहीं किया परन्तु बुद्धि के स्वीकार करने के विषय में तो क्या कहूँ, जब बुद्धि यह स्वीकार कर लेती है कि ईश्वर की आत्मा कबूतर के रूप में एक मनुष्य पर उतरी तो इसके स्वीकार करने में कुछ अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। (लेखराम पृ० ३१५)

वेद और गंगा-यमुना

(कुछ ब्रह्मसमाजी सज्जनों से लाहौर में प्रश्नोत्तर—अप्रैल, १८७७)

जब स्वामी जी लाहौर में थे तो एक दिन समाज के मकान में जो अनारकली में था, ब्रह्मसमाज के लोग मिलकर आये और स्वामी जी से कहा कि वेदों में मूर्त्तिपूजा का वर्णन स्थान-स्थान पर है। पंडित भानुदत्त ब्रह्मसमाजियों की ओर से स्वामी जी से बातचीत कर रहे थे। विशेष रूप से उस श्रुति की भी चर्चा चली जिसमें गंगा, यमुना शब्द आते हैं। इस पर आक्षेप यह था कि वेदों में गंगा, यमुना की पूजा भी लिखी है।

वैदिक यन्त्रालय में लक्ष्मी कुण्ड पर मुन्शी बख्तावर के प्रवन्ध से छपा॥

स्वामी जी ने कहा कि यदि आप लोग समस्त प्रकरण पढ़ लेते तो यह शंका न करते। यहां पर गंगा यमुना नाम दो नाड़ियों का है और यह स्थान योगाभ्यास का है। यहां पर नदियों से कुछ प्रयोजन नहीं है और इन शब्दों के साथ विशेषकर इस प्रकार के विशेषण हैं जो नदियों पर कदापि लागू नहीं हो सकते। उन्होंने और बहुत से प्रश्न व्याकरणादि के किये जिनका पूरा-पूरा उत्तर ब्रह्मसमाजियों को मिल गया। (लेखराम पृष्ठ ३२२, ३२६, ३३१)

क्या वेद में इतिहास है ?

(पं० रामरक्खा लाहौर से प्रश्नोत्तर—सन् १८७७)

जब स्वामी जी लाहौर में थे तो एक दिन पंडित रामरक्खा लाहौर निवासी ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि सामवेद में भरद्वाजादि ऋषियों के नाम आये हैं और इससे यह सन्देह होता है कि वेद बहुत पीछे ऋषियों ने बनाये।

इस पर स्वामी जी ने बहुत से मन्त्र पढ़कर सुनाये जिनमें भरद्वाजादि नाम आते थे और कहा कि इन स्थानों पर यह नाम किसी मनुष्य के नहीं हैं प्रत्युत इनके इन स्थानों पर विशेष अर्थ हैं। साथ ही समस्त मन्त्रों का अर्थ सुनाया और कहा कि इस प्रकार की भूलें वेद के वास्तविक अर्थ न जानने के कारण होती हैं। क्योंकि लोग साधारणतया प्रकट अर्थ लेते हैं। यह ऋषियों के नाम नहीं हैं प्रत्युत ऋषियों के नाम इन स्थानों से रखे गये हैं। इससे पण्डित जी का पूरा-पूरा सन्तोष हो गया। (लेखराम पृष्ठ ३३६)

वेदार्थ

(बिशप साहब से लाहौर में प्रश्नोत्तर—सन् १८७७)

पं० बिहारीलाल जी शास्त्री वर्णन करते हैं कि जब स्वामी जी लाहौर में थे तो एक बिशप साहब उस स्थान पर पधारे और आनकर प्रश्न किया कि वेद के ऋषियों को ईश्वर के विषयों में कुछ विदित नहीं था कि वह कौन है और इस मन्त्र का प्रमाण दिया—

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः" इत्यादि। राय मूलराज ने स्वामी जी को उसका अंग्रेजी का अर्थ करके समझाया। तब स्वामी जी ने कहा कि इसका यह अर्थ नहीं है। अशुद्ध भाष्य के कारण आपको सन्देह हुआ है। इसका अर्थ यह है कि सर्वव्यापक परमात्मा की हम उपासना करते हैं। फिर बिशप साहब ने कहा कि देखो बाईबिल की महिमा कि उसका उपदेश इतनी दूर फैला हुआ है कि जहां सूर्य्य अस्त नहीं होता।

स्वामी जी ने कहा कि यह भी वेद का कारण है। हम लोग उस धर्म को छोड़ बैठे हैं और आप लोग ब्रह्मचर्य्य, विद्याध्ययन, एक स्त्रीसंग, दूरदेश यात्रा, देशप्रीति आदि रखते हैं इसलिये इतनी उन्नति हो रही है। हमारी जाति के प्रमाद से ही यह आपकी उन्नति है, बाईबिल के कारण से नहीं।

(लेखराम पृ० ३३७)

अश्वमेध तथा गोमेध

(पादरी डाक्टर होपर साहब से लाहौर में प्रश्नोत्तर—मई, १८७७)

जब स्वामी जी लाहौर में डा० रहीम खां साहब की कोठी में ठहरे हुए थे तो वहां स्वामी जी ने यह नियम निश्चित किया कि एक दिन व्याख्यान देते थे और एक दिन शास्त्रार्थ करते थे। सैकड़ों लोग प्रतिदिन उनके व्याख्यान और प्रश्नोत्तर सुनने के लिए जाते थे। प्रत्येक प्रकार के लोग पादरी, पंडित, मौलवी और विद्वान् उनसे शास्त्रार्थ करते थे और अपने प्रत्येक प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर पाते थे।

एक दिन पादरी डा० होपर साहब स्वामी जी के शास्त्रार्थ के दिन नियत समय पर कुर्सी पर स्वामी जी के सम्मुख बैठ गये क्योंकि जो व्यक्ति शास्त्रार्थ करना चाहता था वह दूसरी कुर्सी पर जो स्वामी के सम्मुख मेज की दूसरी ओर रखी होती थी, बैठ जाता था। उपर्युक्त महोदय ने स्वामी जो से दो प्रश्न किये।

पहला प्रश्न—वेदों में अश्वमेध और गोमेधादि का वर्णन है और उस समय में लोग घोड़े और गाय आदि की बलि दिया करते थे। आप इसके विषय में क्या कहते हैं?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वेदों में अश्वमेध और गोमेध से घोड़े और गाय की बलि देना अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत उनके अर्थ ये हैं—

राष्ट्रं वाश्वमेधः॥ शत० १३। १। ६। २॥

अन्नं हि गौः॥ श०॥ ४। ३१। २२॥

घोड़े, गाय, मनुष्य और पशु मारकर होम करना कहीं नहीं लिखा, केवल वाममर्गियों के ग्रन्थों में ऐसा अनर्थ लिखा है। यह बात वाममार्गियों ने चलाई और जहां-जहां ऐसा लेख है वहां-वहां उन्हीं वाममार्गियों ने प्रक्षेप किया है। देखो! राजा न्याय से प्रजा का पालन करे यह "अश्वमेध" है। अन्न, इन्द्रियाँ, अन्तः-करण और पृथिवी आदि को पवित्र करने का नाम "गोमेध' है। जब मनुष्य

मर जाये तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना "नरमेध" कहाता है । इसके अतिरिक्त इनके अर्थ व्याकरण और निरुक्तादि के उद्धरणों से बतलाये जिससे पादरी साहब का सन्तोष हो गया ।

दूसरा प्रश्न यह था कि वेदों में जाति-व्यवहार किस प्रकार है ?

उत्तर स्वामी जी—वेदों में जाति गुणकर्मानुसार है ।

पादरी साहब—यदि मेरे गुण कर्म अच्छे हों तो क्या मैं भी ब्राह्मण कहला सकता हूँ ?

स्वामी जी—निस्सन्देह यदि आपके गुण कर्म ब्राह्मण होने के योग्य है तो आप भी ब्राह्मण कहला सकते हैं । (लेखराम पृ० ३२४)

हिन्दूधर्म की गम्भीरता

(एच० परिकिंस साहब कमिश्नर अमृतसर से वार्तालाप—अगस्त १८७७)

कमिश्नर साहब ने कहा—"हिन्दूधर्म सूत के धागों के समान कच्चा क्यों है ?

स्वामी जी—यह धर्म सूत के धागे के समान कच्चा नहीं है अपितु लोहे से भी अधिक पक्का है । लोहा टूट जाये तो टूट जाये पर यह कभी टूटने में नहीं आता ।

कमिश्नर महोदय—आप कोई उदाहरण दें तो हमको विश्वास आये ।

स्वामी जी—हिन्दूधर्म समुद्र के गुण रखता है जिस प्रकार समुद्र में असंख्य लहरे उठती हैं उसी प्रकार इस धर्म में भी देखिये । (१) ऐसे लोगों का भी मत है जो छान-छान कर पानी पीते हैं । (२) एक मत ऐसे लोगों का भी है जो वाम-मार्गी कहलाते हैं । (३) वह जो कुछ पा जाते हैं उसको पवित्र-अपवित्र और योग्य-अयोग्य का विचार किये बिना खा जाते हैं । (४) एकमत ऐसे लोगों का भी है जो जीवन भर यति रहते हैं अर्थात् न तो किसी स्त्री से विवाह करते हैं और न किसी पर कुदृष्टि रखते हैं । (५) एकमत ऐसे लोगों का भी है जो पराई स्त्रियों से अपना मुँह काला करते हैं । (६) एकमत ऐसे लोगों का भी जो केवल निराकार परमात्मा को पूजते हैं और उसी का ध्यान करते हैं । (७) फिर एक मत ऐसे लोगों का भी है जो अवतारों की पूजा करते हैं । (८) एक मत ऐसा है कि जो केवल ज्ञानी हैं । (९) एक मत ऐसा है जो केवल ध्यानी हैं । (१०) इसी धर्म में वह लोग भी हैं जो छुआछूत का ऐसा विचार करते हैं कि अन्यमत के लोग तो एक ओर शूद्रों के हाथ तक से पानी नहीं पीते, न खाना खाते हैं । (११) एक मत उन लोगों का भी है जो शूद्रों के हाथ का पानी पीते हैं और इनसे भोजन

बनवाकर खाते हैं। इतना होने पर भी यह सबके सब हिन्दू कहलाते हैं और वास्तव में हैं भी हिन्दू ही। कोई उनको हिन्दूधर्म से निकाल नहीं सकता। इस लिए समझना चाहिए कि यह धर्म अत्यन्त पक्का है, कच्चा नहीं।

परिकिंस साहब—आप किस प्रकार का मत बढ़ाना चाहते हैं ?

स्वामी जी—हम केवल यह चाहते हैं कि सब लोग पवित्र वेद की आज्ञा का पालन करें और केवल निराकार अद्वितीय परमेश्वर की पूजा और उपासना करें। शुभ गुणों को ग्रहण करें और अशुभों को त्याग दें।

मूर्त्तिपूजा

(पंडित लक्ष्मीधर जी तथा पं० दौलतराम जी दीनानगर निवासी से गुरुदासपुर में शास्त्रार्थ—अगस्त, १८७७)

१८ अगस्त, सन् १८७७ से २६ अगस्त, सन् १८७७ तक स्वामी जी गुरुदासपुर रहे। मियां हरिसिंह और मियाँ शेरसिंह जी ने जो दोनों मूर्तिपूजक थे, पण्डित लक्ष्मीधर जी और पंडित दौलतराम जी दीनानगर निवासी को स्वामी जी महाराज के साथ शास्त्रार्थ करने को बुलवाया। जिस दिन ये पण्डित लोग आये उस दिन स्वामी जी का व्याख्यान शिवपुराण के खण्डन पर था। स्वामी जी ने वह कहानी सुनाई कि लिंग महादेव का बढ़ा और ब्रह्मा विष्णु सुअर और हंस बनकर उसके नापने के लिये गये, आदि आदि।

दोनों पण्डितों और दोनों मियां सज्जनों ने कुछ सभ्यता विरुद्ध शब्द कहने आरम्भ किये कि झूठ बकता है। तब डाक्टर बिहारी लाल जी ने सभा के नियमों के अनुसार निवेदन किया कि प्रथम सब कुछ सुन लेना चाहिये तत्पश्चात् आक्षेप करने के लिये उद्यत रहना चाहिये। परन्तु यह कहां सम्भव था। अन्त में जब स्वामी जी ने देखा कि पण्डित लोग बोलने से नहीं रुकते तो कहा कि अब मैं मौन हो जाता हूँ, पण्डितों में से जिसे कोई शंका करनी हो करे। चूंकि भीड़ बहुत थी और लोगों को उत्सुकता थी कि दोनों पक्षों को देखें। इसलिये श्रोताओं की प्रार्थना पर बाबू बिहारीलाल जी ने कहा कि पण्डितों में से जो शास्त्रार्थ करना चाहते हैं वे मैदान में कुर्सी पर पधारें और स्वयं एक कुर्सी वहां बिछवा दी। चूंकि उनमें से कोई एक ऐसा विद्वान् न था और न उनमें स्वामी जी की विद्या और तेज का सामना करने की शक्ति थी। इसलिये मियां सज्जनों और पण्डित लोगों की यह इच्छा थी कि सब मिलकर प्रश्नोत्तर करें और इस तर्क वितर्क में ये लोग भांति-भांति की बोलियां बोलते थे जिससे कोलाहल होता था। इसलिये स्वामी जी ने कहा कि जो एक पण्डित चाहे सामने

बैठकर उत्तर प्रश्न करे। यद्यपि यह सुझाव पूर्णतया बुद्धि के अनुकूल था परंतु विरोधी पक्ष के लिये लाभदायक न था। मियां हरिसिंह ने कहा कि अकेला कोई पण्डित आपसे शास्त्रार्थ नहीं कर सकता, दो या अधिक मिलकर करेंगे। स्वामी जी ने कहा कि अच्छा जिसको इच्छा हो यहां आनकर उसको बारी-बारी बतलाता रहूं। इस पर सहसा मियां हरिसिंह के मुख से निकला कि यह वन्दर किल्ली कौन खेल सकता है।

फिर जब डाक्टर साहब ने अनुरोध किया कि शास्त्रार्थ का नियम है कि दोनों सम्मुख बैठकर विचार करें, अवश्य पण्डित जी को सामने बैठकर शास्त्रार्थ करना चाहिये। तब मिया साहब के मुख से निकला "क्या कंजरियों (वेश्याओं) का नाच है जो बीच में आने की आवश्यकता है।" इस असभ्यतापूर्ण वाक्य को उपेक्षा की गई और जिस प्रकार वे चाहते थे वैसे ही बातचीत आरम्भ हुई।

मूर्तिपूजा पर बात चली। पण्डितों ने यह मन्त्र 'गणानान्त्वा" इत्यादि पढ़ा कि इससे गणेश जी की मूर्ति सिद्ध होती है। स्वामी जी ने इस पर किसो भाष्य का प्रमाण मांगा। उन्होंने महीधर की चर्चा की। स्वामी जी ने झट महीधर का भाष्य निकाल कर आगे रखा और उसका अश्लील अर्थ लोगों को सुनाया कि न तो इससे मूर्तिपूजा सिद्ध होती है और न गणेश-पूजा। प्रत्युत यह तो अत्यन्त अश्लील भाष्य है और साथ ही सनातन निरुक्तादि ग्रन्थों से उसका श्रेष्ठ अर्थ भी बतलाया कि इसका मूर्तिपूजा से कोई सम्बन्ध नहीं। जब मियां साहब को यह बात बुरी लगी तब कहा कि अंग्रेजी राज्य है अन्यथा यदि रियासत होती तो कोई आपका शिर काट डालता। स्वामी जी ने इसकी तनिक भी पर्वा न की और निरन्तर खण्डन करते रहे। जब मियां सज्जनों से और कुछ न हो सका तो यह कहा कि यहां पर मैजिस्ट्रेट और पुलिस दोनों उपस्थित हैं, इसका भी ध्यान रखना। उनकी बात डाक्टर बिहारीलाल जी को बहुत बुरी लगी जिस पर उन्होंने मियां साहब को भली-भांति मुंहतोड़ उत्तर दिया और डाक्टर साहब और मियाँ साहब की परस्पर विरोधात्मक बातचीत होकर सभा विसर्जित हुई।

(लेखराम पृ० ३५२ से ३५३)

वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

(ला० हरनारायण सुपुत्र बाबू हेमराज जी से जालन्धर में प्रश्नोत्तर)

सितम्बर, १८७७

स्वामी जी १३ सितम्बर, सन् १८७७ बृहस्पतिवार तदनुसार भादों सुदि ६, संवत् १९३४ को अमृतसर से जालन्धर पहुँचे और १५ अक्तूबर, सन् १८७७

तक वहां रहे। वहां एक दिन ला० हरनारायण सुपुत्र बाबू हेमराज जी ने वेदों के विषय में प्रश्न किया कि आप ईश्वर को निराकार मानते हैं परन्तु वेद तो मुख और कलम और दवात और वाणी के बिना रचे नहीं जाते, ईश्वर ने कैसे बनाये ?

स्वामी जी ने कहा कि तुम अपने चित्त में कुछ पढ़ो, उसने पढ़ा। स्वामी जी ने कहा कि तुम तो पढ़ सकते हो परन्तु ईश्वर ऐसा भी नहीं कर सकता। ईश्वर ने तुमको और सब विश्व को रचा है। (लेखराम पृ० ३५७)

पुनर्जन्म एवं चमत्कार

(मौलवी अहमद हसन साहब से जालन्धर में शास्त्रार्थ—२४ सितम्बर, १८७७)

भूमिका

फकीर मौहम्मद मिर्जा मवाहिद जालन्धर निवासी पाठकों को इस ट्रैक्ट (पुस्तिका) के प्रकाशित होने के कारणों से परिचित करता है कि मिति १३ सितम्बर, सन् १८७७ को स्वामी दयानन्द सरस्वती जी जालन्धर में भी भ्रमण करते हुए पधारे और परोपकारमूर्ति श्री सर्दार विक्रमसिंह जी अहलूवालिया की कोठी में विराजमान हुए। वहां वे वेद के अनुसार जिसको वे ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, कथा करने लगे। मैंने इच्छा प्रकट की कि सर्दार साहब तथा मौलवी अहमद हुसैन साहब की बातचीत भी किसी बौद्धिक विषय पर होनी चाहिए। माननीय सर्दार साहब ने इसको पसन्द किया और स्वामी जी ने भी स्वीकार करके २४ सितम्बर के प्रातः सात बजे का समय ऐतदर्थ निश्चित कर दिया। मौलवी साहब नियत समय पर हिन्दू तथा मुसलमान नगर-निवासियों के साथ वहाँ आ गये। मौलवी साहब की इच्छानुसार पुनर्जन्म का विषय तथा स्वामी जी की इच्छानुसार चमत्कार का विषय शास्त्रार्थ के लिए नियत हुआ अर्थात् यह निश्चय पाया कि स्वामी जी पुनर्जन्म को सिद्ध करेंगे तथा मौलवी साहब उसका खंडन करेंगे तथा मौलवी साहब अहले अल्लाह (ईश्वर भक्तों) के चमत्कार को सिद्ध करेंगे तथा स्वामी जी उसका खण्डन करेंगे। बातचीत प्रारम्भ होने से पूर्व यह निश्चित हुआ कि दोनों ओर से कोई व्यक्ति सभ्यताविरुद्ध बात न करेगा और स्वामी जी की ओर से यह घोषणा भी की गई कि कोई सज्जन इस शास्त्रार्थ के समाप्त होने पर किसी की हार-जीत न माने यदि मानेगा तो पक्षपाती और असभ्य समझा जायेगा क्योंकि ये समस्याएँ ऐसी नहीं हैं कि दो तीन शास्त्रार्थों में इनका निर्णय होजाये अथवा किसी की हार-जीत समझी जाये। परन्तु जब यह शास्त्रार्थ पुस्तक रूप में प्रकाशित होगा तो स्वयं हाथ कंगन को आरसी के सदृश होगा और बुद्धिमान् इसको

पढ़कर स्वयं इसका निर्णय कर सकेंगे। जो प्रश्नोत्तर लिखे जायेंगे वे ला० हमीरचन्द जी और मुन्शी मौहम्मद हुसैन साहब के हस्ताक्षर कराने के पश्चात् प्रकाशित होंगे। शास्त्रार्थ समाप्त होने के पश्चात् मौलवी साहब की ओर से विद्वानों की परिपाटी के विरुद्ध जो एक कार्य हुआ, न्याय की दृष्टि से उसका वर्णन करना आवश्यक है और वह यह था कि बातचीत समाप्त होने के पश्चात् मौलवी साहब खानकाहा (फकीरों के रहने का स्थान) इमाम नासिर उद्दीन के द्वार पर गये और कुछ प्रशंसात्मक उपदेश देकर उपस्थित मुसलमानों से अपनी ख्याति के इच्छुक हुए। यद्यपि विद्वान् और समझदार मुसलमान तो इस ख्याति की इच्छा को मूर्खों का खेल समझकर इससे पृथक् हो गये; परन्तु साधारण असभ्य लोग जो मुर्गे और बटेर आदि की लड़ाई देखने का स्वभाव रखते थे और जीत की ख्याति के इच्छुक थे उन्होंने मौलवी साहब को विजयी घोषित किया और घोड़े पर चढ़ा कर शहर के गली कूचों में भली भांति फिराया और हार-जीत का कोलाहल मचाया परन्तु विशेष समझदार सभ्य लोगों ने इसको बुरा समझा। अब प्रश्नोत्तर सुन लीजिये।

"चमत्कार के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और मौलवी अहमद हुसेन साहब के मध्य होने वाले प्रश्नोत्तर"

स्वामी— चमत्कार आप किसको कहते हैं ?

मौलवी—मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध जो अद्भुत कार्य मनुष्य से सम्पन्न हो।

स्वामी—स्वभाव आप किसको मानते हैं ?

मौलवी—मनुष्य की प्राकृतिक इच्छा को स्वभाव कहते हैं।

स्वामी—जो मनुष्य की शक्ति के बाहर है वह किस प्रकार उससे हुआ ?

मौलवी—मनुष्य से होने वाले कार्य दो प्रकार के हैं। एक तो वे कि मनुष्य को जिनका प्रकट करने वाला कहा जाता है और दूसरे वे कि मनुष्य स्वयं जिनका कर्ता होता है। पहली प्रकार के कार्यों में मनुष्य को वास्तविक कर्ता नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ जैसे कटपुतली का नाच ऐसे कार्य खुदा की ओर से मनुष्य के द्वारा प्रकट होते हैं।

स्वामी—सब मनुष्यों में ये दोनों प्रकार के कार्य हैं अथवा किसी एक में ?

मौलवी—प्रत्येक में नहीं, कुछ में होते हैं।

स्वामी—ईश्वर उल्टे काम कर और करा सकता है या नहीं ?

मौलवी—मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध करा सकता है परन्तु वह काम ईश्वर के स्वभाव के विरुद्ध नहीं होता और स्वयं अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता।

स्वामी—ईश्वर के काम उल्टे होते हैं वा नहीं ?

मौलवी—खुदा के कार्य कभी उसके स्वभाव के विरुद्ध नहीं होते यद्यपि मनुष्यों के स्वभाव की अपेक्षा वह विरुद्ध समझे जा सकते हैं।

स्वामी—चमत्कार सृष्टि के स्वभाव के अनुसार होता है या नहीं अर्थात् प्रकृति की इच्छा के विरुद्ध ?

मौलवी—चमत्कार में यह आवश्यक नहीं कि समस्त सृष्टि के स्वभाव के विरुद्ध हो यद्यपि यह सम्भव है कि किसी नबी (पैगम्बर) या वली (ईश्वर को प्राप्त करने वाला) से कोई ऐसा कार्य हो कि जो समस्त सृष्टि के स्वभाव के अनुकूल न हो।

स्वामी—चमत्कार किसी ने दिखाया अथवा दिखावेगा इसका क्या प्रमाण है ?

मौलवी—यह प्रश्न ऐसा है जैसे कहा जावे कि किसी के मुख पर जो दाढ़ी आई है उसके आने का क्या प्रमाण है ? जब चमत्कार के विषय में यह कह दिया गया कि वह कार्य जो मनुष्य से मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हो। उसका कार्य मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध होता है यही चमत्कार का प्रमाण है। बहुत से मनुष्यों ने जो दयालु ईश्वर की दृष्टि में सम्मानित और प्रतिष्ठित हैं और ईश्वर ने जिनको सृष्टि के उपकार के लिए भेजा है, पूर्वकाल में चमत्कार दिखाये और भविष्य में भी दिखायेंगे, जैसा कि अल्लाह के रसूल हजरत मोहम्मद साहब ने भी बहुत चमत्कार करके दिखाये और ऐसे ही उनसे पूर्व हजरत ईसा ने भी बहुत से चमत्कार करके दिखाये। सिद्धि इस बात की दो प्रकार से होती है, एक तो सच्चे समाचारदाताओं के द्वारा और दूसरे स्वयं देखने से। जैसा कि ऊपर दोनों महापुरुषों का वर्णन किया। जो लोग उनके समय में विद्यमान थे उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा और हम लोग जो इस समय के हैं उनको इसका ज्ञान सच्चे समाचारदाताओं के वचनों और लेखों से हुआ।

स्वामी—यह ठीक-ठीक युक्ति से सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि सुनना कहना और लिखना दो प्रकार का होता है, सच्चा और झूठा। अब यह चमत्कार की बात सच्ची है, इसका क्या प्रमाण है ? जैसे कार्य को देख के कारण की पहचान होती है अर्थात् नदी के प्रवाह को देखकर विदित होता है कि ऊपर वर्षा हुई है। इसी प्रकार चमत्कार हुआ, इसकी सिद्धि में इस समय क्या युक्ति है। कदाचित् वह झूठा ही लिखा कहा अथवा सुना हो क्योंकि जैसे अब कोई स्वार्थी मनुष्य झूठी बातों से बहका सुनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है (वैसे ही यह भी है) जैसे इस समय में भी दो-चार चमत्कारिक अवतार हुए हैं। आगरे में

शिवदयाल और रामसिंह कूका जो काले पानी चले गये हैं। एक अकलकोट का स्वामी दक्षिण में विद्यमान है और एक देव मामलादार ने सात दिन वैकुंठ में रहकर फिर आकर सुनाया कि मैं नारायण से बात करके आया हूँ। और जो जो आज्ञा हुई वह तुमको सुनाता हूँ। अब लाखों मनुष्य उसके चरणों में इतना नमस्कार करते हैं कि उसका पैर सूज गया है। जैसे यह बात अब झूठ इन्द्र-जालवत् है ऐसी पहले भी होगी। अब इस समय इतने मनुष्यों के बीच में कोई चमत्कार दिखाने वाला विद्यमान हो तो दिखलाइये और जो अब नहीं तो पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं होवेगा क्योंकि कार्य को देखे विना कारण की सिद्धि नहीं होती अथवा कारण के देखे विना कार्य की।

मौलवी—जब यह सिद्ध हो चुका कि चमत्कार पवित्र ईश्वर का एक कर्म है, यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा से वह असम्भव होता है तथापि परमात्मा की अपेक्षा से वह असम्भव नहीं क्योंकि यदि खुदा की अपेक्षा से वे असम्भव हो जायें तो उड़ना पक्षी का कभी न पाया जाये। इसके अतिरिक्त स्वभाव के विरुद्ध समस्त कर्म यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा से असम्भव दिखाई देते हैं परन्तु परमात्मा की अपेक्षा से असम्भव नहीं हैं। जब खुदा एक के बारे में वह अवसर उत्पन्न करता है तो दूसरे शरीर के बारे में भी उत्पन्न कर सकता है। इसका अस्वीकार करना मानो परमात्मा की शक्ति का अस्वीकार करना है। यदि समाचार प्रत्येक चीज का झूठ हो तो हमको चाहिए कि कलकत्ता, लन्दन अथवा और कोई नगर जिसको हमने अपनी आँखों से नहीं देखा है, उसका विश्वास न करें। इसीलिए सिद्धि चमत्कार की इसी प्रकार से है जिस प्रकार आप वेद को सिद्ध करते हैं अर्थात् जिससे आप यह कह सकते हैं कि यह वेद वही पुस्तक है जो ईश्वर की ओर से आई थी अन्यथा उस पर कोई मुहर खुदा की लगी हुई नहीं है जिससे कहा जावे कि यह वेद वही पुस्तक है। वेद की सिद्धि में जो युक्तियां आप देंगे वही चमत्कार के विषय में भी होंगी।

स्वामी जी—मैंने यह पूछा था कि ईश्वर ने अमुक-अमुक व्यक्ति के द्वारा चमत्कार दिखाये, इसका क्या प्रमाण है। चमत्कार परमेश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। इसका दृष्टान्त सब सृष्टि का रचना, धारण करना, प्रलय करना आदि है। वह न्याय, दया तथा अनन्त विद्या वाला है, कभी अपने स्व-भाव के विरुद्ध नहीं करता। इसका उदाहरण समस्त सृष्टि है। जैसे इस समय मनुष्य का पुत्र मनुष्य ही होता है, पशु नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर के काम में कभी भूल नहीं रहती। इसलिए परमेश्वर की शक्ति मानना चमत्कार पर अवलम्बित नहीं, और जो कोई चमत्कार मानता है वह वर्तमान समय में किसी चमत्कार दिखाने वाले का उदाहरण दे। और परमेश्वर की शक्ति की भी

कुछ न कुछ सीमा है जैसे ईश्वर मर नहीं सकता, अज्ञानी नहीं हो सकता, बुरा काम नहीं कर सकता क्योंकि वह न्यायकारी और अविनाशी है। यह उदाहरण चमत्कार पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि कोई कहे कि बम्बई नहीं तो वह बराबर बम्बई को दिखा सकता है। ऐसे ही जो यह उदाहरण सच्चा हो तो बम्बई के समान चमत्कार को भी दिखा दे। वेद का ईश्वरकृत होना असम्भव नहीं क्योंकि वह अन्तर्यामी और पूर्ण विद्वान् दयालु तथा न्यायकारी है। वह बराबर जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से अपना प्रकाश कर सकता है जैसे इस समय भी बराबर अन्यायकारी की आत्मा में भय और लज्जा और न्यायकारी की आत्मा में हर्ष तथा उत्साह का प्रकाश करता है इसलिए वेद का उदाहरण चमत्कार से सम्बन्धित नहीं और अभिप्राय मेरा इस विषय के बारे में कि यह पुस्तक ईश्वरकृत है, यह है कि जैसा ईश्वर का स्वभाव, जैसा सृष्टि का क्रम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है और अनन्त विद्या का प्रकाश निर्दोषता आदि है, ईश्वर की रचना सिद्ध करने में सब मुहरें हैं और जो आप कहें कि और प्रकार की मुहर चाहिए तो पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और मनुष्य पर ईश्वरकृत होने की मुहर क्या है? जब मुहर से ईश्वर की रचना सिद्ध करनी है तो कहीं मुहर दिखाई नहीं देती। ईश्वर का स्वभाव क्या है? जो ईश्वर मनुष्य के स्वभाव से उल्टा करा सकता है तो किसी मनुष्य को पांव से खिलाया और पिलाया है और मुख से पांव का काम लिया है या लिवाया है? मुझको ऐसा विदित होता है कि सब सम्प्रदाय वालों ने यह चमत्कार तथा भविष्यवाणी जैसे कि रसायन आदि का लोभ दिखा के बहुत लोगों को फंसाया है। परमेश्वर कृपा करे। सबके आत्मा में विद्या का प्रकाश हो कि मनुष्य ऐसे जाल-फन्दों से छूटकर सत्य को मानें और झूठ से अलग रहें।

मौलवी—हम पहले कह चुके हैं कि चमत्कार का कार्य मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध कराना असम्भव बात नहीं है। जिससे कहा जावे कि परमात्मा की शक्ति के बाहर है। यदि किसी को सन्देह हो तो मक्का नगर अथवा शाम देश में जाकर उन चालीस मनुष्यों को देख लें कि जो चमत्कार के दिखाने वाले हैं। वेद के अतिरिक्त ऐसी बहुत सी पुस्तकें हैं जिनको कह सकते हैं कि मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हैं जैसे शिक्षा के विषय में "गुलिस्तां" :०: और बोस्तां इत्यादि। किन्तु यह कहना कि इसमें सब विद्याएँ हैं, यह दावा युक्ति-शून्य है क्योंकि इसमें इल्मे इजतराब (उद्भिजन विद्या) कहां है। अनोखी बातों का ज्ञान और निर्मित पदार्थों के ईश्वरकृत होने का प्रमाण यह है कि वे निर्माण

:०: गुलिस्तां और बोस्तां शेखसादी द्वारा रचित फार्सी भाषा की दो प्रख्यात पुस्तकें हैं।

किये हुये हैं और यह निर्माण हो मानो खुदा की मुहर है। यह पुस्तक तौरेत के काल से निस्सन्देह पहले की है। इसमें वह समाचार है जो आज के दिन प्राप्त होता है। पुस्तक दानियाल अध्याय ११, पाठ १० से १९ तक भी प्रमाण है कि वह भविष्यवाणी जो सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखी गई थी अब पूरी हुई। दूसरे कुरान शरीफ के बारे में मुसलमानों का तेरह सौ वर्ष मे सारे सम्प्रदायों के विरुद्ध यह दावा है कि इस कुरान शरीफ के समान एक पंक्ति भी बनाकर कोई मनुष्य दिखावे जैसा कि—

"फातू बिसूरतिम् मिम्मिस्लिही"

(तो इसकी सी एक सूरत ले आओ)। अब तक किसी से बना नहीं न बनेगा। यदि पण्डित साहब को यह चमत्कार स्वीकार नहीं तो इसके समान एक पंक्ति बनाकर दिखायें। चमत्कार का प्रदर्शन मानों हमने इस सभा में कर दिया। अब हम पवित्र परमात्मा से यह प्रार्थना करते हैं कि वह समस्त सृष्टि को दृढ़ मार्ग पर लावे और उनकी दृष्टि से पक्षपात को दूर करे।

"पुनर्जन्म के विषय में प्रश्नोत्तर"

मौलवी—वर्तमान आकार के विना सत्ता का होना सम्भव नहीं। जब आकार की सत्ता विनाशी है तो अवश्य प्रकृति भी नाशवान् होनी चाहिए क्योंकि प्रकृति को सत्ता आकार के द्वारा प्राप्त हुई। द्रव्य की अपेक्षा द्रव्य का कारण प्रधान होता तो पुनर्जन्म मानने वालों के लिए जगत् का विनाशी मानना आवश्यक हो जाता है परन्तु उन्होंने ऐसा माना था कि वह सनातन है।

स्वामी—आकृति दो प्रकार को होती है—एक ज्ञान से ग्रहण होती है और एक चक्षु आदि इन्द्रियों से। कारण में ही आकृति की स्थिति है परन्तु वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होती क्योंकि जो सूक्ष्म वस्तु होती है जब वह स्वयं ही नहीं दिखाई देती तो उसका आकार क्या दिखाई देगा और जो कारण में आकृति न हो तो कार्य में नहीं आ सकती क्योंकि जो कारण के गुण है वही कार्य में आते हैं। जैसे एक तिल के दाने में तेल होता है, वह करोड़ों दानों में भी बराबर होता है। लोहे के अणु में तेल नहीं होता तो वह मन भर में भी नहीं होता। जो वस्तु नित्य है उसके गुण भी नित्य हैं। कारण का होना न होना नही कहा जाता, वह तो सनातन है और जो वस्तु सनातन है उसकी आकृति भी कारणावस्था में सनातन है। आकृति विना द्रव्य के पृथक् नहीं रह सकती। वह आकृति उसी द्रव्य की है इससे सिद्ध है कि कारण सनातन है।

मौलवी— यह नहीं कि जो चीज सिवाय किसी चीज के न पाई जाये तो

वह उसका रूप ही हो उदाहरणार्थ जैसे चेष्टा हाथ और चाबी की। चेष्टा चाबी की बिना हाथ की चेष्टा के नहीं पाई जाती प्रत्युत जब चेष्टा चाबी की होगी तो चेष्टा हाथ की होगी और जब चेष्टा हाथ की होगी तो चेष्टा चाबी की होगी अर्थात् इन दोनों चेष्टाओं में कोई काल किसी का किसी से पहले या पीछे नहीं निकलता और निस्सन्देह उत्कृष्ट बुद्धि जानती है कि कुंजी की चेष्टा बिना हाथ के नहीं अर्थात् चेष्टा कुंजी की हाथ की चेष्टा पर निर्भर है। यद्यपि वर्तमान समय में इकट्ठी हैं। ऐसे ही प्रकृति और उसका रूप है। यद्यपि काल में एकता है परन्तु बुद्धि इस बात को जानती है कि प्रकृति के आकार की अपेक्षा प्रकृति सनातन है क्योंकि गुणी और मानने वाला गुण और माने हुए की अपेक्षा सनातन होता है। प्रकृति की सत्ता अर्थात् उसका अनुभव होना दिखाई देना किसी चीज के लगने से होता है। या तो आकृति के लगने से होता है या किसी और चीज के लगने से। प्रत्येक अवस्था में वह पदार्थ जिसके लगने से वह प्रकृति संसार में इस प्रकार स्थित हुई कि अनुभव हो और दिखाई दे वह किसी ऐसे कारण से हुई जो पीछे से आकर प्रकृति को लगा। और जो उत्तर में यह लिखा गया कि कारण का होना अथवा न होना नहीं कहा जाता तो वह चीज अद्भुत है जिसका उपादान कारण में होना या न होना नहीं कह सकते। वह वस्तु जिसका उपादान कारण ऐसा हो उसका होना किस प्रकार हो सकता है अर्थात् वर्तमान वस्तु अभाव से नहीं बन सकती और यदि उसके सनातन होने से कोई मनुष्य यह कहे कि वह विद्यमान भी होगा तो यह गलत है इसलिए कि अभाव से भाव का होना उदाहरणार्थ जैसे कोई कहे कि "जैद" के तत्त्वों को एक विशेष आकार प्राप्त हुआ है जिसके कारण उसका "जैद" नाम रखा गया तो वह विशेष आकार इस आकार से पहले कभी विद्यमान न था इसलिए उसको अर्थात् उसके अभाव को सनातन कहा जावेगा। रूप के जो दो प्रकार कहे—एक वह कि जिसको आकृति कहते हैं और एक उसके अतिरिक्त, इससे विदित हुआ कि आकार प्रकृतिरहित है।

स्वामी—स्वाभाविक गुण रूप आदि वस्तु के पीछे कभी नहीं होते और जो पीछे हो उसको स्वाभाविक नहीं कहते जैसे अग्नि के परमाणुओं का स्वाभाविक अतीन्द्रिय रूप अर्थात आँख से अनुभव न होना स्वाभाविक सब काल उसके साथ है। निमित्तकारण के संयोग पर परमाणुओं का संयोग करने से स्थूल कार्य होने से उसका इन्द्रिय-ग्राह्य रूप प्रकट होता है जैसे जल के परमाणु आकाश में उड़-कर ठहरते हैं और जब तक बादल नहीं बनते तब तक नहीं दीख पड़ते।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि वह प्रकृति नहीं है या प्रकृति का स्वा-भाविक गुण नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे लड़के का होना और लड़के का न होना। जैसा कार्य में यह होना या न होना गुण है वैसा कारण में नहीं है। जो कारण

और कारण के स्वाभाविक गुण हैं वे अनादि हैं। कार्य वह है कि जो संयोग से हो और वियोग के पीछे न रहे। वह जो एक संयोगजन्य आकृति है वह कार्य की आकृति कहलाती है। उसका प्रवाह से अनादिपन है, स्वरूप से नहीं और ईश्वर जो कि सर्वज्ञ है उसका निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाला है। उसके ज्ञान में सदा है और रहेगा। (अन्तिम वाक्य का उत्तर ऊपर आ गया)।

मौलवी—पदोत्कर्ष अर्थात् पहले होना दो प्रकार का होता है एक निजी और एक सामयिक। निजी जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि चेष्टा हाथ की और चाबी की और ऐसा ही उत्कर्ष गुणी का अपने समवायी गुणों पर उदाहरणार्थ उत्कर्ष पानी का अपने बहने पर। उत्कृष्ट बुद्धि जानती है कि कहने की स्थिति पानी के साथ है। इस उत्कर्ष को निजी उत्कर्ष कहा जावेगा। बहने का अभिप्राय यह कि उत्कर्ष गुणी का उन गुणों पर जो उसके अपने गुण हैं निजी उत्कर्ष कहलाता है, क्योंकि गुणी अपने गुणों से अवश्य उत्कृष्ट होता है और सन्देह तब उत्पन्न होते हैं जब उत्कर्ष सामयिक हो। दूसरा सामयिक उत्कर्ष वह है जैसा कि बाप का अपने बेटे पर होता है। गुणी का गुणों से रिक्त होना तब आवश्यक होता है जब उत्कर्ष सामयिक हो। तात्पर्य यह है कि अपने आकार पर जो उत्कर्ष प्रकृति का है वह निजी उत्कर्ष है क्योंकि गुणी गुणों से उत्कृष्ट होना चाहिए।

स्वामी—द्रव्य उसको कहते हैं कि जिसमें गुण, क्रिया, संयोग वियोग होने का स्वभाव पाया जावे परन्तु जो द्रव्य परिच्छिन्न अर्थात् पृथक्-पृथक् हैं उनका यह लक्षण है। जो विभु व्यापक द्रव्य है वह संयोग वियोग के स्वभाव से पृथक् होता है। किसी व्यापक में गुण ही प्रधान होते हैं, क्रिया नहीं जैसे कि परमेश्वर, उसमें संयोग वियोग नहीं होता परन्तु क्रिया और गुण हैं और आकाश, दिशा, काल ये व्यापक हैं परन्तु इनमें क्रिया नहीं, केवल गुण हैं।

मौलवी—यह उत्तर पहले प्रश्न से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि इस उत्तर में निजी और सामयिक भेद नहीं किया गया। ज्ञानस्थ आकृति की अपेक्षा से "जैद" का विशेष प्रकार का अभाव अर्थात् उसके नियत शरीर का एक नियत काल से जो सम्बन्ध था उस शरीर की उत्पत्ति के पूर्व उसका पूर्ण अभाव था और यह जो विचार प्रकट किया गया कि पूर्ण अभाव उस शरीर विशेष का नहीं है, उसकी आकृति ईश्वर के ज्ञान में विद्यमान है यह बिल्कुल गलत है क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में यह शरीर विशेष तो विद्यमान नहीं जो तीन हाथ का है। किसी वस्तु के अनादि होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति तो सिद्ध नहीं होती। ज्ञानस्थ

आकृति के बारे में बात यह है कि ईश्वर का ज्ञान ज्ञानस्थ आकृति के साथ नहीं है क्योंकि ज्ञानस्थ आकृति वह होती है जो बाहरी वस्तु के देखने से प्राप्त होती है। जब आकार विशेष को अनादि नहीं माना जाता तो ईश्वर के ज्ञान में वह ज्ञानस्थ आकृति कहां से प्राप्त हुई ? यदि कोई वस्तु अनादि थी तो आपके मन्तव्य के अनुसार प्रकृति आनादि थी और जिस वस्तु का साधनों द्वारा अनुभव न किया जा सके। जैसे कि आप प्रकृति और आकार को मानते हैं कि प्रथम अवस्था में अनुभव के योग्य न था तो उसका ज्ञान किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी पदार्थ को जानने की विधि यही है कि किसी चेष्टा के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय में उसका आकार प्राप्त हो उसी को ज्ञानस्थ आकृति कहा जाता है और जहाँ तक जल के परमाणुओं का सूक्ष्म होकर वाष्प बन जाने का प्रश्न है तो यद्यपि वह दृष्टिगोचर नहीं होता फिर भी किसी न किसी चेष्टा के द्वारा वह जानने के योग्य है। प्रत्येक अवस्था में जो आकार इस प्रकार का माना गया है कि जिसका ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब अनादित्व ही गलत सिद्ध हुआ तो पुनर्जन्म कहां रह गया। यदि यूं कहा जाता है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने का कारण उसके वे कर्म हैं जो प्रथम शरीर में किये थे तो यह प्रकट है कि कर्म चेष्टा द्वारा होते हैं और चेष्टा काल पर निर्भर है और काल का आदि अन्त और मध्य इकट्ठा नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त कर्म जो किसी समय के द्वारा किये गये वे भी नष्ट हो गये। अथवा दूसरे शरीर से सम्बन्ध किसी उत्कर्षक की ओर से न होगा। जब आत्मा का शरीरों से समान सम्बन्ध है तो विशेष सम्बन्ध होने से उत्कर्षता विना उत्कर्षक के बाधक होगी। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध से बहुत सी हानियां उत्पन्न होंगी क्योंकि विशेषताएं जो प्रथम शरीर में प्राप्त की थीं वे दूर हो गईं और उदाहरणतया यदि दूसरा सम्बन्ध कुत्ते अथवा गधे से हो तो उस कुत्ते और गधे के शरीर में वह विशेषताएं प्राप्त नहीं कर सकता जो मनुष्य के शरीर में प्राप्त कर सकता था। अब आपको उचित है कि प्रथम विद्याओं के प्राप्त करने कि विधि निश्चित कीजिये फिर उसके पश्चात् सम्बन्ध का कारण निश्चित किया जावे तब उस पर आक्षेप किया जा सकता है।

स्वामी—दश इन्द्रियों के विषय में मौलवी साहब का कहना ठीक नहीं जैसा कि जो जीवात्मा किसी इन्द्रिय से नहीं देखा जाता परन्तु अस्तित्व उसका है। जो मौलवी साहब ने कहा कि अनादि वस्तु झूठी है, यह किसने कहा है क्या यह बात अपने दिल से जोड़ ली है क्योंकि जब लिखवा चुका कि परमेश्वर जीव और जगत् का कारण ये तीनों सनातन हैं। इससे अनादित्व सिद्ध है और अभाव से भाव कभी नहीं होता। यदि कोई कहता है तो उसका प्रमाण नहीं है।

गधे और कुत्ते के शरीर में मनुष्य का जीव जाने से मौलवी साहब कहते हैं कि बड़ी हानि होती है क्योंकि सब कमाई की हुई चली जाती है यदि मौलवी साहब ऐसा मानते हैं तो मौलवी साहब को कभी सोना न चाहिए क्योंकि निद्रा में जाग्रत की कमाई सब भूल जाती है। यदि मौलवी साहब कहें कि फिर जागने से वह ज्ञान आ जाता है तो कुत्ते, गधे के शरीर में भी आ जायेगा और ज्ञान फिर प्राप्त कर सकता है जैसे कि मनुष्य निद्रा से जागकर करता है। इसलिये मैं जानता हूँ कि मौलवी साहब के भाषण और मेरे भाषण को बुद्धिमान् लोग स्वयं देखलेंगे और एक जन्म इन बातों से सिद्ध नहीं होता परन्तु पुनर्जन्म सिद्ध है।

हस्ताक्षर अंग्रेजी

ला० हमीरचन्द

हमारे समक्ष जो बातचीत के विषय निश्चित हुए वे वास्तव में यही थे जो इस भूमिका में लिखे हैं। **हस्ताक्षर—मौहम्मद हुसैन महमूब**

(दिग्विजयार्क पृ० ३१ से ३३, लेखराम पृ० ३५७ तथा ३६३ से ७००)

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

(लाहौर में पण्डित व लाट पादरी से प्रश्नोत्तर—अक्टूबर, १८७७)

एक दिन एक पण्डित ने महाराज से प्रश्न किया कि सामवेद में भरद्वाज आदि ऋषियों के नाम आये हैं इससे संदेह होता है कि वेद ऋषि-कृत हैं। महाराज ने उत्तर दिया कि उन मन्त्रों में यह नाम ऋषियों के नहीं हैं, प्रत्युत उनके विशेष अर्थ हैं। पीछे से ऋषियों के नाम वेद के इन शब्दों से रख लिये गये हैं और कई एक मन्त्रों का जिनमें उक्त शब्द आये थे अर्थ करके सुनाया।

एक दिन एक विशपलाट (पादरी) महाराज से भेंट करने आये और वार्तालाप में यह प्रसंग उठाया कि वेद-ऋषियों को ईश्वर के विषय में कुछ ज्ञान न था और हिरण्यगर्भ सूक्त की ओर संकेत दिया कि उसमें यह आता है कि हम किस देव की उपासना करें (कस्मै देवाय हविषा विधेम)। राय मूलराज ने उक्त सूक्त का अंग्रेजी अनुवाद महाराज को सुनाया तो उन्होंने विशप साहब से कहा कि आपको अशुद्ध अनुवाद के कारण भ्रम हुआ है। इसके अर्थ यह नहीं कि हम किस देव का उपासना करें, प्रत्युत यह है कि हम सर्वव्यापक, सुखस्वरूप परमात्मा की उपासना करते हैं। फिर विशप साहब बोले कि देखो बायबल का प्रताप कि वह सारे संसार में इतने विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है कि उसमें सूर्य अस्त नहीं होता। महाराज ने कहा कि यह भी वेद का ही प्रताप है। हम लोग वैदिक धर्म को छोड़ बैठे हैं और आप लोगों में वेदोपदिष्ट गुण हैं। यथा ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन,

एक-पत्नीव्रत, दूरदेश-यात्रा, स्वदेशप्रीति आदि। इसीसे आपकी इतनी उन्नति हो रही है, बाइबल के कारण से नहीं।

(देवेन्द्रनाथ २। ७१, लेखराम पृ० ३३६, ३३७)

ईश्वर की सर्वव्यापकता

(पं० कृपाराम मैगजीन क्लर्क फिरोजपुर से प्रश्नोत्तर अक्टूबर या नवम्बर, १८७७)

स्वामी जी अक्टूबर, सन् १८७७ से ४ नवम्बर, सन् १८७७ तक फिरोजपुर छावनी में ठहरे। वहां एक दिन पंडित कृपाराम वर्तमान क्लर्क मैगजीन फिरोजपुर ने प्रश्न करना चाहा और जाते ही कहा कि आप तो कुर्सी पर बैठे हैं, मैं खड़ा हूँ। मेरे और आपके प्रश्नोत्तर किस प्रकार हो सकते हैं। स्वामी जी ने उसके लिये कुर्सी मंगाई। जब कुर्सी आने में विलंब हुआ तो स्वामी जी ने कहा कि आप कुर्सी के विना भी बोल सकते हैं और अगर दुःख है कि मैं क्यों बैठा हूँ तो मैं भी नीचे बैठ जाता हूँ। इतने में कुर्सी आ गई और बैठ गये। उन्होंने प्रश्न किया कि खुदा महदूद है या गैर महदूद है?

स्वामी जी ने कहा कि मैं अर्बी नहीं समझता, भाषा में कहो कि इसका तात्पर्य क्या है। क्या एकदेशी और सर्वव्यापक से अभिप्राय है?

उसने कहा कि हां।

स्वामी जी ने कहा कि सर्वव्यापक है।

कृपाराम जी ने अपनी घड़ी सहसा मेज पर रख दी कि बतलाओ इसमें कहां है?

स्वामी जी ने आकाश का उदाहरण देकर कहा कि आकाश सर्वत्र समाया है, सब वस्तुएँ आकाश के अन्दर हैं। मेरा यह सोटा भी (अपना सोटा खड़ा करके) आकाश के अन्दर है। जैसे यह आकाश के बाहर नहीं हो सकता, इसी प्रकार आपकी घड़ी भी परमेश्वर की व्यापकता से पृथक् नहीं। इस पर उन्होंने अपना संतोष तो प्रकट न किया, केवल यह कहा कि बस तुम्हें गपोड़े हांकने आते हैं।

परन्तु विचार करने के पश्चात् उत्तर को सत्य समझकर सच्चे हृदय से आर्यसमाज फिरोजपुर के सभासद् हो गये और पूरी निष्ठा से स्वामी जी का सम्मान करने लगे। (लेखराम पृष्ठ ३५६)

लूत पैगम्बर का अनाचार

(पादरी और मौलवी से प्रश्नोत्तर रावलपिण्डी में—नवम्बर, १८७७)

(७ नवम्बर, सन् १८७७ से २९ दिसंबर, सन् १८७७ तक)

स्वामी जी ७ नवम्बर, सन् १८७७, बुधवार तदनुसार कार्तिक सुदि २, संवत् १९३४ को रावलपिंडी में पधारे और सेठ जामसन जी व्यापारी की कोठी पर ठहरे। इसी कोठी में एक दिन स्वामी जी ने व्याख्यान के पश्चात् कुछ विशेष व्यक्तियों से बातचीत करते हुए कहा कि हिन्दुओं की दशा पर अत्यन्त खेद है, वह अन्य मतों की पुस्तक नहीं देखते और मेलों में जब कभी कोई पादरी और मौलवी उनको कहता है कि ब्रह्मा जी ने अपनी पुत्री से व्यभिचार किया तो झट स्वीकार कर लेते हैं। ब्रह्मा जी की बात तो किसी विश्वसनीय ग्रन्थों में नहीं है परन्तु बाईबिल में लूत पैगम्बर का अपनी बेटियों से व्यभिचार करने का वर्णन है। वह यदि बतलावें तो पादरी तथा मुसलमान कदापि सामने आकर बात न कर सकें। उस समय एक पादरी तथा एक मौलवी मिशन स्कूल के बैठे हुए थे। उन्होंने घर में आकर सम्मति की कि यह बात स्वामी जी ने झूठ कही है. कल उन पर आक्षेप करेंगे। वे लोग दूसरे दिन आये और आक्षेप किया, पुस्तकें साथ लाये। व्याख्यान की समाप्ति पर जब स्वामी जी बैठे तब उन्होंने कह कि कल जो आपने कहा था कि लूत ने अपनी लड़कियों से व्यभिचार किया है यह बात झूठ है। स्वामी जी ने कहा कि हमको ज्ञात था कि तुमको इस बात की लज्जा आयेगी। वे लोग पुस्तकें लेकर पास बैठ गये। स्वामी जी ने कहा कि यह तुम्हारी लड़कपन की बात है तुमको प्रथम यह चाहिये था कि घर में दीपक जलाकर अपनी चारपाई की दशा का ज्ञान प्राप्त करलेते ताकि तुमको इस सभा में लज्जित न होना पड़ता परन्तु वह न समझे। तब स्वामी जी ने कहा कि अरे तुलसिया! हमारी बाईबिल लाओ। वह लाया और स्वामी जी ने निकालकर बतलाया (बाईबिल उत्पति पर्व, आयत ३० से ३८ तक) जिसमें स्पष्ट रूप से लिखा है। फिर वह अत्यन्त लज्जित हुए परन्तु साथ ही यह कहा कि शराब के नशे में था। लाला शिवदयाल जी ने कहा कि चाहे कुछ भी हो परन्तु उसको यह विदित था कि मेरी स्त्री मर चुकी है और मैं चिरकाल से विना स्त्री के हूं और ये मेरी लड़कियां हैं। पाप से किसी दशा में भी उसका छुटकारा नहीं हो सकता। जिस पर वे लज्जित होकर चले गये और कहा कि निस्सन्देह यह हमारा अपराध था, यदि घर में देखलेते तो आपको कष्ट न देते।

(लेखराम पृष्ठ ३६१-३६२)

नव्य न्याय और आर्ष-ग्रन्थ

(गुजरात में पण्डित होशनाकराय से प्रश्नोत्तर—जनवरी, १८७८)

जब गोस्वामी शिवदास वेद में मनगढ़न्त श्रुति न दिखा सके तब पण्डित होशनाकराय ने कहा, मैं आपसे न्याय में प्रश्न करूंगा। पण्डित नंदलाल मध्यस्थ बने। व्याप्तिवाद पर प्रश्न हुआ। महाराज ने महाभाष्य के अनुसार व्याप्ति के लक्षण किये और कहा कि हम आर्ष ग्रन्थों को मानते हैं, आपके लक्षण नहीं मानते, हमारे किये हुए लक्षण में अशुद्धियां बताइये। परन्तु वे न बता सके और पण्डित नन्दलाल को भी कहना पड़ा कि स्वामी जी ठीक कहते हैं।

(देवेन्द्रनाथ २। ८३, लेखराम पृ० ३७०)

आप ज्ञानी हैं वा अज्ञानी ?

(गुजरात के कुछ हिन्दुओं के साथ प्रश्नोत्तर—जनवरी, १८७८)

बाबू मंगोमल पोस्टमास्टर लाहौर वर्णन करते हैं कि स्वामी जी जिन दिनों गुजरात में थे तो वहां के कुछ हिन्दुओं ने परस्पर सम्मति करके स्वामी जी से यह प्रश्न किया कि आप ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? (अर्थात् यदि ज्ञानी कहेंगे तो हम बोलेंगे कि आप अहंकार करते हैं संतों को अहंकार नहीं चाहिये और अहंकारी का तप नष्ट हो जाता है और यदि कहेंगे कि अज्ञानी है तो हम कहेंगे कि जब आप स्वयं ही अज्ञानी हैं तो हमको क्या सिखलावेंगे।)

स्वामी जी ने ऐसा उत्तर दिया कि वे सब के सब चकित रह गये। कहाकि मैं कई बातों में अज्ञानी हूँ और कई बातों में ज्ञानी, उदाहरणार्थ दुकानदारी, व्यापार, अंग्रेजी, फार्सी से अज्ञानी हूँ और संस्कृत और धर्म की बातों से ज्ञानी हूँ। इस उत्तर को सुनकर वे अत्यन्त लज्जित हुए और निरुत्तर होकर चले गये।

(लेखराम पृष्ठ ३७३)

वेद में मुर्दे दफनाना नहीं लिखा

(मिस्टर बुकानीन साहब से प्रश्नोत्तर-गुजरात (पंजाब) में—जनवरी, १८७८)

स्वामी जी १३ जनवरी, सन् १८७८ को रावलपिण्डी और जेहलम में आर्यसमाज की स्थापना; करने के पश्चात् गुजरात पधारे। जिस मकान में अब गवर्नमेंट स्कूल का बोर्डिंग हाउस है, उसमें स्वामी जी के व्याख्यानों का आयोजन किया गया। मिस्टर बोकनीन साहब हेडमास्टर गवर्णमेण्ट हाईस्कूल से आज्ञा लेकर व्याख्यान आरम्भ हुए। एक दिन व्याख्यान की समाप्ति पर बोक-

नीन साहब उठ खड़े हुए और प्रश्न किया ओ बाबा, ओ बाबा, तू इन बेचारे ग्रन्थों की जो डन्गूरी छीनता है उसके बदले इनको क्या देता है। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मैं वेद देता हूँ और योगाभ्यास। बोकनीन साहब ने कहा कि मेरे आप पर प्रश्न हैं। स्वामी जी ने कहा कि कीजिये।

बोकनीन—वेदों में लिखा है कि पहले इस देश में मुर्दे दफनाये जाते थे तुम कैसे जलाने को कहते हो ?

स्वामी जी ने कहा कि मन्त्र सुनाओ।

नन्दलाल ने बोकनीन साहब की ओर से मन्त्र सुनाया परन्तु अब वह मत्र स्मरण नहीं रहा जिसका अर्थ यह था कि 'हे पृथ्वी तू इसको अपनी दोनों भुजाओं में लेले" इत्यादि।

स्वामी जी ठहर गये और कहा कि अब चूंकि समय व्यतीत हो चुका है कल तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया जावेगा।

दूसरे दिन उन्होंने एक और मन्त्र सुनाया और उसके द्वारा इस मन्त्र का अर्थ किया कि इसका अभिप्राय मुर्दा गाड़ने मे नही है प्रत्युत यह है कि पृथ्वी खोद कर मुर्दे जलाये जाते थे। भूमि के दोनो किनारे उसके दो बाहु कल्पित किये गये हैं।

बोकनीन साहब चुप कर गये। (लेखराम पृ० ३७१)

ईश्वर और जीव का भेद

(पादरी सोलफोट साहब से गुजरावालां में शास्त्रार्थ— १८ से २० फरवरी, १८७८)

१६ फरवरी, सन् १८७८ तदनुसार फागुन वदि २, संवत् १९३५, मंगलवार को सायंकाल ४ बजे स्वामी जी महाराज गिर्जाघर में शास्त्रार्थ के लिये पधारे।

निम्नलिखित पादरी सज्जन उपस्थित थे—

पादरी साहब मिशनरी सियालकोट, पादरी मेकी साहब अमरीकन, पादरी स्वीफ्ट साहब देशी पादरी जो लाशा के नाम से प्रसिद्ध थे।

इनके अतिरिक्त मिस्टर मोहनवीर साहब गोरखा ऐक्स्ट्रा असिस्टैण्ट कमिश्नर, मिस्टर ह्यूसन साहब असिस्टैण्ट कमिश्नर, वाकर साहब असिस्टैण्ट कमिश्नर, डिप्टी गोपालदास साहब ऐक्स्ट्रा असिस्टैण्ट कमिश्नर, डिप्टी बर्कत-अली साहब ऐक्स्ट्रा असिस्टैण्ट कमिश्नर आदि सज्जन तथा नगर के सारे सम्मा-

नित रईस भी वहां पधारे हुए थे। डिप्टी गोपालदास जी मध्यस्थ बनाये गये थे। श्रोताओं के लिये टिकिट लगाये गये थे। गिर्जाघर का भीतर बाहर सब मनुष्यों से भरा हुआ था। डेढ़ दो हजार के लगभग मनुष्य होंगे। शास्त्रार्थ करने वाले पादरी स्त्रीपट साहब थे।

पादरी स्वीफ्ट साहब ने शंका उपस्थित की कि यदि जीव भी अनादि माना जावे और ईश्वर भी तो वे दोनों समान हो गये। दो दिन तक प्रश्नोत्तर होते रहे।

स्वामी जी ने इस बात का विद्या के प्रमाणों और बुद्धिपूर्ण युक्तियों द्वारा बड़ी उत्तमता से खण्डन किया कि वे दोनों समान नहीं होते प्रत्युत स्वामी सेवक होते हैं। ४ बजे से ८ बजे तक शास्त्रार्थ होता रहा।

शास्त्रार्थ लिखित था अर्थात् दोनों ओर के प्रश्नोत्तर लिखने वाला गंगाराम चोपड़ा था परन्तु वे लिखित पत्र कहीं खो गये, अब नहीं मिलते हैं।

भाई हजूरासिंह जी कहते हैं कि शास्त्रार्थ के पश्चात् डिप्टी गोपालदास जी ने पादरी साहब को कहा कि स्वामी जी आपके प्रश्नों के पर्याप्त उत्तर दे चुके हैं, आपका हठ है जो नहीं मानते। और लोगों को भी संभवतः उस समय विश्वास हो गया था कि स्वामी जी सच्चाई पर हैं और पादरी साहब भूल पर।

यह बात भी जितलाने योग्य है कि शास्त्रार्थ के समय स्वामी जी ने इन्जील की समस्याओं और मसीह की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में भी निरन्तर बहुत से आक्षेप किये और इससे ईसाई मत की कलई खुलती रही कि ईसाई मत कितना निकृष्ट और हीन है परन्तु पादरी साहब रह गये प्रश्नों के उत्तर से बार-बार बचना और पूर्णतया उपेक्षा करना ही श्रेष्ठ समझते रहे।

गिर्जाघर चूंकि एक तंग स्थान था जहां से इस शास्त्रार्थ सुनने के सैंकड़ों इच्छुक शास्त्रार्थ के लाभ से वंचित रहकर घर को लौट जाते थे। उनकी भीड़ देखकर उनको निराश लौटाने के लिए गिर्जाघर के समस्त द्वार बन्द कर दिये जाते थे और गिर्जाघर के भीतर मकान की तंगी और श्रोताओं की अधिकता के कारण लोगों के दम घुटने लग जाते थे। इसलिये लोगों की इच्छा यह थी कि यह शास्त्रार्थ किसी खुले स्थान पर हो, इसलिए दूसरे दिन शास्त्रार्थ का समय होने के पश्चात् स्वामी जी ने पादरी लोगों को सम्बोधन करके कहा कि स्थान अत्यन्त संकुचित है, लोगों का एक बड़ा उत्सुक भाग यहां से निराश जाता है और जो लोग भीतर आकर बैठते हैं वे भी स्थान के संकुचित होने के कारण बहुत कष्ट पाते हैं और इसके अतिरिक्त यह स्थान एक पक्ष का धार्मिक-गृह भी है। इस

लिए कोई ऐसा स्थान नियत होना चाहिए जो इन दोषों से रहित हो। पादरी लोगों ने उस समय तो कोई ठीक उत्तर न दिया परन्तु अगले दिन १२ बजे के लगभग जब स्वामी जी वेदभाष्य के काम में पूर्णतया संलग्न थे और उनको पहले से बिल्कुल कोई सूचना नहीं थी और न उनसे कोई सम्मति ली गई थी कि शास्त्रार्थ १२ बजे दिन के होगा, स्वयमेव कुछ क्रिश्चन भाइयों को गिर्जाघर में बुलाकर बिठा लिया और स्वामी जी की ओर मनुष्य भेजा कि वे इस समय गिर्जाघर आ जायें। स्वामी जी उसकी बात को सुनकर बहुत चकित हुए, और कहा कि जब चार बजे शाम का समय दोनों पक्षों की सम्मति से निश्चित हो चुका है और लोगों को भी केवल उसी समय की सूचना है और इस १२ बजे के समय के लिए न तो कोई परस्पर सम्मति हुई है और न पहले से मुझको सूचना दी गई है और न लोगों को उसकी सूचना है तो ज्ञात नहीं कि आपने स्वयमेव १२ बजे दिन का समय किस प्रकार निश्चित कर लिया है। और हमने कल कहा था कि गिर्जाघर पर्याप्त रूप से खुला स्थान नहीं है तो क्या उसका यही उत्तर है कि स्थान अच्छा प्रबन्ध करने की जगह अब समय भी स्वयमेव ऐसा निश्चित करलेवें जिसको दूसरे पक्ष ने आरम्भ से ही अस्वीकार कर रखा है। इसलिये ऐसी तुच्छ और गर्वपूर्ण कार्यवाही के अनुसार चलना मेरे लिए आवश्यक नहीं कि मैं वेदभाष्य जैसे उत्तम और विशेष कार्य से जिसको कि मैं अब यहां पर बैठा करता हूँ छोड़कर पादरी लोगों के गिर्जाघर में उपस्थित होने के लिये विवश हूँ। पादरी लोग यदि स्थान का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं कर सकते तो वह नियत समय पर (जो कि दोनों की सम्मति से निश्चित हुआ है और जिसकी शास्त्रार्थ के इच्छुकों को पहले से सूचना है) तैयार रहें। चार बजे शाम के लिये प्रबन्ध का भार मैं स्वयं लेता हूँ। यह कहकर क्रिश्चन दूत को स्वामी जी ने विदा किया और ला० गोपालदास जी ने ऐसा ही उन्हें उत्तर दिया कि इस समय नियमविरुद्ध मैं उपस्थित नहीं हो सकता।

नगर का तो मनुष्य इस दिन दोपहर को गिर्जा में न गया परन्तु पादरियों ने कुछ क्रिश्चन और कुछ लड़के स्कूल के कुर्सियों पर बिठला कर उनको सुनाया कि चूंकि स्वामी जी अब १२ बजे नहीं आते हैं इसलिए वह हारे हुए समझे जावें। यह कहकर सभा विसर्जित हुई।

स्वामी जी पादरियों के इस घृणित कार्य्य पर बहुत क्रुद्ध हुए और नगर के सम्मानित व्यक्तियों ने भी उनके असभ्यतापूर्ण प्रदर्शन की बहुत हंसी की। और स्वामी जी की प्रार्थना पर नगर के कुछ गण्यमान्य सज्जनों ने ४ बजे शाम को समाधि के समीप एक खुले स्थान पर दरियाँ, मेज, कुर्सी आदि सब सामग्री इकट्ठी

करके शास्त्रार्थ का प्रबन्ध करदिया। और चूंकि वह स्थान गिर्जाघर के समीप था, (जहां पहले दो दिन शास्त्रार्थ हुआ था) इसलिये जो लोग नित्य की भांति शास्त्रार्थ सुनने के लिये आये वे वहां पहुँच गये जहाँ शास्त्रार्थ का आयोजन था। सारांश यह कि लोग पंक्ति बांध-बांध कर आनेलगे और स्थान के खुला होने के कारण अत्यन्त प्रसन्न थे। पादरी लोगों को कई बार एक बार उनके दूत के मुख मे और दूसरी बार एक और सम्मानित व्यक्ति द्वारा सूचना समय से पूर्व ही दी गई परन्तु वे अपने घर से बाहर न निकले। पहले स्मरण दिलाने के अतिरिक्त नियत समय पर भी स्मरण दिलाया गया परन्तु उनका वहां आना अत्यन्त कठिन हो गया। इसलिये विवश होकर नियत समय के लगभग पौन घण्टा पश्चात् स्वामी जी ने व्याख्यान देना आरम्भ किया। उस दिन व्याख्यान भी इंजील की शिक्षा पर था जिसमें ईसाई मत का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और रोचक ढंग पर खंडन किया। आज उपस्थिति सब दिनों से अधिक थी और लोग पादरियों के मत की वास्तविकता सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

इसके पश्चात् लगभग दस बारह दिन तक स्वामी जी गुजरांवाला में रहे परन्तु किसी पादरी को भी सामने आने का साहस न हुआ। व्याख्यान के पश्चात् कुछ लोग किसी-किसी विषय पर अपनी शंकाएं प्रकट किया करते थे जिनका उत्तर स्वामी जी अत्यन्त सरल तथा प्रीतिपूर्ण शब्दों में प्रबल तथा सन्तोषजनक युक्तियों के साथ दिया करते थे। जिनको सुनकर वे सब बड़ी शान्ति के साथ अपने-अपने घर जाते थे। (लेखराम पृ० ३७७ से ३७९)

एक साथ खानपान

(सेठ हर्मुज जी पारसी से मुलतान में प्रश्नोत्तर—मार्च, १८७८)

स्वामी जी जब मुलतान में ठहरे हुए थे तो वहां उन्होंने एक व्याख्यान स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धान्तों पर दिया था, जिसकी समाप्ति पर हर्मुज जी साहब पारसी ने बेगी के बाग में स्वामी जी से प्रश्न किया कि जब आप यह सिद्ध करते हैं कि हम और आप एक जाति मे हैं तो फिर आप हमसे खानपान का व्यवहार क्यों नहीं करते ?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि आप लोगों का मुसलमान आदि जातियों से व्यवहार होने से हम लोग आप से ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते परन्तु यदि आप लोग कुछ काल तक आर्य्य लोगों से मिलते रहें तो यह बात दूर हो जावेगी। जहां तक एक स्थान पर परस्पर झूठा खाने की बात है उसके विषय में आप ही कहें कि आपस में रल मिलकर खाने से क्या लाभ है और न खाने में क्या दोष ?

सेठ हर्मज जी ने कहा कि रल मिल कर खाने से प्रीति और स्नेह अधिक होता है और परहेज करने से परस्पर विरोध उत्पन्न होता है।

स्वामी जी ने कहा कि आर्य्यावर्त की नीति के अनुसार रल मिलकर खाना निषिद्ध है क्योंकि बहुत से संक्रामक रोग हैं जो एक दूसरे के साथ झूठा खाने से या पानी पीने से हुक्का पीने से या पास बैठने मे तत्काल दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। (पंडित जसवन्त राय साहब असिस्टेण्ट सर्जन ने उस समय इन रोगों की व्याख्या कर दी)। दूसरे यदि इकट्ठा खाने मे प्रीति और स्नेह अधिक होता तो अमीर काबुल शाहे रोम (रोम का राजा) को शहंशाहे रूस (रूस का सम्राट्) के आक्रमण के समय सहायता देने से क्यों इन्कार करते? इससे प्रकट है कि प्रीति और स्नेह अधिक करने के और साधन हैं न कि रल मिल कर खाना। यदि इकट्ठा खाने मे प्रीति होती तो मुसलमान भाई एक दूसरे के साथ कभी झगड़ा न करते जबकि अवस्था यह है कि वे एक दूसरे के प्राणों के शत्रु बन रहे हैं।

चोटी के लिये कहा कि हिमालयादि शीतप्रधान देशों में पूरे बाल रखने चाहियें। पंजाब में केवल शिखा और जो अधिक उष्ण देश हो तो वहाँ बाल पूर्णरूप से मुंडवा देवें तो कोई हानि नहीं। (लेखराम पृ० ३८२,३६०)

मांस-भक्षण निषेध

(पंडित कृष्णनारायण से मुलतान में प्रश्नोत्तर—मार्च, १८७८)

पंडित कृष्णनारायण वर्णन करते हैं कि जब स्वामी जी मुलतान में थे तो एक बार उनसे मांसभक्षण पर बातचीत हुई। उन्होंने कहा कि मांस खाना वेद के विरुद्ध है। उसका खाना अनुचित है। मैंने कहा कि उसके खाने में कोई हानि प्रतीत नहीं होती। उन्होंने उत्तर दिया कि जो परमात्मा की आज्ञा है उसके अनुसार करना लाभदायक होता है। परमात्मा की समस्त आज्ञाएं हमारे लिए लाभदायक हैं। आज्ञा के भंग करने में वह लाभ तो दूर रहा प्रत्युत हानि उठानी पड़ती है।

मैंने फिर निवेदन किया कि मांस खाने से कोई हानि नहीं होती है और न हमको अब तक हानि प्रतीत हुई है।

उन्होंने कहा कि परमात्मा की आज्ञाएँ दो प्रकार की हैं। एक वे जो शरीर के साथ सम्बन्ध रखती हैं, दूसरी वे जिनका सम्बन्ध आत्मा के साथ है। यदि किसी आज्ञा के विरुद्ध जो शरीर से सम्बन्ध रखती है किया जावे तो कष्ट होगा और स्वास्थ्य में अन्तर आवेगा। इसी प्रकार यदि कोई आज्ञा जिसके पालन से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है, न मानी जावे तो आत्मा को वे बातें प्राप्त नहीं

होती हैं जो उसको होनी चाहिए। मांस खाना आत्मा के लिए हानिकर है जो सांसारिक मनुष्यों को प्रतीत नहीं होता है। मांस के खाने वाले को योगविद्या नहीं आती है और न कोई सिद्धि उसको प्राप्त होती है अर्थात् वह सत्य के विवेक से वंचित रहता है। वेदों का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को सत्य का विवेक हो इसलिए उसमें निषेध किया गया है। यदि तुमको विश्वास नहीं आता तो परीक्षा करके देख लो। (लेखराम पृष्ठ ३८६)

मुक्ति-विषय

(पण्डित ठाकुरदत्त जी रईस मुलतान से वार्तालाप—मार्च, १८७८ ई०)

पंडित ठाकुरदत्त जी रईस मुलतान ने वर्णन किया। मैं और पंडित बारातोलाल डेरा गाजीखां निवासी और पं० कंवरलाल जी स्वामी जी से मिलने के लिए बाग में गये। आठ-नौ बजे दिन का समय था।..............मुक्ति के विषय पर बात चली थी। पण्डित बरातोलाल का मत यह था कि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती। स्वामी जी का यह मत था कि जीव मुक्ति से लौटकर आता है। सारी बात स्मरण नहीं, एक शब्द स्मरण है अर्थात् स्वामी जी ने कहा था कि मुक्ति कोई कालापानी नहीं जिससे लौटकर न आ सके।

(लेखराम पृष्ठ ३८५)

एक साथ खानपान

(पादरी क्लर्क साहब से अमृतसर में प्रश्नोत्तर—जून, १८७८)

दूसरी बार स्वामी जी १५ मई, सन् १८७८ को अमृतसर गये और ११ जौलाई, सन् १८७८ तक वहाँ ठहरे। इसी बीच में एक दिन पादरी क्लर्क साहब ने स्वामी जी को कहा कि हम और आप एक मेज पर खाना खावें। स्वामी जी ने कहा कि इससे क्या लाभ होगा? पादरी साहब ने कहा कि इससे मित्रता बढ़ेगी। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि सुन्नी और शियामुसलमान और रूसी व इंगलैण्ड वाले एक पात्र में खा लेते हैं और तुम और रोमन कैथोलिक एक मेज पर खा लेते हो पर हृदय से एक दूसरे से शत्रु हो फिर आपके केवल मेज पर खाने से हमारी दूसरे धर्म वालों से किस प्रकार मित्रता हो सकती है? पादरी साहब निरुत्तर हो गये। (लेखराम पृष्ठ ३४८)

मद की अवस्था में चिन्तन

(श्री कन्हैयालाल इन्जीनियर रुड़की से प्रश्नोत्तर—२५ जौलाई, १८७८)

"क्या मद की अवस्था में ईश्वर-चिन्तन हो सकता है"

स्वामी जी जिन दिनों रुड़की में थे तो ला० कन्हैय्यालाल साहब इञ्जीनियर ने प्रश्न किया कि मद (नशा) की अवस्था में चित्त एकाग्र हो जाता है और जिस बिषय की ओर चित्त आकृष्ट होता है उसी में डूबा रहता है। इसलिए इस अवस्था में जैसा अच्छा ईश्वर का ध्यान हो सकता है वैसा अन्य अवस्था में नहीं।

स्वामी जी ने कहा कि मद का नियम ऐसा ही है जैसा कि आप वर्णन करते हैं कि जिस वस्तु का ध्यान चित्त में होता है मनुष्य उसी में डूबा रहता है परन्तु वस्तुओं की वास्तविकता का ठीक ध्यान अनुकूलता से हुआ करता है। जब हम एक वस्तु का ध्यान करते हैं और उसका सम्बन्ध दूसरी वस्तुओं के साथ करके देखते हैं और उस वस्तु और अन्य वस्तुओं में सम्पर्क स्थापित करके देखते हैं तब उस वस्तु का ठीक ध्यान चित्त में प्रकट होता है अन्यथा उस वस्तु का ध्यान वास्तविकता के विरुद्ध प्रकट हुआ करता है और गुणी को गुण की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये मद की अवस्था में ईश्वर का ध्यान झूठा और अव-गुणों के साथ होता है। प्रश्नकर्त्ता को यह उत्तर बहुत अच्छा लगा और पूर्ण सन्तोष हो गया।

ला० साहब स्वयं मद्य नहीं पीते थे प्रत्युत उससे घृणा करते थे परन्तु लोगों की वर्तमान शंका को स्वयं उपस्थित करके उत्तर मांगा था।

(लेखराम पृ० ३९५)

बाईबिल की अप्रामाणिकता

(कर्नल मानसल से रुड़की में शास्त्रार्थ—अगस्त, १८७८)

एकदिन कर्नल मानसल, आर० आई० साहब बहादुर कमांडिंग अफसर रुड़की और कप्तान स्टुअर्ट आई० ई० साहब क्वार्टर-मास्टर व्याख्यान में पधारे। स्वामी जी उस समय इञ्जील पर व्याख्यान दे रहे थे। कर्नल मानसल ने बहुत ध्यान से सुना और जिन बातों को नहीं समझते थे उन बातों का कप्तान से अर्थ करते रहे, परन्तु बाइबिल पर आक्षेप सुनकर कर्नल के चित्त में कुछ उत्तेजना हुई और शंकायें करनी आरम्भ की। देर तक शास्त्रार्थ होता रहा पर उनका उत्तर सुनकर वे मौन हो जाते थे; यहां तक कि शास्त्रार्थ के एक अवसर पर आकर

सर्वथा मौन हो गये और बोले कि हम इसका उत्तर कल देगें। परन्तु अगले दिन कप्तान साहब पधारे, कर्नल महोदय नहीं आये। (लेखराम पृ० ३६६)

अनेक विषय

(धर्मरक्षिणी सभा मेरठ से प्रश्नोत्तर—सितम्बर, १८७८)

१—जो कि चार धाम सप्तपुरी आदि नगर और ग्रामों में उन्नत शिखर और मन्दिर और इनमें देवताओं की मूर्तियों का स्थापन हो रहा है और परम्परा से पूजा होती आती है। अब इसमें आपको भ्रम और सन्देह हुआ सुना है जो अवश्य सन्देह नहीं तो श्रुति स्मृति के प्रमाण इसमें दीजिएगा और जो सन्देह नहीं है तो व्यक्त कीजियेगा।

२—गंगा जी सब नदियों से श्रेष्ठ और पूजनीय है इसमें भी प्रमाण दीजिये और जो सन्देह कुछ हो तो प्रकाशित करें।

३—और जो अवतार हुए हैं ये कौन हैं और उनका बनानेवाला कौन है, और पराक्रम उनको किसने दिया अथवा ये समर्थ हैं। अवतारों की सी सामर्थ्य किसी राजा में अथवा और मनुष्य में नहीं सुनो। प्रमाण श्रुति स्मृति का होय तो लिखियेगा। इति।

उत्तर शीघ्र देना योग्य है पत्र द्वारा उत्तर देने में सन्देह समझें तो बलेश्वर महादेव के मन्दिर में सभा नियत की जावे कि जिससे सत्यार्थ का निश्चय और सन्देह की निवृत्ति होवे। इति।

स्वामी जी के उत्तर

१—मुझ को पाषाणादि मूर्तिपूजन के विषय में सन्देह या भ्रम कदापि नहीं, प्रत्युत भली प्रकार निश्चय है कि यह वेदविरुद्ध है। परन्तु भ्रम आप लोगों का ठीक है कि जिसके कारण से पाषाणादि मूर्तियों को स्थानों और मन्दिरों में स्थापन करके उनका नाम देव या देव की मूर्ति रखते हैं और उनको देव मानते हैं। विचारणीय बात यह है कि पाषाणादि मूर्तिपूजन की शिक्षा न किसी ऋषि मुनि के वचन से और न किसी शास्त्र के उद्धरण से सिद्ध है प्रत्युत सबसे उसका निषेध प्रकट है। और न पाषाणादि मूर्ति का नाम किसी वेद या शास्त्र में देव लिखा है और न किसी ऋषि मुनि ने ब्रह्मा जी से लेकर जैमिनि मुनि तक अपनी पुस्तकों में "देव" का अर्थ पाषाणादि मूर्ति लिखा है। केवल परमेश्वर, विद्वान् और वेदमंत्रादि का नाम देव है जो कि दिव्य गुणों से युक्त हैं। पाषाणादि मूर्ति का नाम देव कदापि नहीं तो फिर बतलाइए कि आपका ऐसा मानना

किस रीति से ठीक है। इसके अतिरिक्त परमेश्वेर की पाषाणादि की मूर्ति बनाकर उपासना करना तो वेदों के अनुसार कि जिन पर हमारा धर्म पूर्णतया निर्भर करता है, निषिद्ध और विरुद्ध है जैसा कि यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय के तीसरे मंत्र से प्रकट है।

न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है। परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् सदृश उदाहरण, नाप का साधन या प्रतिबिम्ब जिसको चित्र कहते हैं किसी प्रकार नहीं। उसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और सत्यभाषणादि कर्म का करना जो उत्तम कीर्तियों का हेतु है, उसके नाम का स्मरण कहाता है। वही परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है। माता-पिता के संयोग से न उत्पन्न हुआ और न होगा। इसी से यह प्रार्थना है कि परमात्मन् ! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कर।

अब देखिये इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में मूर्तिपूजन का निषेध है अर्थात् परमेश्वर का न उदाहरण है, न सादृश्य है और न उसका प्रतिबिम्ब या चित्र है और न हो सकता है तो फिर परमेश्वर की पाषाणादि मूर्ति बनाना और उसको परमेश्वर मानना और उसकी उपासना करना किस प्रकार सिद्ध हुआ। यह सब अज्ञान का फल है और कुछ नहीं प्रत्युत वेद में तो केवल एक निराकार परमेश्वर की उपासना को शिक्षा और अन्य की उपासना का निषेध है। फिर बतलाइये कि पचासों और सैकड़ों देवताओं की उपासना किस प्रमाण से ठीक है। बहुत से मन्त्रों में से दो वेदमन्त्र उपासना विषय के अपनी बात के समर्थन में यहां लिखता हूं—

प्रथम मन्त्र—"**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**" आदि।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है—हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पूर्व वर्त्तमान था, वही इस जगत् का स्वामी है और वही पृथ्वी से लेकर सूर्य्यादि तक सब जगत् को रचकर उसका धारण कर रहा है। उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की हम उपासना करें, और की नहीं। यह ऋग्वेद के आठवें अध्याय सातवें अष्टक और तीसरे वर्ग का पहला मन्त्र है।

दूसरा मन्त्र—"**अन्धन्तमः प्रविशन्ति**" आदि।

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का नववां मन्त्र का अर्थ यह है—जो मनुष्य कभी न उत्पन्न होने वाले अनादि जड़रूप कारण की उपासना करते हैं वे अविद्यादि दुःखरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो मनुष्य संयोग से

उत्पन्न हुए पृथ्वी विकार-रूप कार्य्य में उपासना भाव से मन करते हैं, वे कारण की उपासना करने वाले मनुष्य से भी अधिक महाक्लेशों को प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि मनुष्यों की उक्त कारण और कार्य्य अर्थात् उपर्युक्त सामग्री और उससे बनी या उत्पन्न होने वाली वस्तुओं और पाषाणादि मूर्ति की उपासना नहीं करनी चाहिये और केवल एक पूर्णब्रह्म परमेश्वर की उपासना करनी योग्य है।

युक्ति द्वारा देखने से भी पाषाणादि मूर्तिपूजन उचित नहीं हो सकता है क्योंकि यदि यह कहा जाये कि हम पाषाणादि की मूर्ति में देव की भावना करते हैं, कुछ उसको पाषाणादि नहीं मानते तो प्रथम तो यह बतलाइये कि भावना सच्ची है या झूठी। यदि सच्ची है तो सुख की भावना करने वालों को दुःख क्यों होता है अर्थात् जब संसार में सब सुख की भावना करते हैं और दुःख की भावना कोई नहीं करता फिर उसको दुःख क्यों होता है और सुख ही सुख क्यों नहीं होता ? और इसी प्रकार पानी में दूध की और मिट्टी में मिश्री की भावना कर देखो। यदि भावना सत्य है तो ये वस्तुएँ भी भावना करने से वैसी ही हो जावेंगी और यदि न होवें तो भावना से पाषाणादि मूर्ति भी देव नहीं हो सकती। और यदि यह कहा जावे कि भावना झूठी है तो आपका मानना और करना झूठ हो लिया। और यदि यह कहो कि चूंकि परमेश्वर सब में व्यापक है इसलिये पाषाणादि मूर्तियों में भी व्यापक है तो यह आपकी बहुत बड़ी भूल है कि आप लोग चन्दन और पुष्पादि लेकर मूर्तियों पर चढ़ाते हैं। क्या चन्दन और फूल में परमेश्वर व्यापक नहीं ? और इसके अतिरिक्त अपने ही में परमेश्वर को व्यापक क्यों नहीं मानते, पाषाणादि मूर्तियों को क्यों शिर नवाते हो ? जब परमेश्वर व्यापक है और आप भी व्यापक मानते हैं तो केवल पाषाणादि मूर्तियों ही में क्यों व्यापक मानकर उसकी उपासना करते हो। इस दशा में तो केवल एक वस्तु में परमेश्वर को व्यापक मानकर उसकी व्यापकता को छोटा करते हो। यदि यह कहा जावे कि मूर्तिपूजन अज्ञानी मनुष्यों के ब्रह्म के पहचानने के लिये एक साधन बना रखा है तो यह बात भी बुद्धि और युक्ति से पूर्णतया दूर है क्योंकि गुण गुणी से और गुण प्राप्त करने के साधनों से मिलता है। जड़ पदार्थ और ऐसे साधनों से कभी गुण नहीं मिल सकता है, इसलिये पाषाणादि मूर्तिपूजन से तो दिन-प्रतिदिन बुद्धि पत्थर होती जायेगी। ब्रह्म के पहचानने की तो बात ही क्या है और दूसरे आपके इस कथन से आपका पहला कथन भावना का भी झूठ हो गया क्योंकि जब अज्ञानी लोग ब्रह्म को नहीं जान सकते हैं तो वे केवल पाषाणादि मूर्ति को परमेश्वर जानेंगे न कि परमेश्वर को पत्थर से पृथक् और पत्थर में व्यापक जानेंगे। और यदि यह

कहो कि हम पाषाणादि मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा करके प्राण डाल देते हैं फिर वह मूर्ति जड़ नहीं रहती है तो यह बात बिल्कुल मूर्खता की है क्योंकि पाषाणादि मूर्ति में कभी प्राणप्रतिष्ठा से प्राण आते नहीं देखे और न जीव के लक्षण तथा कर्म कभी मूर्ति में दृष्टिगोचर हुए। और यदि आपके कथनानुसार यह मान भी लिया जाये कि प्राणप्रतिष्ठा से पाषाणादि मूर्तियों में जान भी पड़ जाती है तो फिर आप मृतक को जीवित क्यों नहीं कर लेते हैं। मृतक शरीर में तो श्वास के आने के लिये छिद्र भी होते हैं परन्तु पाषाणादि मूर्तियों में कुछ भी नहीं होता है और यह जो आपने लिखा है कि पाषाणादि मूर्तिपूजन परम्परा से चला आता है तो यह केवल भ्रम और अविद्या का फल है। विचार तो कीजिये कि यदि पाषाणादि मूर्तिपूजन सनातन है तो वेदों में उसकी शिक्षा होनी चाहिये क्योंकि वेद सनातन हैं और जब वेदों में उसकी शिक्षा नहीं तो पाषाणादि मूर्तिपूजन भी सनातन नहीं है। मन्दिर और धामादि के विषय में तो आपने लिखा है ये सब पाषाणादि मूर्तिपूजन के सहायक हैं। जबकि पाषाणादि मूर्तिपूजन ही वेदविरुद्ध और झूठ सिद्ध हो लिया तो उनकी क्या बात है!

२—प्रथम तो प्रश्न आपका विचित्र प्रकार का है उसकी विशेषता उसके वाक्य से ही प्रकट है, लिखने या कहने में नहीं आ सकती। आप पूछते हैं कि गंगा जी के सब नदियों में पूजनीय और श्रेष्ठ होने में क्या प्रमाण है? इससे विदित हुआ कि या तो गंगा जी आपकी दृष्टि में श्रेष्ठ और पूजनीय नहीं और यदि श्रेष्ठ और पूजनीय भी हैं तो आप इसका प्रमाण नही दे सकते हैं अन्यथा इस बात का मुझसे पूछना क्या आवश्यक था। अब इतना प्रश्न जो शेष रहा कि यदि गंगा जी के पूजनीय और श्रेष्ठ होने में कुछ सन्देह है तो प्रकट करो। इसका उत्तर है कि मुझको इस बात में किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं, प्रत्युत मैं निश्चय करके गंगा जी को श्रेष्ठ मानता हूँ क्योंकि और किसी नदी का ऐसा उत्तम और गुणसहित जल नहीं है परन्तु गंगा जी को मुक्ति देने और पाप छुड़ाने का साधन नहीं मान सकता हूँ। भलीभाँति समझ लो कि पाप और पुण्य जितना किया जाता है उससे एक कण न घट सकता है और न बढ़ सकता है। और जब गंगा जी के स्नान से मुक्ति प्राप्त हुई या पाप छूट गये तो फिर सत्यधर्म और उत्तम कर्म करना, परमेश्वर की आज्ञा में चलना और उसकी स्तुति और उपासना करना बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि जब एक चीज सरलता से मिल सकती है तो फिर कठिन मार्ग को क्यों चलिये। वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं भी गंगा जी के स्नान का माहात्म्य मुक्तिदायक होने में नहीं लिखा है और यदि कहो कि तीर्थादि नाम तो वेद और धर्मशास्त्रों में लिखे हैं तो यह केवल समझ की भूल है। वेदादि सत्यशास्त्रों में वेदों के पढ़ने, धर्म के अनुष्ठान और सत्य के

ग्रहण और असत्य के त्याग का नाम तीर्थ लिखा है क्योंकि इन साधनों से ही मनुष्य दुःखसागर से तरकर मुक्ति पा सकता है। देखिये प्रथम तो मनु जी महाराज ने मनुस्मृति के पांचवें अध्याय के नवतें श्लोक में लिखा है—

"अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

इसका अर्थ यह है—जल से शरीर की शुद्धि, सत्य से मन की शुद्धि, विद्या और तप से जीवात्मा की शुद्धि और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है।

दूसरे छान्दोग्योपनिषद् का यह वचन है—

"अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ।"

इसका अर्थ यह है—मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़कर सबके सुख देने में प्रवृत्त रहें और संसारी व्यवहार के बर्ताव में किसी को दुःख न देवें। इसके अतिरिक्त और कोई तीर्थ नहीं है।

अब समझ लेना चाहिये कि सत्यशास्त्रों तथा अन्य युक्तियों के अनुसार गंगा कभी मुक्तिदायक नहीं हो सकती।

३—आप जिनको परमेश्वर का अवतार कहते हैं ये महा उत्तम पुरुष थे, परमेश्वर की आज्ञा में चलते थे, सत्य धर्म और न्यायादि गुणों सहित थे, वेदादि सत्यशास्त्रों के पूर्ण जानने वाले थे। **आजतक और ऐसा हुआ और न है** परन्तु आप जो इन उत्तम पुरुषों को परमेश्वर का अवतार मानते हो यह आपकी भ्रान्ति है। भला परमेश्वर का कभी अवतार हो सकता है? वह तो अजर और अमर है। जब उसका अवतार हुआ तो उसका यह गुण जाता रहा। इसके अतिरिक्त जब परमेश्वर व्यापक और सर्वत्र विद्यमान है तो उसका एक शरीर में आना क्योंकर हो सकता है और यदि कहो कि परमेश्वर प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है तो यह सत्य है परन्तु यह नहीं कि केवल एक मनुष्य और एक स्थान में है और औरों में नहीं। इसके अतिरिक्त परमेश्वर को जन्म लेने की क्या आवश्यकता है? यदि आप कहें कि रावण और कंसादि का विना अवतार लिये परमेश्वर कैसे मार सकता था तो यह आपका कहना अत्यन्त अशुद्ध है। क्योंकि जब वह निराकार परमेश्वर विना शरीर के सब जगत् का पालन और धारण कर रहा है और विना शरीर के जगत् का प्रलय भी कर सकता है तो उसको विना शरीर के कंसादि एक-दो मनुष्य का मारना क्या कठिन था? और जो यह बात आप पूछते हैं कि इन अवतारों का बनानेवाला कौन है और किसने इनको पराक्रम दिया अथवा ये स्वयं समर्थ थे।

इसका उत्तर अत्यन्त सरल और स्पष्ट है। सबका बनाने वाला और पराक्रम देनेवाला परमेश्वर है। उसके अतिरिक्त और कोई बनाने और पराक्रम देने वाला नहीं हो सकता। परन्तु आपके प्रश्न से प्रकट होता है कि आपकी दृष्टि में कदाचिद् कोई और भी परमेश्वर के अतिरिक्त बनाने और पराक्रम देनेवाला है। अपने आप तो न कोई समर्थ हुआ और न है और न होगा। यह जो आप प्रश्न करते हैं कि उन अवतारों की सी सामर्थ्य और किसी राजा अथवा मनुष्य में क्यों नहीं हुई, यह आपका कहना तो बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि जिसमें जैसे गुण होते हैं वैसी उसमें सामर्थ्य होती है और जैसी जिसमें सामर्थ्य है वैसे ही उसमें गुण होते हैं। आजकल बहुत से ऐसे मनुष्य हैं कि बिल्कुल कर्महीन और अज्ञानी हैं और बहुत से ऐसे विद्वान् सामर्थ्य और पराक्रम वाले हैं कि हजारों में और कोई उनके समान नहीं तो क्या इस कारण से उन सामर्थ्य वाले मनुष्यों को परमेश्वर का अवतार कहना या मानना उचित है ? वाह ! वाह ! परमेश्वर का अवतार होने का आपने क्या बढ़िया प्रमाण सोच रखा है। किसी ने सत्य कहा है—

'प्रत्येक की विचारशक्ति उसकी सामर्थ्य के अनुसार होती है।'

परन्तु बड़े दुःख की बात है कि आप लोग यद्यपि रामचन्द्र जी और श्रीकृष्णादि उत्तम पुरुषों को परमेश्वर का अवतार मानते हो फिर भी उन की परले सिरे की निन्दा और बुराई करने से संलग्न रहते हो। नगर-नगर और गली-गली में उनकी पाषाणादि की मूर्ति बनवाकर उनसे भीख मंगवाई जाती है और पैसे-पैसे के लिये सर्वसाधारण के सामने उनके हाथ फैलवाये जाते हैं। जब धनवान् अथवा साहूकार शिवालय या मन्दिर में आते हैं या पुजारी जी स्वयं उनके पास जाते हैं तो कहते हैं कि सेठ जी ! आज तो नारायण भूखे हैं, राधाकृष्ण जी को कल रात से बालभोग भी नहीं मिला है। इन दिनों की सीता-राम जी को प्रशादी की ही कठिनाई पड़ रही है। सर्दी के कपड़े नारायण के पास नहीं हैं और शीतकाल शिर पर आ गया है। पुराने कपड़े सीताराम जी के तो कोई दुष्ट चुरा ले गया, उसी दिन से हम सीताराम जी को तालीकुंजी में बन्द रखते हैं, नहीं तो उनकी भी कुशलता नहीं थी। और यदि किसी रईस या धनवान् की ओर से शिवालय या मन्दिर का मासिक व्ययादि नियम हुआ तो पुजारी जी या बाबा जी जब कहीं बैठे होते हैं तो अपनी झूठी प्रेमभक्ति को जताने के लिये कहते हैं कि लो यजमान ! हमको जाने दो, अब हमारे सीता-राम जी या राधाकृष्ण जी भूखे होंगे और जब हम जावेंगे तो उनको भोजन मिलेगा अन्यथा भूखे बन्द रहेंगे। अब देखिये रामलीला को बनवाकर किस प्रकार आप लोग अपने उत्तम पुरुषों की नक्कल बनवाते और कितनी उनकी

निन्दा कराते हो और अन्य मतवालों को उन पर हँसवाते हो और उनका अपमान कराते हो। इस लीला का तो कुछ वर्णन ही नहीं, देखो प्रायः लोग क्या धनवान् क्या रईस, क्या दुकानदार और क्या श्रमिकादि, सब इस रास की सभा में एकत्रित होते हैं और रास देख-देख अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। कोई कहता है कि कृष्ण जी अच्छा नाचते हैं, कोई कहता है राधा जी बड़ी शोभावान हैं, कोई कन्हैय्या जी के गाने पर प्रसन्न हो रहा है, कोई राधा जी की मूर्ति पर मोहित और लट्टू है अत्यन्त प्रेमभक्ति प्रकट कर रहा है। कोई कहता है वाह ! वाह ! साक्षात् राधाकृष्ण जी ही आ गये हैं। इन्हीं कन्हैय्या जी ने हजारों गोपियों के साथ भोगविलास किया है, १६०० रानियां रखी हैं, बहुत दूध माखन चुराकर खाया है, नहाते हुए नंगी स्त्रियों के कपड़े तक चुरा लिये हैं और उनको पहरों नग्न सामने खड़ा रखा है। अधिक और कहाँ तक तुम्हारी बातों का वर्णन करूँ। अब लज्जा भी रोकती है और बुद्धि भी आज्ञा नहीं देती परन्तु खेद, लाख बार खेद कि आप लोग अपने देश के ऐसे-ऐसे राजा, महाराजों को जो हजरों-लाखों पर शासन करते थे और उनका पालन तथा सहायता करते थे। और ऐसे उत्तम पुरुषों को जो समस्त आयु परमेश्वर की आज्ञा में रहे सत्यवादिता, सदाचार और धर्म्म के कामों में अद्वितीय हुए, उनको खाने, कपड़े का भिक्षुक बनाते हो, अधर्मी, व्यभिचारी, तमाशबीन और चोर ठहराये हो। और केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि और मनोरंजन के लिये उनकी अपकीर्ति करते और कराते हो। और उनके विषय में ऐसी झूठी कहानियां कि जिनका प्रमाण किसी पुस्तक या इतिहास से प्राप्त नहीं हो सकता, अपने मन में बना-बनाकर वर्णन करते हो और फिर अपने आपको उनका भक्त, गुणगायक और प्रशंसक समझते हो। हाय, हाय, इन बातों के वर्णन से मन पर इतना शोक और दुःख का भार है कि अधिक वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं। इसलिये इसी पर संतोष करता हूँ और अपने इस कथन के समर्थन कि परमेश्वर का अवतार किसी अवस्था में नहीं हो सकता है दो वेदमन्त्र कहता हूँ। पहला यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का आठवां मन्त्र है और दूसरा यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का पहला मन्त्र है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है परमेश्वर सब में व्यापक और अनन्त पराक्रमवाला है, वह सब प्रकार के शरीर से रहित है कटने, जलने आदि रोगों से परे है, नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक् है। सब दोषों से रहित और सब पापों से न्यारा है! सबका जानने वाला, सबके मन का साक्षी, सबसे श्रेष्ठ और अनादि है।

वही परमेश्वर अपनी प्रजा को वेद के द्वारा अन्तर्यामी रूप से व्यवहारों का उपदेश करता है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है परमेश्वर तीनों प्रकार के जगत् (अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान) को रचता है, उससे भिन्न दूसरा और कोई जगत् का रचने वाला नही है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। मोक्ष भी परमेश्वर की ही कृपा से मिलता है। पृथिवी आदि जगत् परमेश्वर के व्यापक होने से स्थित हैं और वह परमेश्वर इन वस्तुओं से पृथक् भी है क्योंकि उसमें जन्मादि व्यवहार नहीं। वह अपने सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता है।

अब भली प्रकार सिद्ध हो गया कि वेद और बुद्धिपूर्वक युक्तियों के अनुसार परमेश्वर का अवतार किसी प्रकार से नहीं हो सकता। इति।

नोट—उपर्युक्त प्रश्न धर्मरक्षिणी सभा मेरठ की ओर से स्वामी जी महाराज से उस समय पूछे गये जब वे ५ सितम्बर, सन् १८७८ से ला० राममरनदास साहब रईस, मेरठ, के मकान पर उनके अनुरोध से व्याख्यान दे रहे थे। १० सितम्बर को सभा समाप्ति के समय सभा में यह घोषणा की गई कि समस्त आये हुए प्रश्नों के उत्तर कल से दिये जाने आरम्भ होंगे। जिन सज्जनों ने प्रश्न किये हैं वे कल के दिन से सभा में आकर उत्तर सुन लें और जिस किसी को उत्तरों के लिखने की इच्छा हो वह उसी समय लेखबद्ध कर लें। इस घोषणा के अनुसार तीन दिन में समस्त प्रश्नों के उत्तर स्वामी जी ने सभा में दे दिये।

(लेखराम पृ० ४०१. ४०६)

मेरठ में शास्त्रार्थ के नियम

सितम्बर, १८७८

१—उभय पक्ष से निम्नलिखित १२ सज्जन सभा के प्रबन्धक नियत किये जायें, यदि वे स्वीकार करें।

यहां १२ सज्जनों के नाम थे।

२—इनमें से एक सज्जन और यदि सम्भव हो तो मातहत जज साहब प्रबन्धक सभा के सभापति नियत किये जायें।

३—प्रबन्धकों के अतिरिक्त उपस्थित जन की संख्या हर एक ओर से पचास-पचास से अधिक न हो तो अच्छा है।

४—उपस्थित होने वालों की जो संख्या नियत की जावे उतने ही टिकट छपवाकर आधे-आधे हरेक पक्ष को दिये जावें।

५—हर एक पक्ष अपनी ओर के उपस्थित मनुष्यों को नियम में रक्खे और सब प्रकार से उनका उत्तरदाता रहे।

६—हर एक पक्ष की ओर से योग्य पण्डितों की संख्या दस से अधिक न हो, कम का अधिकार है।

७—उभयपक्ष में से केवल एक ही पण्डित सभा में भाषण करे अर्थात् एक ओर से स्वामी दयानन्द और दूसरी ओर से पण्डित श्रीगोपाल।

८—इस सभा में हर विषय का खण्डन-मण्डन वेदों के प्रमाण ही से किया जावे।

९—वेदमन्त्रों के अर्थों के निश्चय के लिए ब्रह्मा जी से जैमिनि जी तक के ग्रन्थों की, जिसे दोनों पक्ष मानते हैं, साक्षी देनी होगी जिनका ब्यौरा इस प्रकार है—

ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, छन्द, ज्योतिष, पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, वेदान्त, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद अर्थवेद आदि।

१०—विदित रहे कि ऐतरेय से लेकर अर्थवेदादि उपर्युक्त ग्रन्थ ही साक्षी और प्रमाण होंगे, परन्तु यदि इनमें भी कोई वाक्य वेदविरुद्ध होगा तो दोनों पक्ष उसे मानेंगे।

११—उभयपक्ष को वेदों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों, सृष्टि-क्रम और सत्य धर्म से युक्त भाषण करना तथा मानना होगा।

१२—इस सभा में जो व्यक्ति किसी पक्ष का पक्षपात और राग प्रदर्शन करे, उसे सहस्र ब्रह्महत्या का पाप होगा।

१३—यतः बहुत बड़ी बात केवल एक पाषाणादि मूर्तिपूजन ही है, इस लिए इस सभा में मूर्तिपूजन का खण्डन और मण्डन होगा और यदि वेदों की रीति से पण्डित जी पाषाणादि मूर्तिपूजन का मण्डन कर देवे तो पण्डित जी की सब बातें भी सच्ची समझी जावेंगी और स्वामी जी मूर्तिपूजन का खण्डन को छोड़ मूर्तिपूजन स्वीकार कर लेवेंगे और जो स्वामी जी वेदों के प्रमाण से पाषाणादि मूर्तिपूजन का खण्डन कर देवें तो स्वामी जी की और बातें भी सच्ची समझी जावेंगी और पण्डित जी उसी समय से मूर्तिपूजन छोड़कर मूर्तिपूजन का खण्डन स्वीकार कर लेवें। ऐसा ही उभय पक्ष को स्वीकार करना होगा।

१४—उभयपक्ष से प्रश्नोत्तर लिखित होने चाहिये अर्थात् हर एक प्रश्न मौखिक किया जावे और तत्क्षण लिख दिया जावे। बल्कि जहां तक सम्भव हो वक्ता का एक एक शब्द लिखा जावे ।

हर एक प्रश्न के लिये पांच मिनट और हर एक उत्तर के लिए पन्द्रह मिनट नियत हों और नियत समय की कमी का अधिकार है, परन्तु अधिक समय का नहीं।

१५—सभा में स्वामी जी पण्डित जी, तथा अन्य पुरुषों की ओर से आपस में कोई कठोर भाषण न हो, प्रत्युत अत्यन्त सभ्यता और नम्रता से सत्यासत्य का निश्चय करें ।

१६—सभा का समय ६ बजे सयंकाल से नौ बजे रात्रि तक रहे तो उत्तम है ।

१७—प्रश्नोत्तर के लिखने के लिए तीन लेखक नियत होने चाहिए और प्रत्येक लेख पर मिलान करने के पश्चात् प्रतिदिन दोनों पक्षों के हस्ताक्षर होकर एक-एक प्रति हर पक्ष को दी जावे और [एक] प्रति बक्स में बन्द करके उस पर उभयपक्ष और सभापति का ताला लगाकर सभापति के पास रहे ताकि लेखों में कुछ न्यूनाधिक न होने पावे और आवश्यकता के समय काम आवे।

१८—सभास्थल सब प्रबन्धकों की सम्मति के अनुसार नियत होगा ।

१९—जम्मू और काशी आदि स्थानों के पण्डितों की सम्मति के ऊपर इस सभा के निर्णय का निर्भर न होना चाहिए क्योंकि यह स्थान मूर्तिपूजा के घर हैं और यहां इस विषय में पण्डितों से शास्त्रार्थ भी हो चुका है। इसलिए उपर्युक्त वेद-शास्त्रादि जिनमें हर विषय की विषद व्याख्या की गई है मध्यस्थ और साक्षी के लिए पर्याप्त हैं। हां यह अधिकार है कि यदि दूसरे पक्ष को कुछ सन्देह व संशय हो तो आज १७ तारीख सितम्बर, सन १८७८ से दो दिन के भीतर उपर्युक्त स्थानों व अन्य जगह से उस पण्डित से जो उसकी सम्मति में उत्तम और श्रेष्ठ हो आने जाने के विषय में तार द्वारा बातचीत करके स्थिर कर ले वा प्रबन्ध करलें और आज से छः दिन के भीतर अर्थात् २२ सितम्बर, रविवार के दिन तक उसे यहां बुला लेवें। यदि दूसरे पक्ष की ओर से इस अन्तर में उचित प्रबन्ध न हो वा विरुद्ध कार्यवाही हो तो उस पक्ष की सभी बातें कच्ची और आधार-शून्य समझी जावेंगी और स्वामी जी इस अन्तर में कहीं चले जावें वा इस लेख से बद्ध न रहें तो उनकी बात कच्ची और आधारशून्य समझी जावेगी ।

२०—दोनों पक्षों को सभा में वे सब पुस्तकें, जिनका वे प्रमाण दें सभा के

समय अपने साथ लानी चाहियें। उभयपक्ष को विना असली पुस्तकों के मौखिक साक्षी स्वीका न होगी।

अन्तिम नियम लाला किशनसहाय को नहीं लिखाया गया था, परन्तु आगे कोई कठिनता न हो इस बात को दृष्टि में रखकर यह नियम भी सम्मिलित किया गया। लिखा हुआ १७ सितम्बर, सन् १८७८ का।

१८—सितम्बर को भी लाला किशनसहाय ने कोई उत्तर न भेजा परन्तु पण्डित श्रीगोपाल की ओर से कुछ नियम इन नियमों के परिवर्तन में महाराज के पास आये।

पं० श्रीगोपाल जी ने स्वामी जी के प्रस्तावित नियमों में निम्नलिखित परिवर्तन करके भेजे थे—

१—प्रबन्धकों में ८ नाम और बढ़ाए जावें और उन्हें प्रबन्धक सभा और निश्चयकर्त्ता सनातन धर्म लिखना चाहिये।

२—मध्यस्थ अवश्य होना चाहिए और साहब कलक्टर जिला बुलन्दशहर संस्कृतज्ञ हैं, मध्यस्थ हों।

३—उपस्थित होने वाले मनुष्यों की संख्या सीमित करने और टिकट देने की कोई आवश्यकता नहीं।

४—झूठ सच को विना पक्षपात प्रकट करने के लिए मध्यस्थ होना आवश्यक है जब कि आप कहते हैं कि ग्रन्थों में वेदविरुद्ध वाक्य होगा तो उसका प्रमाग न माना जावेगा।

५—समय चार बजे से सात बजे तक रहेगा। ५ मिनट प्रश्न और १५ मिनट उत्तर लिखने के लिए अपर्याप्त हैं समय की कोई सीमा न होनी चाहिए।

६—दो दिन में बाहर के पण्डितों का आना असम्भव है, अतः उन्हें लाने के लिये मनुष्य भेजना पड़ेगा और जब तक वे न आवें आपको यहां ही ठहरना होगा। यदि इसे स्वीकार न करें तो किसी वेद और उभयपक्ष स्वीकृत ग्रन्थों के जानने वाले विद्वान् को मध्यस्थ बनावें। बिना मध्यस्थ के सभा का पूरा-पूरा प्रबन्ध नहीं हो सकता।

१८ सितम्बर को महाराज ने अपने हस्ताक्षरों से एक पत्र लाला किशनसहाय के पास भेजा कि यदि आप हृदय से कुछ निर्णय करना चाहते हैं तो आप नियम के अनुसार कार्य कीजिये, हम उनसे बद्ध हैं। इसके उत्तर में एक पत्र विना हस्ताक्षरों के लाला किशनसहाय के नाम से आया जिसमें लिखा था कि पण्डितों

की बातों से ज्ञात हुआ कि आप वेदविरुद्ध उपदेश करते हैं और कुछ अनुचित शब्द महाराज के विषय में लिखे थे।

इसके उत्तर में महाराज ने लिखा कि आपको वेदों से अनभिज्ञ पण्डितों के कहने से ऐसा लिखना उचित न था। उत्तम हो यदि आप उचित समझें तो मैं अपने दो विद्यार्थियों को आपके यहां सभा में भेज दूं और वे यदि आप अनुमति दें तो आपके पण्डितों से वेद विषय में कुछ प्रश्न करें, तब आपको पण्डितों की व्यवस्था ज्ञात हो जायेगी। यदि आपको यह स्वीकार न हो तो आप कृपापूर्वक मेरे निवास स्थान पर अर्थात् बाबू छेदीलाल के गृह पर पधारें और सब शंकाओं को निवृत्त कर लेवें। इसका उत्तर तो आया, परन्तु उस पर प्रेषकों के हस्ताक्षर न थे। उसका सार यह था कि आप वेद बिल्कुल नहीं जानते और आप मार्ग भूले हुए हैं और हमारे पण्डित विद्वान् हैं। हमें हमारे पण्डित यथा पण्डित श्रीधर कहते और लिखते हैं कि जब तक आप अपना वर्ण और आश्रम सिद्ध न कर देवेंगे तब तक हमें आपके पास नहीं आना चाहिए और न पण्डितों को आपसे संभाषण करना चाहिये।

अब तो शास्त्रार्थ स्पष्ट रूप से नकार हो गया और सारा भांडा फूट गया। सनातन-धर्म-रक्षिणी सभा ने जो शास्त्रार्थ के लिए इतना आडम्बर रचा, वह दिखाने मात्र को था। भला इसके भी कोई अर्थ थे कि महाराज तो वार-बार कहें कि लाला किशनसहाय के हस्ताक्षरों का पत्र लाओ परन्तु लाला साहब अपने नाम से पत्र तो भिजवाते हैं परन्तु उन पर हस्ताक्षर नहीं करते और अन्त तक किसी पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर किये ही नहीं।

(देवेन्द्रनाथ २। २१७, लेखराम पृ० ४१३ से ४१७)

अनेक विषय

(धर्मसभा से फर्रुखाबाद में प्रश्नोत्तर—अक्तूबर, १८७८)

दयानन्द सरस्वती के पास यह प्रश्न धर्मसभा फर्रुखाबाद की ओर से भेजे जाते हैं कि आप्त ग्रन्थों के प्रमाण से इन प्रश्नों का उत्तर पत्र द्वारा धर्मसभा के पास भेज दें। और यह भी विदित रहे कि धर्मसभा के सभासदों ने यह संकल्प कर लिया है कि यदि आप इन प्रश्नों के उत्तर पत्र द्वारा प्रमाण सहित न देवेंगे तो यह समझा जावेगा कि आपने अपना मत आधुनिक मान लिया। और एक प्रति इन प्रश्नों की आपकी मतानुयायी सभाओं में और अमरीका के सज्जनों के पास भेजी जावेगी और देशी और अंग्रेजी पत्रों में मुद्रित की जायेगी। इन प्रश्नों पर चौदह व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये थे कि जिनके नाम "भारत सुदशा प्रवर्तक" पत्रिका में लिखे हैं।

विज्ञापन का उत्तर

जो आप लोगों को शास्त्र प्रमाण सहित उत्तर अपेक्षित था तो इतने पंडितों में से कोई एक भी तो कुछ पंडिताई दिखलाता। आपके तो प्रश्न सबके सब अंड-बंड शास्त्रविरुद्ध यहाँ तक कि भाषारीति से भी शुद्ध नहीं हैं। ऐसों का उत्तर प्रमाणसहित मांगना मानों गाजरों की तुला देकर तुरन्त विमान की मार्ग परीक्षा करना है। शास्त्रोक्त उत्तर शास्त्रज्ञों को ही मिलते हैं क्योंकि वे इन वचनों को समझ सकते हैं। तुम्हारे आगे शास्त्रोक्त वचन लिखना ऐसा है जैसा कि गंवार मनुष्यों के आगे रत्नों की थैलियां खोल देनी। वास्तव में तुम्हारा एक भी प्रश्न उत्तर देने के योग्य न था तथापि हमने "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय से सबका उत्तर शास्त्रोक्त प्रमाण सहित दिया है। समझा जाये तो समझ लो।

नोट—उपर्युक्त २५ प्रश्न ६ अक्तूबर, सन् १८७८ को शाम के समय पंडितों ने स्वामी जी के पास भेजे। वास्तव में उस समय स्वामी जी को उन प्रश्नों के सुनने तक का भी समय न था परन्तु उन लोगों के आने से सुनते ही उसी समय उनका उत्तर देना आरम्भ किया और उनसे लिख लेने को कहा परन्तु वे न लिख सके।

७ अक्तूबर, सन् १८७८ को बहुत से आर्य सभासदों ने शाम के समय प्रार्थना करके उन प्रश्नों के उत्तर स्वामी जी से लिखवा लिये और स्वामी जी के चले जाने के पश्चात् शुद्ध करके १२ अक्तूबर, सन् १८७८ को आर्यसमाज में सुनाये तत्पश्चात् वे उत्तर पोप लोगों के पास भेज दिये।

फर्रुखाबाद के पण्डितों से प्रश्नोत्तर

पहला प्रश्न—आप्त ग्रन्थों अर्थात् वेदादिक सत्यशास्त्रों के अनुसार परिव्राजकों अर्थात् संन्यासियों के धर्म क्या हैं। वेदों के अनुसार उनको यानों अर्थात् सवारियों पर चढ़ना और धूम्र अर्थात् हुक्का आदि पीना योग्य है या नहीं?

उत्तर—वेदादि शास्त्रों में विद्वान् होकर वेदानुकूल सत्य शास्त्रोक्त रीति से पक्षपात, शोक, वैर, अविद्या, हठ, दुराग्रह स्वार्थसाधन, निन्दा-स्तुति, मान, अपमान, क्रोधादि दोषों से रहित हो स्वपरीक्षापूर्वक सत्यासत्य निश्चय करके सर्वत्र-भ्रमणपूर्वक सर्वथा सत्यग्रहण असत्य परित्याग से सब मनुष्यों की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति, आसन के साधन, सत्यविद्या, सनातन धर्म, स्वपुरुषार्थयुक्त करके व्यावहारिक और पारमार्थिक सुखों से वर्तमान करके

दुष्टाचरणों से पृथक् कर देना संन्यासियों का धर्म है। लाभ में हर्ष, अलाभ में शोकादि से रहित होकर विमानों में बैठना और रोगादि निवारणार्थ औषधिवत् धूम्र अर्थात् हुक्का पीकर परोपकार करने में तत्पर तिन्हों को कुछ भी दोष नहीं। यह सब शास्त्रों में विधान है परन्तु तुमको वर्तमान वेदादि सत्य शास्त्रों से विरुद्ध होने के कारण भ्रम है सो इन सत्य ग्रन्थों से विमुखता न चाहिए।

दूसरा प्रश्न—यदि आपके मत में पापों की क्षमा नहीं होती तो मन्वादिक आप्त ग्रन्थों में प्रायश्चित्त का क्या फल है? वेदादि ग्रन्थों में परमेश्वर की क्षमाशीलता और दयालुता का वर्णन है इससे क्या प्रयोजन है? यदि उससे आगन्तुक पापों की क्षमा से प्रयोजन है तो क्षमा न हुई और जब मनुष्य स्वतन्त्र है और आगन्तुक पापों से बचा रहे तो उसमें परमेश्वर की क्षमाशीलता क्या काम आ सकती है।

उत्तर—हमारा किन्तु हम लोगों का वेद-प्रतिपादित मत के अतिरिक्त और कोई कपोलकल्पित मत नहीं है। वेदों में कहीं किये हुए पापों की क्षमा नहीं लिखी न कोई युक्ति से भी विद्वानों के सामने किए हुए पापों की क्षमा सिद्ध कर सकता है। शोक है उन मनुष्यों पर कि जो प्रश्न करना नहीं जानते और करने को उद्यत हो जाते हैं। क्या प्रायश्चित्त तुमने सुखभोग का नाम समझा है? जैसे जेलखाने में चोरी आदि पापों के फल का भोग होता है वैसे प्रायश्चित्त भी समझो। यहां क्षमा की कुछ भी कथा नहीं। क्या प्रायश्चित्त वहां पापों के दुःखरूप फल का भोग है? कदापि नहीं। परमेश्वर की क्षमा और दयालुता का यह प्रयोजन है कि बहुत से मूढ मनुष्य नास्तिकता मे परमात्मा का अपमान और खंडन करते और पुत्रादि के न होने या अकाल में मरने, अतिवृष्टि, रोग और दरिद्रता के होने पर ईश्वर को गाली प्रदानादि भी करते हैं तथापि परब्रह्म सहन करता और कृपालुता से रहित नहीं होता। यह भी उसके दयालु स्वभाव का प्रयोजन है। क्या कोई न्यायाधीश कृतपापों की क्षमा करने मे अन्यायकारी और पापों के आचरण का बढाने वाला नहीं होता? क्या परमेश्वर कभी अपने न्यायकारी स्वभाव से विरुद्ध अन्याय कर सकता है? हां जैसे न्यायाधीश विद्या और सुशिक्षा करके पापियों को पाप से पृथक् करके राजदण्ड प्रतिष्ठितादि करके शुद्ध कर सुखी कर देता है वैसे परमात्मा को भी जानो।

तीसरा प्रश्न—यदि आपके मत से तत्त्वादिकों के परमाणु नित्य हैं और कारण का गुण कार्य्य में रहता है तो परमाणु जो सूक्ष्म और नित्य हैं उनसे संसारादिक स्थूल और सान्त कैसे उत्पन्न हो सकता है?

उत्तर—जो परम अवधि सूक्ष्मता की अर्थात् जिसके आगे स्थूल से सूक्ष्मता कभी नहीं हो सकती वह परमाणु कहलाता है। जिसके प्रकृत, अव्याकृत, अव्यक्त,

कारणादि नाम भी कहलाते हैं। वे अनादि भी कहलाते हैं। वह अनादि होने से सत् है। हाय दुःख है लोगों की उलटी समझ पर जो कारण के गुण समवाय सम्बन्ध से हैं वे कारण में नित्य हैं। जो कारण के करणावस्था में नित्य हैं वे कार्य्यावस्था में भी नित्य हैं क्या जो गुण कारणावस्था में हैं वे कार्य्यावस्था में वर्तमान होकर जब कारणावस्था होती है तब भी कारण के गुण नित्य नहीं होते और जब परमाणु मिलकर स्थूल होते हैं या पृथक्-पृथक् होकर करणरूप होते हैं तब भी उनके विभाग और संयोग होने का सामर्थ्य नित्य होने से अनित्य नहीं होते। वैसे ही गुरुत्व, लघुत्व होने का सामर्थ्य भी उनमें नित्य है क्योंकि यह गुण गुणी में समवाय सम्बन्ध से है।

चौथा प्रश्न—मनुष्य और ईश्वर में क्या सम्बन्ध है? विद्याज्ञान से मनुष्य ईश्वर हो सकता है या नहीं? जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है और जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य है और जो दोनों चेतन हैं तो जीवात्मा परमात्मा के आधीन है या नहीं? यदि है, तो क्यों है?

उत्तर—मनुष्य और ईश्वर का राजा प्रजा, स्वामी सेवकादि सम्बन्ध है। अल्पज्ञान होने से जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता। जीव और परमात्मा में व्याप्य-व्यापकादि सम्बन्ध है। जीवात्मा परमात्मा के आधीन सदा रहता है परन्तु कर्म करने में नहीं किन्तु पाप कर्मों के फलभोग में वह ईश्वर की व्यवस्था के आधीन रहता है तथापि दुःख भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। चूंकि परमेश्वर अनन्त-सामर्थ्य-युक्त है और जीव अल्प सामर्थ्य वाला है अतः उसका परमेश्वर के आधीन होना आवश्यक है।

पांचवां प्रश्न—आप संसार की रचना और प्रलय को मानते हैं या नहीं? और जब प्रथम सृष्टि हुई तो आदि सृष्टि में एक या बहुत उत्पन्न हुए? जब कि इनमें कर्मादिक की कोई विशेषता न थी तब परमेश्वर ने कुछ मनुष्यों को ही वेदोपदेश क्यों किया। ऐसा करने से परमेश्वर पर पक्षपात का दोष आता है।

उत्तर—संसार की रचना और प्रलय को हम मानते हैं। सृष्टि प्रवाह से अनादि है, सादि नहीं। क्योंकि ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि और सत्य हैं। जो ऐसा नहीं मानते उनसे पूछना चाहिये कि प्रथम ईश्वर निकम्मा और उसके गुण, कर्म, स्वभाव निकम्मे थे। जैसे परमेश्वर अनादि है, वैसे जगत् का कारण जीव भी अनादि है क्योंकि बिना किसी वस्तु के उससे कुछ कार्य्य होना संभव नहीं। जैसे इस कल्प की सृष्टि के आदि में बहुत स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए थे वैसे ही पूर्व कल्प की सृष्टि में उत्पन्न थे और आगे की कल्पान्त सृष्टियों में भी उत्पन्न होंगे। कर्मादिक भी जीव के अनादि हैं। चार मनुष्यों की आत्मा में वेदोपदेश

करने में यह हेतु है कि उनके सदृश या अधिक पुण्यात्मा जीव कोई भी नहीं थे। इससे परमेश्वर में पक्षपात कुछ भी नहीं आ सकता।

छठा प्रश्न—आपके मतानुसार न्यूनाधिक कर्मानुसार फल होता है तो मनुष्य स्वतन्त्र कैसे हैं? परमेश्वर सर्वज्ञ है तो उसको भूत, भविष्यत्, वर्तमान का ज्ञान है अर्थात् उसको यह ज्ञान है कि कोई पुरुष किसी समय में कोई कर्म करेगा और परमेश्वर का यह ज्ञान असत्य नहीं होता क्योंकि वह सत्यज्ञान वाला है अर्थात् वह पुरुष वैसा ही कर्म करेगा जैसा कि परमेश्वर का ज्ञान है तो कर्म इसके लिए नियत हो चुका तो जीव स्वतन्त्र कैसे है?

उत्तर—कर्म के फल न्यूनाधिक कभी नहीं होते क्योंकि जिसने जैसा और जितना कर्म किया हो उसको वैसा और उतना ही फल मिलना न्याय कहलाता है। अधिक न्यून होने से ईश्वर में अन्याय आता है।

हे आर्यो! ईश्वर के ज्ञान में भूत, भविष्यत् काल का सम्बन्ध भी कभी होता है। क्या ईश्वर का ज्ञान होकर न हो और न होकर होने वाला है। जैसे ईश्वर को हमारे आगामी कर्म्मों के होने का ज्ञान है वैसे मनुष्य अपने स्वाभाविक गुण कर्म साधनों के नित्य होने से सदा स्वतन्त्र हैं परन्तु अनिच्छित दुःखरूप पापों का फल भोगने के लिये ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र होते हैं। जैसा कि राजा की व्यवस्था में चोर और डाकू पराधीन हो जाते हैं वैसे उन पापपुण्यात्मक कर्मों के दुःख-सुख होने का ज्ञान मनुष्य को प्रथम नहीं है। क्या परमेश्वर का ज्ञान हमारे किये हुए कर्म्मों से उल्टा है। जैसे वह अपने ज्ञान में स्वतन्त्र है वैसे ही सब जीव अपने कर्म करने में स्वतन्त्र हैं।

सातवाँ प्रश्न—मोक्ष क्या पदार्थ है?

उत्तर—सब दुष्ट कर्मों से छूटकर सब शुभ कर्म्म करना जीवन्मुक्त और सब दुःखों से छूटकर आनन्द से परमेश्वर में रहना, यह मुक्ति कहलाती है।

आठवां प्रश्न—धन बढ़ाना अथवा शिल्पविद्या व वैद्यकविद्या से ऐसा यन्त्र अर्थात् कला तथा औषधि निकालना जिसमें मनुष्य को इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त हो अथवा पापी मनुष्य जो रोगग्रस्त हो औषध्यादि से नीरोग करना धर्म है या अधर्म है?

उत्तर—न्याय से धन बढ़ाने, शिल्पविद्या करने, परोपकार बुद्धि से यन्त्र वा औषधि सिद्ध करने से धर्म और अन्याय करके करने से अधर्म होता है। धर्म से आत्मा, मन, इन्द्रिय और शरीर को सुख प्राप्त हो तो धर्म और जो अन्याय से हो तो अधर्म होता है। जो पापी मनुष्य को अधर्म से छुड़ाने और धर्म में प्रवृत्त करने के लिए औषधि आदि से रोग छुड़ाने की इच्छा हो तो धर्म, इससे विपरीत करने से अधर्म होता है।

नववां प्रश्न—तामस भोजन (मांस) खाने से पाप है या नहीं ? यदि पाप है तो वेद और आप्त ग्रन्थों में हिंसा करना यज्ञादिकों में विहित है और भक्षणार्थ हत्या करना क्यों लिखा है ?

उत्तर—मांस खाने में पाप है। वेदों तथा आप्त ग्रंथों में कहीं भी यज्ञादि के लिये पशु-हिंसा करना नहीं लिखा है। गो, अश्व, अजमेध के अर्थ वामियों ने बिगाड़ दिये हैं। उनके सच्चे अर्थ हिंसा करना कहीं भी नहीं लिखा। हां जैसे डाकू आदि दुष्ट जीवों को राजा लोग मारते, बंधन और छेदन करते हैं वैसे ही हानिकारक पशुओं को मारना लिखा है। परन्तु मारकर उनको खाना कहीं भी नहीं लिखा। आजकल तो वामियों ने झूठे श्लोक बनाकर गोमांस का खाना भी वतलाया है जैसे कि मनुस्मृति में इन धूर्तों का मिलाया हुआ लेख है कि गोमांस का पिंड देना चाहिये। क्या कोई पुरुष ऐसे भ्रष्ट वचन मान सकता है ?

दशवां प्रश्न—जीव का क्या लक्षण है ?

उत्तर—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान यह जीव का लक्षण न्याय-शास्त्र में लिखा है।

ग्यारहवां प्रश्न—सूक्ष्म नेत्रों से ज्ञात होता है कि जल में अनन्त जीव हैं तो जल पीना उचित है या नहीं ?

उत्तर—क्या विद्याहीन लोग अपनी मूर्खता की प्रसिद्धि अपने वचनों से नही करा देते ? न जाने यह भूल ससार में कब तक रहेगी। जब पात्र और पात्रस्थ जल अन्त वाले हों तो उनमें अनन्त जीव कैसे समा सकेंगे और छान-कर या आँख से देखकर जल का पीना सबको उचित है।

वारहवां प्रश्न—मनुष्य के लिये बहुत स्त्री करना कहां निषेध है ? यदि निषेध है तो धर्मशास्त्र में जो यह लिखा है कि यदि एक पुरुष के बहुत स्त्री हों और उनमें एक के पुत्र होने से सब पुत्रवती हैं, यह क्यों लिखा ?

उत्तर—मनुष्य के लिये अनेक स्त्रियों के करने का निषेध वेद में लिखा है। संसार में प्रत्येक अच्छा नहीं होता। जो अनेक अधर्मी पुरुष कामातुर होकर अपने विषयसुख के लिये बहुत-सी स्त्री करलेवें तो उनमें सपत्नीभाव (सौकन के भाव) से विरोध अवश्य होता है। जब किसी एक स्त्री के पुत्र हुआ तो कोई विरोध से विषादिक प्रयोग से न मारडाले इसलिये यह लिखा है।

तेरहवां प्रश्न—आप ज्योतिष शास्त्र के फलित ग्रन्थों को मानते हैं या नहीं ? और भृगुसंहिता आप्त ग्रन्थ है या नहीं ?

उत्तर—हम ज्योतिष शास्त्र के गणित भाग को मानते हैं, फलित

भाग को नहीं । क्योंकि जितने ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनमें फलित का लेश भी नहीं है । जो भृगु सिद्धांत कि जिसमें केवल गणित विद्या है, उसको हम आप्त ग्रन्थ मानते हैं, इतर को नहीं । ज्योतिष शास्त्र में भूत, भविष्यत् काल का सुख-दुःख विदित होना कहीं नहीं लिखा । अनाप्तोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अर्थात् अप्रमाणित व्यक्तियों की लिखी हुई पुस्तकों के अतिरिक्त ।

चौदहवां प्रश्न— ज्योतिषशास्त्र में आप किस सिद्धान्त को आप्तग्रन्थ समझते हैं ?

उत्तर— ज्योतिषशास्त्र में जो जो वेदानुकूल ग्रन्थ हैं, उन सबको हम आप्तग्रन्थ जानते हैं, अन्य को नहीं ।

पन्द्रहवां प्रश्न—आप पृथिवी पर सुख, दुःख, विद्या, धर्म और मनुष्य संख्या की न्यूनता अधिकता मानते हैं या नहीं ? यदि मानते हैं तो आगे इनकी वृद्धि थी या अब है या होगी ।

उत्तर—हम पृथिवी में सुखादिकों की वृद्धि किसी की व्यवस्था सापेक्ष होने से अनियत मानते हैं, मध्यावस्था में समान जानो ।

सोलहवां प्रश्न—धर्म का क्या लक्षण है और धर्म सनातन है परमेश्वर-कृत अथवा मनुष्यकृत ?

उत्तर—जो पक्षपातरहित न्याय कि जिसमें सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग हो, वह धर्म का लक्षण कहलाता है सो सनातन और ईश्वरोक्त और वेदप्रतिपादित है, मनुष्यकल्पित कोई धर्म नहीं ।

सत्रहवां प्रश्न—यदि मोहम्मदी या ईसाई मतानुयायी कोई आपके अनुसार है और आपके मत में दृढ़ विश्वासी हो तो आपके मतानुयायी उसको ग्रहण कर सकते हैं या नहीं और उसका पाक किया हुआ (पकाया) भोजन आप और आपके मतानुयायी कर सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—बिना वेदों के हमारा कोई कपोलकल्पित मत नहीं है फिर हमारे मत के अनुसार कोई कैसे चल सकता है । क्या तुमने अन्धेर में गिरकर खाना पीना, मलमूत्र करना, जूती, धोती अंगरखा धारण करना, सोना, उठना, बैठना, चलना धर्म मान रखा होगा । हाय खेद है इन कुमति पुरुषों पर कि जिनके बाहर और भीतर की दृष्टि पर पर्दा पड़ा हुआ है जो कि जूता पहनना या न पहनना धर्म मानते हैं । सुनो और आंख खोलकर देखो कि ये सब अपने अपने देश-व्यवहार हैं ।

अठारहवां प्रश्न— आपके मत से बिना ज्ञान मुक्ति होती है या नहीं ?

यदि कोई पुरुष आपके मतानुसार धर्म पर आरूढ़ हो और अज्ञानी अर्थात् ज्ञानहीन हो उसकी मुक्ति हो सकती है या नहीं ?

उत्तर—विना परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के मुक्ति किसी की न होगी। सुनो भाइयो ! जो धर्म पर आरूढ़ होगा उसको ज्ञान का अभाव कभी हो सकता है वा ज्ञान के विना धर्म पर पूरा स्थिर निश्चय कोई मनुष्य कर सकता है ?

उन्नीसवां प्रश्न—श्राद्धादिक अर्थात् पिंडदानादिक जिसमें पितृतृप्ति के अर्थ ब्राह्मणभोजनादि कराते हैं शास्त्ररीति है या अशास्त्ररीति ? यह यदि अशास्त्ररीति है तो पितृकर्म का क्या अर्थ है और मन्वादिक ग्रन्थों में इनका लेख है या नहीं ?

उत्तर—जीते पितरों की श्रद्धा से सेवा पुरुषार्थ व पदार्थों से तृप्ति करनी श्राद्ध और तर्पण कहलाता है। वह वेदादि शास्त्रोक्त है। भोजनभट्ट अर्थात् स्वार्थियों का लड्डू आदि से पेट भरना श्राद्ध और तर्पण शास्त्रोक्त तो नहीं किन्तु पापों का अनर्थकारक आडम्बर है। जो-जो मनु आदिक ग्रन्थों में लेख है सो वेदानुकूल होने से माननीय है, अन्य कोई नहीं।

बीसवां प्रश्न—कोई मनुष्य यह समझकर कि मैं पापों से मुक्त नहीं हो सकता, आत्मघात करे तो उसको कोई पाप है या नहीं ?

उत्तर—आत्मघात करने में पाप ही होता है और विना भोगे पापाचरण के फल के पापों से मुक्त कोई भी नहीं हो सकता।

इक्कीसवाँ प्रश्न—जीवात्मा संख्यात हैं या असख्यात ? कर्म्म से मनुष्य पशु अथवा वृक्षादि योनि में उत्पन्न हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—ईश्वर के ज्ञान में जीव संख्यात और जीव के अल्पज्ञान में असंख्यात हैं। पाप अधिक करने से जीव पशु, वृक्षादि योनि में उत्पन्न होता है।

बाईसवां प्रश्न— विवाह करना अनुचित है या नहीं ? और सन्तान करने से किसी पुरुष पर पाप होता है या नहीं ? और होता है तो क्या ?

उत्तर—जो पूर्ण विद्वान् और जितेन्द्रिय होकर सर्वोपकार किया चाहे उस पुरुष वा स्त्री को विवाह करना योग्य नहीं, अन्य सबको उचित है। वेदोक्त रीति से विवाह करके ऋतुगामी होकर सन्तानोत्पत्ति करने में कुछ दोष नहीं। व्यभिचारादि से सन्तान उत्पन्न करने में दोष है क्योंकि अन्यायाचरणों में दोष हुए विना कभी नहीं रह सकता है।

तेईसवां प्रश्न—अपने सगोत्र में सम्बन्ध करना दूषित है या नहीं, यदि है तो क्यों है ? सृष्टि के आदि में ऐसा हुआ था या नहीं ?

उत्तर—अपने सगोत्र में विवाह करने में दोष यूं है कि इससे शरीर आत्मा, प्रेम बलादि की उन्नति यथावत् नहीं होती, इसलिये भिन्न गोत्रों में ही विवाह सम्बन्ध करना उचित है। सृष्टि के आदि में गोत्र ही नहीं थे फिर बृथा क्यों परिश्रम किया। हां पोपलीला में दक्ष प्रजापति वा कश्यप की एक ही सब सन्तान मानने से पशुव्यवहार सिद्ध होता है। इसको जो माने सो मानता रहे।

चौबीसवां प्रश्न—गायत्री-जाप से कोई फल है या नहीं और है तो क्यों है ?

उत्तर—गायत्री-जाप जो वेदोक्त रीति से करे तो फल अच्छा होता है क्योंकि इसमें गायत्री के अर्थानुसार आचरण करना लिखा है। पोपलीला के जप अनर्थरूप फल होने की क्या ही कथा कहना है ? कोई अच्छा व बुरा किया हुआ कर्म्म निष्फल नहीं होता है।

पच्चीसवां प्रश्न—धर्म, अधर्म मनुष्य के अन्तरीय भाव से होता है या कर्म के परिणाम से ? यदि कोई मनुष्य किसी डूबते हुए मनुष्य को बचाने को नदी में कूद पड़े और वह आप डूब जाये तो उसे आत्मघात का पाप होगा या पुण्य ?

उत्तर—मनुष्यों के धर्म और अधर्म भीतर और बाहर की सत्ता से होते हैं कि जिनका नाम कर्म और कुकर्म भी है। जो किसी को बचाने के लिये परिश्रम करेगा और फिर उपकार के लिये जिसका शरीर वियोग ही हो जाये उसको विना पाप पुण्य ही होगा। (लेखराम पृ० ४८७-४९२)

पृथ्वी का आधार

(पुष्कर में एक पण्डित से प्रश्नोत्तर—नवम्बर, १८७८)

एक दिन एक पण्डित महाराज के पास आये। महाराज ने उनसे पूछा कि आपने क्या-क्या ग्रन्थ पढ़े हैं ? पण्डित ने कहा भागवत। फिर निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए।

स्वामी जी—पृथ्वी का आधार क्या है ?

पण्डित—वासुकि।

स्वामी जी—वासुकि के पिता कौन थे ?

पण्डित—काश्यप।

स्वामी जी—काश्यप के पिता कौन थे ?

पण्डित—मरीचि।

स्वामी जी—मरीचि के पिता कौन थे ?

पण्डित—ब्रह्मा।

स्वामी जी—इन तीनों के समय में पृथ्वी का आधार क्या था ?

पण्डित जी इस प्रश्न का उत्तर न दे सके। तब महाराज ने कहा कि 'शेषाधारा भूः'' प्रलय के पश्चात् परमेश्वर ही शेष रहता है अतः उसका नाम शेष है और परमेश्वर ही पृथ्वी का आधार है। (देवेन्द्रनाथ २। १३७)

तौरेत इञ्जील की अशुद्धियाँ

(पादरी ग्रे मिशनरी से अजमेर में शास्त्रार्थ—२८ नवम्बर, १८७८)

कार्तिक सुदि १३, संवत् १९३५ तदनुसार ७ नवम्बर १८७८ को स्वामी जी अजमेर में पधारे। मंगसिर बदि ४ तदनुसार १४ नवम्बर, सन् १८७८, बृहस्पतिवार से लड़का के चौक में व्याख्यान देना आरम्भ किया। पहले दिन ईश्वर विषय पर व्याख्यान दिया। १५ नवम्बर को ईश्वर विषय समाप्त करके ईश्वरीय-ज्ञान का विषय आरम्भ किया। १७ नवम्बर को भी यही विषय रहा। १८ को फिर ईश्वरीय-ज्ञान पर ही व्याख्यान दे रहे थे। व्याख्यान की समाप्ति पर एक बड़ी सूची तौरेत, इञ्जील तथा कुरान मजीद की अशुद्धियों को पढ़कर सुनाई और कहा कि मैंने यह सूची किसी को चिड़ाने के लिये नहीं सुनाई प्रत्युत इसलिये कि सब लोग पक्षपात रहित होकर विचारें कि जिन पुस्तकों में ऐसी-ऐसी बातें लिखी हैं, वह ईश्वरकृत हो सकती हैं या नहीं ? उस दिन सैकड़ों मुसलमान, ईसाई तथा हिन्दू उपस्थित थे। मुसलमान तो कोई न बोला। पादरी ग्रे साहब और डाक्टर हसबैण्ड साहब उपस्थित थे। उनमें से माननीय ग्रे साहब बोले कि व्याख्यान के दिन शास्त्रार्थ नहीं होता। आप इन आक्षेपों को लिखकर हमारे पास भेजिये, मैं उनका उत्तर दूंगा। स्वामी जी ने कहा मैं तो यही चाहता हूँ और सदा मेरी यही इच्छा रहा करती है कि आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष मिलकर सत्यासत्य का निर्णय करें। पादरी साहब ने कहा कि सत्य का निर्णय जब होगा कि आप मेरे पास प्रश्न भेजेंगे और मैं उत्तर दूंगा। फिर स्वामी जी ने कहा कि लिखकर दोनों ओर से प्रश्नोत्तर भेजने में काल बहुत लगता है और मनुष्यों को भी इससे लाभ नहीं पहुँचता। इसलिये यही बात अच्छी है कि आप यहीं आवें, मैं प्रश्न करूँ और आप उत्तर दें। तब पादरी

साहब ने कहा कि आप प्रश्न मेरे पास भेज देवें। जब मैं दो-चार दिन में उनको विचार लूंगा तब पीछे उत्तर आपको यहां आकर दूंगा। स्वामी जी ने कहा कि प्रश्न तो मैं नहीं भेजूंगा परन्तु मुझको जहां-जहां तौरेत और इञ्जील में शंकाएँ हैं उनमें से थोड़े से वाक्य लिखकर भेज दूंगा। उनको जब आप विचार लेंगे तो उन्हीं में से प्रश्न करूँगा, आप उत्तर देना। इतनी बात होने के पश्चात् पादरी साहब चले गये।

उसके दूसरे दिन अर्थात् १९ नवम्बर, सन् १८७८ मंगलवार को स्वामी जी ने तौरेत और इंजील के ६४ वाक्य लिखकर पण्डित भागराम साहब ऐक्स्ट्रा ऐसिस्टेंण्ट कमिश्नर अजमेर द्वारा पादरी साहब के पास भेज दिये। कई दिन तक पादरी साहब उनको विचारते रहे। उनके अच्छी प्रकार विचार लेने के पूरे दस दिन पश्चात् अर्थात् २८ नवम्बर, सन् १८७८ बृहस्पतिवार तदनुसार मंगसिर सुदि ४, संवत् १९३५ शास्त्रार्थ का दिन नियत हुआ।

उस दिन शास्त्रार्थ देखने और सुनने के लिए सर्वत्र विज्ञापन दे दिया गया था, इसलिए बहुत अधिक संख्या में लोग सुनने के लिए आये। सर्दार बहादुर मुंशी अमीचन्द साहब जज, पंडित भागराम साहब ऐक्स्ट्रा ऐसिस्टेंण्ट कमिश्नर, सर्दार भगतसिंह साहब इञ्जीनियर आदि सरकारी अधिकारी भी सभा में सम्मिलित थे।

नियत समय पर स्वामी जी चारों वेदों के पुस्तक साथ लेकर आये। पादरी ग्रे साहब और डाक्टर हसबेंण्ड साहब भी पधारे। बाबू रामनाथ हेडमास्टर राजपूत स्कूल जयपुर, बाबू चन्दूलाल वकील गुडगांवा, हाफिज मौहम्मद हुसैन दारोगा चुंगी अजमेर—ये तीन लेखक नियत हुए। प्रथम स्वामी जी ने कहा कि मैंने कितने स्थानों पर पादरी लोगों से बातचीत की है, कभी किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं हुई। आज भी मैं जानता हूँ कि पादरी साहब से वार्तालाप निर्विघ्नता से पूरा होगा। फिर पादरी साहब ने भी निर्विघ्नता से बातचीत होने की आशा प्रकट की और कहा कि स्वामी जी ने जो वाक्य लिखकर हमारे पास भेजे हैं वे बहुत हैं और समय केवल दो या ढाई घण्टे का है इसलिये इन आक्षेपों पर दो चार ही प्रश्नोत्तर होना ठीक है। इसके पश्चात् शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

बोलते समय इन तीन लेखकों को स्वामी जी और पादरी साहब अक्षरशः लिखवाते जाते थे।

स्वामी जी—तौरेत उत्पत्ति की पुस्तक पूर्व १ आयत २ में लिखा है कि पृथिवी बेडौल है। अब देखना चाहिए कि परमेश्वर सर्वज्ञ है, सब विद्या उसमें

पूरी हैं। उसके विद्या के काम में बेडौलता कभी नहीं हो सकती क्योंकि जीव को पूरी विद्या और सर्वज्ञता नहीं है इसलिये जीव के काम में बेडौलता आ सकती है, ईश्वर के काम में नहीं।

पादरी—यहाँ अभिप्राय बेडौल से नहीं है बल्कि उजाड़ से है। अयूब की पुस्तक अध्याय २ आयत २४ में है कि विना मार्ग जंगल में आत्मा नहीं भ्रमता है। यहां जिस शब्द का अर्थ जंगल है उसी का अर्थ वहाँ बेडौल है।

स्वामी जी— इससे पहली आयत में यह बात आती है कि आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा और पृथिवी बेडौल सूनी थी, गहराव पर अन्धेरा था। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उजाड़ का अर्थ यहां नहीं ले सकते क्योंकि कहा था कि सूनी थी। बेडौल के अर्थ उजाड़ के होते तो सूनी थी, इस शब्द की कुछ आवश्यकता नहीं थी और जबकि ईश्वर ने ही पृथिवी को रचा है सो प्रथम ही अपने ज्ञान से डौल वाली क्यों नहीं रच सकता था ?

पादरी साहब—दो शब्द एक ही अर्थ के सब भाषाओं में एक दूसरे के पीछे होकर आते हैं जैसे इबरानी में तोहो बोहो, फार्सी में बूदो बाश, ये सब एक ही अर्थ के वाची हैं। इसी प्रकार उर्दू में यह अर्थ ठीक है कि पृथिवी उजाड़ और सुनसान थी।

स्वामी जी इस बात पर और प्रश्न करना चाहते थे इतने में पादरी साहब ने कहा कि एक-एक वाक्य पर दो-दो प्रश्न और दो-दो उत्तर होने चाहियें क्योंकि वाक्य बहुत हैं तो सब प्रश्न आज न हो सकेंगे। स्वामी जी ने कहा यह अवश्य नहीं है कि आज ही सब वाक्यों पर प्रश्नोत्तर हो जायें। कुछ आज होंगे फिर इसी प्रकार दो-चार दिन अथवा जबतक यह वाक्य पूरे न हों तबतक प्रश्नोत्तर होते रहेंगे। पादरी साहब ने इस बात को स्वीकार नहीं किया तब स्वामी जी ने कहा कि और अधिक न हो तो एक वाक्य पर दस बार प्रश्न होने चाहियें। पादरी साहब ने यह भी स्वीकार न किया। स्वामी जी ने फिर कहा कि एक-एक वाक्य पर कम से कम तीन बार प्रश्नोत्तर होने ही चाहियें। इसमें फिर पादरी साहब ने कहा कि हमको दो बार से अधिक प्रश्नोत्तर करना कदाचित् स्वीकार नहीं है। तब स्वामी जी ने कहा कि हमको इसमें कुछ हठ नहीं है, सभा की जैसी सम्मति हो वैसा किया जावे। स्वामी जी को इस बात पर कोई कुछ न बोला परन्तु डाक्टर हस्बैण्ड साहब ने कहा कि यदि सभा से प्रत्येक विषय में पूछेंगे तो चार सौ मनुष्य हैं उनमें से किस-किस से पूछा जायेगा। स्वामी जी ने कहा कि यदि पादरी को तीन प्रश्न करना स्वीकार नहीं है तो जाने दो हम दो ही करेंगे क्योंकि इतने मनुष्य विज्ञापन देखकर इकट्ठे हुए हैं।

जो यहां कुछ बातचीत न हुई तो अच्छा नहीं। फिर दूसरे वाक्य पर प्रश्न किया।

स्वामी जी—(वही पर्व वही आयत) और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था। पहली आयत से विदित होता है कि ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को रचा। यहाँ जल की उत्पत्ति नहीं कही तो जल कहां से हो गया। ईश्वर आत्म-स्वरूप है वा जैसे कि हम स्वरूप वाले हैं वैसा। जो वह शरीर वाला है तो उसका सामर्थ्य आकाश और पृथिवी बनाने का नहीं हो सकता क्योंकि शरीर वाले के शरीर के अवयवों से परमाणु आदि को ग्रहण करके रचना में लाना असम्भव है और वह व्यापक भी नहीं हो सकता। जब उसका आत्मा जल पर डोलता था तब उसका शरीर कहां था?

पादरी साहब—जब-जब पृथिवो को सृजा तो पृथिवी में जल भी आ गया। दूसरी बात का उत्तर यह है कि परमेश्वर आत्मरूप है। तौरेत के आरम्भ से इञ्जील के अन्त तक परमेश्वर आत्मरूप कहलाया।

स्वामी जी—ईश्वर का वर्णन तौरेत से लेकर इञ्जील पर्य्यन्त बहुत ठिकानों में ऐसा ही है कि वह किसी प्रकार का शरीर भी रखता है क्योंकि आदम की बाड़ी को बनाया, वहां आना फिर ऊपर चढ़ जाना, सनाई पर्वत पर जाना, मूसा इब्राहीम और उनकी स्त्री सरः से बातचीत करना, डेरे में जाना, याकूब से मल्लयुद्ध करना इत्यादि बातों से पाया जाता है कि अवश्य किसी प्रकार का शरीर वह रखता है और उसी क्षण अपना शरीर बना लेता है।

पादरी साहब—ये सब बातें इस आयत से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं केवल अनजानपने से कही जाती हैं। इसका यही उत्तर है कि यहूदी, इसाई और मुसलमान जो तौरेत को मानते हैं इसी पर एकमत हैं कि खुदा रूह है।

स्वामी जी—(पर्व वही, आयत २६) तब ईश्वर ने कहा कि हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें। इससे स्पष्ट पाया जाता है कि ईश्वर भी आदम के स्वरूप जैसा था। जैसा कि आदम आत्मा और शरीर-युक्त था, ईश्वर को भी इस आयत से वैसा ही समझना चाहिए। जब वह शरीर जैसा स्वरूप नहीं रखता तो अपने स्वरूप में आदम को कैसे बना सका?

पादरी साहब—इस आयत में शरीर का कुछ कथन नहीं। परमेश्वर ने आदम को पवित्र, ज्ञानवान् और आनन्दित रचा। वह सच्चिदानन्द ईश्वर है और आदम को अपने स्वरूप में बनाया। जब आदम ने पाप किया तो परमेश्वर के स्वरूप से पतित हो गया। जैसे पहले प्रश्नोत्तर के २४ और २५ प्रश्न से विदित होता है (कोलोसियों के पत्र तीसरा पर्व ६ और १० आयत)। एक दूसरे

से झूठ मत बोलो क्योंकि तुमने पुराने फैशन को उसके कार्य्यों समेत उतार फेंका है और नये फैशन को जो ज्ञान में अपने सिरजनहारे के स्वरूप के समान नये बन रहे हैं, पहना है। इससे विदित होता है कि ज्ञान और पवित्रता में परमेश्वर के समान बनाया गया और नये सिरे से हम लोगों को बनाया (करन्तियों अध्याय १७, आयत १६) और प्रभु ही आत्मा है और जहां कहीं प्रभु का आत्मा है वहीं निर्विघ्नता है और हम सब विना पर्दा प्रभु के तेज को दर्पण में देख-देख प्रभु के आत्मा के द्वार पर तेज से उसके स्वरूप में बदलते जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि विश्वासी लोग बदल के फिर परमेश्वर के स्वरूप में बन जाते हैं अर्थात् ज्ञान, पवित्रता और आनन्द में क्योंकि धर्मी होने से मनुष्य के शरीर का रूप नहीं बदलता है।

स्वामी जी—परमात्मा के सदृश आदम के बनने से सिद्ध होता है कि ईश्वर भी शरीर वाला होना चाहिए। जो परमेश्वर ने आदम को पवित्र और आनन्द से रचा था तो उसने परमेश्वर की आज्ञा क्यों तोडी और जो तोडी तो विदित होता है कि यह ज्ञानवान् नहीं था। और जब उसने ज्ञान के पेड का फल खाया तब उसकी आंख खुल गई। इससे जाना जाता है कि वह ज्ञानवान् पीछे से हुआ। जो पहले ही ज्ञानवान् था तो फल खाने के पीछे ज्ञान हुआ, यह बात नहीं बन सकती और प्रथम परमेश्वर ने उसको आशीर्वाद दिया था कि तुम फूलो-फलो, आनन्दित रहो और फिर जब उसने ईश्वर की आज्ञा के विना उस पेड़ का फल खाया तब उसकी आँखें खुलने से उसको ज्ञान हुआ कि हम नंगे हैं। गूलर के पत्ते अपने शरीर पर पहने। अब देखना चाहिये कि जो वह ईश्वर के समान ज्ञान में और पवित्रता में होता तो उसको नंगा होना, क्यों नहीं जान पडता। क्या उसको इतनी भी सुध नहीं थी। जब परमेश्वर के समान वह ज्ञानी, पवित्र और आनन्दित था तो उसको सर्वज्ञ और नित्य शुद्ध आनन्दित रहना चाहिये और उसके पास कुछ दुःख भी कभी न आना चाहिये क्योंकि वह परमेश्वर के समान है। इन ऊपर कही तीनों बातों में तो वह पतित किसी प्रकार से नहीं हो सकता और जो पतित हुआ तो परमेश्वर के समान नहीं हुआ क्योंकि परमेश्वर ज्ञानादि गुणों से पतित कभी नहीं होता। फिर बतलाइये कि जैसे आदम प्रथम ज्ञानादि तीनों गुणों में परमेश्वर के समान होके फिर उनसे पतित हो गया वैसे ही विश्वासी लोग ज्ञानी, पवित्र और अनन्दित होंगे वा अधिक कम। जो वैसे ही होंगे तो फिर जैसे आदम पतित हो गया वैसे ही विश्वासी भी हो जायेंगे क्योंकि वह तीनों बातों में परमात्मा के समान होकर पतित हो गया था।

पादरी साहब—कई बातों में पहला उत्तर पर्याप्त है और रहा यह कि

यदि आदम पवित्र था तो आज्ञा क्यों तोड़ी। उत्तर यह है कि वह पहले पवित्र था, आज्ञा तोड़ के पापी हुआ। फिर यह कहा कि ज्ञानवान् पीछे से हुआ। यह बात नहीं है जब भले बुरे के ज्ञान के पेड़ का फल खाया तब बुरे जान पड़े, पहले न जानता था, आँखें खुल गईं और उसको जान पड़ा कि मैं नंगा हूँ। इसका उत्तर यह है कि पापी होके उसको लज्जा आने लगी। फिर यह कि यदि वह परमात्मा के समान होता तो पतित न होता। इसका उत्तर यह है कि वह परमात्मा के समान बनाया गया न उसके तुल्य। यदि परमात्मा के तुल्य होता तो पाप में न गिरता। अन्त में जो पूछा कि विश्वासी लोग आदम से अधिक पवित्र हो जायेंगे इसका उत्तर यह है कि अधिक और कम पवित्र होने में प्रश्न नहीं है किन्तु स्वरूप के विषय में है कि परमेश्वर का रूप शरीर जैसा था वा नहीं। यदि वह स्वरूप जिसका कथन होता है शारीरिक होता तो धर्मी लोग जब परमेश्वर के स्वरूप में नये सिरे से नहीं जाते हैं तो अपने शरीर को नहीं बदल डालते।

स्वामी जी—(तौरेत का पर्व २, आयत ३) उसने सातवें दिन को आशीर्वाद दिया और ठहराया। ईश्वर को सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द स्वरूप होने से परिश्रम जगत् के रचने में कुछ भी नहीं हो सकता फिर सातवें दिन विश्राम करने की क्या आवश्यकता? और विश्राम किया तो छः दिन तक बढ़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। और सातवें दिन को आशीर्वाद दिया तो छः दिनों को क्या दिया। हम नहीं कह सकते कि ईश्वर को एक क्षण भी जगत् के रचने में लगे और कुछ भी परिश्रम हो।

पादरी साहब—अब समय हो चुका, इससे अधिक हम नहीं ठहर सकते और बोलते समय लिखना पड़ता है इससे देर बहुत लगती है। इसलिये हम कुछ नहीं करना चाहते जो बोलते समय लिखा न जाये तो हम कर सकते हैं। यदि स्वामी जी को लिखकर प्रश्नोत्तर करना है तो हमारे पास प्रश्न लिखकर भेज दें। हम लिखकर उत्तर देंगे।

इस पर डाक्टर हसबैण्ड साहब के कहने से सर्दार बहादुर अमीचन्द साहब ने कहा कि मेरी भी यह सम्मति है कि प्रश्न लिखकर पत्र द्वारा किया करें। आज की भांति किये जायेंगे तो छः महीने तक भी पूरे न होंगे।

स्वामी जी ने कहा कि प्रश्नोत्तर के लिखे विना बहुत हानि है। जैसे अभी थोड़ी देर के पश्चात् अपने में से कोई अपनी कही हुई बात के लिए कह सकता है कि मैंने यह बात नहीं कही। दूसरे इस प्रकार बातचीत होने में और लोगों को यथार्थ छुपाकर प्रकट नहीं कर सकते और यदि कोई छुपावे भी तो जिसके जी में

जो आवे सो छुपा सकता है और जो मकान पर प्रश्नोत्तर लिख-लिख किया करें तो इसमें काल बहुत लगेगा और जो कहा गया कि इस प्रकार छः मास में पूरा न होगा। सो मैं कहता हूँ कि इसमें छः मास का कुछ काम नहीं है। हां जो मकान पर पत्र द्वारा करेंगे तो तीन वर्ष में भी पूरा न होगा और मनुष्य जो मेरे सामने सुन रहे हैं वे नहीं सुन सकेंगे इसलिए यही अच्छा है कि सबके सामने प्रश्नोत्तर किये जावें और लिखाया भी जावें।

पादरी साहब ने कहा कि आपने यहाँ प्रश्नोत्तर करने में लोगों के सुनने का लाभ दिखलाया परन्तु मैं जानता हूँ कि आज की बातों को जो यहाँ इतने लोग बैठे हैं, उनमें से थोड़े ही समझे होंगे। पादरी साहब की यह बात सुन कर हाफिज मोहम्मद हुसैन और अन्य मुसलमान लोग कहने लगे कि हम कुछ भी नहीं समझे। इस पर पादरी साहब ने कहा कि देखिए लिखने वाला ही नही समझा तो और कौन समझ सकता है पर स्वामी जी ने दो दूसरे लिखने वाले थे उनसे पूछा कि तुम समझे वा नहीं ? उन्होंने कहा कि हां हम बराबर समझे, हमने जो कुछ लिखा है उसको अच्छी प्रकार कह सकते हैं। तब स्वामी जी ने कहा कि दो लिखने वाले तो समझे और एक नहीं समझा। सारांश यह कि पादरी साहब दूसरे दिन शास्त्रार्थ का लिखाजाना स्वीकार नहीं किया।

स्वामी जी ने पादरी साहब से कहा कि आज के प्रश्नोत्तर के तीन परत लिखे गये हैं आप उन पर हस्ताक्षर कर दीजिये और मैं भी कर देता हूँ। और प्रधान सभा से भी कराकर एक प्रति आपके पास और एक मेरे पास और एक प्रधान के पास रहेगी।

पादरी साहब ने कहा कि हम ऐसी बातों पर हस्ताक्षर करना नहीं चाहते। तत्पश्चात् सभा उठ खड़ी हुई और सब लोग अपने घरों को चले गये परन्तु स्वामी जी महाराज, सर्दार बहादुर अमीचन्द साहब, पंडित भागराम साहब, सर्दार भगतसिंह जी के मकान पर जो सभा के मकान के पास था, ठहरे। उस समय शास्त्रार्थ की दो कापियों पर जो स्वामी जी के पास रही थीं (क्योंकि एक पादरी साहब साथ ले गये थे) उन दोनों सज्जनों ने हस्ताक्षर भी कर दिये और सब अपने मकानों को गये।

दूसरे दिन अर्थात् २६ नवम्बर, सन् १८७८ को पादरी साहब ने स्वामी जी के पास पत्र लिखकर भेजा कि आज आप प्रश्नोत्तर करेंगे या नहीं यदि करना हो तो किया जाये परन्तु लिखा न जाये और लिखना हो तो पत्र द्वारा किया जाये।

स्वामी जी ने इसके उत्तर में लिख भेजा कि प्रश्नोत्तर सबके सामने किये

जावें और लिखे भी जावें। इस प्रकार हमको स्वीकार है अन्यथा नहीं क्योंकि और प्रकार करने में बहुत हानि है जो कि हम पहले लिख चुके हैं। अब यदि आपको लिखकर प्रश्नोत्तर करना हो तो मुझको लिखिये। मैं जब तक आप कहें यहां रहूं और यदि आपको इस प्रकार न करना हो तो सर्दार भगतसिंह जी को लिख भेजो कि अब शास्त्रार्थ न होगा ताकि उन्होंने जो तम्बू आदि का प्रबन्ध कर रखा है उसे उठा लेवें। पादरी साहब ने इसको बड़ा सुअवसर जाना और प्रसन्नता से सर्दार साहब को इसी प्रकार कहला भेजा। उन्होंने सब सामान उठवा दिया। इसके पश्चात् स्वामी जी तीन बार दिन और अजमेर में रहे। चौथे दिन दूसरी दिसम्बर, सन् १८७८ को मसूदा की ओर प्रस्थान कर गये।

(लेखराम पृ० ६८१—६८६)

विविध प्रश्न

(मौलवी मुहम्मद मुराद अली साहब प्रोपराइटर 'राजपूतानागजट' अजमेर से वार्तालाप का वृतान्त—नवम्बर १८७८ ई०)

"मुझे श्री महाराज स्वामी जी जगतारक से पांच बार मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। प्रथमबार सन् १८७८ में जब कि मुंशी अमीचन्द साहब सरदार भूतपूर्व जुडीशियल असिस्टेण्ट कलक्टर ने प्रशंसनीय महाराज को यहां बुलाया था, रात को सेठ गजमललूथ की हवेली जो चौका कड़क्का में है, में प्रशंसनीय महाराज ने उपदेश दिया। उस दिन प्रथम तो लगभग दो बजे दिन को भेंट हुई थीं। चूंकि स्वामी जी महाराज की प्रसिद्धि समस्त देशों में फैल रही थी और यहां आप प्रथम बार ही पधारे थे इसलिए मैं एक प्रश्नकर्त्ता के रूप में आपकी सेवा में गया। मेरे साथ एक सेवक और हिन्दू जो दीवान बूटासिंह यहाँ के कम्पोजीटर था, गये और बैठते ही महाराज जी से मैंने ये प्रश्न किए ?

१. आत्मा क्या वस्तु है।

२. बहुत से मत शरीर के नष्ट होने के पश्चात् शुभ कर्मों के कारण मनुष्य का मुक्त होना स्वीकार करते हैं, वास्तव में यह मोक्ष किस वस्तु का नाम है ?

३. बार-बार जन्म लेने का क्या कारण है ? यदि इस कथन को माना जाये कि पाप करने से मनुष्य बार-बार जन्म लेने का अधिकारी है तो मेरे विचार में मनुष्य का स्वभाव यही है कि जब तक ज्ञान प्राप्त न हो वह अवश्य पाप किया करता है, इससे सिद्ध होता है कि स्वयं ईश्वर की ही इच्छा से मनुष्य बार-बार

जन्म लेने का अधिकारी ठहरता है। यदि ईश्वर की इच्छा न हो तो मनुष्य माँ के पेट से ही ऐसा उत्पन्न हो कि पवित्रता प्राप्त करके ताकि पाप न करे।

४. बुराई या तो शैतान से उत्पन्न हुई या खुदा से या अपनी ही इच्छा से। यदि अपनी इच्छा से उत्पन्न हुई है तो विदित हुआ है कि ईश्वर के अतिरिक्त भी कोई कारण बुराई या भलाई का ऐसा है जो स्वयं ही उत्पन्न होने की शक्ति रखता है। खुदा के बस का नहीं। और जो खुदा ही ने इस बुराई को उत्पन्न किया तो विदित हुआ कि बुराई का आविष्कारक भी परमेश्वर है और चूँकि उसकी उत्पन्न की हुई कोई वस्तु श्रेष्ठता से रहित नहीं और न निकम्मी है, इसलिए इससे यह माना पड़ेगा कि स्वयं खुदा ने मनुष्य के लिए बुराई उत्पन्न की तो फिर अब बुराई का दण्ड क्यों ?

इन प्रश्नों के उत्तर स्वामी जी महाराज ने कई प्रकार से देर तक दिये। प्रश्न नं० १ और ४ का उत्तर ऐसा युक्तियुक्त था कि मेरा संतोष हो गया था और प्रश्न नं०२ और ३ के विषय में उत्तर देने का वचन दिया था। उसी दिन सायंकाल स्वामी जी ने उपदेश दिया। अजमेर के असंख्य सामान्य और विशेष व्यक्ति एकत्रित थे। चूँकि उपदेश करने में दो चार वाक्य कहने के पश्चात गिलास में से पानी के घूंट लेते थे दूसरे दिन मैंने उसके विषय में भी आपसे निवेदन किया कि यह रीति तो अंगरेज पादरियों की है आप क्यों करते हैं ? कहा कि यह वैद्यक से सम्बद्ध बात है। मनुष्य दुर्बल है, कहते-कहते चित्त में उत्तेजना आ जाती है। पानी के घूट लेने से वह दूर हो जाती है इसमें क्या बुरा है ?

उसी दिन स्वामी जी महाराज की गोरक्षा के विषय में चिरकाल तक मुझ से बातें हुई ? चूँकि मेरे विचार पहले ही से गोहत्या के विरुद्ध हैं, मैंने निरन्तर लेखों में और विशेष पत्रिका में यह बात भली भांति सिद्ध कर दी है कि भारत जैसे देश में गाय मारना बिल्कुल मूर्खता और नासमझी है, और यह कि गाय मारने में मुसलमानी नहीं धरी हुई है। इसलिए स्वामी जी मुझ से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि आज से हम तुमको अपने विचारों का एक स्तम्भ समझते हैं और यह भी कहा कि तुम जो पत्रिका गो रक्षा के बारे में लिखो उसकी एकप्रतिलिपि हमको भी दिखलाना। उस समय एक चित्र भी स्वामी जी ने अपना मुझ को दिया।

इसके पश्चात् जब स्वामी जी उदयपुर गये तब भी भेंट हुई, जोधपुर में गये तब भी हुई थी। मेरे विचार में स्वामी जी महाराज एक महान् पुरुष थे और उनके मरने से भारतवर्ष को बहुत बड़ा धक्का लगा है।

हस्ताक्षर—मुराद अली (लेखराम पृ० ४२९-४३०)

मूर्तिपूजा

(मसूदा में अश्वशाला के अध्यक्ष शिवराम से प्रश्नोत्तर—दिसम्बर, १८७८)

एक दिन रामबाग के हनुमान् के मन्दिर में रियासत की अश्वशाला का अध्यक्ष शिवराम आया। उसने हनुमान् की मूर्ति के आगे दण्डवत् की और हनुमान् की स्तुति में कुछ श्लोक पढ़े। उसने महाराज को प्रणाम न किया। महाराज ने उससे कहा कि तूने हनुमान् के आगे हाथ जोड़े, दण्डवत् की और श्लोक भी पढ़े परन्तु वह तुझसे बोला तक नहीं। देख हम तुझे ब्राह्मण समझ कर विना बुलाये ही तुझसे बोलते हैं और हनुमान् तेरे बुलाने पर भी नहीं बोलता। वह बोला कि हनुमान् जी का बोलना हम समझते हैं और लोग नहीं समझते महाराज ने कहा कि तेरे हनुमान् हमसे डरते हैं जो तुझसे गुप्त बोलते हैं। इसके पश्चात् उसने कुछ न कहा। (देवेन्द्रनाथ २। १४४, लेखराम पृ० ५४२)

नवीन वेदान्त

(नवीन वेदान्ती साधु से रिवाड़ी में प्रश्नोत्तर—जनवरी, १८७९)

जब स्वामी जी रिवाड़ी में थे तो एक साधु ने उनसे कहा कि मैं ब्रह्म हूँ।

स्वामी जी प्रथम तो मौन रहे फिर कहा कि ईश्वर ने सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी बनाया। तू एक हाथ भर पृथिवी इधर (वायु मंडल में) रचकर यदि हम को बतलावे तो हम तुझको परमेश्वर मानें।

सब लोग हंस पड़े और वह साधु मौन हो गया। (लेखराम पृ० ४३५)

हिन्दू मुसलमानों के तीर्थ

(बकारअली बेग से कुम्भ मेला हरिद्वार में प्रश्नोत्तर—फरवरी से अप्रैल, १८७९)

सन् १८७९ में होने वाले कुम्भ के मेले पर एक दिन नजफअली तहसीलदार रुड़की स्वामी जी के पास आये और व्याख्यान सुनने लगे। व्याख्यान सुनकर कहा कि आजतक कुछ सन्देह था परन्तु अब अच्छी प्रकार सिद्ध हो गया जितना ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान संस्कृत में है उतना दूसरी भाषा में नहीं। दूसरी वार बकार अली बेग डिप्टी मैजिस्ट्रेट को साथ लेकर आये। डिप्टी साहब तम्बू के द्वार में और तहसीलदार साहब भीतर आ गये और डिप्टी साहब से कहा कि स्वामी जी बड़े सिद्ध पुरुष हैं, मैं भी उनका सेवक हूँ। डिप्टी साहब ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि यह हरिद्वार और हर की पौड़ी क्या है?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि हर की पैड़ी तो नहीं किन्तु हाड़ की पैड़ी है क्योंकि हजारों मन हड्डियां यहां पड़ती हैं।

डिप्टी साहब ने कहा कि यदि इस गंगा में स्नान का माहात्म्य है तो इसमें ही क्या विशेषता है कि पैड़ी पर स्नान दान करें ?

स्वामी जी ने कहा कि यह बात पंडों की बनाई हुई है क्योंकि यदि लोग गंगा में प्रत्येक स्थान पर स्नान करने लगें तो पंडा जी दक्षिणा कहां से लें। आपके यहां अजमेर में भी यही बात है। मुजाविर (कब्र के समीप रहने वाला) कहते हैं कि न इधर न उधर चढ़ाओ बल्कि इन ईंटों में चढ़ाओ, ख्वाजा साहब इन ईंटों में घुसे हैं। इस पर वे निरुत्तर हो गये। (लेखराम पृ० ६११)

एक साथ खानपान

(कुम्भ मेला हरिद्वार में यवनों से प्रश्नोत्तर—फरवरी से अप्रैल, १८७९)

सन् १८७९ में होने वाले कुम्भ के मेले पर जब स्वामी जी मायापुर हरिद्वार में तम्बू लगाकर ठहरे हुए थे तो उम्मीदखां और पीरजी इब्राहीम नामक दो यवनों ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि हमने सुना है कि आप मुसलमानों को भी आर्य्य बना लेते हैं।

स्वामी जी ने कहा कि हम वास्तव में आर्य्य बना लेते हैं। आर्य्य के अर्थ श्रेष्ठ और सत्यमार्ग पर चलने वाले के हैं। जब आप सत्यधर्म स्वीकार करें तब आर्य्य हो गये।

उन्होंने कहा कि हमारे साथ मिलकर खाओगे ?

स्वामी जी ने कहा कि हमारे यहां केवल उच्छिष्ट का त्याग है, हम एक दूसरे के साथ इकट्ठा नहीं खाते।

मुसलमानों ने कहा कि एक स्थान पर खाने से प्रेम बढ़ता है।

स्वामी जी ने कहा कि कुत्ते भी तो मिलकर एक स्थान पर खाते हैं परन्तु खाते-खाते आपस में लड़ने लगते हैं।

इस पर वे मौन हो गये। (लेखराम पृष्ठ ६०१)

मूर्त्तिपूजा

(मूला मिस्त्री से हरिद्वार मेले में प्रश्नोत्तर—मार्च, १८७९)

सन् १८७९ में होने वाले कुम्भ के मेले पर एक दिन मूला मिस्त्री सब

ओवरसियर नहर गंगा ने स्वामी जी से पूछा कि आपने यह मूर्तिखंडन की बात क्यों और कैसे उठाई ?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मेरा प्रथम से ही यह विचार था कि मूर्तिपूजा केवल अविद्या अन्धकार से है परन्तु इसके अतिरिक्त मेरे गुरु परमहंस श्री विरजानन्द सरस्वती जी महाराज बैठे-बैठे खण्डन किया करते थे क्योंकि आंखों से लाचार थे। और कहते थे कि कोई हमारा शिष्य ऐसा भी हो जो इस अन्धकार को देश से हटा दे। इसलिए मुझे इस देश पर दया आई इसलिये यह बीड़ा उठाया है। (लेखराम पृष्ठ ६०१)

नवीन वेदान्त

(नवीन वेदान्ती साधु से हरिद्वार में शास्त्रार्थ—५ अप्रैल, १८७९)

५ अप्रैल, सन् १८७९ रविवार तदनुसार पूर्णमासी चैत्र, संवत् १९३६ को जब कि स्वामी जी अतिसार की अधिकता के कारण रुग्ण हो गये और जंघा भी दर्द करती थी अर्थात् एक छाला निकला हुआ था। मेले में धूम पड़ गई क्योंकि एक दिन व्याख्यान नहीं हुआ था। साधुओं ने इसको स्वर्ण अवसर समझा और पंक्तिबद्ध होकर शास्त्रार्थ के लिये आने लगे। इस अभिप्राय से कि वे जब शास्त्रार्थ करना स्वीकार न करेंगे तो हम प्रसिद्ध कर देंगे कि हार गये। स्वामी जी उस दिन तम्बू में चारपाई पर विश्राम कर रहे थे। जब दूर से उनको आता देखा तो उठ बैठे और साधारण सत्कार के पश्चात् आने का कारण पूछा। उनमें से एक परमप्रसिद्ध साधु ने जो सबसे अधिक विद्वान् था कहा कि हम आपसे शास्त्रार्थ करने आये हैं। स्वामी जी ने कहा कि बहुत अच्छा, आप किसी विषय पर बातचीत करें।

साधु जी—हम वेदान्त पर चर्चा करेंगे।

स्वामी जी—पहले आप मुझे समझा दें कि वेदान्त से आपका क्या अभिप्राय है।

साधु जी—वेदान्त से यह अभिप्राय है कि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है।

स्वामी जी—जगत् से क्या अभिप्राय है और कौन-कौन पदार्थ जगत् के भीतर हैं और मिथ्या किसको कहते हैं ?

साधु जी—परमाणु से लेकर सूर्य्य पर्य्यन्त जो भी है उसे जगत् कहते हैं और यह सब मिथ्या अर्थात् झूठा है।

स्वामी जी—तुम्हारा शरीर, बोलना, चालना, उपदेश, गुरु और पुस्तक भी इसके भीतर हैं या नहीं।

साधु जी—हाँ यह सब इसके भीतर हैं।

स्वामी जी—और आपका मत भी इसके भीतर है या बाहर ?

साधु जी—हाँ वह भी जगत् के भीतर है।

स्वामी जी—जब तुम स्वयं ही कहते हो कि हम और हमारा गुरु, हमारा मत और हमारी पुस्तक, हमारा बोलना और उपदेश, ये सब मिथ्या ही मिथ्या हैं अर्थात् झूठ है तो हम तुमको क्या कहें। स्वयं वादी के कहने से ही उसका दावा खारिज है। साक्षी आदि की कुछ आवश्यकता नहीं।

साधु जी आश्चर्यचकित तथा पराजित होकर वहां से चले गये और फिर कभी इस प्रकार जत्था बांधकर स्वामी जी के सम्मुख शास्त्रार्थ को न आये।

(लेखराम पृष्ठ ६२२)

नमस्ते पर

(मुंशी इन्द्रमणि जी से मुरादाबाद में शास्त्रार्थ—जौलाई, १८७९)

मुरादाबाद में समाज की स्थापना से पूर्व कई दिन तक मुन्शी इन्द्रमणि और श्री स्वामी जी महाराज का परस्पर इस विषय में शास्त्रार्थ हुआ कि समाजों में प्रणाम के स्थान पर क्या शब्द नियत किया जावे। श्री स्वामी जी कहते थे कि "नमस्ते" कहना चाहिये। मुन्शी इन्द्रमणि ने कहा कि हमने प्रथम जयगोपाल और तत्पश्चात् "परमात्मा जयते" प्रचलित किया, इस पर लोगों ने बहुत आक्षेप किये और हँसी उड़ाई। अब सब मामला ठण्डा हो गया है। अब नमस्ते प्रचलित की जावेगी तो फिर लोग धुन्द मचावेंगे और इसके अतिरिक्त परमेश्वर का नाम जिस शब्द में आवे उसे कहना चाहिये। "नमस्ते" कहने में यह बुराई है कि जो राजा से नमस्ते किया जावे तो क्या राजा भी एक तुच्छ कोली चमार से नमस्ते कहेगा ? स्वामी जी महाराज ने कहा कि मुन्शी जी ! बड़ा किसको कहते हैं ? जिस मनुष्य ने यह गर्व किया कि मैं बड़ा हूँ अर्थात् राजा या विद्वान् या शूरवीर हूँ तो उसमें अभिमान आ गया और उसकी बड़ाई में दोष लग गया। देखो जितने महाराजाधिराज, शूरवीर और विद्वान् हुए हैं उन्होंने अपने मुख से अपने आप को बड़ा कभी नहीं कहा। नमस्ते का अर्थ मान और सत्कार का है जिससे राजा-प्रजा दोनों को परस्पर नमस्ते कहना ठीक है। अब हम तुम से यह पूछते हैं, तुम अपने अन्तःकरण से सत्य कह देना कि जब

कोई व्यक्ति तुम्हारे घर पर आता है या तुमको मिलता है तो उसे देखकर तुम्हारे मन में क्या विचार आता है ?

मुन्शी जी मौन रहे। तब स्वामी जी कहने लगे कि कौन नहीं जानता कि सम्मानित पुरुष को देखकर उसका सम्मान और छोटे व्यक्ति को देखकर उसका आतिथ्य तुरन्त करने का ध्यान आता है। फिर बतलाइये कि ऐसे अवसर पर परमेश्वर के नाम का क्या सम्बन्ध है ? मनुष्य को चाहिये जो मन में हो वही मुख से कहे और यह आपका दोष है कि आपने पहले "जयगोपाल" और फिर "परमात्मा जयते" प्रचलित किया। विचार करके ऐसा शब्द जो पहले इस देशवासियों में प्रचलित था, प्रचलित क्यों न किया। इससे सब आर्य्यसमाजों में 'नमस्ते" का उच्चारण करना ठीक है जैसा कि सब दिन से महर्षि लोगों में प्रचार था। और नमस्ते शब्द वेदों में भी आया है। हम यजुर्वेद से बहुत से प्रमाण दे सकते हैं। आप "परमात्मा जयते" का किसी प्राचीन ग्रन्थ से प्रमाण नहीं दे सकते। फिर उसी दिन दोपहर के पश्चात् बहुत से प्रमाण आर्षग्रन्थों और वेदों से निकालकर दिखलाये परन्तु मुन्शी जी ने अपने दुराग्रह और हठ-धर्मी से न माना। (लेखराम पृष्ठ ४४३-४४५)

अवतारवाद

(पं० रामप्रसाद तथा पं० वृन्दावन से बदायूं में शास्त्रार्थ—अगस्त, १८७६)

नोट—स्वामी जी ३१ जौलाई, सन् १८७६ को बदायूं में पधारे और १४ अगस्त, सन् १८७६ की दोपहर तक वहाँ निवास किया। इसी समय के बीच में यह शास्त्रार्थ हुआ। यद्यपि शास्त्रार्थ की ठीक तिथि लिखी हुई नहीं है तथापि ऐसा अनुमान है कि यह शास्त्रार्थ ५ अगस्त के पश्चात् हुआ क्योंकि ४ अगस्त तक के उनके कार्यक्रम का संक्षिप्त विवरण जीवनचरित्र में दिया हुआ है। उसके पश्चात् शास्त्रार्थ की चर्चा है। यह शास्त्रार्थ दो दिन तक होता रहा।

पण्डित रामप्रसाद, पण्डित वृन्दावन, पण्डित टीकाराम, पण्डित रामप्रसाद दारोगा सभा आदि सज्जन स्वामी जी के निवास स्थान पर शास्त्रार्थ की इच्छा से पहुँचे। प्रथम पण्डित रामप्रसाद जी ने बातचीत आरम्भ की।

पण्डित रामप्रसाद—ईश्वर साकार है और उसमें पुरुषसूक्त की यह ऋचा प्रमाण है—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि (यजु० अध्याय ३१, मन्त्र १)

यदि ईश्वर साकार नहीं तो उसको "सहस्रशीर्षा" आदि क्यों लिखा ?

स्वामी जी—सहस्र कहते हैं सम्पूर्ण जगत् को और असंख्य को। जिसमें असंख्यात शिर, आंख और पैर ठहरे हुए हैं उस परमेश्वर को "सहस्रशीर्षा" आदि कहते हैं। यह नहीं कि उसकी हजार आंखें हों।

पण्डित जी ने अमरकोश का प्रमाण दिया।

स्वामी जी ने कहा कि वेदों में अमरकोश प्रमाण नहीं प्रत्युत निरुक्त और निघण्टु आदि प्रमाण हैं।

पण्डित जी ने कहा कि हम तो वह पढ़े ही नहीं और लक्ष्मी विष्णु की स्त्री है और साकार है। इसमें लक्ष्मीसूक्त का प्रमाण है—

"अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रियन्देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवीर्जुष्यताम् ॥ ३ ॥

इसमें जो विशेषण हैं उनसे उसका साकार होना सिद्ध होता है।

स्वामी जी—प्रथम तो यह वाक्य संहिता का नहीं और जो तुम उसको विष्णु की स्त्री समझकर बुलाते हो तो विष्णु तुमको अपनी स्त्री नहीं देगा और तुम उसके मांगने से पाप के भागी होगे और वह भी व्यभिचारिणी ठहरेगी। लक्ष्मी के अर्थ राज्यलक्ष्मी, राज्य की सामग्री और शोभा के हैं और इसी कारण से इस श्लोक में हाथी, रथ और घोड़े लिखे हैं।

पण्डित रामप्रसाद—आप जो कहते हैं कि वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको है, यह अनुचित है। वेद पढ़ने का अधिकार केवल द्विजों को ही है और उनमें से भी मुख्य ब्राह्मणों को है।

स्वामी जी—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। इत्यादि।

इस वेदमन्त्र से स्पष्ट सिद्ध है कि वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको है।

पण्डित जी—जो रामचन्द्र और कृष्णादि हुए हैं, ये साक्षात् परमेश्वर के अवतार हैं।

स्वामी जी—ऐसा न समझना चाहिये, यह वेद के विरुद्ध है। परमेश्वर कभी अवतार नहीं लेता।

पण्डित जी—इस यजुर्वेद के मन्त्र से विष्णु का वामनावतार सिद्ध होता है—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।"

स्वामी जी—इससे वामनावतार सिद्ध नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि

परमेश्वर अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण करता है। यह नहीं कि परमेश्वर ने तीन प्रकार से धरण रखा जैसा कि तुम कहते हो।

पण्डित बृन्दावन जी बोले तो इससे विदित हुआ कि विष्णु साकार नहीं है।

स्वामी जी—विष्णु के अर्थ तो करो, यह किस धातु से बना है?

पण्डित बृन्दावन जी—"विष्लृ व्याप्तौ" से विष्णु बनता है अर्थात् जो सर्वव्यापक हो उसे विष्णु कहते हैं।

स्वामी जी—फिर जो व्यापक है वह साकार कैसे हो सकता है?

पण्डित रामप्रसाद—इस यजुर्वेद के मन्त्र में—

"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठः"

जो "कुचर" शब्द आया है उससे मत्स्य (मच्छ) आदि अवतार सिद्ध होते हैं क्योंकि "कुचर" का अर्थ है पृथिवी पर चलने वाला।

स्वामी जी—कुचर से मत्स्यादि अवतार सिद्ध नहीं होते। "कु" के अर्थ वेद में कभी पृथिवी के नहीं लिये जाते।

पण्डित रामप्रसाद—महीधर की टीका में तो ऐसा ही लिखा है।

स्वामी जी—महीधर की टीका प्रायः अशुद्ध है। निरुक्त और निघण्टु आदि के बिना वेद का अर्थ शुद्ध नहीं हो सकता।

पण्डित रामप्रसाद—फिर आपने-अपने पास महीधर की टीका को क्यों रखा हुआ है?

स्वामी जी—खण्डन के लिये और देखो इसका अशुद्ध अर्थ "गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे" इत्यादि आठ दस मन्त्रों पर। क्या ऐसे अर्थ प्रमाण योग्य हैं कि यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे आदि आदि। वेदों पर जो ऋषियों की टीका हैं वही प्रमाण के योग्य हैं। और अवतारों का न होना यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के मन्त्र "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं" शुद्धम् इत्यादि से सिद्ध है कि सर्वव्यापक परमात्मा कल्याणस्वरूप, काया अर्थात् शरीर से रहित, नाड़ी नस आदि बन्धन से मुक्त और शुद्धस्वरूप पापों से न्यारा है। जिसने आदि जगत् में अपनी अनादि प्रजा जीवों के लिये वेदविद्या का प्रकाश किया। शास्त्रार्थ दो दिन में समाप्त हुआ। (लेखराम पृष्ठ ४४६-४४७)

सत्यासत्यविवेक की भूमिका

यह शास्त्रार्थ श्री गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क दिल्ली ने प० लखराम

कृत महर्षि जीवनचरित्र से भाषा में अनुवाद कराके दयानन्द ग्रन्थसंग्रह में छापा था। उसी के अनुसार यह छापा गया है। इस शास्त्रार्थ सम्बन्धी उसके सम्पादकीय में से निम्न लेख भी उपयोगी समझकर नोचे दिया जाता है।

महर्षि-दयानन्द सरस्वती और पादरी टी० जी० स्काट साहेब के मध्य तीन दिन तक बरेली नगरी में जो लिखित शास्त्रार्थ हुआ था, उसका विवरण धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी आर्य मुसाफिर कृत महर्षि के बृहद् उर्दू जीवन-चरित्र में, पृष्ठ ४४१ से ४६३ तक मुद्रित हुआ है। महर्षि-दयानन्द १४ अगस्त, सन् १८७९ ई० तदनुसार भाद्रपद कृष्णा १२, संवत् १९३६ वि० को बरेली पधारे थे और बेगम बाग में श्री लाला लक्ष्मी नारायण जी खजांची की कोठी में उन्होंने निवास किया था।

प्रथम कई दिन तक महर्षि के उपदेश होते रहे, जिन में जनता बहुत अधिक संख्या में उपस्थित होती थी। नगर के बड़े राज्याधिकारी कलक्टर आदि तथा अंग्रेज एवं पादरी आदि और नगर के प्रतिष्ठित सज्जन भी बड़े प्रेम और उत्साह से उपस्थित होते थे। इस प्रकार कई दिन तक बड़ा आनन्द रहा और जनता उपदेशामृत पान करके लाभ उठाती रही।

उन दिनों महर्षि के पूर्व परिचित और भक्त सुप्रसिद्ध पादरी टी० जी० स्काट साहेब का निवास भी बरेली में ही था। महर्षि के व्याख्यानों में स्काट साहेब भी बड़े उत्साह से पधारा करते थे। महर्षि के जीवनचरित्र के प्रसंगों में स्काट साहेब का उल्लेख पाया जाता है। मेला चांदापुर में भी श्री स्काट महोदय ने ईसाई मत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। ये पादरी साहेब अमेरिका के रहने वाले थे और ईसाई मत का प्रचार करने के लिये भारत में पधारे थे। ये ईसाइयों के प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के अनुयायी, सुयोग्य विद्वान्, मधुरभाषी और व्यवहारकुशल विद्वान् थे। महर्षि के ये बहुत प्रेमी थे, और महर्षि ने तो इनका नाम ही भक्त स्काट रख दिया था।

कुछ लोगों ने विचार किया कि महर्षि-दयानन्द और पादरी स्काट साहेब का परस्पर शास्त्रार्थ कराया जाये। महर्षि-दयानन्द और पादरी साहेब ने भी इस प्रस्ताव को उत्तम समझा और सहर्ष स्वीकार कर लिया। तदनुसार आवश्यक नियम आदि निर्धारित किये गये और तीन दिन तक लिखित रूप में यह शास्त्रार्थ आनन्दपूर्वक होता रहा। समाप्ति के कुछ ही दिन पश्चात् इस शास्त्रार्थ का विवरण उर्दू भाषा में; पुस्तकाकार में छपवाकर प्रसारित किया गया था।

धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी ने अपने ग्रन्थ में जो विवरण बरेली

शास्त्रार्थ का प्रस्तुत किया है, वह सब ज्यों का त्यों उसी प्रति के अनुसार प्रतीत होता है, जो कि शास्त्रार्थ के अन्त में प्रकाशित की गई थी। उस प्रति का आरम्भिक निवेदन श्री पण्डित लेखराम जी के ग्रन्थ में पृष्ठ ४४२ पर इस प्रकार मुद्रित हुआ है—

"विदित हो कि यह लिखित शास्त्रार्थ बड़ आनन्द के साथ जैसा कि प्रायः सुसभ्य, सुयोग्य और विद्वान् पुरुषों में हुआ करता है, और जैसा कि वास्तव में होना भी चाहिए, स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और पादरी टी० जी० स्काट साहेब के मध्य राजकीय पुस्तकालय बरेली :०: में तीन दिन तक ता० २५, २६, और २७ अगस्त सन् १८७६ ई० को लाला लक्ष्मीनारायण साहेब खजांची रईस बरेली की अध्यक्षता में हुआ ।

अन्य नियमों के साथ ही इस शास्त्रार्थ के मुख्य नियम इस प्रकार थे—

"शास्त्रार्थ लिखित होगा। तीन लेखक—एक स्वामी जी की तरफ दूसरा पादरी साहेब की तरफ और तीसरा अध्यक्ष महोदय की तरफ बैठकर शास्त्रार्थ के प्रत्येक शब्द को सावधानी के साथ ज्यों का त्यों लिखते जावेंगे । जिस समय एक विद्वान् निश्चित समय के अन्दर अपना कथन समाप्त कर चुके तो उसका लिखाहुआ वक्तव्य सभा में उपस्थित पुरुषों को सुना दिया जावे और तीनों प्रतियों पर हस्ताक्षर भी कराये जावे। और जब शास्त्रार्थ समाप्त हो तो उस पर अध्यक्ष महोदय के हस्ताक्षर भी कराये जावें। इन तीनों प्रतियों में से एक स्वामी जी के पास, दूसरी पादरी साहेब के पास और तीसरी अध्यक्ष महोदय के पास प्रमाण स्वरूप रहे, जिससे कि बाद में भी उनमें किसी प्रकार को घटा-बढ़ी न हो सके ।"

पृष्ठ ४४३ पर फिर प्रार्थना के रूप में लेख है—

"हम इस शास्त्रार्थ को अक्षरशः मूल के कि जिस पर स्वामी जी और पादरी साहेब के हस्ताक्षर हैं, अनुसार करके और स्वामी जी के आदेशानुसार तैयार करके इस को छापेखाने में छपवाते हैं। इसमें किसी अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया है। इसको शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिये यहां तक सावधानता रखी गई है कि जहाँ जिस विद्वान् के हस्ताक्षर थे, वहां हस्ताक्षर का शब्द लिखकर उसी का नाम लिख दिया है। पाठक दोनों विद्वानों के लेखों अथवा वक्तव्यों को सत्यासत्य विवेचक दृष्टि से देखें और किसी प्रकार के पक्षपात को पास न आने दें, जिससे कि सत्य और असत्य का प्रकाश भली प्रकार हो जावे। कुछ सज्जनों का कथन है कि इन शास्त्रार्थों के अन्त में निर्णय भी निकाल देना चाहिए । परन्तु हमने

:०: जहाँ आजकल म्युनिसिपलबोर्ड बरेली का दफ्तर है, पहले यहां पर ही यह पुस्तकालय था, जिसमें यह शास्त्रार्थ हुआ था । —सम्पादक

अपनी सम्मति प्रकाशित करना उचित नहीं समझा। निर्णय करने का काम पाठकों की सत्यता प्रेमी बुद्धि पर ही छोड़ा जाता है।''

इस भूमिका और प्रार्थना आदि की शब्द रचना से ज्ञात होता है कि यह लेख श्री लाला लक्ष्मीनारायण जी, जो कि अध्यक्ष थे, की ओर से ही है, और उन्होंने ही इस विवरण को सर्वप्रथम प्रकाशित किया था।

इस पुस्तक के विषय में धर्मवीर श्री पं० लेखराम जी आर्य मुसाफिर कृत महर्षि के बृहद् जीवनचरित्र में पृष्ठ ७९८ पर लिखा है—

बड़ी सावधानी के साथ प्रथम बार मास सितम्बर, सन् १८७९ ई० में आर्य भूषण यन्त्रालय शाहजहांपुर में मुद्रित हुआ। और दोबारा आर्य दर्पण प्रेस शाहजहांपुर में और चौथी और पांचवीं बार उर्दू व हिन्दी में लाहौर में मुद्रित हुआ।''

प्रस्तुत पुस्तक के रूप में हम ''सत्यासत्यविवेक'' का हिन्दी अनुवाद जनता की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमने इसे धर्मवीर पण्डित लेखराम जी के ग्रन्थ के आधार पर ही तैयार किया है। और अनुवाद-कार्य में इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि दोनों पक्ष के विद्वानों के भाव पूर्णतया यथावत् रूप में प्रकाशित हों।

—सम्पादक

शास्त्रार्थ-बरेली

सत्यासत्यविवेक

ता० २५ अगस्त, सन् १८७९ ई०

विषय—पुनर्जन्म

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

जीव और जीव के स्वाभाविक गुण, कर्म और स्वभाव अनादि हैं। और परमेश्वर के न्याय करना आदि गुण भी अनादि हैं। जो कोई मानता है कि जीव को, और उसके गुण आदि की उत्पत्ति होती है उसको उसका नाश मानना भी अवश्य होगा। और तिस के कारण आदि का भी निश्चय करना और कराना होगा क्योंकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। जो-जो जीव के पाप और पुण्य आदि कर्म प्रवाह से अनादि चले आते हैं, उनका ठीक-ठीक फल पहुँचाना ईश्वर का काम है। और जीवों का विना स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के सुख-दुःख का भोग करना असम्भव है। जब यह बात हुई, तब बारम्बार शरीर का धारण करना भी जीव को अवश्य है। क्योंकि क्रियमाण कर्म नये-नये करता जाता है

उनका संचित और प्रारब्ध भी नया नया होता चला जाता है। जब इस सृष्टि में विद्या की आंख से मनुष्य देखे, तो सृष्टिक्रम और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक सिद्ध होता है, कि देखो जो आज सोमवार है, वही फिर भी आता है। महीना, रात दिन आदि भी पुनः पुनः आते हैं। और गेहूँ का बीज बोने से फिर वही गेहूँ आता है। **हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी टी० जी० स्काट साहब—

इस आवागमन के विषय में केवल सत्य के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। हार-जीत की इसमें कोई बात नहीं है। यह सिद्धान्त पुराना तो है, परन्तु संसार में से मिटा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जितने जीवात्मा हैं, वे सदैव जन्म लेते रहते है। कभी मनुष्य की योनि मे, कभी बैल की योनि में कभी बन्दर की और कभी कीड़े मकौड़े की योनि में उत्पन्न होते है। परन्तु यह ऐसा सिद्धान्त है कि सुशिक्षित और उन्नत जातिया इसको छोड़ती जाती हैं। प्राचीन मिस्री लोगों ने पहले इसे माना हुआ था फिर छोड़ दिया। इसी प्रकार यूनानियों ने और अंग्रेजों ने भी छोड़ दिया। हमारे पुराने द्रविड़ लोग भी, जो कि हमारे गुरु थे, यही सिखलाते थे। और हम लोग सब के सब मानते थे। परन्तु रोशनी के फैलने से और विद्या प्राप्त करने से, इस पुराने और निराधार सिद्धान्त को छोड दिया सो हमारा सवाल पण्डित जी से यह है कि इस सिद्धान्त को मानने के लिये कौन सी युक्तियां हैं? जब कोई विशेष प्रमाण दिया जायेगा, तो हम उसका खण्डन करने के लिये आक्षेप करेंगे। फिर भी दो चार प्रश्न यहां पर हैं—

ईश्वर की आत्मा के अतिरिक्त और आत्माएं भी अनादि काल से अर्थात् अजल से हैं कि नहीं ?

इस जन्म लेने से कभी छुटकारा मिलेगा, या नहीं ?

आपका यह कथन है कि सब दुःख संसार में होते हैं, दण्ड देने के लिए ही हैं सो पुनर्जन्म केवल दण्ड के लिए है, या इस का कोई और कारण है ?

यह भी एक प्रश्न है कि परमेश्वर हर समय सगुण है, या कभी निर्गुण भी होता है ?

यह जन्म लेना उसी की खास कुदरत से हर समय होता रहता है, या किसी कुदरती कानून से होता है, जैसे कि बीज का उगना, फल का पकना पानी का बरसना। इत्यादि —**हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

तीन पदार्थ अनादि हैं। एक ईश्वर एक कारण और सब जीव। जीव

जन्म से कभी छूटकारा न पायेंगे। पुनर्जन्म दण्ड और पुरस्कार दोनों के लिए है। परमेश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी और वह सदैव रहता है। कुदरती न्यिम उसका यही है कि जैसा, जिसने पाप या पुण्य किया है, उसको वैसा ही अपने सत्य न्याय से फल देता है। अब पादरी साहेब ने जो कहा था कि पुनर्जन्म का प्राचीन सिद्धान्त हमारे बीच में भी था। इससे सिद्ध हुआ कि सब देशों में पुन-र्जन्म का सिद्धान्त प्रचलित था। और जो यह कहा कि जो जातियां सुधरती जाती हैं, वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं। अब इस पर एक मवाल है कि प्रचीन सभी बातें झूठी, हैं, या उनमें से कुछ सत्य भी हैं और नये सिद्धान्त सभी सत्य हैं, अथवा उनमें कुछ मिथ्या भी हैं यदि पादरी साहेब कहें कि प्राचीन बातें और सिद्धान्त अब मानने के योग्य नहीं हैं, तब तो तौरेत और जबूर इत्यादि ग्रन्थ और बाईबिल व इंजील की शिक्षाएँ आजकल की अपेक्षा से बहुत पुरानी हैं। वे भी अब न माननी चाहियें। यह कोई मानने योग्य प्रमाण की बात नहीं है कि पहले मानते थे और अब नहीं मानते, इसलिए सच्ची या झूठी हैं। या पहले नहीं मानते थे, अब मानते हैं, इसलिए झूठी या सच्ची हैं।

अब, पादरी साहेब ने कहा कि कुछ प्रमाण दें, तो हम उस पर आक्षेप करें। प्रमाण के लिए मैंने पहले ही लिख दिया है, कि इस जीव के कर्म इत्यादि अनादि हैं। और, ईश्वर का न्याय करना इत्यादि भी अनादि हैं। जो कर्म का सिद्धान्त न माना जाये तो सृष्टि में बुद्धिमान्, निर्बुद्धि और दरिद्र, राजा और कंगाल की अवस्था ईश्वर किस प्रकार कर सके। क्योंकि इसमें तरफदारी आती है, और पक्षपात से उसका न्याय ही नष्ट हो जाता है। जब कर्म के फल हैं तो परमेश्वर पूर्ण न्यायकारी बनता है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर अन्याय कभी नहीं करता। —हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

पादरी स्काट साहेब—

पण्डित जी के कहने से तमाम जीव अनादि हैं अर्थात् अजल से हैं। तो इस हिसाब से हमारी और ईश्वर की अनादिता में कोई भेद नहीं। अर्थात् दो वस्तुएँ अनादि काल से हैं। एक प्रकार से दो ईश्वर हुए। मेरा प्रश्न यह है कि ऐसा मानना, तौरेत, जबूर और इंजील के सर्वथा विरुद्ध है। मैं पूछता हूँ कि कौन सा सिद्धान्त अधिक सन्तोषजनक है। अर्थात् एक यह कि हमारे जीवात्मा सदैव आवागमन के चक्कर में भ्रमते फिरते रहेंगे और कभी बैल के शरीर में जायेंगे और कभी बन्दर के। कभी अत्यन्त कीड़े मकोड़े के और कभी किसी अच्छे शरीर में। इस अनादि काल से चल रहे चक्कर में अधिक सन्तोष है कि तौरेत, जबूर और इंजील के सिद्धान्त में कि अन्ततोगत्वा जो लोग नेकी करते और नेक बनते हैं, वे एक ऐसे सुखपूर्ण स्थान में पहुँचेंगे कि उन्हें फिर कभी जन्म न लेना

होगा। न ही उन्हें किसी प्रकार का कष्ट होगा। विचार कीजिये कि किस ग्रन्थ की शिक्षा अधिक सन्तोषजनक है। इस के अतिरिक्त ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का कैसे हो सकता है? अर्थात् वह विशेषणों वाला भी है और विशेषणों से रहित भी है? वह कौन सी वस्तु है कि विशेषणों से रहित है? बताइये, यदि उसमें न्याय करने का गुण न हो तो न्याय क्योंकर करें और पुनर्जन्म के रूप में लोगों को दण्ड किस प्रकार देवें? ऐसे ही निराधार विचारों पर आधारित होने के कारण सुशिक्षित जातियाँ इस सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं। इसके अतिरिक्त यदि यह पुनर्जन्म दण्डस्वरूप है तो इसमें दण्ड क्या हुआ? उदाहरण के लिए जब बन्दर यह जानता ही नहीं कि मैंने क्या अपराध किया है, या कोई पादरी साहेब, या पण्डित साहेब अत्यन्त तुच्छ कीडे के शरीर में उत्पन्न हुआ तो उनको दण्ड कैसा हुआ। वे तो जानते ही नहीं कि हमने क्या-क्या अपराध किये हैं? क्या कभी किसी को याद आया है या आता है कि मैं अमुक काल में बन्दर था अथवा मैं किसी समय में गीदड था और, अब कुल दुनिया में किसी को भी याद नहीं है. तो फिर ऐसे पुनर्जन्म में किसी के लिए क्या दण्ड की बात रह जाती है। हम तो यह मानते हैं कि दुःख कभी-कभी दण्डस्वरूप होता है और कभी नही भी। हस्ताक्षर टी. जी. स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती—

दोनों अनादि होने से बराबर नहीं होते, जब तक कि उनके सब गुण बराबर न हों। परमेश्वर अनन्त है और जीव सान्त। परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ। परमेश्वर सदा पवित्र और मुक्त तथा जीव कभी पवित्र, कभी बन्ध और कभी मुक्त। इसलिए दोनों बराबर नहीं हो सकते।

तौरेत, जबूर और इंजील के विरुद्ध होने से ही कोई बात सच्ची और झूठी नहीं हो सकती। क्योंकि तौरेत आदि में भ्रम से सच को झूठ और झूठ को सच बहुत जगह लिखा है। सच्ची तो उस किताब की बात हो सकती है कि जिसमें प्रारम्भ से अन्त तक एक भी बात झूठ न हो। ऐसी किताब वेदों के अतिरिक्त भूगोल में ईश्वरकृत और कोई नहीं। क्योंकि ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव से अनुकूल वेद ही पुस्तक है, दूसरी नहीं। सिवाये वेद के उपदेश के किसी भी किताब में ठीक-ठीक सब बातों का निश्चय नहीं नजर आता है। इसलिये सबसे उत्तम वेद की ही शिक्षा है, दूसरे की नहीं।

परमेश्वर अपने गुणों से सगुण हैं अर्थात् सर्वज्ञ आदि गुणों से और निर्गुण—कारण के जड़ आदि गुण तथा जीव के अज्ञान, जन्म, मरण, भ्रम आदि गुणों से, रहित होने से परमात्मा निर्गुण है। इसलिए यह निश्चय जानना

चाहिए कि कोई पदार्थ भी इस रीति से सगुणता और निर्गुणता से रहित नहीं है।

जब जीव का पाप अधिक और पुण्य कम होता है, तब उसे बन्दर आदि का शरीर धारण करना पड़ता है। और जब पाप पुण्य बराबर होते हैं, तब मनुष्य का। और, जब पाप कम और पुण्य अधिक होता है, तब विद्वान् इत्यादि का। —हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

पादरी स्काट साहेब—

सब पुराने सिद्धान्त मिथ्या नहीं हैं। और, न ही सब नये सिद्धान्त सत्य हैं। परन्तु जब सुशिक्षित जातियां भली प्रकार विचार विमर्श करके किसी सिद्धान्त को मिथ्या उद्घोषित करती हैं, तो यह दृढ़ प्रमाण है कि वह सिद्धान्त मिथ्या है। और एक ही बार के जन्म लेने के विषय में सोच लीजिए।

तौरेत नई नहीं है। यह भी बहुत पुरानी है। तौरेत किसी प्रकार भी वेद से नई नहीं है। उसमें पुनर्जन्म का कुछ भी उल्लेख नहीं है। तौरेत और इंजील सत्य हैं वा मिथ्या यह आज का विषय नहीं है। इस विषय को व्यर्थ ही खण्डित करना कि ये मिथ्या नहीं अथवा वेद के विषय में कुछ नहीं कहना है क्योंकि यह भी आज का विषय नहीं। परन्तु इस बात पर ध्यान दीजिये कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां तौरेत और इंजील की शिक्षाओं पर दृढ़ रहती हैं। इसके प्रतिकूल हिन्दू लोग ज्यों-ज्यों उन्नत और सुशिक्षित होते जाते हैं वेद को छोड़ते जाते हैं। आवश्यकता हो, तो मैं सैंकड़ों प्रमाण दे सकता हूं। और यह कहना कि कर्म अनादि काल से है, इसलिये पुनर्जन्म होता है। तब तो परमेश्वर को भी जन्म लेना चाहिये। और यदि कोई कहे कि उसके सब कर्म अच्छे हैं, तो क्या कठिन है कि उसकी दया और कृपा से हम लोग भी ऐसे दृढ़ और उत्तम हो जावें कि हमें बन्दर या गीदड़ बनना न पड़े। जैसा कि हमारे पवित्र धर्म ग्रन्थ में लिखा है— "एक बार मनुष्य के लिए मरना है। बाद इसके न्याय।"

निर्गुण और सगुण के विषय में स्वामी जी के अर्थ को मैं नहीं मानता। निर्गुण का यह अर्थ नहीं है कि कोई गुण न हो। जब उसमें गुण नहीं है, तब तो वह सगुण भी नहीं हो सकता। फिर इस समय जन्म-मरण का प्रबन्ध कौन करता है? अब फिर मैं पूछता हूं कि यदि दण्ड-भोग के लिए जन्म लेता है तो यह चाहिये कि दण्ड भोगने वाला यह जाने कि मुझे दण्ड क्यों भोगना पड़ा है। अन्यथा दण्ड भोग की सब बात ही व्यर्थ हो जाती है। मैं फिर पूछता हूं कि किसी को याद क्यों नहीं रहता, कि तुम बन्दर या गीदड़ पिछले जन्म में थे। हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

पहले प्रश्न के विषय में उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, इसलिये पूर्वजन्म की बात को याद नहीं रख सकता। पादरी साहेब को विचार करना चाहिये कि ऐसी बात क्यों पूछते हैं क्योंकि इसी जन्म से जन्म के पांच वर्ष तक की बातें भी क्यों नहीं याद रहतीं ? और सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में जब सो जाता है, तब जागृत अवस्था की बात एक भी याद नहीं रहती। और कार्य-कारण के अनुमान से अर्थात् कार्य का निश्चय कर लिया। सब विद्वान् लोग मानते हैं कि जब पाप-पुण्य का फल सुख-दुःख, नीच-ऊँच जगत् में दीखता है तो कारण जो पूर्वजन्म का कर्म है, सो क्यों नहीं ? पुरानी और नई शिक्षा वा सिद्धान्त की बात दृष्टान्त के लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि वह सर्वथा सत्य नहीं। और जिनको आप सुशिक्षित कहते है, उन जातियों में से कोई मनुष्य अर्थात् दार्शनिक वा विचारक बन्दर से मनुष्य का होना मानता है यह सर्वथा मिथ्या है।

ये वेद की ही बातें हैं कि वेदी का बनाना। इब्राहीम को ईश्वर ने कहा कि इससे मैं प्रसन्न होता हूँ, तुम यज्ञ किया करो। इत्यादि वेदों की बातें बाइबिल में मौजूद हैं। और ईसा ने साक्षी दी है कि इसका एक बिन्दु भी झूठ नहीं है।

इसलिये और भी एक प्रमाण देता हूँ कि आजकल मोक्षमूलर (व्याख्याता) अपने ग्रन्थों में लिखते हैं कि ऋग्वेद से पहले की कोई भी पुस्तक संसार में नहीं है। अब मैं सैकड़ों साक्षियाँ दे सकता हूँ कि बाइबिल इन-इण्डिया के बनाने वाले इत्यादि और आजकल के सैकड़ों विचारकों की वाणी से मैंने सुना है कि बाइबिल वा इञ्जील को नहीं मानते। और कर्नल अल्काट इत्यादि ने भी बाइबिल की शिक्षा को सर्वथा त्याग दिया है। और हमारे आर्य लोग—एफ० ए०, बी० ए०, एम० ए०, एल० डी०, लाखों लोग बाईबिल को सर्वथा नहीं मानते और वे सभी सुशिक्षित हैं। अस्तु; पादरी साहेब का यह कथन पर्याप्त नहीं है। परमेश्वर का पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि वह अनन्त और सर्वव्यापक है। वह शरीर में नहीं आ सकता। वह तो नित्य मुक्त है। बन्धन का काम कभी नहीं करता। **हस्ताक्षर—स्वामी-दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी स्काट साहब—

पण्डित जी का पक्ष, बालक के उदाहरण से कि वह किसी बात को याद नहीं रखता, जो कि बचपन में हुई हो, मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिये कि बच्चे कुछ न कुछ तो याद रख ही लेते हैं। और फिर यह भी प्रश्न होता है कि जब हमारे आत्मा अनादि काल से हैं, तब तो हम भी बच्चे की अपेक्षा से कुछ

बढ गये हैं। हमें कुछ न कुछ तो वृत्तान्त ज्ञात होने ही चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस युक्ति पर विचार कीजिये।

यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि हम अनादिकाल से चले आ रहे हैं। और जन्म ग्रहण करके यदि सब बातें भूल गये हैं, तब तो जन्म धारण करने का दण्डग्रहण करने का भी कुछ अर्थ न निकला। और नींद का जो वर्णन किया गया, सो इस उत्तर से सिद्ध होता है कि नींद की बात भी याद रहती है। कतिपय तो नींद के समय बड़े उत्तमोत्तम विचार प्रकट करते हैं। यहां पर मैं एक पुष्ट प्रश्न और करना चाहता हूं। वह यह कि इस शिक्षा से संसार में पाप को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। क्योंकि लोग कहते कि जो चाहें सो करें, भोगेंगे तो फिर कभी किसी अन्य योनि में ही। अच्छा जन्म भी कभी होगा। यह भी कहते हैं कि यह परम्परा सदैव चलती रहेगी। क्या करें, हम मानते हैं कि संसार में जो दुःख हैं, उनका कोई न कोई कारण अवश्य है। कभी बुरों को दण्ड के लिये और कभी अच्छों को कि उनको अनेक प्रकार की शिक्षा मिलती है।

कहानी है कि बादशाह का लडका था। पण्डित के पास पढने के लिये भेजा गया। पण्डित ने उसको सब प्रकार से सुशिक्षित करके योग्य बनाया। फिर बादशाह के पास लाया। और उससे कहा कि केवल एक ही काम बाकी है। उसने पूछा कि इस ने कोई अपराध किया। कहा कि नहीं। तब कहा कि मुझे चाबुक देना। और खुद सवार होकर लडके से कहा कि दौडो और उसको खूब मारता गया। फिर बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने कहा कि ऐसा क्यों किया? पण्डित ने कहा इसलिये कि दूसरों पर दया करना सीखे और दयालू व कृपालु बन जाये। सो यह सम्भावना है कि अच्छे मनुष्यों को भी कष्ट भोगना पड़े, किसी अच्छे उद्देश्य के लिये। यह कुछ आवश्यक नहीं है कि पुराने जन्म के कारण से। डारविन साहेब पुनर्जन्म को नहीं मानते। वे केवल यही कहते हैं कि संसार में विकास क्रम से नीची योनियों के प्राणी ऊँची योनियों को प्राप्त हो गये हैं। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई प्राणी जो अब है, वह पहले भी था। कर्नल अल्काट साहेब की जो चर्चा चली है, सो उसका जो पक्ष है, वह सुन लीजिये। तब मालूम होगा कि वे कैसे आदमी हैं?

हस्ताक्षर—टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

लड़के के उदाहरण से मेरा यह अभिप्राय है कि वह जो कुछ सुख-दुःख भोगता है, उसकी स्मृति उसे स्वयमेव नहीं होती, कहीं किसी के कहने से

होती है। और जीव का स्वाभाविक गुण एक-सा रहता है। परन्तु नैमित्तिक गुण घटते-बढ़ते रहते हैं। इसलिये जीव एक से हैं। परन्तु उसके ज्ञान की सामग्री पाँच वर्ष के पश्चात् बढ़ जाती है। अब यदि पादरी साहेब को या मुझको कोई पूछे कि दस वर्ष के पहले किसी से एक दिन भर बातचीत क्या की। क्या वह सम्पूर्ण पदों और अक्षरों सहित याद है ? तो यही कहना पड़ेगा कि ठीक-ठीक याद नहीं है। जब सदा से जीव नहीं आते, तो फिर कहां से हुए ? जेलखाने के कैदियों को यद्यपि सब लोग ठीक-ठीक नहीं जानते, तथापि अनुमान करते हैं कि किसी अपराध के करने से जेलखाने में पड़े हैं। इससे हम कभी भी अपराध न करें। अन्यथा हमारा भी यही हाल होगा। पादरी साहेब मेरे अभिप्राय को नहीं समझे। वह स्वप्न की बात नहीं, सुषुप्ति की बात है कि जिस नींद में कुछ भी स्मरण नहीं रहता। बस नींद में कोई एक भो विचार कोई भी स्मरण नहीं रख सकता। जो पुनर्जन्म को नहीं मानते, उनकी शिक्षा से संसार में पापों की वृद्धि होती है। क्योंकि फिर आगे जन्म लेने की बात तो वे मानते ही नहीं हैं। जो मन में आवे, वही करते हैं और मरने पर व्यर्थ ही हवालाती के समान पड़े रहते हैं। आज मरे ! कयामत तक हवालात में रहे। कचहरी के द्वार बन्द हैं, और खुदा वेकार बैठा है। जो दोजख में गया, वह वहाँ का हो गया। जो जन्नत में गया वह वहाँ का हो गया। और कर्म तो ससीम किये जाते हैं, परन्तु उसका फल असीम प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर बड़ा अन्यायी ठहरता है। और आशावादिता के विना मनुष्य सुधर नहीं सकते। केवल रंज में दुःख का कारण क्या है ? और यदि शिक्षण के लिये उसको कष्ट दिया जाता है, वह सुधार के लिये है। परन्तु उसका फल तो विद्या आदि हैं। और पादरी साहब ने कहा था कि एक स्थान में सदैव सुख-दुःख भोगेंगे, वह स्थान कौन सा है।

हस्ताक्षर—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहब—

कर्नल अल्काट साहेब का एक कागज मेरे पास है कि जिसमें ईसाइयों की, और पादरियों की ईसाई दीन की व्यर्थ ही कठोर भाषा में बहुत बुराई लिखी है। वह इतनी अधिक कठोर है कि मैं किसी बाजारी व बदमाश के लिये भी न बकता। कहते हैं कि ये कठोर और निर्दयी हैं। यह ईसाई दीन संसार में सारी बुराई और खराबी की जड़ है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार से कठोर भाषा का प्रयोग किया गया है। जरा विचार कीजिये कि इस व्यक्ति का हृदय और उसकी बुद्धि किस प्रकार की होगी।

यह बात सिद्ध नहीं होती कि वेद तौरेत की अपेक्षा अधिक पुराना है। इसे

वास्ते कि तौरेत में यज्ञ का वर्णन है और हम दावे से कह सकते हैं कि सर्वप्रथम तौरेत में ही यज्ञ का वर्णन हुआ और वेद वालों ने वहां से ले लिया। दोनों बातों का दोनों में ही वर्णन है। निश्चय से कोई नहीं कह सकता कि किसने किस से ले लिया। और यह कहना कि कुछ गुण स्थायी हैं और कुछ अस्थायी, इसलिये इस जन्म की बातें हमें याद नहीं रहतीं। कुछ गुण तो स्थायी हैं ही। अतः यह अवश्य ही होना चाहिये कि पिछले जन्म की कोई बात तो याद हो। यदि हमारी और पण्डित जी की बातचीत इस वर्ष कहीं हुई हो, तो कुछ बातें तो अवश्य ही याद रहती हैं।

निद्रा का उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि कभी-कभी नींद में बात याद नहीं रहती और कभी-कभी याद रहती भी है। जेलखाने का उदाहरण भी पूरा ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें दण्ड का केवल एक ही अभिप्राय प्रकट होता है। दण्ड के दो अभिप्राय हैं। एक तो दण्डित व्यक्ति का सुधार और दूसरे देखने वालों को शिक्षा। परन्तु इस पुनर्जन्म में तो केवल देखने वालों को शिक्षा की ही कुछ व्यवस्था मानी जा सकती है। यह नहीं कि उसे यह दण्ड क्यों मिला है ?

रहा यह प्रश्न कि आत्माएँ [रूहें] कहाँ से आई ? शिक्षित जातियों में आज कल यह सिद्धान्त है कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होते हैं, और कोई भी यह नहीं कहता कि पहले वृक्ष हुआ, अथवा पहले बीज हुआ है। इसी प्रकार रूह से शरीर और शरीर से रूह उत्पन्न होते हैं। तथापि यह बात हमारे लिये बुद्धिगम्य नहीं है कि ऐसा किस प्रकार होता है ? परन्तु ऐसा नहीं है कि जो रूह अब मौजूद है, वह पहले किसी अन्य शरीर में थी। वह अभी पैदा हुई है और जब यहां से जावेगी, तो उसका यथोचित न्याय होगा, कर्मानुसार। इससे परमेश्वर अन्यायी नहीं है, अपितु इससे भी परमेश्वर का न्याय सिद्ध होता है। यह कहना कि रूह सदा कहां रहती है ? हम यह नहीं कहते कि हम परोक्ष की बातें जानने वाले हैं कि सुख वा दुःख के स्थान बतावें। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह रूह को सभी स्थानों पर सुख अथवा दुःख दे सकता है। हमारा जानना या न जानना क्या हुआ !

हस्ताक्षर—टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी-दयानन्द सरस्वती जी—

जो कर्नल अलकाट साहेब के विषय में पादरी साहेब ने कहा कि वह अच्छा मनुष्य नहीं है, सो मैं ठीक नहीं मान सकता। क्योंकि जिनका जिनसे विरोध होता है, वे उनके विषय में उलटा सूधा कहा ही करते हैं। वेद तौरेत की अपेक्षा

बहुत पुराना है। और जिसकी बात पूरी से अधूरी दूसरी में लिखी हो तो दूसरी ही पुस्तक बाद की होती है। बालकपन में नैमित्तिक गुण-कर्म थे और स्वाभाविक गुण एक से हर समय रहते हैं। इस बात को पादरी साहेब ठीक-ठीक नहीं समझे। जो कि आग के संयोग से जल में उष्णता आती है, वह नैमित्तक और जो आग में उष्णता आती वा दाहकता है, वह स्वाभाविक है। जो-जो जीव के स्वाभाविक गुण हैं, वे न्यूनाधिक कभी नहीं होते।

और पादरी साहेब ने कहा कि जेलखाने के कैदियों को देखकर देखने वालों को भय होता है कि मैं ऐसा कर्म न करूँ। परन्तु जिसको दण्ड पूर्व जन्म के कर्मों का मिलता है, उसको याद ही नहीं। जैसे और लोग कार्य-कारण को जानते हैं, क्या वे न जानेंगे कि दण्ड अवश्य ही कर्मों का होता है।

एक वैद्य को ज्वर आया और एक मूढ़-गंवार को भी। वैद्य ने अपनी विद्या के प्रभाव से ज्वर के कारण को जान लिया कि अमुक कारण है। परंतु उस गंवार ने न जाना। फिर भी ज्वर का कष्ट तो दोनों ही अनुभव करते हैं। फिर भी गंवार इतना अवश्य ही जानता है कि कोई न कोई बदपरहेजी हुई है और इसीलिये यह ज्वर आया है। इससे उसे दण्ड द्वारा सुधारने का फल प्राप्त होता है कि जो मैं बुरा काम करूँगा, तो बुरा फल जैसा कि उसको है, मुझे भी प्राप्त होगा।

जब जीव से शरीर और शरीर से जीव पैदा होते है, तो आपका बनाने वाला परमेश्वर नहीं। इससे आपका कथन ठीक नहीं रहा। और आपके कथनानुसार जो जीव प्रथम-प्रथम उत्पन्न हुए, वे किन शरीरों से हुए ? जो कहें परमेश्वर भी आदमी, घोड़ और बृक्ष तथा पत्थर के समान हुआ। क्योंकि जिसका कार्य जैसा होता है, उसका कारण भी वैसा ही होना है। और जीवों को मध्य में हवालातियों के समान दौरासुपुर्द करना—बहुत दिन तक कि जो दण्ड से भी भारी है, फिर उसको स्वर्ग मान के किन कर्मों से मिल सकता है ? कोई भी नहीं। जब आप सर्वज्ञ नहीं हैं, तो फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता। इससे आपका एक जन्म सिद्ध नहीं हुआ और पुनर्जन्म सिद्ध हो गया।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

विषय—ईश्वर देह धारण करता है

तारीख २६ अगस्त, सन् १८७९

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

आज का सवाल यह है कि परमेश्वर देह धारण करता है, अर्थात् साकार

हो सकता है या नहीं। उचित यह है कि इस विषय में अत्यन्त सावधानी से और गम्भीरता पूर्वक विचार विमर्श और प्रश्नोत्तर किया जावे। जब उस सर्वेश्वर के विषय में वार्तालाप हो तो मनुष्य को चाहिये कि बहुत सोच समझ कर गम्भीरता के साथ बोले। इस विषय में अहंकार और अभिमान की कुछ भी गुञ्जाइश नहीं है। किसी को भी ऐसा घमण्ड नहीं करना चाहिये कि हम ईश्वर के विषय में सब कुछ जानते हैं। कवि का कथन है—

अर्श से ले फर्श तक, जिसका कि यह सामान है।
हिम्द उसकी गर लिखा, चाहूँ तो क्या अमकान है ॥*
जब पैगम्बर ने कहा हो, मैंने पहिचाना नहीं।
फिर कोई दावा करे, उसका बड़ा नादान है ॥

विचार कीजिये कि ईश्वर की अनादिता के विषय में क्या हम जानते है? सो इसी प्रकार हम सर्वशक्तिमान् के विषय में क्या जानते हैं? वह सर्वव्यापक अर्थात् प्रत्येक स्थान पर मोजूद है, उसके विषय में हम क्या जानते हैं? हाँ, इन शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ हम जानते हैं। परन्तु यह कथन तो मूर्खों का ही है कि ईश्वर के विषय में हम सब कुछ जानते हैं। आज के वार्तालाप में दो प्रश्न ये हैं—कि क्या ईश्वर देह धारण कर सकता है? दूसरे यह कि ऐसा कभी हुआ है कि नहीं। विशेष रूप से पहली बात का ही विचार इस समय है। पहले प्रश्न का भाव यह है कि क्या यह सम्भव है कि ईश्वर अपने आपको कभी सदेह रूप में प्रकट करे? ध्यान दीजिये। यह भाव कदापि नहीं है कि ईश्वर सदेह बन जाये। प्रथम पक्ष यह है कि देह धारण करने की सम्भावना है। आत्मा और परमात्मा (इन्सानी रूप और इलाही रूप) बहुत-सी बातों में समान हैं। अपितु यह कहना चाहिये कि दोनों की एक ही जाति है, क्योंकि ईश्वर की वाणी में लिखा है कि—'खुदा ने इन्सान को अपनी सूरत पर बनाया।' यह नहीं कि शारीरिक रूप में अपने जैसा बनाया, अपितु भाव यह है कि आध्यात्मिक रूप में। अर्थात् बहुत से गुण-कर्म और स्वभाव, जो ईश्वर में हैं, वे ही मनुष्य में भी हैं। अर्थात् दया, न्याय तथा और भी अनेक प्रकार की धार्मिक विशेषताएँ। इस कारण ईश्वर के साथ मनुष्य मेल कर सकता है। ऐसी अवस्था में हम लोग जो कि स्वयं सशरीर हैं, क्यों अहंकार करें कि ईश्वर

---

* आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह नाना प्रकार का जड़-जंगम-स्वरूप संसार, जिसका है, मैं यदि उसकी महिमा का गान करना भी चाहूँ तो कैसे करूँ। उसके गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ तो अनन्त हैं। और मेरी सामर्थ्य बहुत ही अल्प है।
—अनुवादक

साकार न हो। यदि उसकी इच्छा हो कि वह सदेह रूप में प्रकट हो, तो क्या बाधा है। —हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

जो पादरी साहब ने कहा, उसकी परीक्षा हम नहीं कर सकते। इस पर सवाल यह है कि सर्वथा नही कर सकते या कुछ-कुछ कर सकते है। वैसे सर्वव्यापक के विषय में कुछ जानते हैं, या नहीं ? और जो कुछ जानते हैं, तो कितना ? जो किसी का कहना हो कि मैं ईश्वर को जानता हूं तो वह मूर्ख है और जो यह पादरी साहेब का कहना है, तो कुछ उसके जानने मे वश नहो रहा। और पादरी साहब अपने पहले कथन के विरुद्ध बोले है। वह यह है कि ईश्वर देह धारण करता है। कर सकता है, या नही एसा नहीं। लकिन देह धारण करता है।

यहां प्रश्न होता है कि उसको क्या आवश्यकता देह धारण करने की है ? दूसरे उसकी इच्छा में कोई बन्धन है, या नही ? तीसरे, वह निराकार है या साकार ? चौथे, वह सर्वव्यापक है या एक देशी ?

जीव और ईश्वर के गुण दया आदि क्या ठीक-ठीक मिलते हैं, या नहीं ? बहुत से जीवो मे भी दया देखने में आती है।

प्रश्न—वे दोनों एक हैं। तो दोनों ही खुदा हैं। इसका क्या उत्तर है ? आध्यात्मिक पक्ष में जो परमेश्वर देहधारी होता है, तब वह सम्पूर्ण ही देह में आ जाता है, या टुकड़े-टुकड़े होकर आता है ? यदि टुकड़े होकर आता है तो नाश वाला हुआ। और जो वह सम्पूर्ण आ जाता है तो शरीर से छोटा हुआ। फिर तो ईश्वर ही नहीं हो सकता।

जीव तथा ईश्वर में कुछ भी भेद नहीं आ सकता। और यदि वह एकदेशी है तो एक स्थान पर रहता है या घूमता फिरता है। यदि कहो कि एक स्थान पर रहता है तो उसको सब स्थानो की खबर रहना असम्भव है। और जो घूमता फिरता है तो कहीं अटक भी जाता होगा, और धक्का और शस्त्र भी लगता होगा। जब परमेश्वर सृष्टि करता है, तब निराकार स्वरूप से या साकार से ? जो कहो निराकार स्वरूप से, तो ठीक है। और जो कहो कि देहधारी होकर तो उसका सृष्टि रचना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि त्रसरेणु आदि पदार्थ सृष्टि का कारण रूप, उसके वश में कभी नहीं आ सकते हैं।

—हस्ताक्षर स्वामी-दयानन्द सरस्वती

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

हम नहीं कहते हैं कि ईश्वर को सर्वथा जान ही नहीं सकते। लेकिन तो

भी बहुत बातें हैं, जो हम सर्वथा नहीं जान सकते। सर्वव्यापक के विषय में यह सिद्धान्त है कि वह ऐसा है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि इसका पूर्ण अभिप्राय हमको मालूम है। यह तो कह सकते हैं कि ईश्वर ने देह धारण किया। परन्तु उसका अपने आप का देह में धारण करना एक रहस्य है। अपितु हमारे आत्मा का विषय भी शरीर के साथ रहस्यमय है। रहा यह प्रश्न कि ईश्वर की इच्छा में बन्धन है या नहीं। पण्डित जी इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की कृपा करें। मैं कहता हूं कि परमात्मा अर्थात् खुदा की रूह और इन्सान की रूह सर्वथा एक जैसी हो नहीं हैं। एक ससीम है और दूसरी असीम। इसलिए दो खुदा नहीं हैं। इनमें एक रचने वाला है और दूसरी रचा गया है। परन्तु ईश्वर की इच्छा हुई और उसने इन्सान को अपने जैसा ही बनाया है।

रहा यह प्रश्न कि ईश्वर सम्पूर्ण देह में आ जाता है, हां आ जाता है। मगर तो भी बाहर भी रहा। वह सर्वव्यापक है, तो उस देह के अन्दर क्यों नहीं है? हम यह नहीं कहते कि केवल शरीर में ही है, और कहीं नहीं है। विचार कोजिये कि इस कमरे के अन्दर वह सर्वशक्तिमान् इस समय मौजूद है। वह अनादि परमेश्वर इस समय मौजूद है। अर्थात् ईश्वर अपने सब गुणों सहित इस समय इस कमरे में मौजूद है। इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता तो इसमें क्या कठिनाई है? यदि उसकी इच्छा यूं ही हुई कि अपने आप को एक शरीर में प्रकट करे। यह असम्भव नहीं है। उसकी इच्छा है। जब भी आवश्यकता हो। अपनी लाचारी से नहीं करता; अपितु हम लोगों के लिये, क्योंकि हमारी बुद्धि यदि बहकाना जानती है तो आगे चलकर हम देख लेंगे कि कोई उचित कारण है अथवा नहीं कि परमेश्वर देह धारण करे। यदि कोई कहे कि देह धारण करना, उसकी महिमा के विरुद्ध है तो यह भ्रान्तिपूर्ण है। यह किस बात में उसकी महिमा के प्रतिकूल है? देह में कुछ त्रुटि है या कुछ अपवित्र है? अथवा कोई अशुद्ध वस्तु है कि ईश्वर उससे घृणा करे। देह को किसने बनाया है? क्या वह अब सर्वव्यापक नहीं है? अर्थात क्या वह अब भी प्रत्येक देह में वर्तमान नहीं है? —हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

पदारी साहेब ने मेरे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिये। जब वह सर्वव्यापक है तो एक देह में आना या एक देह से निकलना सर्वथा असम्भव है। ईश्वर ने देह धारण किया, इस की क्या आवश्यकता है, यह मैंने पूछा था। इसका कुछ उत्तर नहीं दिया और इसका भी कुछ जवाब नहीं दिया कि ईश्वर और जीव आध्यात्मिक रूप में सर्वथा समान हैं अथवा उनमें भिन्नता है। पादरी

साहेब पहले कह चुके हैं कि इन्सान की देह अपने शरीर में बनाई। इसके विरुद्ध पीछे कहा कि वे पृथक-पृथक हैं, एक नहीं। मुझसे पूछा कि पण्डित जी इसका स्पष्टीकरण करें। मैं पादरी साहेब के अभिप्राय का स्पष्टीकरण क्यों करूं? यह तो वे ही स्वयं बतावें। यह मैं भी जानता हूँ कि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस कारण से वह अवतार धारण नहीं कर सकता क्योंकि क्या पहले वह उसमें न था? या उसमें एक था? अब दूसरा, तीसरा इससे उसमें हजारों घुस गये? जब वह असीम था तो ससीम शरीर में देह धारण करना सर्वथा झूठ। और जो पादरी साहेब ने कहा कि उसने मनुष्य की रूह अपने स्वरूप में बनाई, तो मैं पूछता हूँ कि बन्दर किसके स्वरूप में बनाये? क्या बन्दरों का खुदा कोई दूसरा है? इस प्रकार से तो हाथी, घोड़े आदि सब के ही खुदा जुदा-जुदा हो जायेंगे।

जब सर्वव्यापक है तो उसने देह धारण नही किया। अपितु उसने तो संसार का अणु-अणु धारण कर रखा है। पादरी साहेब का यह कहना कि वह देह धरण करता है सर्वथा मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। क्या वह पहले धारण नही करता था? क्या सर्वशक्तिमान परमात्मा अपनी इच्छा से देह धारण करता है? यदि हां, तो मैं पूछता हूँ कि वह अपनी इच्छा से देह छोड़ भी देता होगा, क्योंकि जो कोई पकड़ेगा, वह कभी न कभी अवश्य ही छोड़ेगा। और वह कभी अपने आपको मारने की भी शक्ति रखता है वा नही? तब तो वह आपके कथनानुसार सर्वशक्तिमान भी न रहेगा। जैसे अविद्या आदि और अन्याय करने आदि का उसका स्वभाव ही नहीं है, सो यह ही उसके जन्म और मरण में भी प्रतिबन्धक है। क्योंकि वह अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य चरितार्थ नहीं कर सकता। **—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

मेरा प्रश्न यह ही है कि क्या पण्डित जी का यह अभिप्राय है कि अब परमेश्वर देहधारी है? क्योंकि उनकी युक्ति से प्रतीत होता है। वह यह दावा करते हैं कि परमेश्वर अब देह में है। अब जो ये सूरतें सब दृष्टिगोचर होती है, सब उसका देह ही हैं। यदि ऐसा है, तब तो मेरा दावा सिद्ध ही हो गया। अब उसमें बाकी ही क्या रहा? देह धारण करने का क्या अर्थ है? इस वार्तालाप में, मैंने, जो देह, पशु, पत्थर इत्यादि हैं, अनादि काल से है। परमेश्वर सर्वव्यापक तो है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार से देहधारी है। जैसे जब कोई कहे कि अमुक व्यक्ति परमेश्वर का अवतार है तो पण्डित जी इसमें झगड़ा क्यों करते हैं? देह धारण करने का अर्थ कौन नही जानता? और यह कहना कि इस विशेष अर्थ में ईश्वर के देहधारी होकर आने जाने का कुछ

कथन नहीं है। अपितु केवल यही अर्थ है वह हमारे लिये शरीर में प्रकट हुआ। जब वह शरीर लुप्त हो जाता है, तब भी ईश्वर वहां वर्त्तमान रहता है। परन्तु वह ईश्वर की आत्मा उस समय भी उस शरीर में हैवानी आत्मा नहीं है। अभी रूह इस शरीर में प्रकट हुई। यह कोई आने या जाने का मामला ही नहीं है। मैंने साफ-साफ कहा है कि जो मनुष्य का आत्मा ईश्वर के आत्मा के समान है परन्तु है सर्वथा भिन्न। बन्दर की स्थिति और है। उसका चचा करने की यहां क्या आवश्यकता है ? रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने बन्दर का किसक स्वरूप पर बनाया। सो जैसी उसकी इच्छा हुई, वैसा उसने बनाया अर्थात् बन्दर की सूरत, और गीदड़ की सूरत और बैल की सूरत और इन्सान का अपनी सूरत में। तब इसमें आक्षेप की क्या बात है ?

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने क्यों देह धारण की ? इसका उत्तर देता हूँ। उसकी सम्भावना का होना तो कुछ असम्भव नहीं है। मकान के उदाहरण को स्मरण कीजिए और यह भी कि देह धारण करने का अर्थ यह है कि अपने आप को एक देह में प्रकट करना। यदि इस घटना अथवा गति को आप समझ सकें तो समझिये। हम डरते नहीं कि यह कहने लगें कि ईश्वर के गुण तो गति करते ही नहीं हैं तो क्या वह जड़ पत्थर है ? अथवा निर्गुण है ? उसका आना जाना कुछ न हुआ। जीना मरना कुछ न हुआ। केवल मनुष्य की अल्प सामर्थ्य के कारण अवतार होना अर्थात् देह धारण करना। देह धारण करने में लाभ यह है कि मनुष्य के लिए किसी पूर्ण गुरु, पथ-प्रदर्शक और आदर्श की जरूरत है। जब गुरु पूर्ण और आदर्श भी सर्वथा दोष रहित हो, तभी मनुष्य उन्नति करता है। अन्यथा जैसी चाहिए, वैसी उन्नति नहीं करता, क्योंकि उन्नति का साधन वा माध्यम अच्छा नहीं होता।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

जो पादरी साहेब ने कहा कि पण्डित जी के दावे ने मेरे दावे को साबित किया। यह गलत है क्योंकि देह धारण करता है, इसका अर्थ यह है कि पहले वह देह में नहीं था। इस कथन ने तो पादरी साहेब के दावे को ही खारिज किया है, न कि साबित।

जो कि सर्वव्यापक है वह देह धारण करता है, या करे, या छोड़, यह कहना सर्वथा असम्भव है। और जब वह सर्वव्यापक है, तब देह धारण करने को कहाँ से आया ? क्या ऊपर या नीचे से अथवा बाहिर या बगल से। जो कहें कि किसी तरफ से आया तो फिर तो वह सर्वव्यापक न हुआ। और जो कहें

कि सर्वव्यापक है तो कहीं से आना साबित नहीं हो सकता। जाहिर होने में मैं पादरी साहेब से पूछता हूँ कि क्या पहले गुम थाकि आँख से नहीं दीखा। जाहिर होने में दीख पड़ा। क्या रूह आँख से देखने का विषय है? जो कहें नहीं तो फिर जाहिर होने का क्या अर्थ है? जैसे साँप बिल में से निकल कर जाहिर होकर फिर गुम हो जावे?

वैसे ही मैंने पूछा था कि बन्दर को किस की सूरत में बनाया? उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। क्या बन्दर और आदमी आदि का बनाने वाला एक ही खुदा है, अथवा दो जुदा-जुदा हैं?

जब उसके देह धारण करने में पादरी साहेब कुछ विशेष मामला नहीं दिखला सकते तो बस, पादरी साहेब का तो मामला हो खारिज हो गया। जो पादरी साहेब ने कहा कि परमेश्वर के गुण गति करते हैं, यह सर्वथा झूठी बात है क्योंकि वह गुण है, द्रव्य नहीं। गतिशील द्रव्य होता है, गुण नहीं।

जो पादरी साहेव कहें कि देह धारण करना जरूर है, तब तो उसकी जरूरत की बात भी ठीक-ठीक अवश्य ही बतलावे। और जो यह कहा कि मनुष्य की उन्नति के लिए देह धारण करता है, तब तो पहले कहे हुए सभी दोष पादरी साहेब के कथन में आते हैं और मैं पूछता हू कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक क्या अपनी सामर्थ्य से जीवों की उन्नति नहीं करा सकता? जो कहे कि करा सकता है तो देहधारण करना व्यर्थ हुआ। जो कहें कि करा नहीं सकता तो सर्वशक्तिमान् नहीं रहा। और जो मैंने दोष दिये थे कि पादरी साहेब के कथनानुसार देह धारण करने पर तो परमाणु आदि को अपनी पकड़ में लाने का सामर्थ्य ही उसमें नहीं हो सकता। इतने दोष मौजूद रहे।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

प्रत्येक बात में यह कहना कि यह झूठ है। सो शिष्टाचार के कुछ प्रतिकूल प्रतीत होता है क्योंकि झूठ बेईमानी और फरेब है। और भी बहुत सी मिथ्या बातें हैं, जिनको कि झूठ कहना जरा शिष्टाचार विरुद्ध प्रतीत होता है। ईश्वर तो बन्दर की देह में सर्वव्यापक के रूप में है। परन्तु कोई उसको गीदड़ बता दे, वैसे ही कोई उसको बन्दर बता दे। परन्तु हां अद्वैतवादी ही कहेंगे। परन्तु पण्डित जी तो द्वैतवादी हैं। यह मैं पूछता हूँ पण्डित जी से कि परमेश्वर के अतिरिक्त और भी कोई पदार्थ है वा नहीं? संसार में नहीं, परन्तु जब ईश्वर का कोई खास अवतार हो तो उस देह में वह सर्वव्यापक है। परमेश्वर के सिवा और कोई जीव उसमें नहीं। उसको अवतार कहते हैं। कुछ आने जाने का यह मामला नहीं

है। कोई स्याही ऐसी होती है कि जब उससे लिखते हैं तो कुछ नजर नहीं आता। परन्तु वह लिखाई मौजूद होती है या नहीं। स्याही मौजूद है, अक्षर मौजूद हैं, उनको जरा आग के सामने दिखाओ तो कुल लिखाई नजर आती है। पहले भी मौजूद तो थी परन्तु नजर नहीं आती थी। इसी प्रकार परमेश्वर का नजर न आना, कुछ आने जाने का मामला नहीं है। उसने अपने आपको केवल हमारी कमजोरी के वास्ते इस शरीर में प्रकट किया है। वह कहीं गुम नहीं था। कहीं से आया नहीं। फिर इस विषय में मैं यह कथन करूंगा कि गुण का गति करना, यह है कि वह कार्य का रूप धारण करे उपयोग में आवे। जैसे कि प्रेम और दया का रखना और न्याय करना।

और यह कहना कि देह धारण करने से परमेश्वर की लाचारी मालूम होती है, भ्रान्तिपूर्ण है। पण्डित जी का सिद्धान्त है कि जन्म लेने से मनुष्य सुधर जाता है तो इसमें भी परमेश्वर लाचार है या उसकी इच्छा है। यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तब तो ऐसा नहीं कहना चाहिए कि लाचार है, पण्डित जी के कथानुसार। और यदि उसकी इच्छा है तो अपनी इच्छा से वह जानता है कि मनुष्य के विषय में कौन सा उपाय उत्तम है परन्तु कुछ-कुछ बातों के विषय में हम मानते हैं कि परमेश्वर लाचार है।

ध्यान दीजिए—यदि वह सर्वशक्तिमान् है तो एकदम ही रूह को पवित्र क्यों नहीं कर देता? क्यों मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देता है। विचार करना चाहिए कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। और खुदा उसके विषय में बलात्कार नहीं करता है। खुदा चाहता तो है कि वह सुधर जावे परन्तु उसका सुधारना केवल खुदा के वश में नहीं है। खुदा ने इन्सान को ऐसा ही बनाया है और कर्म करने में स्वतन्त्र होना यह मनुष्य के महत्त्व का सूचक है। तो इससे वह अपनी बहुत बड़ी हानि भी कर सकता है। ईश्वर ने उचित यही समझा कि मनुष्य को सुधारने के लिए पूर्ण आदर्श नमूने के तौर पर उसको दिखावे। खुदा के गुम होने से नहीं, अपितु इन्सान के गुम होने से। और बातों को छोड़कर आगे चलकर अधिक निवेदन करूंगा।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

जो पादरी साहेब ने शिष्टाचार के विषय में कहा, सो ठीक है परन्तु सत्य के कहने में अशिष्टता कभी नहीं हो सकती। अशिष्टता तो झूठ के कहने में होती है। और जो पादरी साहेब ने मुझे द्वैतवादी बताया, सो ठीक नहीं है। मैं अद्वैतवादी हूँ, क्योंकि मैं ईश्वर को एक मानता हूँ। जो पादरी साहेब

ने कहा कि बन्दर और गीदड़ आदि के शरीर में ईश्वर के सर्वव्यापक होने से बन्दर और गीदड़ नहीं कहा जा सकता तो आदमी के शरीर में व्यापक होने से आदमी भी उसे नहीं कहना चाहिए। और कहा कि शरीर में ईश्वर ने अवतार लिया। उसमें दूसरा जीव नहीं था तो मैं पूछता हूं कि उसमें पहले ईश्वर था कि नहीं? जो कहें कि था तो उसका आना-जाना असम्भव है। और जो कहें कि नहीं था तो उसका सर्वव्यापक होना नहीं हो सकता।

जो मैंने जाहिर होने के विषय में पूछा था, उसका ठीक-ठीक उत्तर पादरी साहेब ने नहीं दिया। गोलाकार कर गये। जो ईश्वर दृश्य नही तो उसको जाहिर होना कहना व्यर्थ है। और जो कहें कि दृश्य है तो सर्वव्यापक नही। और जो पादरी साहेब ने कहा कि हमारी कमजोरी के कारण वह अवतार लेता है तो हमारी कमजोरी के कारण ही क्या वह सर्वव्यापक हमारा काम नही कर सकता? जो कहें कि नही कर सकता, तो इसमें क्या युक्ति है? और फिर वह सर्वशक्तिमान् भी नही रहता। और जो कहें कि कर सकता है तो जन्म धारण करना ही व्यर्थ हो जाता है।

और जो कहा कि प्रीति का रखना, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ प्रीति गुण और प्रीति करने वाला चेतन द्रव्य है। इसलिए पादरी साहेब का कहना ठीक नही है। परमेश्वर अपने स्वाभाविक गुण के अनुकूल काम करने में लाचार कभी नहीं है। परन्तु अवतार के धारण करने में तो लाचार हा मानना होगा। जैसे कि पादरी साहेब ने कहा कि वह आदमी को नहीं सुधार सकता। अब मैं पूछता हूं कि सर्वशक्तिमान् का क्या अर्थ है? पादरी साहेब क्या चाहते है? जैसे पादरी साहेब ने कहा कि कुछ बातों में लाचार है, वैसे ही अवतार लेने में भी लाचार है, क्योंकि सर्वव्यापक का आना-जाना प्रकट करना सर्वथा असम्भव है। जब वह दुःख नाश नहीं करता तो पादरी साहेब के कहने से ही पादरी साहेब की बात कट जाती है। जो कि कहते हैं कि अवतार लेकर मनुष्यों का दुःख काटता है। और जो कहा कि दुःख क्यों देता है? इसका उत्तर यह है कि यह न्यायाधीश है। जीवों के जैसे पाप-पुण्य होते हैं, वैसा ही उनका फल देना अवश्य है क्योंकि वह सच्चा न्यायकारी है।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

द्वैतवादी वे होते हैं जो कि दो पदार्थ मानते हैं। एक तो ईश्वर और दूसरे ईश्वर से भिन्न यह कार्य जगत्। अद्वैतवादी वे होते हैं, जो कि एक ही पदार्थ ईश्वर को मानते हैं और कुछ नहीं। सो ज्ञात नहीं कि पण्डित जी एक

ही पदार्थ मानते हैं, वा दो। ईश्वर अनदेखा तो है परन्तु जब अपने आप को प्रकट करना चाहता है तो प्रकट कर देता है। शारीरिक अर्थात् शरीर में तो आत्मा से हम आपके शरीर को देखते हैं, आत्मा को नहीं। परन्तु उस प्रकार से होने से ईश्वर का हाल बहुत अधिक जानते हैं। क्योंकि एक नमूना पवित्र और पूर्ण हमारी दृष्टि में होता है। इसलिए ईश्वर का अवतार होता है। ईश्वर ने देख लिया कि मनुष्य के लिए उचित यही है, इसलिए ऐसा ही हुआ और होता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् तो है परन्तु तब भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई बात उसके वश से बाहर नहीं। वह अधर्माचरण नहीं कर सकता। झूठ नहीं बोल सकता। दो और दो को वह पांच नहीं मान सकता। इससे यह नहीं हो सकता कि एक वस्तु हो भी और न भी हो। अर्थात् एक अर्थ से उसकी शक्ति की भी सीमा है।

मैंने यह कहा कि यदि मनुष्य को रोग नहीं है तो ईश्वर उसे सुधार नहीं सकता। सुधार का सर्वोत्तम उपाय यही है कि देह धारण करे और एक पूर्ण आदर्श मनुष्य के सामने प्रस्तुत करे। मनुष्य तो आदर्श को चाहता ही है। संसार में सर्वश्रेष्ठ और पवित्र गुरु कोई नहीं है कि जिसने कभी भी पापाचरण न किया हो। कोई गुरु ऐसा नहीं है जो सब बातों में पूर्ण हो। केवल ईश्वर ही देह धारण करके मनुष्य के सामने ऐसा नमूना पेश कर सकता है। जिससे ठीक-ठीक धर्म का मार्ग प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो सके और वह हर बात में नेकी और पुण्य को जान सके। यह बहुत रहस्य की बात है। कौन नहीं जानता कि मनुष्य अनुकरणप्रिय है। नमूने को देखकर उसके अनुसार कार्य करता है। पाठशालाओं और सेनाओं में देखो और घर में भी देखो, जब नमूना अच्छा है, गुरु पूर्ण है, तब उन्नति भी बहुत अच्छी होती है। क्या यह बात उत्तम और रहस्मयी नहीं है कि ईश्वर देह धारण करके इंसान के लिए एक पूर्ण और पर्याप्त नमूना दिखावे कि जिससे मनुष्य अपनी मोक्ष प्राप्ति में समर्थ हो सके ?

ईश्वर की इच्छा यूं है और यही मेरा भी अभिप्राय है कि खुला करके कह देना कोई अच्छी बात नहीं है। उसमें सावधानता होनी ही चाहिए। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ऐसा किया क्योंकि उसको यही उत्तम प्रतीत हुआ तो फिर हम इसके विरुद्ध क्यों बोलें ?

अब शब्द प्रमाण को लीजिये। इंजील में लिखा है—'आरम्भ में शब्द था और शब्द खुदा के साथ था। और शब्द खुदा था। और शब्द साकार हुआ।'

अर्थात् वही खुदा शरीर धारण करके प्रकट हुआ, यह लिखा है। और जिस किताब में यह लिखा है, ऐसी उत्तम किताब है। और वह अपना प्रमाण कि वह ईश्वर की ओर से है। और जो कुछ कि उसमें लिखा है, वह बुद्धिपूर्वक, तर्कसंगत और प्रमाणयुक्त है। और यह कहा कि बहुत से लोग इसको झूठ समझकर छोड़ देते हैं, जैसा कि वेद को। क्योंकि वह सर्वथा मिथ्या है और उसके समर्थन में कोई भी युक्ति वा प्रमाण नहीं है।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

अद्वैत विशेषण परमेश्वर का है, किसी दूसरे का नहीं। इसके कहने से यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर एक है। जीव अनेक हैं। और जगत् का कारण अनेक प्रकार का है। और जो पादरी साहेब कहें कि ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा और कोई न था तो फिर जीव और यह जगत् कहाँ से आया? जो कहें कि ईश्वर से तो जीव ईश्वर हुआ। जो कहें कि कारण से तो पादरी साहेब को भी कारण मानना पड़ेगा। और यदि जीव की उत्पत्ति मानी जाये, तब तो उसका नाश भी अवश्य ही मानना होगा। यह बात कई बार चली, परन्तु अभी तक ठीक-ठीक उत्तर नही दिया गया कि उसको देह धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? और इसके विना ही वह अपना काम क्यों नहीं कर सकता? इसका कुछ जवाब नहीं हुआ। जब उसकी शक्ति की सीमा है तो फिर ईश्वर की भी सीमा क्यों नहीं है? जो कहें ईश्वर की भी सीमा है तो वह सर्वव्यापक नहीं। और यह बात पादरी साहेब के पहले कथन के भी विरुद्ध होगी। जब परमेश्वर की सब बातों को नहीं जानते तो फिर पादरी साहेब ने ऐसा क्यों कहा था कि ईश्वर अवतार लेता है। और वे अब इस बात में जिद क्यों करते हैं? और जब अवतार लेने से पहले उसे कोई जान ही नहीं सकता तो उसी ने अवतार लिया यह कहना भी व्यर्थ ही है क्योंकि वही पुरुष या पादरी साहेब आज भी हैं, जो कि कल के शास्त्रार्थ में थे। जब कि अवतार होने से पहले कभी देखा या जाना ही नहीं तो फिर उसी ने अवतार लिया है, यह कहना भी तो अनुचित और अयुक्त ही है।

क्या पादरी साहेब ने कभी इस बात पर विचार नहीं किया कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य शरीर आदि भी तो ईश्वरीय शक्ति के ही नमूने हैं। और एक साढे तीन हाथ के शरीर में आकर, खा, पी, बढ़, घट कर मर जाना भी क्या कोई बड़ा नमूना है।

और जो इंजील के लेख की बात कही कि वह शब्द अवतार हुआ। यह

कथन सर्वथा मिथ्या है क्योंकि शब्द गुण होता है और वह द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। ऐसी मिथ्या बात जिस इंजील में लिखी है, वह सत्य कभी नहीं हो सकती और नहीं कभी उत्तम हो सकती है। पादरी साहेब की इंजील में योहन्ना के स्वप्न के प्रकाशित वाक्य की कथा सर्वथा असम्भव है कि जो पोथी के एक बन्धने के खोलने पर उसमें से एक सवार घोड़े सहित निकला। क्या ऐसा कभी हो सकता है ? ऐसी-ऐसी कई झूठ बातें हैं। क्या पादरी साहेब ने ये कभी भी नहीं देखी होंगी फिर भी ऐसी किताब के सत्य होने का दावा करते हैं, सो जिद करने के सिवा और कुछ नहीं है।

इसलिये पादरी साहेब और सब सज्जन पुरुषों को चाहिये कि सब—सर्वथा सत्य, ईश्वरकृत वेदों की शरण लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि अवश्य करें। —हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

योहन्ना के विषय में 'मकाशफात की पुस्तक' में लिखा है। उसके विषय में यदि पण्डित जी की बुद्धि ऐसी ही है तो मैं क्या उत्तर दे सकता हूँ ? ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य से इस सम्पूर्ण सृष्टि को अभाव से भाव रूप में रचा है। उचित यही है कि वह जब भी चाहे इसका नाश कर दे। जब तक यह सृष्टि स्थिर है, तब तक ईश्वर इसमें सर्वव्यापक नहीं है। वह तो इससे पृथक् है। और मैंने बार-बार यह कहा है कि उसने जो अवतार लिया, इसका कारण था। सो आप फिर से पहले लेख को देख लीजिये।

ईश्वर की शक्ति की सीमा यही है कि वह अपने विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। हम दावा करते हैं कि हम सबके शरीर में भी उसका प्रकाश होता है। और सब कामों के लिये उसने एक पूर्ण नमूना भी हमें दिया है। मनुष्य के लिये उसकी महिमा चाँद, सूर्य, सितारे से अधिक है।

शब्द का भाव यह है कि वह ईश्वर को प्रकाशित करने वाला हो। जैसे कि शब्द ही मनुष्य के अर्थ को भी प्रकट करता है। उसी प्रकार मसीह जैसे अवतार ईश्वर की महिमा और अर्थ को प्रकट करते हैं।

अब देखिये कि लोग बाइबिल के विषय में कितने पुरुषार्थी और सावधान हैं। और इस पुस्तक को कैसी दृढ़ता के साथ पकड़े हुए हैं। पच्चीस सोसाइटियाँ हैं, जो कि इसकी छपाई में संलग्न हैं। दो सौ भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। उदाहरण के रूप में दो सोसाइटियों के कार्य को लें। एक वर्ष में इङ्गलिस्तान में एक ने बाईस लाख, छियानवे हजार, एक सौ, तीस प्रतियाँ छपवाईं। और बतलाइये। अमेरिका में एक सोसाइटी में सत्तर

बड़ी-बड़ी मशीनें छापने के लिये हैं। चार सौ कार्यकर्त्ता हैं । उसमें बीस हजार पाँच सौ प्रतियाँ एक ही दिन में तैयार की जाती है। कौन कह सकता है कि इस किताब को नहीं मानते। सो मैंने सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की देह धारण करने की पूर्ण सम्भावना है। ऐसा होना बुद्धि से परे की बात नहीं; अपितु यह युक्तिसंगत और उचित है। उसका बहुत आवश्यक कारण भी मैंने बता दिया और इस पुस्तक का वचन सत्य प्रामाणिक होता है।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

विषय—ईश्वर पाप को क्षमा भी करता है

(ता० २७ अगस्त, सन् १८७९ ई०)

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

मेरा यह दावा नही है कि ईश्वर दण्ड नही देता। दण्ड भी वह अवश्य ही देता है। परन्तु मेरा निवेदन यह है कि वह समय-समय पर, जब भी और जैसा भी उसको उचित प्रतीत होता है, मनुष्य के कल्याण के लिये पाप को क्षमा कर सकता है। जब कोई ईश्वर है, वह सर्वगुण सम्पन्न है और चेतन भी है और भी उसमें अनेक प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव विद्यमान हैं तो यह भी अवश्य ही समझना चाहिये कि वह हम को देखता है। हमारे लिये चिन्तन करता है। हमारा कल्याण चाहता है और हमको सुधारना चाहता है। सो यह दावा कोई अनुचित नहीं है।

बहुत-सी बातों से हमारी ईश्वर से समानता है अर्थात् हम धर्म की बातें जैसे कि न्याय और अन्याय इत्यादि जानते हैं। ईश्वर में अनेक प्रकार की विशेषताएं हैं। जैसा कि न्याय, प्रेम, दया, इत्यादि। सो ये मनुष्य में भी पाई जाती हैं। जब हम इस बात पर विचार करें कि बहुत-सी बातों में हम और ईश्वर एक ही हैं, तब हम ईश्वर की सत्ता को कुछ-कुछ जान सकते हैं। हमें यह भी समझना चाहिये कि ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि हम आपस में रखते हैं अर्थात् ईश्वर हमारा शासक है। वह हम पर शासन करता है। वह हमारा पिता है। उसने हम को उत्पन्न किया है। वही हमारा पालन और संरक्षण करता है।

जब हम इन बातों पर विचार करते हैं, तब हम ईश्वर के विषय में अधिकाधिक बोध प्राप्त करते हैं। और वेदों में तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी पिता तथा शासक आदि के रूप में ईश्वर का उल्लेख किया गया है। अब विचारना चाहिये कि जब सभी धर्म-ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है तो इसमें कुछ न

कुछ बात हमारे समझने-समझाने की भी है। हमें यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार उसके साथ हमारा शासक वा पिता के रूप में सम्बन्ध है, उसी प्रकार वह पिता और शासक के कर्तव्य कर्मों का पालन भी अवश्य ही करता है। अब विचारिये कि पिता और शासक का काम क्या-क्या होता है? इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये दण्ड देने वाले भी होते ही हैं। दण्ड देने का भी एक उत्तम उद्देश्य होता है और वह यह कि दण्ड देकर अपराधी सन्तान वा प्रजा को सुधारा जाये। और इस प्रकार दूसरों को भी शिक्षा मिले। हम और आप यह भी कहते ही हैं कि बदले की भावना से दण्ड न दिया जावे। दण्ड उतना ही दिया जावे, जितना कि आवश्यक हो और शिक्षा-दायक हो। फिर भी यदि पिता वा शासक चाहें तो क्षमा कर दें। और इसी-लिए क्षमा होती है। —**हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

पादरी साहेब का पक्ष यह था कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। क्षमा कर सकता है, ऐसा पक्ष नहीं। फिर पादरी साहेब ने दूसरी प्रकार से क्यों कहा? और यह कहा कि दण्ड भी अवश्य देता है। यह तो परस्पर विरोधी कथन है। क्या आधा दण्ड देता? और क्या आधा क्षमा कर देता है? या कुछ कम-अधिक करता है? जैसे ईश्वर सब बातें जानता है, क्या जीव लोग भी वैसे ही जानते हैं? अथवा कम-अधिक जानते हैं। जैसे हमारे बीच में न्यायाधीश न्याय-कारी होता है और अन्यायकारी भी होता है, क्या ईश्वर भी वैसा ही है? अथवा ईश्वर केवल न्यायकारी है? जो न्यायकारी है तो फिर क्षमा करना कहाँ रहा? क्योंकि न्याय उसका नाम है जिसने जितना जैसा काम किया उसको उतना वैसा ही फल देना।

जो ईश्वर को थोड़ा बहुत कुछ न कुछ जानते हैं तो मैं पूछता हूँ कि ईश्वर की सब ही बातों में ऐसी रीति है, या कुछ कम-अधिक? यह मैं भी मानता हूँ कि ईश्वर के साथ हमारा राजा और पिता का सा संबंध है। परन्तु यह सम्बन्ध क्या अन्याय करने के लिये है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। वेद आदि पुस्तकों में क्षमा करना कहीं नहीं लिखा है। ईश्वर के न्याय करने का क्या अर्थ है? न्यायाधीश सभा आदि के दण्ड और पुरस्कार आदि सुधार के लिये होते हैं अथवा इनका कुछ और अर्थ है? और जो क्षमा करता है तो किस-किस काम पर क्षमा करता है और किस-किस पर नहीं? जब क्षमा करता है तब तो ईश्वर पाप का बढ़ाने वाला होता है, क्योंकि वह जीवों को पाप करने में उत्साहित करता है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसके न्याय

आदि गुण और कर्म भी भूल और भ्रान्ति आदि सब दोषों से रहित हैं। इसलिये जब ईश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य कभी कर ही नहीं सकता तो फिर न्याय के प्रतिकूल क्षमा वह कैसे कर सकता है? और ईश्वर जो दयालु है तो दया का भी वही अर्थ है, जो कि न्याय का है। क्षमा करना दया नहीं है। जैसे कि एक डाकू पर कोई दया करे अर्थात् क्षमा करे तो क्या वह दयालु गिना जा सकता है? कभी नहीं? क्योंकि हजारों जीवों को उसने दुःख दिया है। जब डाकू क्षमा कर दिया जावेगा, तब तो वह बड़े साहस के साथ और भी खूब डाके मारेगा। इसलिये दया का मतलब भी और ही है, जो पादरी साहेब जानते हैं, वह नहीं। —हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

पण्डित जी जल्दी न करें। मेरा मतलब बेईमानी पर कमर बांधने का नहीं है। ईश्वर क्षमा करता है तो उसमें 'सकता या नहीं सकता' का उल्लेख आरम्भ में इस लिये किया गया है कि इस प्रकार की सम्भावना प्रतीत होती है। निस्सन्देह आज का विषय तो यही है कि वह क्षमा करता है। हम यह नहीं कह सकते कि वह कहां तक दण्ड देता है और कहाँ तक क्षमा करता है। यह उसका काम है, हमारा नहीं। परन्तु जब वह सर्वज्ञ है और हम लोगों के समान भूल भी कभी नहीं करता। हम लोग तो अपने कामों में भूल किया ही करते हैं। ईश्वर अपनी अच्छी बातों में, और उसकी सभी बातें अच्छी हैं, भूल कभी नहीं करता ईश्वर तो सब कुछ जानता है। हम वास्तव में कुछ भी नहीं जानते। उसके क्षमा करने में भी अवश्य ही कोई भेद है। क्योंकि क्षमा करना सदा ही एक सूक्ष्म विवेक का कार्य होता है। ईसाई लोग दृढ़तापूर्वक कहा करते हैं कि वह विना किसी सिफ़ारिश के और विना किसी न्याय के क्षमा किया करता है। परन्तु जब वह दयालु है और न्यायकारी भी है तो वह सर्वथा एक ही बात है। अर्थात् दया और न्याय एक ही बात है।

परन्तु जरा न्यायकारी बनकर सोचिए। दया में कुछ न कुछ मतलब ऐसा भी जरूर होगा जो कि न्याय में नहीं है। वेद में यह जरूर लिखा है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

अब में यहाँ पर एक पुस्तक म्यूर साहेब की कि जिसमें लिखा है कि—"अदिति पाप को क्षमा करती है" का प्रमाण देता हूँ। पण्डित जी कहेंगे कि यह अर्थ गलत है। अब अंग्रेजी जानने वालों का यह काम है कि वे म्यूर साहेब की पुस्तक देखकर न्याय करें। मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या क्षमा शब्द का

विचार वेद वालों को कभी भी नहीं सूझा। क्या वे क्षमा का अर्थ नहीं जानते थे। और, क्या क्षमा करना भूल है ?

मैं यह सिद्ध करूंगा कि समय-समय पर क्षमा करना बहुत ही श्रेष्ठ कार्य है। यदि इसे संसार में से हटा दिया जाये तो संसार की अवस्था बहुत ही बिगड़ जायेगी। और यह तो अनुमान से प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि क्षमा से संसार में वहुत अच्छे-अच्छे परिणाम होते हैं। कौन जानता है कि माता-पिता के बीच में और बेटा-बेटी के बीच में क्या वास्ता है और परस्पर एक का दूसरे से तथा मित्र का मित्र से क्या सम्बन्ध है ? यदि इन सबके बीच में क्षमा करने का भाव कभी भी, सर्वथा न आवे तो ये सम्बन्ध जरा भी न चलें।

और यह कहना कि क्षमा करने से पाप बढ़ जाता है तो यह ठीक है। यदि क्षमा सदा ही क्षमा हो, और वह कभी किसी भी रूप में दण्ड न हो। और यह भी ठीक है कि कुछ अवस्था ऐसी भी होती हैं कि जिनमें किसी ो कभी भी क्षमा नहीं करना चाहिये जैसा कि डाकुओं के विषय में। संसार में सभी बातें इस प्रकार की नहीं हैं कि हम क्षमा को संसार से सदा के लिये सर्वथा दूर कर दे। जो अनादि और न्यायकारी है, वह भी जानता है कि कब और किस पर क्षमा और दया आदि का व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये। आगे चलकर मैं यह भी बताऊँगा कि क्षमा करने से पापवासना का अन्त हो जाता है औ साथ ही यह भी कि दण्ड देने से पाप की प्रवृत्ति वढ़ जाती है। और इस प्रकार मनुष्य और भी अधिक निडर तथा बड़ा शैतान बन जाता है। —**हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

जो शास्त्रार्थ का विषय है और जिसको सिद्ध करने की प्रतिज्ञा प्रथम पादरी साहेब ने की थी, उससे दूसरा कथन न्याय-शास्त्र के अनुसार पराजय का सूचक है। इस प्रकार की पराजय को दार्शनिक भाषा में प्रतिज्ञान्तर कहा जाता है। पादरी साहेब ने कहा कि असल विषय वही है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ऐसे अवसर पर पादरी साहेब को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये विशेष बल देना चाहिये था। जब पूर्ण निश्चय से नहीं जानते, तो फिर प्रतिपादन या समर्थन कैसा ? मैं पूछता हूँ कि जितने अंश में क्षमा करना पादरी साहेब मानते हैं, उसको भी ठीक-ठीक जानते हैं या नहीं ? क्या आपके मन में ईश्वर डाकू आदि को क्षमा नहीं करता ? आप डाकू आदि को क्षमा करने का उपदेश नहीं करते ? और यदि ईश्वर किसी के वसीले से क्षमा करता है तब तो वह पराधीन ठहरता है। और यह भी बतायें कि ईश्वर किसके वसीले से क्षमा करता है ? वह वसीला आपका है या किसी दूसरे

का। यदि कहो कि अपने आपका वसीला है तो झूठ है। और यदि कहो कि किसी दूसरे का है, तो फिर ईश्वर स्वतन्त्र नहीं रहा।

और, जो पादरी साहेब ने कहा कि अदिति माता क्षमा करती है, वेद में लिखा है तो मैं पूछता हूँ कि अदिति किसका नाम है? और क्षमा करना तो चारों वेदों में कहीं भी नहीं लिखा। जब क्षमा करना है ही व्यर्थ, तो फिर ऐसी मिथ्या बातों का उपदेश वेदों में क्यों कर हो सकता है?

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी जानने वाले वेदों के सिद्धान्तों का निर्णय करें। यह बात तो ऐसी ही है, जैसे कि कोई संस्कृत पढ़कर, अंग्रेजी के सिद्धान्तों का निर्णय करे।

और जो माता-पिता क्षमा करते हैं, ऐसा पादरी साहेब का कथन है सो वे भी पूर्णतया क्षमा करते हैं, या कुछ-कुछ। जो कहें कि कुछ-कुछ, तब भी ठीक नहीं है। क्योंकि पाप करने से क्या माता-पिता अपने अन्तरात्मा में अपने सन्तान के प्रति प्रसन्न होते हैं? यदि हां, तो फिर वे बालकों की ताड़ना क्यों करते हैं? यही तो दण्ड है। जब बालक कुछ समर्थ हो जाते हैं और पांच वर्ष से बड़े हो जाते हैं, तब माता-पिता बालकों के साधारण पाप वा अपराध भी क्षमा नहीं किया करते। और जो क्षमा करते हैं तो कभी-कभी माता-पिता और संतान में वैर विरोध क्यों होता है? इससे पादरी साहेब का दृष्टान्त गलत ठहरता है। हां यदि सब माता पिता क्षमा करते, तब तो पादरी साहेब का दृष्टान्त भी ठीक होता और कथन भी। आपके मत के अनुसार शैतान ने बहुत से अपराध किये हैं। परन्तु ईश्वर ने उसको आज तक कोई दण्ड दिया कि नहीं? और भविष्य में भी उसको कोई दण्ड देगा या नहीं। जब शैतान को बनाया तब तो वह पवित्र था। फिर जब उसने पाप किया ईश्वर ने उसे क्षमा क्यों नहीं किया? और आगे भी क्षमा करेगा या नहीं। —**हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

हमारे सुयोग्य विद्वान् और प्रिय मित्र स्वामी दयानन्द जी घबरायें नहीं। मैं विषय से बचकर न चलूंगा। परन्तु यह मुझे अधिकार है कि मैं जिस प्रकार भी उचित समझूं, उसी प्रकार अपनी युक्ति का आधार स्थिर करूं। पहले मैं बुद्धि से यह सिद्ध कर रहा हूँ कि क्षमा की संभावना है। फिर आगे चलकर देख लेना, मैं शास्त्रीय प्रमाणों से भी यह सिद्ध करूंगा कि ईश्वर पाप क्षमा करता है। अर्थात् आज का विषय कि ईश्वर पाप क्षमा भी करता है, वह बुद्धि पूर्वक है कि नहीं? और फिर इसका विशेष कथन न करूंगा।

मेरी युक्ति तीन प्रकार की हैं। बुद्धि पूर्वक है, शास्त्र सिद्ध है और अनु-

भव से भी पुष्ट है। वह डाकू का उदाहरण इस प्रकार से है कि अनुशासन को स्थिर रखने के लिये डाकू को क्षमा करना अच्छा नहीं है। परन्तु कौन नहीं जानता कि कभी-कभी डकुओं को क्षमा करने के भी बड़े उत्तम-उत्तम परिणाम निकलते हैं। एक उदाहरण है—

योहन्ना रसूल ने एक आदमी को ईसाई धर्म में दीक्षित किया। वह डाकू था। बाद में वह धर्म से बहिष्कृत किया गया और जंगल में भाग गया तथा बड़े-बड़े डाकुओं का काम करने लगा। योहन्ना उसकी खोज करने जंगल में गया। पहले तो डाकू ने उसे मार डालना चाहा, परन्तु योहन्ना बूढ़ा था। वह उससे न डरा और पास जाकर बोला कि मैं तो बूढ़ा आदमी हूँ, मुझे क्यों मारते हो? डाकू का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने डाकुओं का साथ छोड़ दिया और योहन्ना के साथ चला आया। फिर वही डाकू बहुत उत्साही प्रचारक और साधु पुरुष बन गया। उसने फिर कभी कोई अपराध नहीं किया और अपना जीवन बहुत पवित्रता से व्यतीत किया। डाकुओं आदि के विषय में जब कि मनुष्य भी क्षमा-पूर्ण व्यवहार करते ही हैं, तब यह भी संभावना है कि ईश्वर भी क्षमा कर देता है। और यह पूर्णतया सम्भव है। ईश्वर तो मनोगत बातों को भी जानने वाला है।

ईसाइयों का सिद्धान्त यह है कि यह वसीला, जिससे क्षमा प्राप्त होती है, निष्कलंक अवतार ईसा मसीह का इस संसार में पैदा होना है।

मैं पण्डित जी से पूछता हूँ कि अदिति का क्या अर्थ है? म्यूर साहेब की पुस्तक का जो जिकर मैंने किया है, सो स्वामी जी जल्दी में किसी बात को उल्टी न समझें। मैं कोई मूर्ख नहीं हूँ। म्यूर साहेब की पुस्तक अंग्रेजी में है परन्तु उसमें साथ ही संस्कृत श्लोक भी वेद के भरे हुए हैं। अंग्रेजी जानने वाले सज्जन म्यूर साहेब के प्रमाणों और युक्तियों को अंग्रेजी में भी देख सकते हैं और अपनी संस्कृत में भी समझ सकते हैं।

शैतान का जो हाल है, सो हम नहीं जानते। शायद उसको बीस वार क्षमा मिल चुकी है और अब उसे क्षमा मिलने की कोई आशा नहीं है। फिर भी कौन जानता है। हाँ, इतना हम जानते हैं कि आज शैतान का विषय नहीं है। मैं पण्डित जी से यह पूछता हूँ कि क्या क्षमा कभी भी नहीं होनी चाहिये? क्या मनुष्य के हृदय में क्षमा करने वा क्षमा चाहने का कुछ भी विचार कभी नहीं होता? क्या क्षमा शब्द का संसार में कुछ भी कामनहीं है? पण्डित जी इस बात पर विचार करें।

—ह० पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

मैं कब घबराया हूँ जो आपने कहा कि घबरावें नहीं। जब आपने पहले कहा कि ईश्वर पापों को माफ भी करता है और अब कहा कि कर सकता है, तो क्या ये दोनों परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं और क्या इस प्रकार आप प्रतिज्ञा हानि नहीं कर रहे? तर्क शास्त्र प्रमाण और अनुभव आप्त पुरुषों का ही सत्य होता है। प्रत्येक जनसाधारण का नहीं। जब डाकू का कहीं-कहीं क्षमा करना अच्छा है, तो आजकल की सरकार को भी चाहिये कि किसी अवसर पर डाकुओं को क्षमा करे।

योहन्ना के क्षमा करने से क्या प्रत्येक अपराधी क्षमा के योग्य हुआ। उसने भयवश या किसी स्वार्थवश क्षमा किया होगा। तो क्या उसने यह कोई अच्छा काम किया? और जब तक उसने डाका मारना न छोड़ा था, तब तक अपने साथ क्यों न रखा? और जो कहो कि क्षमा करने से लिया तो यह बात सत्य नहीं है; क्योंकि जब उसने डाके का काम छोड़ दिया और अच्छे काम करके अच्छा आदमी बना, तब साथ रखा। भले और बुरे दोनों प्रकार के कामों का फल ईश्वर यथायोग्य देता है। जब पादरी साहेब का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है, फिर उसके विरुद्ध पादरी साहेब ने कथन् किया कि जब कभी क्षमा करते हैं तो ईश्वर क्षमा नहीं करता। और जब हम क्षमा नही करते तो ईश्वर क्षमा करता है।

पादरी साहेब ने मुझ से अदिति का अर्थ पूछा है। सो पृथिवी, अन्तरिक्ष, माता, पिता और ईश्वर आदि अर्थ हैं। जैसे किसी हल जोतने वाले के सामने या विद्या वाले के सामने रत्नों की या और-और विद्याओं की बात करें तो क्या वह व्यर्थ नहीं है? जो शैतान का पाप क्षमा न किया जायेगा, तब तो शैतान के विषय में आपका सिद्धान्त अटक गया। क्षमा शब्द किसी और मुहावरे के लिये है। दण्ड तो दिया जाता है, परन्तु समर्थ को जैसा दण्ड दिया जाता है, वैसा असमर्थ को नहीं। जैसे कि पागलों को पागलखाने में भेजा जाता है। यदि ईश्वर ईसा के वसीले से क्षमा करता है तो क्या वह खुशामदी नहीं है? क्या आप ईश्वर के सामने भी वकील आदि की आवश्यकता समझते हैं? क्या आप उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् नहीं मानते। और यदि आप ईसा के वसीले से पापों का क्षमा होना मानते हैं तो ईसा ने जो पाप किये, उनको क्षमा करने का वसीला क्या है?

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

अब यहाँ पर कुछ विचार करना उचित है। क्षमा करना और बात है तथा दिल को पवित्र करना और बात है। इसलिये मनुष्य की क्षमा और ईश्वर की क्षमा में बहुत भेद है। जब मनुष्य तोबा करे और उस नियम पर चले जो कि उसके लिये नियत और विहित है, तब ईश्वर उसको क्षमा कर देता है। और उसके हृदय को भी पवित्र कर देता है। और मेरा भाव यह है कि ईश्वर ने किसी को क्षमा किया और उसके हृदय को भी पवित्र किया, इसकी पूर्ण सम्भावना है, परन्तु फिर भी मनुष्य की स्वतन्त्रता और धर्मशास्त्र के कारण नियम के अनुसार वह क्षमा नहीं होता। यह मेरा अभिप्राय है।

और क्षमा का लाभ इसमें प्रतीत होता है कि बीसियों विचारवान् युक्ति-तर्क-विशेषज्ञ भली प्रकार जानते हैं कि क्षमा का परिणाम बहुत उत्तम निकलता है। कोई हठ वा दुराग्रहवश इस सिद्धान्त से इंकार करे तो करे। पण्डित जी का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर किसी को भी विना दण्ड दिये छोड़ता नहीं; परन्तु योहन्ना ने उस डाकू को दण्ड नहीं दिलाया, क्षमा कर दिया। और हमारा यह सिद्धान्त है कि ईश्वर जब भी उसे उचित प्रतीत होता है, क्षमा कर देता है। जैसा कि धर्म-शास्त्र में लिखा है।

पण्डित जी ने अदिति के अर्थ परमेश्वर भी लिखे हैं। और म्यूर साहेब का दावा कि अदिति वेद के प्रमाण से पापों को क्षमा भी कर देती है। यदि शैतान अभी तक माफ नहीं किया गया तो यह किसी प्रकार भी मेरे दावे के विरुद्ध नहीं है क्योंकि आज के विषय में एक शब्द "भी" मौजूद है और यह "भी" अवस्था और परिस्थिति के अनुसार कभी दण्ड और कभी क्षमा इन दोनों को बताता है। पण्डित जी का दावा है कि ईश्वर कभी भी क्षमा नहीं करता, अतः "क्षमा" शब्द को संसार से हटा दो। इसके प्रतिकूल यदि ईश्वर कभी किसी एक पाप को क्षमा भी करता है तो केवल उसी से मेरा पक्ष सिद्ध हो जाता है। मेरा पक्ष यह नहीं है कि ईश्वर क्षमा ही करता है; अपितु यह मेरा पक्ष है कि ईश्वर क्षमा भी करता है। इस "भी" पर विशेष ध्यान दीजिये।

ईसा के वसीले का विषय आज नहीं है। इसलिये इस विषय में मैं आज कुछ नहीं कहता। हमारे लिये आज यह जान लेना ही बहुत है कि किस वसीले से पाप क्षमा होता है। उदाहरण के लिये देखिये, दवाई से दर्द हट जाता है। हम दवाई के विषय में विशेष कुछ नहीं जानते, परन्तु न जानने से क्या भेद पड़ता है? दर्द तो दूर हो ही जाता है। इसी प्रकार क्षमा होने की भी एक शर्त तो है।

अब शास्त्रीय प्रमाण आरम्भ होता है। इसमें मैं अधिक कुछ नहीं लिखता। जो लोग इस विषय में कुछ विशेष जनना चाहें, और प्रमाण पूछें, वे कल की लिखित पर विचार करें, तथा तौरेत में, खरूज की किताब अध्याय चौंतीस आयत आठ और गिनती की किताब अध्याय चौदह आयत अट्ठारह को पढ़ें एवं विचार करें। —हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—

क्षमा करना, पवित्र होना है या नहीं ? क्या क्षमा करना पवित्र होने के लिये है ? जो कहें कि पवित्र होने के लिये तो ठीक नहीं, क्योंकि क्षमा करने से पाप की निवृत्ति संसार में देखने में नहीं आती। और जो अशुद्ध होने के लिये क्षमा होना कहा जाये तब तो क्षमा करना ही सर्वथा व्यर्थ हो जाये। जब हमारे क्षमा करने और ईश्वर के क्षमा करने में भेद है तो आपने पहले क्यों कहा था कि हम भी दयालु हैं और ईश्वर तुल्य हैं। और ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाला योहन्ना मौजूद है तब तो ईश्वर भी खुशामद को पसन्द करने वाला तथा बेसमझ सिद्ध होता है। क्या योहन्ना मनुष्य नहीं था कि जिसने क्षमा किया ? क्या योहन्ना कोई राजा था। वह राजा या ईश्वर नहीं था, यह मैं जानता हूँ।

न्याय दण्ड देने से छोड़ता नहीं है और छोड़ता भी है। यह बात परस्पर विरुद्ध है। जो पादरी साहेब ने यहाँ मनुष्यों के राज के विषय में यह कहा कि कानून की पाबन्दी करनी आवश्यक है, अतः डाकुओं को क्षमा नहीं किया जा सकता तो मैं पूछता हूँ कि क्या ईश्वर के घर में कानून की पाबन्दी नहीं है ? क्या कोई कह सकता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है ? यदि नहीं तो फिर योहन्ना के कहने, फुसलाने और खुशामद करने से वह क्षमा करने को राजी क्यों हो गया ? ऐसी बातों से तो ईश्वर की सर्वज्ञता नष्ट होती है।

और जो पादरी साहेब ने कहा कि ईश्वर कभी दण्ड देता है और कभी क्षमा भी करता है। यह बात ऐसी ही मिथ्या है, जैसे कि अग्नि कभी गर्म होती है और कभी ठण्डी हो जाती है। और जो यह बात कही कि आज ईसा मसीह का विषय नहीं है। सो आपने ही आज ईसा का विषय बीच में छेड़ा है। क्योंकि आपने कहा कि ईश्वर ईसा के वसीले से पापों को क्षमा करता है। यहाँ मैं यह पूछता हूँ कि ईसा जीव था या ईश्वर ? जो कहें कि जीव था तो सभी आदमी जीव हैं। सभी ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाले हुए। फिर आप एकमात्र ईसा का नाम ही क्यों लेते हैं। और जो कहो कि ईसा ईश्वर था तो अपने आप ही वह वसीला अथवा साक्षी कभी नहीं बन सकता। जो कहें कि

उसमें जीव आत्मा और परमात्मा दोनों थे तो दोनों के क्या-क्या काम थे। और दोनों साथ-साथ थे या पृथक्-पृथक् ?

जो कहें कि पृथक् थे तो व्याप्य-व्यापकता न रही। जो कहें कि व्याप्य-व्यापकता है तो ईसा में और इन सब जीवों में क्या भेद है ? जो कहें कि विद्या पढ़े थे। सो भी ठीक नहीं। क्योंकि इंजील के लेख से मालूम होता है कि वह विद्वान् नहीं था परन्तु एक साधु पुरुष था।

जो लोग ईसा को मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार जब यहूदियों ने ईसा को फांसी पर चढ़ाया तो उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि—हे ईश्वर ! तूने मुझे क्यों छोड़ दिया ? ऐसी बातों से उसमें केवल साधारण जीव ही गति करता था, ईश्वर नहीं। किन्तु ईश्वर तो जैसे सब में व्यापक है वैसे ही उसमें था। जो कहें कि उसने मुरदों को जीवित किया, अन्धों को आँखें दीं और कोढ़ियों को चंगा किया, भूत निकाले, इसलिए वह ईश्वर था। यहाँ मैं कहता हूँ कि ये बातें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और सृष्टिक्रम आदि से विरुद्ध होने से विद्वानों के मानने योग्य न कभी थीं, न हैं और न कभी होंगी। हाँ, ये बातें पौराणिकों के अनुसार हैं।

पक्षी बोला, पशु, हाथी आदि आदमी की बोली में बोले। जैसा कि तोरेत में लिखा है कि गदहे आदमी की बोली बोले। क्या इन बातों को कोई विद्वान् मान सकता है ? अथवा किसी विद्वान् से इन बातों को मनवा सकता है ?

और जो यह कहा कि दवा खाने से रोग छूट जाते हैं, वैसा ही यह पापों को क्षमा करना भी है तो क्या दवा का नियम से सेवन करना, परहेज करना, वैद्य के कहने के अनुसार चलना, अपनी मर्जी से न चलना, ये सब दण्ड नहीं हैं ?

अब तीन दिन से मुझसे और पादरी साहेब से जो वार्तालाप हुआ है, उसके विषय में मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह समझता हूँ कि मैंने पुनर्जन्म का सिद्धान्त सिद्ध कर दिया। पादरी साहेब उसका खण्डन नहीं कर सके। और पादरी साहेब अपने सिद्धान्तों का खण्डन करने में तथा उसके विषय में मेरे प्रश्नों के युक्ति और प्रमाण से उत्तर देने में भी समर्थ नहीं हुए।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब—

अब विचार करने वाले भाई विचार कर, क्योंकि इस लिखाई के बीच में

शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध बहुत सी बातें कही गई हैं और वे लिखी नहीं गईं। इसका परिणाम वही हुआ है कि जिसके ऊपर झगड़ा हुआ अर्थात् केवल अर्थ मिलाने के लिए मैं एक वाक्य सुनाना चाहता था। परन्तु मैंने यह आवश्यक न समझा कि लिखने वाले से उसे लिखने के लिए भी कहूँ। अब मैं केवल उस प्रमाण का ही उल्लेख करता हूँ। भाषा के शब्दों का विचार मैं न करूंगा। जो चाहें वे पुस्तक में स्थल को निकाल कर देख लें। हाँ, यह मैं लिखवा दूंगा कि मैं प्रमाण किस उद्देश्य से देता हूँ। पण्डित जी का यह कहना कि मेरी दलील पक्की नहीं है, और मैंने यूं सिद्ध किया है, इत्यादि। इसमें कुछ भी सार नहीं है। मैं भी इस प्रकार कह सकता हूँ। अब यह सुनने वालों का काम है कि वे विचार करके, स्वयमेव निर्णय करें। और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मैं यह नहीं चाहता कि इस विषय में किसी प्रकार का पक्षपात किया जाये।

पण्डित जी ने इस बात का कुछ उत्तर नहीं दिया कि "क्षमा" शब्द को संसार से बहिष्कृत क्यों नहीं कर दिया जाता। यह एक व्यर्थ और हानिकारक शब्द है। इससे सदा सबकी हानि ही होती है, यदि पंडित जी के कथनानुसार यही बात है तो बहिष्कार जरूरी है। मैं तो निस्सन्देह यह कहता हूँ कि क्षमा करने से भगवान् की महिमा का प्रकाश होता है। ईश्वर की बड़ाई इसी में है कि वह मनुष्य को क्षमा करे क्योंकि मैंने कहा कि वह सब गुप्त भेदों को भी यथावत् जानता है। और क्षमा करने के देश, काल तथा पात्र को भी भली प्रकार जानता है। और क्षमा करने के कारणों को भी पूर्णतया जानता है। ईश्वर के घर में न तो कुछ कमी है और न ही किसी प्रकार की भूल या भ्रान्ति की कोई सम्भावना है। ये सब कमियां और त्रुटियां इस संसार में ही हैं।

देखो, संसार में कितना पाप, अन्याय, घमण्ड और रक्तपात तथा अनेक विध अनाचार दृष्टिगोचर हो रहा है। पंडित जी इसे स्वीकार नहीं करेंगे, परन्तु प्रत्यक्ष ही संसार में भारी कमी और त्रुटि देखने में आ रही है। जैसा कि अंग्रेजी सरकार ने इसका यथोचित प्रबन्ध किया है, ईश्वर भी इसका प्रबन्ध करेगा।

मैं निःसन्देह मसीह के विषय में कोई वार्ता न चलाऊंगा। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि इस पवित्र धर्म-ग्रन्थ में जिसको क्षमा करने का उल्लेख है, वह उसी वसीले से है। यह दर्द का जिक्र तो है परन्तु दर्द का विवरण यह नहीं है कि कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे है? जब कभी इस विषय पर वार्ता

चलेगी, तब आप इसे यथार्थ रूप में देख लेंगे। युक्ति और प्रमाण के आधार पर मेरा निवेदन यही है कि क्षमा होती है।

और तोबा के सिद्धान्त से भी यही प्रमाणित होता है कि क्षमा होती है। उपाय को खूब जानना और ईश्वरीय पुस्तक के विषय में इस प्रकार से हंसी-ठट्टा करना यदि पंडित जी को उचित प्रतीत होता है और वे प्रत्येक बात को उलटे रूप में ही समझना चाहते हैं तो वे जाने। वेद की अनेकानेक बातें हैं; परन्तु यहाँ उनके विषय में मैं विशेष कुछ कहना नहीं चाहता। अब आप मेरे इन उत्तरों को कृपया देख लीजिये—

गिनती की पुस्तक अध्याय १४ आयत १८ का अर्थ इस प्रकार है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

लूका की इंजील अध्याय ६, आयत ४ तथा अध्याय १५ और आयत १०, इसी प्रकार योहन्ना का पहला पत्र अध्याय १ आयत ६ इन का अर्थ यह है कि पापों को क्षमा किया जाता है। फिर मसीह ने अपने चेलों को समझाया कि अपनी प्रार्थना में इस प्रकार से बोलो—"हे ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर॥"

अब अनुभवसिद्ध प्रमाण पर भी विचार कीजिए। अनुभव के आधार पर सत्य को जानना बहुत बड़ी बात है और अपना अनुभव सत्यासत्य का निर्णय करने की सबसे बड़ी कसौटी है। मनुष्य कह सकता है कि मेरा पाप क्षमा किया जाये और इसके साथ ही ऐसा कथन निराधार है क्योंकि जैसे पंडित जी ने स्वयं भी एक उदाहरण में बताया है कि प्रत्येक पापी को दण्ड अवश्य ही मिलेगा। वह पाप भी है, फिर जब तोबा-तोबा कहा तब भी वही पाप मौजूद है। फिर खुदा के बेटे का नाम लिया तब भी पाप वर्तमान है। मैं यह मान लेता हूँ कि मनुष्य मिथ्या-कथन करें।

कल्पना करो कि वे सच्ची तोबा करके सन्मार्ग पर आ जावेंगे और प्रत्यक्ष देख भी लें कि अब वह पहले जैसी बात नहीं है। अब मन में संतोष है और शान्ति है। प्रकाश ही प्रकाश है। न कोई सन्देह है, न चिन्ता है और न ही कोई आशंका है। अब देख लीजिये कि ऐसे हजारों आदमी संसार में हैं कि जिनका यही अनुभव है और उन्होंने अपने अनुभव से यह भली प्रकार जान लिया है कि ईश्वर ने मेरे पापों को क्षमा कर दिया है। वे अब पूर्णतया सन्तुष्ट हैं। उनके हृदय पर न तो पाप की छाप शेष है और न ही पाप का कोई भार है। पापाचरण की किसी प्रकार की इच्छा वा कल्पना भी नहीं है। एक क्षणमात्र में हृदय परिवर्तन हो गया है।

मेरी ओर से इंजील के अनुसार प्रमाण मिल चुका है। यह कहना बहुत

ही आसान है कि यह मिथ्या है ऐसा है। और ऐसा नहीं, परन्तु जानने वाले जानते हैं। जिसका दर्द सर्वथा चला गया है, वह जानता है, परन्तु मेरे धर्म के मानने वाले इकतालीस करोड़ ईसाई संसार में हैं उनमें से बहुत से तो झूठे ही हैं, यह मैं स्वीकार करता हूँ उनका कथन भी झूठ ही है।

परन्तु सच्चे आदमी भी बहुत हैं और उनका कथन भी पूर्णतया यथार्थ है, सत्य है। उनकी जीवनचर्या से यह भलीभान्ति प्रमाणित हो जाता है कि उनके सब पाप सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। उनके पापों को क्षमा किया गया है। हां इसको जानने और समझने के लिये अपना अनुभव होना भी आवश्यक है। यह कार्य अभ्यास से होगा।

मैं फिर कहता हूँ कि वह अपने अनुभव का प्रमाण, सबसे बढ़कर और पक्का प्रमाण है। युक्ति और तर्क की पुष्टि से भी बढ़कर यह पुष्टि है कि जिसको अनुभव के आधार पर अपना अन्तरात्मा भी पुष्ट करता है। बात यह नहीं कि हम केवल मौखिक कथनमात्र ही करते हैं, ऐसा कथन तो मिथ्या भी हो सकता है। परन्तु जिसके पाप तोबा करने के बाद अपना अस्तित्व सर्वथा खो चुके हैं कि वह नहीं जानता कि जैसे कि कोई पिता अपने पुत्र से क्षमा का वचन कहे तो क्या वह पुत्र यह नहीं समझता कि पिता ने उसे क्षमा कर दिया है और सब चिन्ताओं की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव-हृदय की भी इसी प्रकार अवस्था है।

मैंने तर्क, युक्तियों और शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा तथा मनुष्यों के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर, यह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है। —**हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब**

(लेखराम पृ० ४४६-४७०)

॥ काशी में विज्ञापन-पत्र ॥

सितम्बर, १८७६

सब सज्जन लोगों को विदित किया जाता है कि इस समय पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज काशी में आकर श्रीयुत महाराजे विजयनगर के अधिपति के आनन्द बाग में जो महमूदरंग के समीप है, निवास करते हैं। वे वेदमत का ग्रहण करके उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं मानते। किन्तु जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदोक्त १—सृष्टिक्रम २—प्रत्यक्षादि प्रमाण ३—आप्तों का आचार और सिद्धान्त तथा ४—आत्मा की पवित्रता और विज्ञान के विरुद्ध होने के कारण पाषाणादि मूर्तिपूजा, जल और स्थलविशेष पाप निवारण करने की शक्ति व्यास मुनि आदि के नाम से छल से प्रसिद्ध किये नवीन व्यर्थ पुराण नामक आदि,

ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थ, परमेश्वर के अवतार व पुत्र होके अपने विश्वासियों के पाप क्षमा कर मुक्ति देनेहारे का मानना, उपदेश के लिये अपने मित्र पैगम्बर को पृथ्वी पर भेजना, पर्वतों का उठाना, मुर्दों का जिलाना, चन्द्रमा का खण्डन करना, कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानना, ईश्वर को नहीं मानना, स्वयं ब्रह्म बनना अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु कुछ भी न मानना, जीव ब्रह्म को एक ही समझना, कण्ठी, तिलक और रुद्राक्षादि धारण करना और शैव, शाक्त, वैष्णव गाणपत्यादि सम्प्रदाय आदि हैं, इन सबका खण्डन करते हैं। इससे इस विषय में जिस किसी वेदादि शास्त्रों के अर्थ जानने में कुशल, सभ्य, शिष्ट, आप्त विद्वान् को विरुद्ध जान पड़े, अपने मत का स्थापन और दूसरे के मत का खण्डन करने में सामर्थ्य हो, वह स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करके पूर्वोक्त व्यवहारों को स्थापित करे। इससे विरुद्ध मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। इस शास्त्रार्थ में मध्यस्थ रहेंगे। वेदार्थ निश्चय के लिये जो ब्रह्मा से लेके जैमिनि मुनि पर्यन्त के बनाये ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थ हैं वे वादी और प्रतिवादी उभय पक्षवालों को माननीय होने के कारण माने जावेंगे। और जो इस सभा में सभासद् हों वे भी पक्षपात रहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप तथा साधनों को ठीक-ठीक जानने, सत्य के साथ प्रीति और असत्य के साथ द्वेष रखने वाले हों, इनके विपरीत नहीं। दोनों पक्ष वाले जो कुछ कहें उसका शीघ्र लिखने वाले तीन लेखक लिखते जावें। वादी और प्रतिवादी अपने-अपने लेख के अन्त में अपने-अपने लेख पर हस्ताक्षर से अपना-अपना नाम लिखें। तब जो मुख्य सभासद् हों वे भी दोनों के लेख पर हस्ताक्षर करें। उन तीन पुस्तकों में से एक वादी, दूसरा प्रतिवादी को दिया जाय और तीसरा सब सभा सम्मति से किसी प्रतिष्ठित राजपुरुष की सभा में रक्खा जावे कि जिससे कोई अन्यथा न कर सके। जो इस प्रकार होने पर भी काशी के विद्वान् लोग सत्य और असत्य का निर्णय करके औरों को न करावेंगे तो उनके लिये अत्यन्त लज्जा की बात है, क्योंकि विद्वानों का यही स्वभाव होता है जो सत्य और असत्य को ठीक-ठीक जान के सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग कर दूसरों को कराके आप आनन्द में रहना औरों को आनन्द में रखना।

—**पण्डित भीमसेन शर्मा** (देवेन्द्रनाथ २। २२१)

सत्य वचनों का प्रभाव

(बाबू उमाप्रसाद मुकर्जी दानापुर से प्रश्नोत्त—३० अक्टूबर, १८७९)

जब स्वामी जी ३० अक्तूबर, सन् १८७९ को दानापुर पधारे तो बाबू उमाप्रसाद मुकर्जी हेडक्लर्क महकमा मैजिस्ट्रेट साहब ने प्रश्न किया—

बाबू—यद्यपि आपका कहना ठीक है परन्तु लोग हठ से न मानें तो आप क्या करेंगे ?

स्वामी—हमारा काम इतना ही है कि हमारा कथन को लोग कान में स्थान दें और जब पूर्ण रूप से सुन लेंगे तो वह सूई की भांति भीतर चुभ जायेंगे, निकाले से न निकलेंगे। यदि उनका मित्र या प्यारा एकान्त में पूछेगा तो स्पष्ट कह देंगे कि ठीक है। हठ या लोभ लालच से न कहे तो न कहें।

(लेखराम पृ० ४६८)

आततायी को दण्ड देना धर्म

(बाबू अनन्तलाल दानापुर से प्रश्नोत्तर—नवम्बर, १८७९)

जब स्वामी जी दानापुर में थे तो एक दिन स्वर्गीय बाबू अनन्तलाल ने एक गुलाब का फूल तोड़ा। उसे देख कर स्वामी जी ने ललकार कर कहा कि भाई! तूने बुरा किया। यह फूल कितनी वायु को सुगन्धित करता। तूने इसे तोड़कर इसके नियत कार्य्य से इसे रोका। इसके पश्चात् जब स्वामी जी भीतर आनकर बैठे तो स्वामी जी के हाथ में मक्खी उड़ाने का मोर छल था उक्त बाबू ने कहा कि फूल के तोड़ने में तो आपने पाप बतलाया परन्तु क्या आपके हाथ के मोरछल से मक्खी को कष्ट नहीं होता ? इस पर स्वामी जी ने कहा कि आततायी के रोकने में तुम्हारे जैसे मनुष्यों ने बाधा डाली जिससे भारत का नाश हो गया। तुम जैसे निर्बल और साहसहीन लोगों से रणभूमि में क्या हो सकता है ?

(लेखराम पृ० ५०१)

अनेक विषय

(भगत जीवनलाल कायस्थ मुजफ्फरनगर से प्रश्नोत्तर—सितम्बर, १८८०)

प्रश्न प्रथम दिन—अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति के विना दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होती है या नहीं ?

उत्तर स्वामी जी—सुख दो प्रकार के होते हैं—एक विद्याजन्य, एक अविद्याजन्य। विद्याजन्य ऐसा सुख होता है जिसको सर्वसुख कहते हैं और अविद्याजन्य ऐसा होता है कि जैसा पशु आदि को। अज्ञान की निवृत्ति विना ज्ञान के नहीं होती है और न ज्ञान की निवृत्ति विना अज्ञान के। जीव के अल्पज्ञ होने से एक विषय में उसको ज्ञान होता है और अनेक विषय में अज्ञान। और जो सर्वज्ञ है उसमें अज्ञान नहीं रहता और जो अल्पज्ञ है उसमें ज्ञान

और अज्ञान दोनों रहते हैं और जो सर्वज्ञ है वह अल्पज्ञ नहीं और जो अल्पज्ञ है वह सर्वज्ञ नहीं। जो अल्पज्ञ है वह परिमित और एकदेशी होता है और जो सर्वज्ञ है वह अनन्त सर्वदेश वस्तु काल रहित है। जैसे आकाश सब मूर्तिमान् द्रव्यों में व्यापक है और मूर्तिमान् द्रव्य व्याप्य हैं। व्यापक उसको कहते हैं जो सर्वदेश स्थित हो और व्याप्य उसको कहते हैं जो एक देशी हो। व्याप्य वस्तु व्यापक से भिन्न होती है। तीनों अवस्था उसकी व्यापक के साथ ही रहती हैं और जैसे मूर्तिमान् द्रव्य किसी अवस्था में आकाश नहीं हो सकते और आकाश मूर्तिमान् द्रव्य का स्वरूप भी नहीं हो सकता। इसी से दोनों वस्तु भिन्न हैं अर्थात् व्याप्य व्यापक दो वस्तु विशिष्ट रहती हैं, एक वस्तु विशिष्ट नहीं हो सकती ।

रात के ग्यारह बज गये इसलिए वार्तालाप पूर्ण न हुआ।

दूसरे दिन बातचीत के बीच में स्वामी जी ने कहा कि इन पोप जी की लीला है। पार्वती ने अपने शरीर से मैल उतार कर बालक बनाकर रख दिया, द्वार पर युद्ध हुआ, पार्वती को विदित न हुआ, चूहे की सवारी और हाथी का शिर लगा दिया।

मैंने कहा कि इसमें तो कुछ आश्चर्य नहीं प्रतीत होता क्यों कि पार्वती के तो हाथ थे और शरीर से मैल उतार कर पुतला बना सकते हैं परन्तु आप यह कहते हैं कि तीन वस्तुएँ अनादि हैं, जब स्थूल सृष्टि हुई तो निरवयव परमात्मा ने संयोग कर दिया। वह निरवयव परमाणु का संयोग विभाग कैसे कर सकता है ?

स्वामी जी ने कहा कि तुम परमाणु जानते हो ? झरोके में जो दिखाई देते हैं उनको त्रसरेणु कहते हैं उनका ६० वां भाग परमाणु होता है। तुम उस परमाणु का अपने हाथों से संयोग-वियोग नहीं कर सकते। परमात्मा उन परमाणुओं की अपेक्षा अति सूक्ष्म है, उसकी दृष्टि में वे स्थूल हैं इसलिए वह संयोग-वियोग कर सकता है ।

इस पर मैंने यह निवेदन किया कि जो परमेश्वर सूक्ष्म है वह व्यापक कैसे है ?

स्वामी जी ने कहा कि जो सूक्ष्म होता है वह व्यापक होता है, स्थूल कहीं व्यापक नहीं होता। जैसे आकाश सूक्ष्म है इसलिये वह व्यापक है परन्तु पृथिवी स्थूल है सो व्यापक नहीं।

मैंने कहा कि यदि परमेश्वर की व्यापकता आप आकाश की भाँति मानते हैं तो इससे जीव और ईश्वर के स्वरूप में अभिन्नता माननी पड़ेगी।

स्वामी जी—इसका पहले उत्तर हो चुका है। अभिन्नता कदापि नहीं, व्यापकव्याप्य भाव रहता है।

श्राद्ध

(ला० निहालचन्द वैश्य रईस मुजफ्फर नगर से प्रश्नोत्तर—सितम्बर, १८८०)

ला० निहालचन्द जी वैश्य रईस मुजफ्फर नगर ने वर्णन किया कि स्वामी जी असौज के महीने में यहां पधारे और हमारे बंगले में नगर के पूर्व की ओर उतरे थे। मुन्शी डालचन्द हेडमास्टर जिला स्कूल और ला० बद्रीप्रसाद तहसीलदार, बाबू बैजनाथ मुन्सिफ और मैं बुलाने में सम्मिलित थे। उन दिनों कनागत थे और इसी विषय में मैंने स्वामी जी से कुछ पूछा था क्योंकि नगर के कुछ पंडित मेरे पास आये और कहा कि चलो हम चलके स्वामी जी से शास्त्रार्थ करें। परन्तु मैंने जब उनसे स्वयं बातचीत की तो वे मेरे ही प्रश्नों का उत्तर न दे सके परन्तु अन्त में उनके अनुरोध पर मैं स्वामी जी के पास गया। इनमें ला० बद्रीप्रसाद जी भी आगये और स्वामी जी से बातचीत आरम्भ की। ला० बद्रीप्रसाद जी ने स्वामी जी से कहा कि आप से शास्त्रार्थ करना चाहते हैं परन्तु मैंने कहा कि मैं न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ और न शास्त्रार्थ की योग्यता रखता हूँ परन्तु केवल शिष्यरूप में समझना चाहत हूँ। उन्होंने कहा कि श्राद्ध का फल उसके पूर्वजों को नहीं पहुंच सकता क्योंकि प्रथम तो पितृ विदित नहीं कि किस लोक में हैं।

उसके उत्तर में मैंने निवेदन किया कि यदि यह सिद्धान्त स्वीकार किया जावे तो दान का देना भी निष्फल है। इसका फल हमको मरने के पश्चात् किस प्रकार मिलेगा।

उत्तर—वह जीव का अपना कर्म है और कर्म कर्त्ता के साथ रहता है, नष्ट नहीं होता परन्तु मृतक का श्राद्ध दूसरे का कर्म है और जब उसका सम्बन्ध पूर्णतया संसार से टूट चुका तब किया गया है, इसलिए निष्फल है और शास्त्र में भी ऐसा ही लिखा है। और इसके अतिरिक्त यदि यह माना जावे कि पितरों को हमारे दान या प्रार्थना से अच्छा लाभ पहुंच गया है तो यह भी मानना पड़ेगा कि जो उसके शत्रु शाप देते हैं या उसके बेटे उसके नाम से छल करते हैं, उसका भी प्रभाव अवश्य होगा। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी प्रार्थना से स्वर्ग को और शाप से नरक को बार-बार आना जाना पड़ेगा।

इस पर मैंने यह कहा कि उनको पुण्य का फल मिलना चाहिए, पाप का नहीं। इसलिए कि जिस समय वह व्यक्ति मरा तो पाप का फल अवश्य

निश्चित होगा, इसलिए शाप का प्रभाव नहीं हो सकता। जैसे कि अधिकार युक्त न्यायाधीश जब एक अपराध का दण्ड दे चुकता है तो चाहे अपराधी कितनी ही पुकार क्यों न करे परन्तु दण्ड में न्यूनता या अधिकता नहीं हो सकती। पुण्य का फल किसी मृतक पितृ को इसलिए लिखा है कि जो धन मृतक ने इकट्ठा किया था वही पुण्य कर्म करने में उसकी सन्तान व्यय करती है। उदाहरणार्थ उसने अपने धन के इकट्ठा करने में यदि कोई अधर्म भी किया हो और उसका दण्ड भी निश्चित हो चुका हो तो चूंकि उसके पश्चात् उसकी सन्तान ने अच्छे काम में लगाया इसलिये उसका फल उसको मिलना चाहिये।

उत्तर—यह ठीक नहीं है कि पाप का फल निश्चित हो चुका। यदि निश्चित हो चुका तो भी कर्म के अनुसार दोनों निश्चित होंगे, पहले पिछले की कोई शर्त नहीं। यह ठीक है कि दण्ड न्यूनाधिक नहीं हो सकता तो फिर बेटे के दान करने से उस नरकगामी को क्या लाभ हो सकता है। अब रही मृतक के एकत्रित हुए धन के व्यय की बात तो यदि वह पुण्य में व्यय करता है तो और पाप में व्यय करता है तो दोनों प्रकार व्यय करने वाले का हानि-लाभ है, किसी मृतक का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। अन्यथा यदि पुण्य कार्य में व्यय करने से मृतक को लाभ है तो पाप कार्य में व्यय करने से हानि भी अवश्य होगी क्योंकि जो पाप उस धन से लड़का पीछे करता है, यह असम्भव है कि उसका प्रभाव न हो। और चूंकि बाप के एकत्रित किये हुए धन से प्रायः सन्तान दुराचारी होती है, इसलिए यह सिद्धान्त ही अत्यन्त बुरा प्रभाव डालने वाला है।

फिर मैंने शीघ्र जाना था, अधिक बातचीत न हुई। चलते समय भी स्वामी जी कहते थे कि इस बात का पूर्ण निर्णय नहीं हुआ। उस दिन से स्वामी जी का प्रेम मेरे हृदय में घर कर गया। (लेखराम पृष्ठ ५१२-५१३)

शास्त्रार्थ का बहाना।

(पादरी गुल्बर्ट साहब से देहरादून में शास्त्रार्थ—अक्टूबर-नवम्बर, १८८०)

स्वामी जी ७ अक्टूबर, सन् १८८० से २० नवम्बर, सन् १८८० तक देहरादून ठहरे। इसी बीच में एक दिन एक पादरी साहब जिनका नाम गुलबर्ट और उपाधि मैक्मासर है, कुछ ईसाइयों के साथ शास्त्रार्थ के लिये आये। और आते ही स्वामी जी से यह बातचीत आरम्भ की कि वेद के ईश्वरीय वचन होने में तुम्हारे पास क्या युक्ति है? चूंकि स्वामी जी उनके ढंग से समझ गये थे कि यह सब छेड़छाड़ है, कुछ सत्य के निर्णय पर इस बातचीत का

आधार नहीं। इसलिये उनके प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार कहा "कि इंजील के ईश्वरीयवचन होने का आपके पास क्या प्रमाण है?"

यह सुनकर पादरी साहब कहने लगे कि वाह! पहले तो हमारा प्रश्न है।

उधर स्वामी जी ने कहा कि वाह! मुझको भी तो पहले उत्तर लेने का ध्यान है। इस पर पादरी साहब उठकर चलने लगे। तब स्वामी जी ने कहा कि पादरी साहब! आप तो शास्त्रार्थ करने को आये थे, इतना शीघ्र क्यों भागते हैं?

पादरी साहब ने इस पर यह कहा कि जब आप उत्तर ही नहीं देते तो फिर हम बैठकर क्या करें? इस पर स्वामी जी ने कहा कि बहुत अच्छा पहले मैं ही उत्तर दूंगा, परन्तु उसके पश्चात् इंजील के विषय में प्रश्न करूंगा और आपसे उत्तर लूंगा। इस पर भी पादरी साहब न जमे और उठकर भागने को हुए। तब स्वामी जी ने कहा कि पादरी साहब! आप पहले केवल एक नहीं प्रत्युत दो-तीन प्रश्न कर लीजिये परन्तु उत्तर देने के पश्चात् मेरे आक्षेपों को सुनिये परन्तु यह बात भी पादरी साहब को बुरी लगी और उठकर चलने को उद्यत हुए। तब स्वामी जी ने यह कहा कि अच्छा पहले आप पाँच प्रश्न तक वेद पर कर लीजिये और जब उनके उत्तर मैं दे चुकूं फिर मुझको अपनी इंजील पर आक्षेप करने दीजिये परन्तु यह भी पादरी साहब को स्वीकार न हुआ और पूर्ववत् डरते रहे। तब स्वामी जी ने कहा कि आप इंजील पर आक्षेपों के होने से क्यों इतना घबराते हैं? लीजिये पहले आप वेद पर दस प्रश्न तक कर लीजिये और उत्तर सुनने के पश्चात् मुझको इञ्जील पर आक्षेप करने की आज्ञा दीजिये ताकि सुनने वालों को आनन्द आवे और सत्य और झूठ की वास्तविकता प्रकट हो जावे। भला यह कहाँ की रीति है कि आप अपनी कहे जावें और दूसरे की न सुनें। इस पर पादरी साहब को भीड़ की लज्जा ने रोका और तब उन्होंने विवश होकर कहा कि बहुत अच्छा परन्तु जिस समम इंजील पर आक्षेप किये जाने की घड़ी आई और लिखने की अवस्था उत्पन्न हुई तब तो पादरी साहब की विचित्र दशा हुई अर्थात् वही मुसलमान लोगों की सी रट लगाये जाते थे कि जब तक हम अपने प्रश्न के उत्तर से सन्तोष प्राप्त न कर लेंगे और उसकी स्वीकृति न दे देंगे तब तक हम तुमको न बोलने देंगे और न तुम्हारी सुनेंगे।

यह देखकर स्वामी जी ने कहा कि आप अपने प्रश्नों के विषय में तो कहते हैं परन्तु मेरे प्रश्नों के विषय में भी इस बात को स्वीकार करते हैं? तो

बस "नहीं" के अतिरिक्त और क्या उत्तर था क्योंकि यह सारा बखेड़ा तो अपना बड़प्पन छौंकने और झूठी कीर्ति प्राप्त करने के अभिप्राय मे था। शास्त्रार्थ से तो पूर्णतया इंकार ही था। जब स्वामी जी ने पादरी साहब का अंतिम "नहीं" का उत्तर सुना तो यह कहा कि पादरी साहब ! आप बिल्कुल न्याय से काम नहीं लेते, केवल शास्त्रार्थ का नाम करते हैं परन्तु आपकी यह चतुराई कि कहीं पोल न खुल जाये, व्यर्थ गई और आपकी सारी वास्तविकता प्रकट हो गई क्योंकि आप उन नियमों को जो शास्त्रार्थ में आवश्यक होते हैं, स्वीकार नहीं करते और न और की सुनना चाहते हैं। देखो मैं पहले भी कह चुका हूँ और फिर भी कहता हूँ कि प्रथम आप वेद पर एक से लेकर दश तक आक्षेप कीजिये और मुझ से उत्तर लीजिये और तत्पश्चात् मुझको अपनी इंजील पर आक्षेप करने दीजिये और उत्तर प्रदान कीजिये। और जब आप मेरे आक्षेपों का उत्तर दे चुकें तो फिर आप चाहें और नये दश प्रश्न मुझ पर कीजिये, चाहें अपने पहले दश प्रश्नों में से यदि किसी में कोई सन्देह शेष रहे और मेरे उत्तर से इच्छानुसार सन्तोष न हो तो वह पूछिये और फिर उत्तर सुनिये ताकि सभा में उपस्थित लोग भी जान लें कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ?

सारांश यह कि जब पादरी साहब के पास कोई और बहाना अवशिष्ट न रहा तो यह कहा कि या तो आप केवल मेरा ही संतोष कीजिये और अपने आक्षेपों को रहने दीजिये अन्यथा मैं जाता हूँ, आप बैठे रहिये।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि पादरी साहब ! इस सभा में उपस्थित लोग तो आपके बार-बार भागने और किसी शर्त पर न जमने से भली-भाँति जान ही गये हैं कि आप इंजील पर आक्षेप होने से थर-थर काँपते है और पीछा छुड़ाने के लिये बार-बार कूदते फाँदते फिरते हैं। अब आप जानें और आपका काम। अच्छा तो यही था कि आप शास्त्रार्थ करते और अपने जी की भड़ास निकाल लेते। यह सुनकर पादरी साहब ने कठोर शब्दों में कहा कि बस आप उत्तर देते ही नहीं, मैं जाता हूँ। इस पर स्वामी जी ने भी कहा कि आप प्रश्न का उत्तर लेते ही नहीं क्योंकि आपका तो प्रयोजन कुछ और ही है, शास्त्रार्थ का तो केवल नाम है। अच्छा जाइये, मुझको इस समय काम है।

(लेखराम पृ०-५१८-५१९)

राधा स्वामी मत

(राधास्वामी मत के साधुओं से आगरा में प्रश्नोत्तर—नवम्बर, १८८०)

स्वामी जी के आगरा निवास के समय एक दिन राधास्वामी मत के ५-७ पंजाबी साधु आये, जिनमें स्त्रियां और पुरुष दोनों सम्मिलित थे। और प्रश्न किया कि कोई गुरु के उपदेश और सहायता के विना संसार-सागर से पार नहीं हो सकता।

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि गुरु की शिक्षा तो आवश्यक है परन्तु जब तक कोई चेला अपना आचार ठीक न करे कुछ नहीं हो सकता।

उन्होंने प्रश्न किया कि ईश्वर के दर्शन कैसे हो सकते हैं ?

स्वामी जी ने कहा कि जैसे तुम मूर्खता से ईश्वर के दर्शन करना चाहते हो उस प्रकार नहीं हो सकते। एक प्रश्न उनका यह था कि ईश्वर तो भक्त के वश में है।

स्वामी जी ने कहा कि भक्ति तो ईश्वर की आवश्यक है परन्तु पहले यह समझ लो कि भक्ति चीज क्या है। विना किसी पुरुषार्थ के किये कोई वस्तु स्वयमेव प्राप्त नहीं हो सकती और जिस प्रकार से तुम भक्ति करना चाहते हो ऐसे बहुत से पथ लोगों के बिगाड़ने के लिये हुए। इन से इस लोक या परलोक का कोई लाभ नहीं हो सकता।

मूर्तिपूजा पर भी बात चली। उन्होंने कहा कि हम और हिन्दुओं से अच्छे हैं।

स्वामी जी ने कहा—नहीं, वह रामचन्द्र और कृष्णादि उत्तम पुरुषों को देवता और अवतार मानते हैं, तुम गुरु को परमेश्वर से बढ़कर मानते हो। इसलिये तुम उनसे किसी प्रकार अच्छे नहीं, प्रत्युत बुरे हो।

उन्होंने कहा कि वेद के पढ़ने में बहुत समय नष्ट होता है परन्तु उससे कुछ भक्ति प्राप्त नहीं होती।

स्वामी जी ने कहा कि जो पुरुषार्थ कुछ नहीं करता और भिक्षा माँगकर पेट पालना चाहता है उसे वेद का पढ़ना बहुत कठिन है :

ये लोग कुछ भी विद्वान् नहीं थे। (लेखराम पृष्ठ ५२५—५२६)

पुनर्जन्म

(तुफ़ैल अहमद कोतवाल आगरा से प्रश्नोत्तर—नवम्बर, १८८०)

२५ नवम्बर, सन् १८८० से १० मार्च, सन् १८८१ तक स्वामी जी आगरा में ठहरे। इसी बीच में एक दिन मौलवी तुफैल अहमद नगर कोतवाल ने पुनर्जन्म पर आक्षेप किया कि यह गलत प्रतीत होता है, इसके मानने से कई आरोप उत्पन्न होते हैं। ईश्वर ऐसा अन्यायी नहीं कि जीवों को बार-बार उत्पन्न करे और उनके द्वारा अनुचित अपराध किये जावें। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति मर गया, जो इस समय उसकी बेटी है अगले जन्म में वही उसकी पत्नी होवे।

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि बेटी और बाप का सम्बन्ध शरीर का है—आत्मा का नहीं। चूंकि आत्मा का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं इससे यह आक्षेप आत्मा पर लागू नहीं हो सकता।

इस पर उनकी शान्ति हो गई और वे फिर कोई उत्तर न दे सके।

(लेखराम पृष्ठ ५२४)

अग्नि का अर्थ परमात्मा

(एक पादरी साहब ने आगरा में स्वामी जी से प्रश्न किया—दिसम्बर सन् १८८०)

मुंशी गिरधरलाल साहब वकील ने वर्णन किया कि—

एक पादरी साहब हमारे मकान पर आये थे। उन्होंने प्रश्न किया कि आपने वेदभाष्य में जो अग्नि को परमेश्वर कहा है, वहां अग्नि का अर्थ परमेश्वर नहीं हो सकता। स्वामी जी ने कहा कि प्रथम तो व्याकरण के अनुसार इस शब्द का अर्थ परमेश्वर हो सकता है। इस पर उनकी कोई शंका शेष न रही।

(लेखराम पृ० ५२४)

नास्तिक तथा जैन मत

(आत्माराम जी पूज लुधियाना से पत्र-व्यवहार द्वारा प्रश्नोत्तर—
नवम्बर, १८८० से जनवरी, १८८१)

नोट—जैनियों के आचार्य पूज्यवर आत्माराम जी पंचायत सराओगियां, लुधियाना और ठाकुरदास जी रईस गूजरांवाला ने स्वामी जी महाराज से पत्र द्वारा कुछ प्रश्न पूछे थे, उनके उत्तर स्वामी जी ने अपने पत्र मिति ६ नवम्बर, सन् १८८० मंत्री आर्यसमाज देहरादून के द्वारा आर्यसमाज गूजरांवाला में

भिजवा दिये जिन्हें १३ नवम्बर, सन् १८८० को प्रधान आर्यसमाज गूजरांवाला ने प्रश्नकर्त्ताओं के पास भेज दिया। उपप्रधान आर्यसमाज ने प्रश्नकर्त्ताओं को निम्नलिखित पत्र भी अपनी ओर से लिखा—

"श्रीयुत पंडित आत्माराम जी और ला० ठाकुरदास जी को नमस्ते ! देहरादून से यहां एक पत्र उन प्रश्नों के उत्तर का जो आप सज्जनों ने स्वामी जी से किये थे, इस प्रयोजन से पहुंचा था कि इसकी एक प्रतिलिपि आपके पास भेजी जावे, सो प्रतिलिपि आपके समीप भेजी जाती है और यह भी प्रकट किया जाता है कि इसकी एक प्रतिलिपि स्मामी जी की आज्ञानुसार लुधियाना के श्रावक सज्जनों के पास भी भेजी गई है। मुंशी प्रभुदयाल जी से आपको विदित हुआ होगा।"

मिति १३ नवम्बर, सन् १८८० नारायणकृष्ण उपप्रधान आर्यसमाज गूजरांवाला।

प्रश्नोत्तर

(पूज्यवर आत्माराम जी पचायत सराओगियां लुधियाना और ठाकुरदास जी रईस गूजरांवाला जैन मतानुयायी सज्जनों के प्रश्नों के उत्तर)

प्रश्न— सत्यार्थप्रकाश में जो श्लोक लिखे है जैनियों के किस शास्त्र व ग्रन्थों के हैं ?

उत्तर—ये सब श्लोक बृहस्पति मतानुयायी'चार्वाक जिनके मत का दूसरा नाम लोकायत है और वे जैनमतानुयायी हैं, उनके मतस्थ शास्त्र व ग्रन्थों के हैं ?

श्लोकों का भाष्य निम्नलिखित है—

(१) :०: जब तक जिये सुख से जिये, मृत्यु गुप्त नहीं, भस्म हुए पीछे शरीर में फिर आना कहाँ ? (इसी प्रकार इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत अभ्याणक का मत है।

(२) अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिपुंड्र भस्म लगाना, यह निर्बुद्धि और साहस रहित लोगों की जीविका बृहस्पति ने रची है।

:०: ये श्लोक जो सत्यार्थप्रकाश प्रथमावृत्ति पृष्ठ ४०२, ४०३ पर है। ये समस्त श्लोक स्वामी जी से पहले सर्व शास्त्र-संग्रह में सायणाचार्य्य ने और उनकी टीका में तारानाथ वाचस्पति ने लिखे हैं, जो जीवानन्द प्रेस में प्रकाशित हो चुके हैं। (देखो उसका प्रारम्भ)।

(३)—अग्नि उष्ण तथा जल शीतल और छूने वाली ठंडी वायु किसी ने इनके बनाने वाले को देखा ? ये अपने स्वभाव से ऐसे हैं ।

(४) न स्वर्ग, न नरक, न कोई और मोक्ष, वर्ण और न आश्रम के काम फलदायक हैं ।

(५)—अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिपुण्ड्र, भस्म लगाना. यह निर्बुद्धि तथा साहसरहित लोगों की जीविका ब्रह्मा ने बनाई है ।

(६)—यदि पशु ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारे जाने से स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने आप को इसमें क्यों नहीं मार डालता ?

(७)—मरे हुए जीवों को यदि श्राद्ध तृप्ति का कारण है तो मार्ग में लोगों को भोजन जलादि ले जाना व्यर्थ है ।

(८)—स्वर्ग में बैठा हुआ यदि दान से तृप्त होता तो कोठे पर बैठा हुआ क्यों न होता ?

(९)—जब तक जिये सुख से जिये, ऋण, लेकर घृत पीये, भस्म हुए पीछे शरीर में फिर आना कहाँ ?

(१०)—यदि शरीर से निकल कर जीव परलोक को जाता है तो बन्धुओं के प्रेम से फिर लौटकर क्यों नहीं आता ?

(११)—यह सब जीवन निर्वाह का साधन ब्राह्मणों ने बना लिया है । मरे हुए जीवों की क्रियादि और कुछ नहीं है ।

(१२)—घोड़े का लिंग स्त्री ग्रहण करे भांडों ने इस प्रकार की बातें बना रखी हैं ।

(१३)—तीन वेद के बनाने वाले भांड, धूर्त निशाचर हैं और जर्फरी और तुर्फरी शब्द पण्डितों के कल्पित हैं ।

(१४) मांस खाना राक्षसों का काम है ।

इसी प्रकार ये सब श्लोक इस बात को प्रकट कर रहे है कि जैन मत के सम्प्रदायों ने कठोर निन्दा वेद मत की की है और जो कुछ मैंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है, वह सब ठीक-ठीक है ।

"पहले पत्र के उत्तर में ला० ठाकुरदास आदि को लिख भेजा गया था कि जैन मत की कई शाखाएं हैं । यदि आप प्रत्येक शाखा के मन्त्र सिद्धान्त जानते होते तो आपको सत्यार्थप्रकाश के लेख में सन्देह कभी न होता । आप लोगों के प्रश्नों के उत्तर में विलम्ब इसलिये हुआ कि यदि कोई सज्जन सभ्य विद्वान्

जैसा कि श्रेष्ठ पुरुषों को लेख करना चाहिये वैसा करता है तो उसी समय उत्तर भी लिखा दिया जाता है क्योंकि सभ्यतापूर्वक लेख के उत्तर में स्वामी जी विलम्ब कभी नहीं करते। देखिये! अब पंचायत सराओगियां लुधियाना ने योग्य लेख किया तो स्वामी जी ने उत्तर भी शीघ्र लिखवा दिया और अब भी लिख दिया गया है कि जितने सत्यार्थप्रकाश विषयक आप लोगों के प्रश्न हों, सब लिखकर भेज दीजिये ताकि सबके उत्तर एक संग लिख दिये जावें। जैसा स्वामी जी ने लिखवाया था कि आत्मारामजी को जैन मत वाले शिरोमणि पंडित गिनते हैं। इनका स्वामी जी का पत्र-लेखानुसार समागम होता तो सब बातें शीघ्र ही पूरी हो जातीं परन्तु ऐसा न हुआ और यह भी शोक की बात है कि हमने इस विषयक रजिस्टरी चिट्ठी पंचायत सराओगियाँ लुधियाना को भेजी, उसका उत्तर भी अब तक नहीं मिला, न प्रश्न भेजे। किन्तु जो ठाकुरदास ने एक बात लिख भेजी थी कि यह श्लोक जैनमत के किस शास्त्र और किस ग्रन्थ के अनुसार हैं और जो बात करने के योग्य आत्माराम जी हैं उनका शास्त्रार्थ करने में निषेध लिख भेजा और ठाकुरदास जी की यह दशा है कि प्रथम चिट्ठी में संस्कृत और भाषा के लिखने में अनेक दोष लिखे हैं। अब आप लोग धर्म न्याय से विचार लीजिये कि क्या यह बात ऐसी होनी योग्य है कि जब-जब चिट्ठी ठाकुरदास ने लिखी तब-तब स्वामी जी के पास और उसमें जो बात शिष्ट पुरुषों के लिखने योग्य न थी, सब लिखी और जो योग्य हैं अर्थात् आत्माराम जी उसको बात करने और लिखने वा चिट्ठी पर हस्ताक्षर करने से अलग रखते हैं और एक यह कि ठाकुरदास जी से स्वामी जी का सामना कराते हैं क्या ऐसी बात करनी शिष्टों को योग्य है? अब अधिक बात करते हो तो आप अपने मत के किसी योग्य विद्वान् को प्रवृत्त कीजिये कि जिससे हम और आपको सत्य और झूठ का निश्चय होकर बहुत उत्तम ज्ञान हो सके। बुद्धिमानों के सामने अधिक लिखना आवश्यक नहीं किन्तु अपनी सज्जनता उदारता, अपक्षता तथा बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता में थोड़े लिखने से बहुत जान लेते हैं।

मिति कार्तिक सुदि ४, शनिवार, संवत् १९३७ तदनुसार ६ नवम्बर सन् १८८०

कृपाराम मन्त्री, आर्यसमाज – देहरादून

अपने हस्ताक्षरों से आत्माराम जी ने जो प्रश्न भेजे थे—१४ नवम्बर सन् १८८० को उनके नाम स्वामी जी ने यह पत्र भेजा—

पूज्यवर आत्माराम जी, "मिती १४ नवम्बर सन् १८८०"

नमस्ते। पत्र आपका मिती नवम्बर सन् १८८० का लिखा हुआ १०

नवम्बर सन् १८८० की सांयकाल को मेरे पास पहुंचा, देखकर आनन्द हुआ। अब आपके प्रश्नों का उत्तर विस्तारपूर्वक लिखता हूँ।

(समाचार पत्र "आफताबे पंजाब," १३ दिसम्बर, १८८०)

प्रश्न नं० १—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास १२ पृष्ठ ३६६, पंक्ति १६) में लिखा है कि जब प्रलय होता है तो पुद्गल जुदी-जुदी हो जाते हैं ऐसा नहीं है।

उत्तर–मैंने ठाकुरदास जी के उत्तर में एक पत्र आर्यसमाज गूजराँवाला के द्वारा भेजा था, जो आपके पास भी पहुंचा होगा। उसमें यह बतलाया गया है कि जैन और बौद्ध दोनों एक ही हैं चाहे उनको बौद्ध कहो चाहे जैन कहो। कुछ स्थानो में महावीरादि तीर्थकरों को बुद्ध और बौद्धादि शब्दों से पुकारते हैं और कई स्थानों पर जिन, जैन, जिनवर, जिनेन्द्रादि नामों से बोलते हैं। जिनको चार्वाक बुद्ध की शाखाओं में कहते हैं उन्हें लोग बुद्ध, स्वयं बुद्ध और चारबोवादि कहते हैं। आप अपने ग्रन्थों में देखलिजिये (ग्रन्थ विवेकसार, पृष्ठ ६५, पंक्ति १३) विध, बोध—यह एक सिद्ध अनेक सिद्ध भगवान् हैं (पृष्ठ ११३, पंक्ति ७)।

चारबुद्ध की कथा (पृष्ठ १३७, पंक्ति ८) प्रत्येक बुद्ध की कथा (पृष्ठ १३८, पंक्ति २१) स्वयं बुद्ध की कथा (पृष्ठ १५२, पंक्ति १४)।

चार बुद्ध समकाल मोक्ष को गये। इसी प्रकार और भी आपके ग्रन्थों से कथा स्पष्ट विद्यमान है जिनको आप या और कोई जैन श्रावक विरुद्ध न कह सकेंगे।

और ठाकुरदाम जी पहली चिट्ठी में (उन श्लोकों के साथ जो मैंने इससे पहले पत्र में लिखकर आपके पास भिजवाये हैं) आप लोग कई श्लोक स्वीकार भी कर चुके हैं। उस चिट्ठी की प्रतिलिपि मेरठ में है और आपके पास भी होगी। कल्पभाष्य भूमिका (जिसमें राजा शिवप्रसाद जी ने अपने जैनमनस्थ पितादि पूर्व पुरुषों की परम्परा का वृत्तान्त लिखा है, उनकी साक्षी भी लिख भेजी और इतिहासतिमिर नाशक खंड ३, पृष्ठ ८, पंक्ति २१ से लेकर पृष्ठ ९ की पंक्ति ३२ तक) स्पष्ट लिखा है कि जैन और बौद्ध एक ही के नाम हैं।

कई स्थानों पर महावीरादि तीर्थकरों को बौद्ध कहते हैं, उन्हीं को आप लोग जैन और जिनादि कहते हैं। अब रहे बौद्ध की शाखाओं के भेद जो चार्वाक अभ्याराणकादि हैं जैसा कि आपके यहाँ श्वेताम्बर, दिगम्बर, ढूंढिया आदि शाखाओं के भेद हैं कि उनमें कोई शून्यवाद, कोई क्षणिक, कोई जगत् को नित्य मानने वाला कोई अनित्य मानने वाला, कोई स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति और

प्रलय मानते हैं और कोई आत्मा को पांच तत्त्वों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और उनके मेल से) बनी हुई मानते हैं और उसका नाश हो जाना भी मानते हैं (देखो रत्नावली ग्रन्थ, पृष्ठ ३२ पंक्ति १३ से लेकर पृष्ठ ४३ पंक्ति १० तक) कि उस स्थान पर सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय ही लिखा है या नहीं।

इसी प्रकार चार्वाकादि भी कई शाखावाले जिसको आप पुद्गल कहते हैं, उसको अलूदादि नाम से लिखते हैं और उनके आपस में मिलने से जगत् की उत्पत्ति और अलग होने से प्रलय होना ही मानते हैं और वे जैन और बौद्ध से पृथक् नहीं हैं प्रत्युत जैसे पौराणिक मत में रामानुजादि वैष्णवों की शाखा और पाशुपतादि शैवोंकी और वाममार्गियों की दस महादायास शाखाएं, और ईसाइयों में रोमन कैथलिक आदि और मुसलमानों में शिया और सुन्नी आदि शाखाओं के कतिपय भेद हैं और इतने पर भी वेद और बाईबिल और कुरान के सम्प्रदाय में वे एक ही समझे जाते हैं। वैसे ही आप के अर्थात् जैन और बौद्ध मत की शाखाओं के भेद यद्यपि अलग-अलग लिखे जा सकते हैं परन्तु जैन या बौद्ध मत में एक ही हैं।

आपने बौद्ध अर्थात् जैन मत के प्रत्येक सम्प्रदाय के तन्त्र सिद्धान्त अर्थात् भेद वर्णन करने वाले ग्रन्थ देखे होते तो सत्याथप्रकाश में जो लेख उत्पत्ति और प्रलय के विषय में है उस पर शंका कभी न करते।

प्रश्न नं० २—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३९७, पंक्ति २४ (प्रश्न) "मनुष्यादिकों को ज्ञान है, ज्ञान से वे अपराध करते है, इससे उनको पीड़ा देना कुछ अपराध नहीं"—यह बात जैनमत में नहीं।

उत्तर—ग्रन्थ विवेकसार में पृष्ठ २२८ पंक्ति १० से लेकर पंक्ति १५ तक देख लीजिये, क्या लिखा है अर्थात् गणाभ्योग और स्वजनादि समुद्री की आज्ञा जैसे विष्णुकुमार ने कुछ की आज्ञा से बौद्धरूप रचना करके निमिची नाम पुरोहित को कि वह जिनका विरोधी था, लात मारकर सातवें नरक में भेजा और ऐसी ही और बातें।

प्रश्न नं० ३ सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३९९ पंक्ति ३। और उसके ऊपर (अर्थात् पद्मशिला पर) बैठ के चराचर का देखना।

उत्तर—पुस्तक रत्नसार भाग पृष्ठ २३ पंक्ति १३ से लेकर पृष्ठ २४ पंक्ति २४ तक देख लीजिये कि वहाँ महावीर और गौतम की पारस्परिक चर्चा में क्या लिखा है।

प्रश्न नं० ४—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४०१, पंक्ति २३। और उनके मत में न हुए वे श्रेष्ठ भी हुए तो भी उसकी सेवा अर्थात् जल तक भी नहीं देते।

उत्तर—पुस्तक विवेकसार पृष्ठ २२१, पंक्ति ३ से लेकर पंक्ति ८ तक लिखा है, देख लीजिये कि अन्य मत की प्रशंसा या उनका गुणकीर्तन, नमस्कार प्रणाम करना या उनसे कम बोलना या अधिक बोलना या उनको बैठने के लिये आसनादि देना या उनको खाने-पीने की वस्तु, सुगन्ध, फूल देना या अन्य मत की मूर्ति के लिये चन्दन पुष्पादि देना, ये छः बातें नहीं करनी चाहियें।

प्रश्न नं० ५—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४०१, पंक्ति २७। किन्तु साधु जब आता तब जैनी लोग उसकी दाढ़ी मूंछ और सिर के बाल सब नोच लेते हैं।

उत्तर—ग्रन्थकल्प भाष्य पृष्ठ १०८, पंक्ति ४ से लेकर ६ तक देख लीजिये और प्रत्येक ग्रन्थ में दीक्षा के समय (अर्थात् चेला बनाने के समय) पांच मुट्ठी बाल नोचना लिखा है। यह काम अपने हाथ से अर्थात् चेले या गुरु के हाथ से होता है और अधिकतर ढूंढियों में है।

प्रश्न नं० ६—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४०२, पंक्ति २० से लेकर जो श्लोक जैनियों के बनाये लिखे हैं वे जैनमत के नहीं।

उत्तर—मैं इसका उत्तर इससे पहले पत्र में लिख चुका हूँ (मिति कार्तिक सुदि ४, शनिवार)। आपके पास पहुंचा होगा, देख लीजिये।

प्रश्न नं० ७—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४०३, पंक्ति ११। अर्थ और काम दोनों पदार्थ मानते हैं।

उत्तर—यह मत जैनधर्म से सम्बन्धित सम्प्रदाय चार्वाक का है जिसने ऐसे-ऐसे श्लोक कि जब तक जिये, सुख से जिये, मृत्यु गुप्त नहीं, भस्म होकर शरीर में फिर आना नहीं आदि आदि अपने मत के बना लिये हैं। इसी प्रकार नीति और कामशास्त्र के अनुसार अर्थ और काम दो ही पदार्थ पुरुषार्थ और विधि से माने गये हैं।

यहाँ संक्षेप से आपके प्रश्नों का उत्तर दिया गया है क्योंकि पत्रों के द्वारा पूरी व्याख्या नहीं हो सकती थी। जब कभी मेरा और आपका समागम होवे तब आपको मैं ग्रन्थों के प्रमाण और युक्तियों के साथ ठीक-ठीक निश्चय करा सकता हूँ। आपको और भी जो कुछ संदेह सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास में होवें, (मेरठ आर्यसमाज के द्वारा) लिखकर भेज दीजिये। सबका ठीक उत्तर दे दिया जावेगा। अब मैं यहाँ थोड़े दिन तक रहूँगा और यदि आप अम्वाला तक आ सकें तो मिति १७ नवम्बर, सन् १८८० तक प्रातः आठ बजे से पहले-पहले देहरादून में और उसके पश्चात् आगरे में मुझको तार द्वारा सूचना देनी चाहिये कि मैं आप से शास्त्रार्थ अर्थात् पारस्परिक बात-चीत के लिये वहां पहुंच सकूं।

बुद्धिमान् व्यक्ति के लिये इतना ही पर्याप्त है, अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। मिति कार्तिक सुदि १३ रविवार, संवत् १९३७।

हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती (देहरादून)

फिर पं० आत्माराम जी पूज ने ८ माघ, संवत् १९३७ तदनुसार १९ जनवरी, सन् १८८१ को एक पत्र स्वामी जी के पास भेजा। जिसमें कुछ बातों को माना और कई बातों पर फिर आक्षेप किये। स्वामी जी ने उसका उत्तर भेजा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का दूसरा पत्र

मिति २१ जनवरी, सन् १८८१

आनन्द विजय आत्माराम जी !

नमस्ते। आपका पत्र ८ माघ का लिखा हुआ मेरे पास पहुंचा। लिखित वृत्तात विदित हुआ। मेरे प्रश्नों के उत्तर में जो आपने लिखा है कि बौद्ध और जैन एक ही मत के नाम मानने से हमारी कुछ मानहानि नहीं, इसको पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यही सज्जनों का काम है कि सत्य को मानें और असत्य को न मानें परन्तु यह बात जो आपने लिखी है कि "योगाचारादि चार सम्प्रदाय जैन बौद्ध मत के हैं सो वह बौद्धमत जैनमत से एक पृथक् शास्त्र का है।" इसका उत्तर मैं आपके पास भेज चुका हूँ कि मत में शाखाओं का भेद थोड़ी बातें पृथक् होने से होता है परन्तु मत की दृष्टि से शाखाएं एक ही मत की होती हैं। देखिये कि उन ही नास्तिकों में चार्वाकादि नास्तिक हैं। और जो आप उनका इतिहास और जीवनचरित्र पूछते हैं, सो उसका उत्तर भी मैं दे चुका हूं अर्थात् इतिहास-तिमिरनाशक के तीसरे अध्याय में देख लीजिये।

और आप जिन बौद्धों को अपने मत से पृथक् कहते है, वे आपके सम्प्रदाय से चाहे पृथक् हों परन्तु मत की दृष्टि से कदापि पृथक् नही हो सकते। जैसे कई जैनी उदाहरणार्थ श्वेताम्बर दूसरे जैनियों जैसे समवेगी साधुओं पर आक्षेप करके उन्हें पृथक् और नया मानते है। यह प्रकटरूप से "होवेक" नामक पुस्तक में लिखा है। इसी प्रकार से आप लोगों ने उन पर बहुत से आक्षेप करके उनके मत में संयुक्त निर्णय पुस्तक लिखी है फिर भी इससे वह और आप बौद्ध या जैनमत से अलग नहीं हो सकते। और न कोई विद्वान् उनके धार्मिक सिद्धान्तों की दृष्टि से उन्हें अलग मान सकता है। उनकी समस्याओं में भेद तो अवश्य होगा।

आपके इस वचन से कि 'इसमें क्या आश्चर्य है कि महावीर तीर्थंकर के समय में चार्वाक मत था, उनसे पीछे नहीं हुआ।" इससे मुझको आश्चर्य हुआ।

क्या जो महावीर तीर्थंकर के पहले २३ तीर्थंकर हुए उन सबके पहले चार्वाक-मत को आप सिद्ध नहीं कर सकते। यदि किसी प्रकार का संदेह आपके लिए हो तो प्रश्नकर्त्ता पूछ सकता है कि ऋषभदेव भी चार्वाक-मत से चले हैं? फिर आप उसके उत्तर में क्या कह सकते हैं। क्या चार्वाक १५ जातियों में से एक जाति का भी नहीं है? और उसमें एक सिद्ध और मुक्त नहीं हुआ? क्या वे आपके सिद्धान्तों और पुस्तकों से अलग हो सकते हैं?

इसके अतिरिक्त आपने भी अपने लेख में बौद्धमत को अपने मत में स्वीकार कर लिया है क्योंकि करकंडा आदि को आपने बौद्ध माना है और मैंने भी अपने पहले पत्र में जैन और बौद्ध के एकमत होने का लिखित प्रमाण दे दिया है फिर आपका पुनः पूछना निरर्थक और निष्प्रयोजन है। जिस अवस्था में स्वयं वादी की साक्षी से मुकदमा ठीक सिद्ध हो जाता है तो फिर न्यायाधीश को अन्य पुरुषों की साक्षी लेनी आवश्यक नहीं होती। भला जिसकी कई पीढ़ियाँ जैनमत में चली आई हों अर्थात् राजा शिवप्रसाद की साक्षी को और वर्तमान काल में जो यूरोपियन लोग बड़े परिश्रम से इतिहास बनाते हैं उनकी साक्षी को आप गलत कह सकते हैं कि जिन्होंने अपने इतिहासों में बौद्ध और जैन को एक ही लिखा है और साथ ही यह भी लिखा है कि कुछ बातें आर्य्यों की और कुछ बौद्धों की लेकर जैनमत बना है।

दूसरे प्रश्न के बारे में जो आपने लिखा है, वह नमूची नास्तिक जैनमत का अहितचिन्तक साधुओं को निकालने और कष्ट देने वाला था, उसको मार कर सातवें नरक में भेजा गया। यह लेख आपने सत्यार्थप्रकाश के लेख के उत्तर में नहीं समझा। विचार कीजिये कि वह नमूची जैनमत का शत्रु था, इसलिए मारा गया तो क्या उसने जानबूझ कर पाप नहीं किया था। कितने खेद की बात है कि आप सीधी बात को भी उलटा समझ गये।

तीसरे प्रश्न के उत्तर में जो आपने प्राकृत भाषा का एक श्लोक लिखा है परन्तु उसके अर्थ स्वयं नहीं लिखे, केवल मेरे पर उसका समझना छोड़ दिया। उसका यह अभिप्राय होगा कि मैं उसके अर्थ तक नहीं पहुंच सकूंगा। हाँ मैं कुछ सब देशों की भाषा नहीं जानता हूँ, केवल कुछ देशों की भाषा और संस्कृत जानता हूँ परन्तु मतों और उनकी शाखाओं तथा सम्प्रदायों के सिद्धान्त अपनी विद्या और बुद्धि और विद्वानों की संगति के प्रभाव से जानता हूँ। आप और आप लोगों के पथप्रदर्शकों ने ऐसी भाषा बिगाड़ कर अपनी भाषा बना ली है जैसे धर्म का धम्म आदि। जिनका मत बौद्धिक तथा लिखित युक्तियों से सिद्ध नहीं हो सकता, वे ऐसे-ऐसे अप्रसिद्ध शब्द बना लेते हैं ताकि कोई दूसरा

उसको समझ न सके। जैसे मद्य का नाम तीर्थ, मांस का नाम पुष्पादि बना लिया है ताकि उनके अतिरिक्त कोई दूसरा न जान ले। जो राजा लोग न्यायकारी होते हैं वे तो मार्ग ऐसे सीधे बनाते हैं कि अन्धा भी निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाये परन्तु उनके विरोधी मार्गों को इस प्रकार बिगाड़ते हैं कि कोई परिश्रम से भी चल न सके। आप पुस्तक "रत्नसार भाग" को विश्वसनीय नहीं समझते तो क्या हुआ, बहुत से श्रावक और जैन लोग उसको सच्चा मानते हैं।

देखिये आप ऐसे विद्वान् होकर 'मूर्ख' को 'मूर्रा' लिखते हैं, और पत्र में लिखित शब्दों के ठीक करने में बहुत सी हड़ताल भी लपेटते हैं। कैसे शोक की बात है कि संस्कृत तो दूर रही, देशी भाषा भी आप लोग नहीं जानते परन्तु इस लेख के स्थान पर यह लिखना उचित था कि आपकी भूल का कुछ नहीं क्योंकि मनुष्य प्रायः भूल किया ही करता है।

चौथे प्रश्न के उत्तर में जो कुछ आपने लिखा है, वह बहुत चकित करने वाला है। विद्या प्राप्ति की इच्छा मनुष्य वहाँ प्रकट कर सकता है जहाँ अपने से अधिक किसी विद्वान् को देखता है। मैंने भी उन्हीं विद्वानों से शिक्षा पाई है जो मुझ से अधिक बुद्धिमान् तथा विद्वान् थे। आप भी कदाचित् इसको स्वीकार करते होंगे। क्या आप लोग अन्य मत के विद्वानों को विद्वान् न समझकर शिष्य के विचार से और मोक्ष के परिणाम का ध्यान रखकर किसी विपरीत प्रयोजन की प्राप्ति की इच्छा से दान करते हो। क्या ये बातें अविद्वानों की नहीं हैं कि अपने मत और उसके साधुओं के बड़प्पन का ध्यान रखना और अन्य मत के विद्वानों के विषय में उसके विपरीत चलना। यह अच्छे लोगों की बातें नहीं हैं। निश्चयपूर्वक समस्त सृष्टि में से अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा मानना अन्वेषकों, धर्मात्माओं का काम है और उसको ही हम मानते हैं और उचित है कि आप भी इसको स्वीकार करें। मेरे लेख का अभिप्राय ठीक-ठीक आप उस समय समझेंगे जब कि मेरी और आपकी भेंट होगी। मेरी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के लेख से कोई मनुष्य यह परिणाम नहीं निकाल सकता कि जैनमत के लोगों को चिरकाल तक कष्ट देना और दान न देना और जैनमत बेईमानी की जड़ है। प्रत्युत यह सिद्ध है कि 'अच्छे और ईमानदार लोगों और अनाथों की सहयता करना और बुरे लोगों को समझाना'।

परन्तु इन छः निषेधों ककलंक आपको ऐसा लिपट गया है कि जब ईश्वर की दया हो और आप लोग पक्षपात को छोड़कर यत्न करें तब धोया जा सकता है अन्यथा कदापि नहीं।

भला जब यह प्रकट रूप में लिखा है कि अन्य मत की प्रशंसा न करना और दूसरों को रोटी और पानी न देना तो फिर आप उसको अशुद्ध क्योंकर कर सकते हैं। ये बातें आपके हजारों ग्रन्थों में लिखी हुई हैं और आप लोग इसको समझ लें कि मुझे ऐसा स्वप्न में विचार नहीं आया है। हाँ जो आप लोग कुछ भी विचार कर देखें तो उनका छोड़ देना ही धर्म है, आगे आपकी इच्छा।

पाँचवें प्रश्न का उत्तर—उसके विषय में जो आपने लिखा है उसमे मेरे उत्तर का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि जब बालों के नोचने का प्रमाण आपकी पुस्तकों में लिखा है, और मैंने उसके उद्धरण मे सिद्ध कर दिया। फिर भला कहीं दार्शनिक युक्तियों का आश्रय लेने से उस बात का अस्वीकार हो सकना है, कदापि नहीं।

छठे प्रश्न के उत्तर में—जब मैं यह सिद्ध कर चुका हूँ कि जैन और बौद्ध जिस मत का नाम हैं, उसी की शाखा चार्वाकादि हैं फिर यह कैसे अशुद्ध हो सकता है।

जो आप जैन लोगों के ग्रन्थों में हमारे धर्म के विषय में लिखा है, और जिसका हमारी धार्मिक पुस्तकों में कहीं वर्णन नहीं पाया जाता और इससे हमारे धर्म का अपमान टपकता है। इसलिए आप जैन लोगों से पूछा जाता है कि लौटती डाक से शीघ्र उत्तर दें कि वे बातें हमारी किन धार्मिक पुस्तकों में लिखी हुई हैं। ज्ञात रहे कि जिस व्याख्या और ठीक-ठीक पता दिन मान के साथ पृष्ठ व पंक्त्यादि के उद्धरण सहित मैंने आपके प्रश्नों का उत्तर दिया है। इसी प्रकार आप भी उत्तर दें अन्यथा आप सज्जनों की बड़ी हानि होगी। इस बात को आप केवल विहंगम दृष्टि से न देखें, प्रत्युत एक प्रकार की सावधानता दृष्टिगत रखें ताकि यह लम्बी न हो जावें। उत्तर भेजने में शीघ्रता करने से कल्याण है।

'जैनियों के विवेकसार ग्रन्थ के लेख पर कुछ शंकाएं'

पहली शंका—विवेकसार, पृष्ठ १०, पंक्ति १ में लिखा है कि श्री कृष्ण तीसरे नरक को गया।

दूसरी शंका—विवेकसार, पृष्ठ ४०, पंक्ति ८ से १० तक लिखा है कि हरिहर, ब्रह्मा, महादेव, राम, कृष्णादि कामी, क्रोधी, अज्ञानी, स्त्रियों के दूषी, पाषाण की नौका के समान आप डूबते और सबको डुबाने वाले हैं।

तीसरी शंका—विवेकसार, पृष्ठ २२४, पंक्ति ६ से पृष्ठ २२५ की पंक्ति

१५ तक लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादि सब अदेवता और अपूज्य हैं।

चौथी शंका—विवेकसार, पृष्ठ ५५, पंक्ति १२ में लिखा है कि गंगादि तीर्थों और काशी आदि क्षेत्रों से कुछ परमार्थ सिद्ध नहीं होता।

पांचवीं शंका—विवेकसार, पृष्ठ १३८, पंक्ति ३० में लिखा है कि जैन का साधु भ्रष्ट भी हो तो भी अन्य मत के साधुओं से उत्तम है।

छठी शंका—विवेकसार, पृष्ठ १ पंक्ति १ से लेकर कहा कि जैनों में बौद्धादि शाखाएं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जैनमत के अन्तर्गत बौद्धादि सब शाखाएं हैं। —हस्ताक्षर स्वामी-दयानन्द सरस्वती, आगरा

मिति माघ बदि ६, शुक्रवार, संवत् १६३७ तदनुसार २१ जनवरी, सन् १८८१

उधर स्वामी जी तो अपने योग्य पण्डित आत्माराम जी के प्रश्नों का खण्डन लिख रहे थे और आत्माराम जी भी अपने प्रश्न लिखकर जो स्वामी जी ने उनका उत्तर लिखा था, उसका उत्तर तैयार कर रहे थे कि ठाकुरदास ने बीच में अपनी हानि समझ और अपनी प्रसिद्धि कम होती जानकर स्वामी जी के नाम २२ नवम्बर, सन् १८८० को एक नोटिस जारी कर दिया।

जिसमें प्रथम तो समस्त पिछले पत्रव्यवहार का अपने विचार के अनुसार सार था और अन्त में यह सभ्यतापूर्ण शब्द लिखे थे—

"यदि आपकी अब भी क्षमा माँगने की इच्छा हो तो शीघ्र मांग लो परन्तु पीछे से यह न कहना कि जैनियों में दया और क्षमा नहीं। अब भी यदि आप अपना क्षमा-पत्र भेज द तो आप पीछे से निर्लज्जता उठाने की आपत्ति से बच सकते हैं, नहीं तो आपको अधिकार है। आपकी आज्ञानुसार हमने अंबाला, लुधियाना इत्यादिक स्थानों के बहुत से जैनों को इस काम में अपने साथ मिला लिया है जो अपना-अपना नोटिस भी आपको देंगे और आप ने चिट्ठी-पत्री भेजने में ही इतने छल किये हैं कि इसमें भी आप पकड़ जायेंगे क्या आप झूठ लिख-लिखकर औरों को धोखे में फंसाते और मेरा नाम बदनाम करते हैं। आप स्मरण रखिये कि आपके ये सब कपट न्यायालय में प्रकट किये जावेंगे और उसका यथायोग्य दण्ड भी आपको दिलाया जावेगा। इस पत्र का उत्तर चाहे आप भेज या न भेजें, यह आपकी इच्छा है।"

परन्तु यह नोटिस वापस आ गया। स्वामी जी को न पहुंचा क्योंकि हमारे चालाक ला० ठाकुरदास ने उसे न तो देहरादून भेजा और न आगरा प्रत्युत अंबाले भेजा। इसलिए अवश्य वापस आना ही था क्योंकि पता अशुद्ध था। यद्यपि आर्य्यसमाज गूजरांवाला ने भी उनको ठीक-ठीक पता बतला

दिया था। (देखो 'आर्य्य समाचार' पृष्ठ ३३७, खण्ड २, संख्या २३) और यदि न भी बतलाते तो स्वामी जी के पत्र से भी आत्माराम जी और उनको विदित था कि वे १७ नवम्बर के पश्चात् आगरे जायेंगे और उनका वहाँ जाना और उपदेश करना प्रत्युत शास्त्रार्थ करना 'नसीम' आगरा और 'भारती विलास' में प्रकाशित हो चुका था। इसलिए यह जान बूझ कर चालाकी थी या अनपढ़ होने के कारण आगरा का अम्बाला स्मरण रखा। धन्य है।

फिर ला० ठाकुरदास ने २१ दिसम्बर, सन् १८८१ को फार्सी अक्षरों में एक नोटिस लिखा और समाजों के नाम भेजा जिसका विषय यह था कि 'हमारे प्रश्न का उत्तर स्वामी जी के पास नहीं है इससे स्वामी जी छुपकर बैठे हैं तो आप उनका ठाँव ठिकाना बता दो। इसके उत्तर में आर्य्य-समाज की ओर से एक नोटिस जारी हुआ जिसके शीर्षक में यह शेर लिखा गया था—

'गर न वीनद बरोज शप्र्रा चश्म।
चश्मये आफताब रा च गुनाह॥'

अर्थात् यदि दिन के समय में अन्धे को न दिखाई दे तो इसमें सूर्य्य का क्या दोष है।

इसमें उसकी समस्त बातों का उत्तर और स्वामी जी का पता भी लिखा हुआ था। (देखो समाचर, पृष्ठ ३३७, बुधवार) परन्तु ठाकुरदास चूँकि स्वयं पढ़ा हुआ नहीं है और कुछ ख्याति का भी इच्छुक है उसको विज्ञापन मे भी पता न मिला अर्थात् न पढ सका।

'उन्मत्त अपने काम मे चतुर होता है इस कहावत के अनुसार उसने १२ जनवरी को एक पत्र आर्यसमाज गूजराँवाला के नाम भेजा जिसमें लिखा था कि 'स्वामी जी के साथ सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए हम २०-२३ जनवरी तक अंबाला में इकट्ठे होंगे। तुम स्वामी-दयानन्द जी को अंबाला भेजो।

परन्तु स्वामी जी के लेखानुसार न तो आत्माराम जी ने उनको लिखा और न तार दिया और न आत्माराम जी शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हुए और न ठाकुरदास के अतिरिक्त किसी और विद्याप्रेमी जैन ने स्वामी जी को लिखा। इसलिए वहाँ कोई शास्त्रार्थ न हुआ क्योंकि आत्माराम जी शास्त्रार्थ से और फिर स्वामी के साथ शास्त्रार्थ करने से अत्यन्त जी चुराते और घबराते थे। (दिग्विजयार्क पृ० २६–३१, लेखराम पृ० ६५०–६८०)

वैदिकधर्म तथा ईसाई मत

(फादर कानरीड साहब आगरा से धर्मचर्चा—१२ दिसम्बर, १८८०)

नोट—यह धर्मचर्चा फादर कानरीड साहब ओ० सी० वाई० रेवरेण्ड नायब विशप सैंट पीटरसन रोमन कैथलिक चर्च आगरा और श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज के मध्य १२ दिसम्बर सन् १८८०, रविवार तदनुसार मंगसिर शुक्ला ११, संवत् १९३७ विक्रमी को हुई।

स्वामी जी कई वकीलों और सम्मानित व्यक्तियों तथा मार्टिन साहब म्यूनिसिपल कमिश्नर सहित बिशप साहब से मिलने को गये।

स्वामी जी—नास्तिक लोग उत्पन्न करने वाले को नहीं मानते। यदि हम और आप और दूसरे मत के बुद्धिमान् लोग मिलकर और सब मतों में जो सत्य बातें हैं उनका विचार करके जिनपर सब लोग एकमत हो जावें, और आपस का मतभेद जाता रहे तो विरोध में केवल नास्तिक लोग ही रह जावेंगे। फिर उनको हम अच्छी प्रकार बौद्धिक युक्तियों के द्वारा परास्त कर देंगे। गोरक्षा जिसमें लाभ ही लाभ हैं, ऐसी श्रेष्ठ बातों में हमको और आपको और सबको मिलकर काम करना चाहिये।

विशप साहब—यह काम अत्यन्त कठिन है इसलिये कि मुसलमान हलाल करना कभी न छोड़ेंगे। वैसे ही ईसाई लोग मांस खाना कभी न छोड़ेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर अवश्य है और चूंकि ईश्वर की सूरत नहीं देखी और वह बोलता नहीं है, इस कारण से यह अवश्य है कि उसने अपना एक स्थानापन्न धर्म का बतलाने वाला संसार में भेजा। जिस प्रकार महारानी विक्टोरिया विना दूसरे के भारतवर्ष का शासन नहीं कर सकती, उसी प्रकार खुदा विना खुदावन्द यीशु मसीह की सहायता के संसार के मनुष्यों का तथा मुक्ति का प्रबन्ध नहीं कर सकता।

स्वामी जी ने कहा कि प्रथम तो जो उदाहरण है वह ठीक नहीं क्योंकि जीव की परमेश्वर से कोई समानता नहीं। पहले ईश्वर का लक्षण होना चाहिये कि ईश्वर क्या वस्तु है। स्वामी जी ने उसके विशेषण सर्वज्ञ, अविनाशी, सर्वशक्तिमान् आदि बताये और कहा कि ऐसे गुणों वाला ईश्वर किसी के आधीन नहीं कि स्वयं प्रबन्ध न कर सके और दूसरे से सहायता लेनी पड़े। तीसरे यदि हम मान भी लें कि ईसा कोई अच्छे पुरुष थे तो भी एक मनुष्य थे। और ईश्वर न्यायाधीश है वह एक मनुष्य के कहने से अन्याय नहीं कर सकता। जैसा जिसका कर्म होगा वैसा ही फल देगा। इसलिये यह असम्भव है कि

न्यायविरुद्ध परमेश्वर किसी की सिफारिश मानकर पुण्य-पाप के अनुसार फल न देवे। अतः ईश्वर को स्थानापन्न भेजने की आवश्यकता नहीं। स्थानापन्न देना यह कार्य्य मनुष्यों का है। वह ऐसा स्वामी है कि समस्त कार्य्य और प्रत्येक प्रबन्ध बिना स्थानापन्न के कर सकता है।

बिशप साहब—क्योंकर प्रबन्ध कर सकता है?

स्वामी जी—शिक्षा अर्थात् ज्ञान के द्वारा।

बिशप साहब—वह पुस्तक ज्ञान की कौन सी है?

स्वामी जी—चारों वेद ईश्वर की ओर से प्रमाण हैं (१८ पुराणों का नाम नहीं लिया)।

बिशप साहब—क्या अठारह पुराण भी धर्मपुस्तक हैं?

स्वामी जी—नहीं।

बिशप साहब—चारों वेद कैसे आये, ईश्वर ने किसको दिये, किसने संसार में पहले समझाये?

स्वामी जी—अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, चारों ऋषियों के आत्मा में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया, उन्होंने समझाया।

बिशप साहब—वेद ईश्वर की ओर से नहीं प्रत्युत वेद का बनाने वाला एक ब्राह्मण है, जिसका नाम इस समय स्मरण नहीं रहा।

स्वामी जी—ऐसा नहीं, वेद सृष्टि की आदि में परमात्मा ने प्रकाशित किये। किसी ब्राह्मण ने इनको नहीं बनाया प्रत्युत वेद पढ़ने से मनुष्य ब्राह्मण बन सकता है और जो वेद न पढ़े वह कदापि ब्राह्मण नहीं कहला सकता।

बिशप साहब—वे चारों मर गये या जीवित हैं?

स्वामी जी—मर गये हैं।

बिशप साहब—उनके पश्चात् उनका स्थानापन्न कौन हुआ और एक के पश्चात् कौन स्थानापन्न होता रहा और अब कौन है?

स्वामी जी—हजारों लाखों ऋषि मुनि उनके स्थानापन्न होते रहे। जैसे छः शास्त्रों के कर्ता छः ऋषि, उपनिषदों तथा ब्राह्मणों के लेखक ऋषि मुनि लोग। उनके अतिरिक्त प्रत्येक काल में जो ऋषियों के निश्चित नियमों के अनुसार चले, शुद्धाचारी हो वही स्थानापन्न हो सकता है परन्तु आप बतलाइये ईसा के पश्चात् आपके यहाँ अब तक कौन हुआ?

बिशप साहब—हमारे यहाँ ईसा के पश्चात् रोम का पोप अर्थात्

उच्चतम पादरी ईश्वर का स्थानापन्न समझा जाता है। जो भूल हम लोगों से हो जावे उसका सुधार उच्चतम पादरी अर्थात् रोम के पोप द्वारा होता है।

स्वामी जी—और जो भूल रोम के पोप से हो उसका सुधार किस प्रकार हो सकता है? आपको पोप के अत्याचार और धार्मिक झगड़ जो लूथर के काल मे पहले और उस समय होते थे और कुछ अब तक जारी है, भली प्रकार विदित होंगे और इसी प्रकार ईसाइयों की पहली सभाओं का वृत्तान्त और धार्मिक झगडे और सार्वजनिक हत्याएं आपसे छुपी न होंगी। उनका सुधार किस प्रकार वह पोप जो स्वयं उनका आरम्भकर्ता है और जो स्वयं उन रोगों में फंसा हुआ है, कर सकता है? यह बात ठीक वैसी ही है जिस प्रकार हमारे पोप पौराणिक लोगों की।

विशप साहब इसका कोई बुद्धिपूर्वक और युक्तियुक्त उत्तर जिससे स्वामी जी और श्रोताओं का सन्तोष हो, न दे सके। तत्पश्चात् लगभग १२ बजे के समय स्वामी जी एक बड़ा गिर्जा देखने के लिये चले गये। (ले० पृ० ६६१-६६३)

विविध विषय

(पं० लेखराम जी द्वारा किये हुए प्रश्नों का उत्तर—१७ मई, १८८१)

आर्यपथिक पं० लेखराम जी अपने बनाये हुए महर्षि के जीवन-चरित्र में लिखते हैं—

११ मई, सन् १८८१ को संवाददाता पेशावर से स्वामी जी के दर्शनों के निमित्त चलकर १६ की रात को अजमेर पहुंचा। और वहां पहुंचकर स्टेशन के समीप वाली सराय में डेरा किया। और १७ मई को प्रातःकाल सेठ जी के बागीचे में जाकर स्वामी जी का दर्शन प्राप्त किया। उनके दर्शन से मार्ग के समस्त कष्टों को भूल गया और उनके सत्योपदेशों से समस्त समस्याएं सुलझ गईं। जयपुर के एक बंगाली सज्जन ने मुझ से प्रश्न किया था कि आकाश भी व्यापक है और ब्रह्म भी, दो व्यापक किस प्रकार इकट्ठे रह सकते हैं?

मुझसे इसका कुछ उत्तर न बन पाया। मैंने यही प्रश्न स्वामी जी से पूछा। उन्होंने एक पत्थर उठाकर कहा कि इसमें अग्नि व्यापक है या नहीं?

मैंने कहा कि व्यापक है।

फिर पूछा कि मिट्टी? मैंने कहा कि व्यापक है।

फिर पूछा कि जल? मैंने कहा कि व्यापक है।

फिर पूछा कि आकाश और वायु? मैंने कहा कि व्यापक है।

फिर पूछा कि परमात्मा ? मैंने कहा कि वह भी व्यापक है।

कहा कि देखा कितनी चीजें हैं परन्तु सब इसमें व्यापक हैं। वास्तव में बात यह है कि जो जिससे सूक्ष्म होती है वह उसमें व्यापक हो सकती है। ब्रह्म चूंकि सबमे अति सूक्ष्म है इसलिये सर्वव्यापक है, जिससे मेरी शान्ति हो गई।

मुझ मे उन्होंने कहा कि और जो तुम्हारे मन में सन्देह हों सब निवारण कर लो मैंने बहुत सोच विचार कर दश प्रश्न लिखे जिनमें से आठ मुझे स्मरण हैं, शेष भूल गये।

प्रश्न—जीव ब्रह्म की भिन्नता में कोई वेद का प्रमाण बतलाइये ?

उत्तर—यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय सारा जीव-ब्रह्म का भेद बतलाता है।

प्रश्न—अन्य मत के मनुष्यों को शुद्ध करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर—अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—विद्युत् क्या वस्तु है और किस प्रकार उत्पन्न होती है ?

उत्तर—विद्युत् सर्वत्र है और रगड़ से उत्पन्न होती है। बादलों की विद्युत् भी बादलों और वायु की रगड़ से उत्पन्न होती है।

मुझ से कहा कि २५ वर्ष से पूर्व विवाह न करना। कई ईसाई और जैनी प्रश्न करने आते परन्तु शीघ्र निरुत्तर हो जाते थे। (लेखराम पृ० ५३२)

जैनमत

(जैन साधु सिद्धकरण जी से मसूदा में शास्त्रार्थ—६ जौलाई से १६ जौलाई, १८८१ तक)

जब आषाढ़ बदि १२, संवत् १९३८ तदनुसार २३ जून, सन् १८८१ को स्वामी जी धर्मोपदेश के निमित्त मसूदा पधारे तो कई दिन तक निरन्तर व्याख्यान देने के पश्चात् ५ जौलाई, सन् १८८१ को राव बहादुरसिंह साहब रईस मसूदा ने अपनी रियासत के सम्मानित जैनियों को बुलाकर कहा कि तुम अपने किसी विद्वान् पण्डित या मतावलम्बी को बुलाओ ताकि उससे स्वामी जी का शास्त्रार्थ कराया जावे और सत्यासत्य का निर्णय हो।

जैनियों ने उत्तर दिया कि हम अपने साधु सिद्धकरण जी को बुलाते हैं, वे स्वामी जी से शास्त्रार्थ करेंगे।

रावसाहब ने कहा कि वे कहाँ हैं ? जैनियों ने उत्तर दिया कि वे ग्राम

सर्वाड़ किशनगढ़ क्षेत्र में यहाँ से १६ कोस पर हैं। रावसाहब ने कहा कि हमारे यहाँ से सवारी ले जाओ और तुम में से कोई जाकर साधु जी को बुला लाये। उन्होंने उत्तर दिया कि सवारी पर बैठकर वे नहीं आते परन्तु उनका चतुर्मासा यहाँ पर करना निश्चित हुआ है, इसलिए विश्वास है कि कल आ जावेंगे। दैवयोग से प्रातःकाल आषाढ़ सुदि १०, संवत् १९३८ तदनुसार ६ जौलाई, सन् १८८१, बुधवार को साधु जी वहाँ आ विराजे। आषाढ़ सुदि १३, अर्थात् ९ जौलाई सन् १८८१ शनिवार को स्वामी जी महाराज अपने नियमानुसार भ्रमण को गये तो सिद्धकरण साधु से जो शौचादि से निवृत्त होकर आते थे, मार्ग में भेंट हो गई। साधु ने स्वामी जी के निकट आकर कहा कि आपका क्या नाम और कहाँ से पधारना हुआ।

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मेरा नाम दयानन्द सरस्वती है और अजमेर से आया हूँ। फिर स्वामी जी ने कहा कि आपका क्या नाम है और कहां से आना हुआ। साधु जी ने कहा कि मेरा नाम सिद्धकरण है और सर्वाड़ किशनगढ़ क्षेत्र से आया हूँ, चार मास यहीं रहूँगा।

स्वामी जी—यहाँ पर आप कहाँ ठहरे हैं?

साधु ने कहा कि एक उपाश्रय में।

स्वामी जी ने कहा कि आप ही को जैनियों ने बुलाया है?

साधु०—हाँ मुझी को।

और साधु जी ने कहा कि आपका पेट तो बड़ा मोटा है, क्या इसमें ज्ञान भरा है? आप लोहे का तवा बाँध लीजिये नहीं तो फट जायेगा। आपको ज्ञान-अजीर्ण हो रहा है।

स्वामी जी ने उसका उस समय उत्तर देना अनुचित समझ साधु से यह प्रश्न किया कि आप लोग मुख पर पट्टी बाँधते और गर्म जल क्यों पीते हो?

साधु जी ने कहा कि जो आप भी मुख पर पट्टी बाँधें तो मैं इसका उत्तर दूँ।

अभी इनमें परस्पर वादानुवाद हो ही रहा था कि रावसाहब ने जो प्रायः अपने महल की छत पर बैठ प्रातःकाल दूरवीक्षण द्वारा स्वामी जी को भ्रमण करते देखा करते थे, देखा कि किसी से स्वामी जी वार्ता कर रहे हैं। तत्काल ही रावसाहब घोड़े पर सवार होकर स्वामी जी के पास आ उपस्थित हुए। रावसाहब को देख साधु चलने लगा। तब रावसाहब ने साधु जी से कहा कि ठहरो, प्रश्न करो, क्यों जाते हो? अन्त को रावसाहब के आते ही साधु जी चले ही गये और स्वामी जी महाराज और राव बहादुरसिंह जी मार्ग

में परस्पर वार्ता करते हुए निज स्थान को पधारे। फिर स्वामी जी ने श्रावण बदि २, संवत् १९३८, बुधवार तदनुसार १३ जौलाई, सन् १८८१ को निम्नलिखित प्रश्न पंडित छगनलाल कामदार और ज्योतिषी जगन्नाथ आदि सम्मानित व्यक्तियों के हाथ सिद्धकरण साधु के पास भेजे।

प्रश्न—जैन-मतान्तर्गत तुम लोग ढूँढ़िये जो मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा जानते हो, यह तुम्हारी बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की रीति से सिद्ध नहीं है। ईससे जो तुम ऐसा मानते हो कि मुख की वायु से जीव मरते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि जीव अजर-अमर हैं और तुम भी ऐसा ही मानते होगे। जो तुम कहो कि जीव तो नहीं मरता परन्तु उसको पीड़ा अर्थात् दुःख देवें तो हम पाप के भागी होते हैं तो भी सर्वथा ठीक नहीं क्योंकि ऐसा किए बिना किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। इसमें जो तुम कहते हो कि जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जीवों की रक्षा करनी चाहिए। कारण सर्व वायु आदि पदार्थ जीवों से भरे हैं। इसलिए हम लोग मुख पर कपड़ा बाँधते हैं कि मुख से उष्ण वायु निकलने से बहुत से जीवों को दुःख और बाँधने से थोड़े जीवों को कष्ट पहुंचता है तो यह भी कहना आप लोगों का अयुक्त है क्योंकि कपड़ा बाँधने से जीवों को बहुत दुःख पहुंचता है। कारण यह है कि मुख पर कपड़ा बाँधने से गर्मी रखने से उष्णता अधिक होती है जैसे किसी मकान का द्वार बन्द हो और पर्दा डाला जाये तो उसमें गर्मी अधिक होती है और खुला रखने से कम होती है। इससे विदित होता है कि मुख पर कपड़ा बाँधने से जीवों को अधिक पीड़ा होती है। इसलिये जो कोई मुख पर कपड़ा बाँधते हैं वे जीवों को अधिक पीड़ा पहुंचाने से अधिक पापी होते हैं। जो नहीं बांधते वे उन बांधने वालों से अच्छे हैं। किन्तु जब तुम मुख पर कपड़ा बाँधते हो तो मुखद्वारा वायु रुककर नाक के छिद्र से जो बाहर निकलती है, वह जीवों के लिए अधिक दुःखदायी होती है। जैसे मुख से कोई अग्नि फूंके और कोई नल से तो नल से वायु चारों ओर से रुक अधिक बलवान् हो अग्नि से लगती है। इसी प्रकार नाक की वायु जीवों को अधिक पीड़ा पहुंचाती है। इससे तुम हिंसक हो। जो तुम कहो कि हम नाक और मुख पर एक कपड़ा बांधेंगे तो पूर्वोक्त रीति से मुख और नासिका दोनों की गर्मी बढ़कर दुगुनी हिंसा होगी। इससे मुख और नासिका पर कपड़ा बाँधना कदापि योग्य नहीं। दूसरे कपड़ा बांधने से बोला भी ठीक-ठीक नहीं जाता। निरनुनासिक शब्दों को सानुनासिक कर देना दोष है। दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध है। शरीर से जितना वायु निकलता है वह दुर्गन्धयुक्त ही है। जब वह रोका जाये तो अधिक दुर्गन्ध बढ़ता है जैसा कि बन्द

जाजरूर। इस प्रकार मुखादि प्रक्षालन न करने और मुख पर कपड़ा बांधने से अधिक दुर्गन्ध होकर अधिक रोग उत्पन्न करता है जैसा कि मेले आदि में। और न्यून दुर्गन्ध विशेष रोग नहीं करता, यह बात प्रत्यक्ष है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने वाला अधिक अपराधी होता है। जैसा कि आप लोग दन्तधावन और स्नानादि कम करने से दुर्गन्ध बढ़ाते हो जिससे रोगोत्पत्ति कर बुद्धि और पुरुषार्थ को नष्ट करके धर्मानुष्ठान के बाधक होते हो। जैसे जाजरूर (मलागार) के शुद्ध करने वालों की दुर्गन्ध के संग से न्यून बुद्धि होती है वैसे आप लोगों की क्यों नहीं होती होगी। जब दुर्गन्धयुक्त पुरुष की बुद्धि अति मन्द होती है तो उसके संगियों की क्यों नहीं होती होगी।

("देश हितैषी" खंड १, संख्या २, पृष्ठ ७ से १३, ज्येष्ठ मास, संवत् १९३९)

"जो तुम लोग कच्चा जल पीने आदि में दोष गिनते और उष्ण में नहीं, यह भी तुमको अत्यन्त भ्रम हुआ है क्योंकि ठंडे के जीव उष्ण जल करने में अधिक दुःख पाते हैं और उनके शरीर जीवित जल में घुल जाते हैं जैसे सौंप का अर्क। सिद्ध हुआ कि उक्त जल के पीने वाले मानो माँस का जल पीते हैं और जो ठंडा जलपान करते हैं वे (इन जीवों को) गर्म जल पीने वालों की अपेक्षा थोड़ा दुःख देते हैं। दूसरे वे जीव जठराग्नि में प्राप्त होकर भी बहुत से प्राण-वायु के साथ बाहर भी निकल जाते है। इससे ठंडा जल पीने वाले तुमसे बहुत कम जीवों को दुःख देने वाले ठहरते हैं। जो तुम कहो कि न हम जल गर्म करते हैं और न हम किसी को शिक्षा अपने लिए जल को उष्ण करने की करते हैं, तो भी तुम अपराध से नहीं छूट सकते क्योंकि जो तुम गर्म जल न लेते, न पीते और न उष्ण करने की शिक्षा करते तो वे अधिक जल क्यों गर्म करते। जो ऐसा कहो कि पाप करने वालों को दोष लगता है, अन्य को नहीं। यह भी कथन ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि चोरी करने वाला तो आप ही चोरी करता है परन्तु शिक्षा करने वाले बहुतों को चोर बना देते हैं, इसलिए तुम ही अधिक पापी हुए। फिर जल के गर्म करने में अग्नि जलाते और उस जल से भाप ऊपर उड़ाने से भी जीवों को बहुत दुःख पहुंचता है। इस कारण यह भी तुम्हारा कथन व्यर्थ हुआ।

तुम्हारे मत में ऐसी-ऐसी बहुत-सी बात अयुक्त हैं, जैसे एक छोटे से अर्थात् पैसा भर के कुण्ड में अनन्त जीवों का रहना। इसमें जो कोई तुमसे प्रश्न करे कि जिसमें जीव रहते हैं उसका अन्त है, उसमें रहने वालों का अन्त क्यों नहीं? फिर तुमसे उसके उत्तर में केवल चुप वा हठ के अतिरिक्त और कुछ न बन पड़ेगा। यह थोड़ा सा अर्थात् समुद्र में से बिन्दुवत् तुम्हारे मत के

सिद्धान्तों में दोष दिखलाया है। जो तुम सम्मुख बैठ कर चर्चा करो तो तुमको और तुम्हारे साथियों को तुम्हारे मत के दोष भली-भांति विदित हो जायें परन्तु जब कोई विद्वान् तुम्हारे सम्मुख तुम्हारे मत के खण्डन-विषय में चर्चा करना चाहे तो भी तुम कभी न चाहोगे क्योंकि जो तुम्हारा मत निर्दोष होता तो दूसरे मत वालों से संवाद करने में कभी न डरते। इसका दृष्टान्त यह है कि तुम अपनी पुस्तकों को बहुत गुप्त रखते और अपने मतवालों के अतिरिक्त दूसरों को देखने के लिए नहीं देते। यह तुम्हारा सिद्धान्त पुस्तक और तुम्हारे सिद्धान्तों को तुम्हारी ही बातें झूठी कर देती हैं। जिसका चाँदी का रुपया है, वह सर्राफा और सुनारादि को दिखलाने में क्यों डरेगा? देखो! हमारा वेद-मत सच्चा है इसमे हमको किसी के साथ चर्चा करने में डर नहीं होता। जैसे तुम डर के कारण हठ करते हो कि मुख पर कपड़ा बाँधे विना तुमसे हम बात नहीं करते। यह तुम्हारा केवल छल है क्योंकि "नाच न आवे आँगन टेढ़ा।"

हस्ताक्षर—दयानन्द सरस्वती

जब उक्त प्रश्नों को लेकर साधु जी के स्थान पर पहुंचे तो क्या देखते हैं कि साधु जी बहुत से स्त्री और पुरुषों के मध्य में बखान (व्याख्यान) कर रहे हैं तब यह लोग वहां जा बैठे। जब बखान पूर्ण हो चुका तब पंडित छगनलाल मंत्री राव मसूदा ने जो उक्त प्रश्न ले गये थे सब लोगों के सम्मुख पढ़कर सुना दिये और कहा कि इनका उत्तर देना आपको योग्य है। इस पर साधु जी ने कहा कि जो तुम लोग मुख पर पट्टी बांधो तो मैं उत्तर दूं। तब उन लोगों ने कहा कि हम मुख पर पट्टी बाँधना पाप गिनते हैं। आप इन प्रश्नों का उत्तर दें, जब पट्टी का बाँधना सिद्ध कर देंगे तब हम प्रसन्नतापूर्वक पट्टी क्या जैसा आप हमसे कहेंगे, स्वीकार करेंगे। यह सुन साधु ने कहा कि मैं उत्तर नहीं दे सकता और उठ कर भीतर की ओर चले गये। फिर उन्होंने सब वृत्तान्त स्वामी जी और राव साहब को सुनाया और अपने-अपने स्थान को पधारे। तत्पश्चात् साधु जी ने तीसरे दिन अर्थात् १५ जोलाई, सन् १८८१ को मुजानमल कोठारी के हाथ स्वामी जी के प्रश्नों के निम्नलिखित उत्तर भेजे।

"साधु सिद्धकरण जी की ओर से प्रश्नों के उत्तर"

प्रश्न=मुंह बांधने में क्या धर्म है? हमको तो पाप प्रतीत होता है इत्यादि।

उत्तर—जबकि मकान में अग्नि की ज्वाला निकलती है, उस मकान के द्वार में होकर वायु भीतर जाती है तो वायु के जीव सब मर जाते हैं। जब बारड़ा (द्वार) बन्द किया जावे वायु की ओट से सब जीव बच सकते हैं और

बाहर भी उस ज्वाला का तेज कपड़े की ओट से ठंडा होकर जाता है जैसा कि उष्ण जल की भाप। बाहर एक गर्म की हुई चीज की भाप के निकलते समय कपड़े की ओट दो तो फिर ओट से बचकर भाप बाहर जावेगी वह फिर वैसी गर्म कभी न रहेगी वा आड़ा हाथ देकर देखो तो पहले जो हाथ देगा उसका जलेगा। वही जल की भाप निकलेगी तो दूसरी ओर जो आजूबाजू जो हाथ रहेगा कभी वैसा नहीं जल सकता। यह तो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है और जीव अजर, अमर है परन्तु वायु के जीव का शरीर है। विना शरीर के जीव नहीं रह सकता। दूसरे खुले मुख रहने से प्रत्यक्ष दोष भी है कि उसको सब कोई समझ सकता है क्योंकि जो कोई बड़े मनुष्य के निकट बात करे तो मुंह के पल्ला लगा रहता है क्योंकि जिससे थूक न उछले वा अपनी दुर्गन्धता का श्वास उनके द्वारा न पहुंचे तो आपड़ों से (आप सरीखे) बुद्धिमान होकर यह क्या प्रश्न पूछा। आपको भी तो यह विचार करना चाहिए कि वेद की पुस्तकों को खुले मुंह बाँचना क्या पुस्तक के थूकारा वा दुर्गन्ध-श्वासा नहीं पहुंचती होगी? इसलिए अवश्य आपको उघाड़े (खुले मुख) रहना उचित नहीं और हम तो साधु हैं, हम निरर्थक जोड़ नहीं करते क्योंकि यह बात पक्षपात कहलाती है, धर्म के अतिरिक्त साधु को कुछ प्रयोजन नहीं। कोई हमारे निकट आवे और सुनना चाहे तो सुने। जाने-आने का कुछ प्रयोजन नहीं। हाँ यह पक्की देखी कि कुछ धर्म की बात मानेंगे तो जा भी सकते हैं।

हस्ताक्षर—सिद्धकरण

(देश-हितैषी, खंड १, संख्या ४ पृष्ठ ७ से १० तक)

उत्तर पक्ष। स्वामी दयानन्द जी महाराज की ओर से उत्तर—

उत्तर—जबकि मकान में अग्नि की ज्वाला निकलती है इत्यादि। यह तुम्हारा मुख पट्टी बाँधने का उत्तर अविद्यारूप है क्योंकि बाहर का वायु ही सब पदार्थों का जीवनहेतु है। विना इसके संयोग के कोई भी प्राणी नहीं बच सकता और उसके सम्बन्ध के विना अग्नि भी नहीं जल सकती। जैसे किसी प्राणी वा जलती अग्नि को बाहर की वायु से वियुक्त करें तो वह उसी समय मर जाता है। और दीपकादि अग्नि भी बुझ जाता है क्योंकि इसके जलाने आदि का कारण बाहर का वायु है। न मानो तो बन्द कर देख लो। इसलिए यह तुम्हारा अविद्यारूपी उत्तर सिद्ध होता है। यद्यपि ऐसी अन्यथा बातों पर लिखना व्यर्थ है क्योंकि जो किसी से हो ही नहीं सकता। देखो जो मकान के द्वार और छिद्र बिल्कुल बन्द किये जायें तो अग्नि कभी न जलेगी और एक ओर से ओट किया जाये तो दूसरी ओर से जहाँ मार्ग पाता है वहाँ से अतिवेग से चलकर

वही वायु के जीवों से उसका सम्बन्ध होता है और कपड़े की ओट से भी वह कभी ठंडा नहीं हो सकता किन्तु वह एक ओर से रुक कर दूसरी ओर से गर्म हो जाता है ज्वाला की जितनी गर्मी है। जबतक बाहर की वायु से सम्बन्ध और संघात छूट एक-एक परमाणु पृथक्-पृथक् होकर न मिल जायें तबतक अग्नि ठंडा कैसे हो सकता है। और सर्वत्र वायु में विद्युतरूप अग्नि भी (कि जहाँ वायु के शरीर वाले जीव हैं) व्याप्त हो रहा है फिर वायुस्थ जीव क्यों नहीं मर जाते ? जब एक ओर कपड़े आदि से आड़ा किया जाये तो दूसरी ओर गर्म वायु अधिक इकट्ठा फैलने और टपकने से शीघ्र ठंडा नहीं होता किन्तु जो चारों ओर से खुला रहे तो शीघ्र ठंडा हो जाता है जैसे कि मैदान की अग्नि। जब अग्नि की ओर आड़ा हाथ दिया जाये तो हाथ की आड़ से दूसरी ओर गर्मी फैलेगी। आड़े हाथ करने से गर्मी कुछ भी कम नहीं हो सकती इससे यह अविद्वानों की बात है। देखो जो सूर्य्य की ओर हाथ करे तो क्या सूर्य्य की गर्मी घट जाती है और क्या जिस बर्तन में जल गर्म किया जाता है उसका मुख खुला रखने से अधिक गर्मी और आधा वा तीन भाग बन्द करने से अर्थात् आधे वा चौथे भाग से भाप अधिक और जोर से निकल कर बाहर की वायु में नहीं फैलती। और जो उसका मुख सर्वथा बन्द किया जाये तो क्या बर्तन टूट फूट और उड़ न जायेगा ? क्या जिसने अग्नि की ज्वाला के सामने आड़ की तो उसकी ओर गर्मी कम होने से दूसरी ओर अधिक गर्मी नहीं होती। क्या हाथ के आड़ किये हाथ से अग्नि के दूसरी ओर जिस किसी के हाथ और कोई वस्तु हो तो वह अधिक तप्त नहीं होती और जब चारों ओर से आड़ कर अग्नि को रोका जावे तो गोलाकार होकर ऊपर को क्यों न चढ़ेगा और भाप के दूसरी ओर हाथ जैसा कि इधर का जलता है वैसा उधर का न जलेगा और हाथ की आड़ के हाथ में गर्मी इस लिये अधिक नहीं लगती कि वह अगल बगल होकर ऊपर उठ जाती है। देखो तुम्हारी यहाँ अत्यन्त भूल है क्योंकि जो वायु के शरीर वाले जीव गर्म वायु से मर जाते तो वैशाख और ज्येष्ठ मास में जबकि वायु अत्यन्त तप्त हो लू चलता है तब क्या सब जीव मर जाते हैं और गर्म वायु के जीव जबकि पौष मास में अतिशीत पड़ता है तब क्या मर जाते हैं ? इससे यह बात सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या ही है क्योंकि जो ऐसा होता तो परमेश्वर इस सृष्टि में अग्नि और सूर्य्यादि को क्यों रचता ? इसमें जो तुम सत्यासत्य बातों का निश्चय करना चाहो तो वेदादि सत्यशास्त्र पढ़ो और सुनो जिससे यथार्थ ज्ञान पाके धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी फल को प्राप्त हो सको। जो ऐसा न करके अपने मत के ग्रन्थों के विश्वास में रहोगे तो यह उत्तम मनुष्य जन्म व्यर्थ ही नष्ट करोगे।

('देश हितैषी, पृष्ठ ८ से १० तक, खंड १, संख्या ५, भादों, संवत् १९३९)।

बड़े आश्चर्य की बात है कि जीवों को अजर, अमर मान कर फिर उनका मरण भी मानते हो। जो तुम खुला मुख रखने में प्रत्यक्ष दोष लिखते हो तो प्रत्यक्ष होता है कि आप प्रत्यक्ष के लक्षणादि विद्या को ही नहीं जानते। इसी से किसी बड़े मनुष्यादि से बातें करने में पल्ला लगाना अच्छा समझते हो जो ऐसा है तो फिर वैसा क्यों नहीं करते। छोटे मनुष्य के सम्मुख हर समय मुख बांधे रहते हो। क्या बड़े मनुष्य का थूका छोटे मनुष्य के साथ लग जाना अच्छा समझते हो ? क्या बड़े के मुख में कस्तूरी घुली होती है छोटे के नहीं ? यदि बड़े छोटों का विचार है तो अपने चेलों के सम्मुख मुख क्यों बांधे रहते हो ? क्योंकि जब किसी बड़े मनुष्य से बोला करो तब बांध लिया करो। सदैव व्यर्थ बातें क्यों किया करते हो। देखो इस बात को तुम नहीं जानते, बड़े मनुष्यों से बात करते समय पल्ला लगाने से यह प्रयोजन है कि सभा में कभी गुप्त वार्ता करनी पड़ती है, यदि मुख खुला रखा जावे अर्थात् कपड़ा न लगावे तो अन्य मनुष्य जो निकट बैठे हों अवश्य सुन लें। जहां कोई तीसरा मनुष्य होता वहां बातें करने में पल्ला नहीं लगाते और क्या पल्ला लगाने से दुर्गन्ध रुक सकता है ? इसमें इतना ही प्रयोजन है कि जो वायु को रोक के न बातें करें तो उसके फैलने के साथ ही शब्द भी फैल जाये और कान में वायु लगने से ठीक-ठीक सुना भी न जाये जैसा कि वायु के वेग से चलने में ठीक-ठीक नहीं सुना जाता। देखो ! कैसे अन्धेर की बात है, क्या दुर्गन्ध को कान ग्रहण कर सकता है ? नहीं, किन्तु सुगन्ध दुर्गन्ध का ग्रहण नासिका ही से होता है। इस बात का आपने प्रयोजन नहीं समझा है जैसे गानविद्या न जानने वाला ध्रुपद को समझ नहीं सकता क्योंकि जो विद्या की बातें हैं उनको विद्वान् ही समझ सकता है, अविद्वान् नहीं। हम शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को वेद समझते हैं, कागज स्याही को नहीं और कागज, स्याही को जड़ होने से सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान वा सम्बन्ध नहीं होता। क्या जो तुम्हारे जैनी लोगों के ग्रन्थ वा पुस्तकों के कागज लेखादि हैं, उनको बनाने वालों ने मुख बांधकर बनाया और लिखा होगा ? हम खुले मुख से वेदों का पाठ करना अत्युत्तम समझते हैं क्योंकि मुख बांधने से स्पष्ट यथार्थ उच्चारण नहीं होता जैसा कि तुम्हारा सब अक्षरों का नासिका से अशुद्धोच्चारण होता है। इसका उत्तर हमने पहले ही लिख दिया था कि निरनुनासिक को मुख बाँध कर सदैव सानुनासिक बोलना शुद्ध नहीं परन्तु इसके समझने को विद्या चाहिये और जो आप साधु बनते हो तो साधु के क्या लक्षण हैं ? और आप स्वार्थी हो वा परमार्थी। जो स्वार्थ की इच्छा अर्थात् "निरर्थक हम नहीं बोलते" ऐसा क्यों कहते हो और जो स्वार्थी होतो साधु क्यों बनते हो ? जो आपको पक्षपात नहीं होता तो मुख पर पट्टी बाधने

का झूठा आग्रह क्यों करते ? कि विना मुख पर पट्टी बांधने के हम नहीं बोलते यदि ऐसा नियम था तो प्रथम ही प्रथम (जंगल में भ्रमण करते समय) हमसे *क्यों बोले थे कि आपका क्या नाम है ?* इत्यादि खुले मुख बोले। और अन्य जनों से भी बातें क्यों किया करते हो ? और भोजन समय (स्वप्रयोजन के लिये) क्यों मुख खोलते हो ? क्या तुम अपने शरीर-पोषण, भोजन, छादन, मलविस-र्गादि कर्म मौन के अतिरिक्त नहीं समझ सकते होगे ? यह बात मिथ्या है क्यों कि जब हम सुनना चाहते थे तब तो तुम सुनाने को खड़े भी न हुए और जो तुम कहीं आते जाते नहीं तो यहां कहाँ से आ गये ? क्या एक ही स्थान पर शिला के समान स्थिर रहते हो ? भला जिसका रुपया चांदी का है उसको कच्चेपन का क्या भय है ? क्या सबके सामने दिखलाने से ताम्र का भी हो जाता है ? क्या तुम वहीं जाते हो जहां तुम्हारी बातें विना समझे बूझे मानलेवें ? हाँ ठीक है तुम तो उन्हीं गोबर-गणेशों को सुना सकते हो, जो प्रसन्नता से "सत्यार्थ" और "प्रमाण" शब्दों का हल्ला करके तुमको संतुष्ट किया करें, चाहे सत्य कहो वा असत्य। मान ही लें जैसे दिल्ली की मिठाई। न पूछें न शंका करें, न झूठ का खंडन करें। ठीक समझ लिया जैसे तुम, वैसे तुम्हारे, सिद्धान्त हैं मानो बालकों का खेल। जो मुख की पट्टी का उत्तर तुम नहीं दे सकते तो छोटे से कुण्ड में अनन्त जीवों के होने आदि का उत्तर देना, तुम क्या किन्तु तुम्हारे तीर्थंकरों ने भी इन विद्या की बातों को नहीं समझा था। जो समझने होते तो ऐसी असंभव बातें क्यों लिख जाते ? सत्य है जबसे तुम लोगों ने वेदविरोधी होकर वेदोक्त सत्य मत को छोड़ के कपोलकल्पित असत्य मत को ग्रहण किया है तब ही से विद्यारूप प्रकाश से पृथक् होकर अविद्यारूप अन्धकार में प्रविष्ट हो गये हो। इसी से ईश्वर, जीव और पृथिवी आदि तत्त्वों को यथावत् नहीं जान सकते हो।

आओ ! अब भी क्यों झूठ पक्षपात करके वेदोक्त सत्य मत का स्वीकार क्यों नहीं करते और मुख पर पट्टी बाँधने आदि विद्याविरुद्ध कपोल-कल्पित बातों को क्यों नहीं छोड़ते और अन्यथा आग्रह करते जाते हो? सत्य है जो तुम लोगों के आत्माओं में वेदविद्या का थोड़ा भी प्रकाश होता तो ऐसी निर्मूल झूठी बातों के लिखने में लेखनी कभी न उठाते और जो तुम्हारे सिद्धान्त सत्य होते तो चर्चा करने में झूठे हीले के बहाने क्यों पकड़ते और ऐसे अशुद्ध लेख का व्यर्थ परिश्रम क्यों करते ? यदि अब भी सच्चे हो तो सम्मुख आकर थोड़े काल में सत्यासत्य का यथार्थ निश्चय क्यों नहीं कर लेते क्योंकि जो वाद-प्रतिवाद से बात सिद्ध होती है वही मानने योग्य है। जिस किसी ने मत मतान्तर वालो से पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक वादानुवाद नहीं किया वह सत्यासत्य को ठीक-ठीक कभी नहीं जान सकता। इसीलिये तुम भी ऐसा क्यों नहीं करते ? परन्तु क्या करो नाच न

ग्रावे ग्रांगन टेढ़ा । हस्ताक्षर—स्वामी दयानन्द

यह उपर्युक्त पत्र १६ जौलाई, सन् १८८१ को पण्डित वृद्धिचन्द, जगन्नाथ जोशी, व्यास रामनारायण, बाबू बिहारीलाल तथा अन्य सर्दार लोगों के हाथ स्वामी जी ने साधु जी की ओर भेजा । जब वे लेकर चले तो उस समय लगभग दो सौ मनुष्यों के इकट्ठे हो गये थे । इन्होंने पहुंचते ही साधु जी को उक्त पत्र पढ़ सुनाया और निवेदन किया कि अब आप इसका फिर उत्तर दीजिये । परन्तु पाठकगण ! उत्तर देने में तो विद्या चाहिये । न जाने पहले किस की सहायता से उत्तर लिखा था । विशेष क्या लिखूं साधु जी के छक्के छूट गये ।

अन्त को उन लोगों ने जब बहुत कहा सुना तब यही मुख से निकला कि हमारे से तो उत्तर कोई नहीं बन आता । आपा तो साधु है । जब लोगों ने देखा कि अब साधु जी ने ही अपने मुख से हार मान ली तो अब विशेष कहना उचित नहीं, यह समझकर नमस्ते करके चले आये और सब वृत्तान्त राव साहब और स्वामी जी से निवेदन कर अपने-अपने स्थानों को चले गये ।

हस्ताक्षर—वृद्धिचन्द श्रीमाल, मसूदा

("देश हितैषी" खंड १, संख्या ६, संवत् १९३५ आश्विन, पृष्ठ १२ से १५ तक ।)
(दिग्विजयार्क पृ० ३१, लेखराम पृ० ६७५ से ६८०)

ईसामसीहा पर विश्वास

(मसूदा में बिहारीलाल ईसाई से शास्त्रार्थ—जौलाई, १८८१)

श्रावण शुक्ला ४, सं० १९३८ अर्थात ३० जुलाई, सन् १८८१ को पूर्वोक्त बाबू बिहारीलाल ईसाई पुनः महाराज से मिलने आये । थोड़ी देर बातचीत होने के पश्चात् धर्म-विषय में वार्तालाप होने लगा । इस पर राव साहब ने उनसे कहा कि आप पादरी शूलब्रेड के शिष्य है और मैं स्वामी जी महाराज का, आज मेरा और आपका संवाद होगा । इसे बिहारीलाल ने स्वीकार कर लिया । राव साहब ने उनसे प्रश्न किया कि बाइबिल में लिखा है कि ईसामसीह ने एक बार उपदेश में कहा कि यदि आप लोगों में राई बराबर विश्वास हो तो इस पहाड़ को चलायमान कर सकते हो । अतः यदि आपका विश्वास पूरा है तो इस (सोहन नगरी) पहाड़ को अपनी जगह से हटा दो । पादरी साहब कुछ उत्तर न दे सके । और अन्त में उन्होंने यह कहकर पीछा छुड़वाया कि इसका उत्तर मैं अब नहीं दे सकता, पादरी शूलब्रेड से पूछकर उत्तर दूंगा । (लेखराम पृ० ६८९-६९०)

मुसलमान दासी-पुत्र

(मसूदा में काजी जी से वार्तालाप—अगस्त, १८८१)

२७ अगस्त, सन् १८८१ अर्थात् भाद्रपद शुक्ला को मुसलमानों की ईदुल-

फित्तर (रोजों की ईद) थी। काजी जी भी आ गये थे। २८ अगस्त को महाराज प्रातःकाल ८ बजे भ्रमण करके लौटे ही थे कि उन्होंने यवनों का झुण्ड अपने निवास स्थान की ओर आते देखा। उन्होंने चाँदमल कोठारी राज्य मसूदा को, जो उनके साथ मसूदा से आये थे, बुलाया और कहा कि देखो क्या बात है, ये लोग क्यों आ रहे हैं वे नीचे गये और यवन समुदाय के नेता से वृत्त ज्ञात करके स्वामी जी से कहा। उन्होंने कहा कि ऊपर बुलाओ। महाराज कुर्सी पर बैठ गये और वे लोग फर्श पर बैठ गये। आते ही काजी जी से निम्न प्रश्नोत्तर हुए—

काजी—आप हमें दासी-पुत्र कैसे बतलाते हैं ?

स्वामी जी—अपने कुरानशरीफ को देखो। इब्राहीम की दो स्त्रियाँ थीं एक विवाहिता सारा, दूसरी दासी हाजिरा, जिसे उन्होंने घर में डाल लिया था ......अतः आपके दासीपुत्र होने में क्या सन्देह है ?

काजी—कुरान में ऐसा नहीं लिखा।

स्वामी जी—(रामानन्द ब्रह्मचारी से कुरान की पुस्तक मंगाकर) देखिये, सूरा अनकबूत में लिखा है कि उसी साल (खुदा ने) उसे (इब्राहीम को) हाजिरा (के गर्भ) से जो सारा की दासी थी, इस्माईल प्रदान किया।

काजी—वह दासी तो थी, परन्तु निकाह कर लिया था।

स्वामी जी—फिर भी वह वास्तव में दासी ही तो थी, फिर आपके दासीपुत्र होने में क्या सन्देह है ?

इस पर काजी जी निरुत्तर हो गये और मुसलमान देखते के देखते रह गये।*

(देवेन्द्रनाथ २। २७८)

कबीर पन्थ

(कबीर पन्थी साधु के साथ मसूदा में धर्मचर्चा—अगस्त, १८८१)

अगस्त, सन् १८८१ के पहले सप्ताह में एक दिन एक साधु कबीरपंथी ब्यावर से स्वामी जी के पास मसूदा में आया और परस्पर धर्मचर्चा होने लगी।

स्वामी जी—आपके मत के कितने ग्रन्थ हैं ?

साधु जी—हमारे २४ करोड़ पुस्तक हैं।

स्वामी जी—यह बात मिथ्या है क्योंकि इतने ग्रन्थों की संख्या और रखने को कितना स्थान चाहिए (इस पर भी साधु जी कुछ न बोले)।

तब स्वामी जी ने फिर कहा कि तुम्हारे कबीर कौन थे और जब तुम

---

*इस शास्त्रार्थ का लेखरामलिखित विस्तृत विवरण पृ० २४१ पर भी है।

कबीरमत में होते हो तब उनकी प्रशादी और गुरु का उच्छिष्ट भी खाते हो कि नहीं ?

साधु जी—उच्छिष्ट खाते है। कबीर का जन्म नहीं है, अजन्म है। उसके माँ बाप भी नहीं।

स्वामी जी—कबीर जी काशी में कुकर्म से उत्पन्न हुए थे। इस कारण उसकी माँ ने उसे बाहर फेंक दिया था। उसी समय वहां पर (जहाँ पर कबीर पड़ा था) एक मुसलमान जुलाहा आ निकला। वह कबीर को उठाकर घर ले गया और अपना पुत्र सा जान उसको पाला और बड़ा किया। अब देखिये कि उसका जन्म भी हुआ और माँ बाप भी ठहरे।

साधु जी इस बात को सुनकर चुप रहे और कुछ उत्तर न दिया फिर और विषय पर बातें होती रहीं।("देश हितैषी", खंड १, संख्या ८, पृष्ठ ६, ७) (लेखराम पृष्ठ ५४६)

क्या मुसलमान दासीपुत्र हैं

(काजी जी रायपुर से प्रश्नोत्तर—२८ अगस्त, १८८१)

१९ अगस्त, सन् १८८१, शुक्रवार दिन के आठ बजे स्वामी जी रायपुर पधारे और नगर के बाहर पहुंच कर माधोदास की वाटिका में जिसके द्वार पर एक महल है और स्वामी के उतारने के लिए साफ कराया गया था, आनकर ठहरे। उस समय बूंदाबादी हो रही थी।

स्वामी जी के पधारने की सूचना जब ठाकुर हरिसिंह जी को हुई तब वे अपने बन्धुजन और दर्बारियों समेत दर्शन करने के लिए आये। एक अशफा और पाँच रुपया भेंट कर हाथ जोड़ खड़े रहे। स्वामी जी ने पूछा कि आप प्रसन्न तो हैं? उत्तर दिया कि हाँ आज आपके दर्शन से प्रसन्न हूँ। फिर सब यथायोग्य बैठ गए।

फिर स्वामी जी ने प्रश्न किया कि आपके यहाँ राजमन्त्री कौन हैं? ठाकुर साहब ने उत्तर दिया कि शेख इलाहीबख्श हैं परन्तु वे जोधपुर गये है, उनके भतीजे करीमबख्श जी उनके पीछे सारे काम का प्रबन्ध करते हैं और बतलाया कि वे बैठे हैं। तब महाराज ने कहा कि "आपके यहाँ मुसलमान मंत्री हैं, ओहो, ये तो दासीपुत्र हैं। आर्य पुरुषों को उचित है कि यवनों को अपना राजमंत्री न बनावें।" ऐसा कहने से करीमबख्श और ५-७ मुसलमान जो वहाँ उपस्थित थे, क्रोध में आकर गुड़गुड़ाने लगे और ठाकुर साहब भी स्वामी जी से आज्ञा लेकर अपने राजमहलों में चले गये। और मुसलमानों ने शेख जी

की हवेली में इकट्ठे होकर यह विचार किया कि उन्होंने हम को दासी का पुत्र बताया। इसलिये उनसे फौजदारी (लड़ाई) करनी चाहिए। जिस पर किसी ने कुछ कहा और किसी ने कुछ किन्तु एक चमनू खां मुसलमान ने कहा कि मेरी बात मानो और पहले कुछ न करो। पाँच सात दिन पश्चात् जब रमजान की ईद पर काजी जी आवेंगे तो उनको ले जाकर स्वामी जी से प्रश्नोत्तर करायेंगे। यदि झूठे होंगे तो फिर ऐसा ही करेंगे। यह बात सब ने स्वीकार की।

२७ अगस्त, सन् १८८१ को ईदउल् फित्र पर काजी जी आये और २८ अगस्त, सन् १८८१, रविवार तदनुसार भादों सुदि ४ को जब प्रातःकाल स्वामी जी आठ बजे के समय बाहर से घूमकर आये तो यवनों का झुण्ड अपने मकान की ओर आते देखा। स्वामी जी ने मुझको पुकारा कि कोठारी जी! ऊपर आओ। मैं ऊपर गया, कहने लगे कि देखो कदाचित् यवनों का समूह आता है। मैंने नीचे आनकर मुसलमानों को आते देखा। उनको नीचे ठहराकर स्वामी जी से जाकर कहा कि यहाँ आते हैं। महाराज दुग्धपान करके कुर्सी बिछवा कर स्वयं बैठ गये और उनको बुलवाया और फर्श पर बिठा दिया। आते ही काजी जी ने प्रश्न किया—

आप हम को दासीपुत्र कैसे बतलाते हो?

स्वामी जी—अपने कुरान शरीफ को देखो। इसराईल जिसको इब्राहीम कहते हो उसकी दो पत्नियाँ थीं—एक ब्याही हुई "सारा", दूसरी दासी "हाजरा"। जिसको उसने घर में डाला हुआ था। ब्याही हुई केवल सारा थी। अब देखिये कि सारा से अंग्रेज लोग और हाजरा से तुम लोग उत्पन्न हुए, फिर दासी पुत्र होने में क्या सन्देह है?

काजी जी—कुरान में ऐसा नहीं लिखा।

स्वामी जी ने रामानन्द ब्रह्मचारी को कहा कि कुरान का पुस्तक लाओ। पुस्तक लाकर काजी जी को दिखलाया (कुरआन सूरते अन्कबूत—उसी वर्ष में इसमाईल को हाजरा ने उत्पन्न किया जो सारा खातून की दासी थी। खंड २, पृष्ठ १६७)।

काजी जी—वह दासी तो थी परन्तु निकाह (विवाह) कर लिया था।

स्वामी जी—फिर भी वास्तव मे दासी ही है तो फिर आपके दासी पुत्र होने में क्या सन्देह है।

इस पर काजी जी निरुत्तर हो गए। मुसलमान सब देखते के देखते रह गए।

तब कुरान को स्वामी जी ने हाथ से पृथ्वी पर रख दिया।

काजी जी ने कहा—आपने यह क्या किया कि कुरान को पाँव में रख दिया।

स्वामी जी—काजी साहब ! तनिक विचार करो, क्या काजी नाम ही के कहलाते हो। कागज और स्याही कैसे बनती है, और छापाखाने में किस पर कागज छपते हैं, और कलम (लेखनी) क्या चीज है और कहाँ उत्पन्न होती है। इस पर निरुत्तर होकर काजी जी उठ खड़े हुए और उनके साथी सब यवन शान्त होकर चले गये। (लेखराम पृष्ठ ५४७ से ५४८)

परमात्मा विषय

(श्री मान् राजा गोविन्दसिंह जी बहादुर बनेड़ा नरेश के प्रश्नों का उत्तर—अक्टूबर, सन् १८८१)

प्रश्न—जीव, आत्मा और परमात्मा क्या है और उनमें क्या भेद है ?

उत्तर—जीव और आत्मा को तो हम एक ही मानते हैं और परमात्मा परमेश्वर उससे न्यारा है। हमने गीता के दो श्लोक पढ़े—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

स्वामी जी ने कहा गीता प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। हम गीता को प्रामाणिक नहीं मानते। (लेखराम पृ० ५५०)

ईसाईमत

(बम्बई में रेवरेण्ड जौसेफ कोक पादरी से शास्त्रार्थ—१८ जनवरी, १८८२)

रेवरेण्ड जौसेफ कोक ने बम्बई टाउनहाल में १७ जनवरी सन् १८८२ को एक व्याख्यान दिया जिसमें उसने बतलाया कि केवल ईसाईमत सच्चा और ईश्वर की ओर से है और यह समस्त भूमण्डल पर फैलेगा, शेष कोई मत ईश्वर की ओर से नहीं।

स्वामी जी ने एक चिट्ठी लिखी। जिसका अंग्रेजी अनुवाद कर्नल अलकाट ने स्वामी जी के सामने करके महाराज के हस्ताक्षर कराने के पश्चात् पादरी साहब की सेवा में भेज दिया। अगले रविवार को साढ़े पांच बजे का समय

फ्राम जी, काऊस जी, इन्स्टीट्यूट में शास्त्रार्थ के लिए नियत किया किन्तु पादरी कोक ने एक कोरा उत्तर पत्र के द्वारा कि "मैं चुनौतियों को स्वीकार नहीं करता हूँ क्योंकि इनका प्रकट उद्देश्य अविश्वास को फैलाना है" अपना पिण्ड छुड़ाया। (लेखराम पृ० ६६०)

रामस्नेही मत

(शाहपुरा में रामस्नेहियों से प्रश्नोत्तर—मार्च, १८८२)

शाहपुरा में रामस्नेहियों का एक मेला था। उसमें ब्यावर के कुछ रामस्नेही वैश्य आए हुए थे। एक दिन वे महाराज का व्याख्यान सुनने के लिए आए। उस समय तक व्याख्यान आरम्भ नहीं हुआ था, वे महाराज को राम-राम करके बैठ गये। महाराज ने उसका उत्तर 'नतस्ते' शब्द से दिया। थोड़ी देर बाद महाराज ने पूछा कि तुम लोग इतने दिन से राम-राम जपते हो, इससे क्या लाभ है? उन्होंने कहा पहले नाम पीछे नामी, जैसे हम ने पहले आपका नाम सुना और पीछे ढूंढते-ढूंढते आपको पा लिया, जैसे पहले काशी कहते-कहते और पीछे ढूंढते ढूंढते मनुष्य काशी पहुंच जाता है, ऐसे ही राम-राम कहते-कहते मनुष्य पीछे राम को पा लेता है। महाराज ने उत्तर दिया कि मैंने तो कभी पहले तुम्हारा नाम नहीं जपा, परन्तु फिर भी मैंने तुम्हें अपने सम्मुख बैठे पा लिया। केवल नाम लेने से परमेश्वर नहीं मिल सकता। उसके लिये साधन करना आवश्यक है। केवल लड्डू कहने से ही लड्डू नहीं मिल सकता, उसके लिये उपयुक्त साधन करना होता है। ये बातें हो ही रही थीं कि पाँच छः वर्ष के बालक जो इन वैश्यों की गोद में बैठे हुए थे, हठात् उठकर कहने लगे बाबा जी! स्वामी जी सच कहते हैं। लड्डू-लड्डू कहने से क्या लड्डू मिल सकते हैं? यह सुनकर सब लोग विस्मित हो गए। तब महाराज ने कहा कि ये बालक पक्षपाती नहीं हैं, इन्होंने किसी के कहने से ऐसा नहीं कहा। अब इन बालकों की सरलोक्तिपूर्ण मध्यस्थता से हमारे तुम्हारे शास्त्रार्थ की सुन्दर मीमांसा हो गई। (देवेन्द्रनाथ २। ३१६)

निस्सन्देह कौन होते हैं

(शाहपुरा में राजपुरोहित से वार्त्तालाप—मार्च, १८८२)

रविवार को महाराज वेदभाष्य का कार्य नहीं किया करते थे। एक रविवार को राजपुरोहित छविमल व्यास महाराज के पास आये और 'नमो नारायण' कहकर बैठ गए। महाराज ने उनका 'नमस्ते' शब्द से अभिवादन

किया और कहा कि आइये, आज हमारी छुट्टी है और आप से शास्त्रचर्चा करने की सुविधा है। व्यास जी ने कहा कि छुट्टी-मुक्ति तो हमारे लिए हो सकती है क्योंकि हम संसार-बन्धन में बद्ध हैं। आप तो संसार-बन्धन में ही नहीं, फिर आपकी छुट्टी वा मुक्ति कैसी ? महाराज ने कहा कि हमारी वेद-भाष्य के कार्य से छुट्टी है। व्यास जी ने कहा कि वेदभाष्य धर्म-कार्य से छुट्टी कैसी ? महाराज ने कहा कि धर्मकार्य से नहीं, वेद-भाष्य के कार्य से छुट्टी है। फिर महाराज ने कहा कि कोई शङ्का-सन्देह हो तो कहिये। व्यास जी ने उत्तर दिया कि हम तो निःसन्देह हैं, हम किसी शङ्कासन्देह के निवारण करने के लिए आपके पास नहीं आये, हम तो केवल आपसे मिलने के लिए आये हैं। महाराज ने कहा कि निस्सन्देह तो दो ही प्रकार के लोग हो सकते हैं।

यश्च मूढतमो लोको यश्च बुद्धेः पारंगतः।
द्वौ हीमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

अर्थ—दो ही प्रकार के लोग सुख भोगते हैं एक तो वह जो अत्यन्त मूढ़ हों, दूसरा वह जो परम बुद्धिमान् हो, दोनों के बीच के लोग क्लेश पाते हैं।

आप इन दोनों में कौन हैं ? व्यास जी ने इस प्रश्न का कोई उत्तर न दिया, परन्तु थोड़ी देर पीछे कहा कि आप जो समझें, आप तो बुद्धिमान् ही हैं।

(देवेन्द्रनाथ २। ३२०)

मूर्त्तिपूजा

(शाहपुरा में बिहारीलाल से प्रश्नोत्तर—मार्च, १८८२)

विहारीलाल नामक एक विद्यार्थी थे। उन्होंने महाराज मे तीन प्रश्न किये—

प्रश्न १—पाणिनि की अष्टाध्यायी के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद के १७७ वें सूत्र "भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृग्रावस्तुवः क्विप्" में ग्राव-स्तुति अर्थात् पत्थर की स्तुति प्रतिपादित की गई है।

प्रश्न २—पाणिनि के एक सूत्र का उल्लेख करके कहा कि इसमे शिव, स्कन्द, विष्णु प्रभृति की मूर्ति सिद्ध होती है।

प्रश्न ३—ईश्वर सर्वव्यापक है वा नहीं ?

महाराज ने इन प्रश्नों के उत्तर क्रमशः इस प्रकार दिये—

उत्तर १—स्तुति अनेक वस्तुओं की होती है। जैसे कारीगर कहते हैं कि

यह पत्थर उत्तम है, यह काष्ठ उत्तम है। ग्रावा के अर्थ पत्थर अवश्य हैं, परन्तु इससे पत्थर की सिद्धि नहीं होती।

उत्तर २—उस समय शिव, विष्णु आदि मनष्य के नाम होते थे। विदेश आदि जाने पर उनकी मूर्तियां रक्खी जाती थीं, परन्तु इससे शिव, विष्णु आदि की पूजासिद्ध नहीं होती।

उत्तर ३—परमेश्वर सर्वव्यापक है।

इस पर बिहारीलाल ने कहा कि तो फिर मैं प्रस्तरादि में ईश्वर को व्यापक समझ कर उसकी पूजा कर सकता हूँ।

महाराज ने उत्तर दिया कि तुम्हारी झांझ, घण्टे आदि और तुम्हारी वाणी, गले आदि में भी ईश्वर है। तो तुम ईश्वर के एक अंश को आहत कर के (घण्टा, घड़ियाल बजाकर) उसके दूसरे अंश (प्रस्तरादि) की पूजा करते हो, यह क्या बात है? और यदि तुम पत्थर में यथार्थ रूप से ईश्वर-बुद्धि करके पत्थर को कर सकते हो तो बालू को शर्करा समझ कर भोजन क्यों नहीं करते?

बिहारीलाल ने महाराजा की इस प्रकार की युक्तियाँ सुनकर मूर्तिपूजन करना त्याग दिया और वह महाराज का शुद्ध चित्त से अनुयायी हो गया।

(देवेन्द्रनाथ २। ३२०)

अनेक विषय

(मुन्शी इन्द्रमणि जी के शिष्य ला० जगन्नाथदास की बनाई आर्य-प्रश्नोत्तरी की समालोचना—अप्रैल, १८८२)

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र विज्ञापन संस्करण २

पृष्ठ ३४४ से उद्धृत

श्रीयुत संपादक देशहितैषी महाशय मन्त्री आर्य समाज अजमेर समीपेषु।

प्रिय सम्पादकवर! जो मनुष्य स्वार्थ बुद्धि छोड़ परमार्थ करने में प्रवृत्त नहीं होता, उसका हृदय पूर्ण शुद्ध होना असम्भव है। चाहे वह बहुत युक्ति और गूढ़ता अपनी कपटता को प्रसिद्ध करने में कैसा ही यत्नवान् क्यों न हो। उसका कपट कभी न कभी प्रकाशित हो ही जाता है। प्रत्यक्ष दृष्टान्त देख लो कि लाला जगन्नाथदास मुन्शी इन्द्रमणि जी के शिष्य की बनाई हुई (आर्य-प्रश्नोत्तरी) की समालोचना करने से (बहुत से विषय उसमें सत्य और परोपकारक दीख पड़ते हैं परन्तु बहुधा विषय उसमें ऐसे भी हैं कि जिनके सुनने वा पाठ करने वालों का भ्रमजाल में फंस वेदादि सत्य शास्त्रों से विरुद्ध होना सम्भव है।

यह विरुद्ध विषय केवल लाला जगन्नाथदास ही के अभिप्राय से नहीं किन्तु मुन्शी इन्द्रमणि भी उन दोषयुक्त विषयों के अनुयायी प्रतीत होते हैं।) अस्तु, जो हो मुझ को सत्य-सत्य परीक्षा इस ग्रन्थ की करके दोषों का प्रकाश करना अवश्य है। कारण सज्जन लोग गुण ग्रहण कर दोषों को छोड़ दें। इतना ही नहीं किन्तु जैसे विषयुक्त उत्तमान्न का बुद्धिमानों को त्याग करना अवश्य होता है, इसी प्रकार आर्य लोगों के लिए यह (आर्य प्रश्नोत्तरी) ग्रन्थ गुणों के साथ दोष-दायक होने से श्रेष्ठ को त्याग के योग्य है। अब इसका कुछ थोड़ा सा नमूना संक्षेप से दिखलाता हूँ।

[आर्य प्रश्नोत्तरी पृष्ठ २। प्रश्नोत्तर ७] "परमात्मा ने सृष्टि की आदि में श्री ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का प्रकाश किया। उन से ऋषि मुनि अस्मदादिकों को प्राप्त हुए।"

[समीक्षा] यह बात प्रमाण करने योग्य नहीं, क्योंकि (अग्नेर्वै ऋग्वेदो ऽजायत (ऽजायत) वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः) शतपथ ब्राह्मण वचन।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

मनुस्मृति का वचन। अब देखिये अग्नि आदि महर्षियों से ऋग्वेदादि का प्रकाश हुआ। इत्यादि ब्राह्मण वचनों के अनुसार मनु जी महाराज कहते हैं ब्रह्मा जी ने अग्न्यादि महर्षियों के द्वारा वेदों की प्राप्ति की। अतएव "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इस श्वेताश्वतरोपनिषद् के वचनार्थ की संगति शतपथ और मनु जी के वचन से अविरुद्ध होनी चाहिए। किन्तु परमात्मा ने चारों महर्षियों के द्वारा श्री ब्रह्मा जी को चार वेदों की प्राप्ति कराई। और अब भी जो कोई चार वेदों को पढ़ता है वही यज्ञ में ब्रह्मासन को प्राप्त और उसी का नाम ब्रह्मा भी होता है। यदि मुन्शी इन्द्रमणि जी और उनके शिष्य लाला जगन्नाथदास वेद और तदनुयायी ब्राह्मणादि ग्रन्थों को पढ़े होते तो ऐसे भारी भ्रम में न पड़ ऐसे ऐसे अन्यथा भाषण वा लेख क्यों करते? इनको उचित है कि अपना हठ छोड़ सत्य का ग्रहण करें।

---

१. जब मुन्शी इन्द्रमणि ने सहायता में आए हुये धन का पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार पूर्ण ब्यौरा न बताया और न छापा, तब श्री स्वामी जी ने उन सबसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तब मुन्शी जी ने आर्य प्रश्नोत्तरी (संवत् १९३८ आर्य दर्पण प्रेस शाहजहाँपुर में छापी। उसका उत्तर लिखवा कर श्री स्वामी जी ने भारत सुदशा प्रवर्तक में छपने के लिए भेजा।

(पृष्ठ ३ । प्रश्नोत्तर १६) "जीव वास्तविक अनन्त है। इस कारण ईश्वर के ज्ञान में भी अनन्त ही है।"

(समीक्षा) जब जीव देश काल वस्तु अपरिच्छिन्न अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं। उनको अनन्त कहना मानो एक अज्ञानी का दृष्टान्त बनना है। अनन्त तो क्या, परन्तु परमेश्वर के ज्ञान में असंख्य भी नहीं हो सकते। परमेश्वर के समीप तो सब जीव वस्तुतः अतीव अल्प हैं। जीवों की तो क्या परन्तु प्रति जीव के अनेक कर्मों के भी अन्त और संख्या को परमेश्वर यथावत् जानता है। जो ऐसा न होता तो वह परब्रह्म जीव और उनके कर्मों का जैसा-जैसा जिस-जिस जीव ने कर्म किया है उन उन का फल न दे सके। जब कोई इनसे प्रश्न करे कि एक-एक जीव अनन्त हैं वा सब मिल के ? जो एक-एक अनन्त हैं तो "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि ब्राह्मण वचन अर्थात् जो परमात्मा व्याप्य जीवों में व्यापक हो रहा है और ऐसा ही लाला जगन्नाथदास ने "पृष्ठ ५ प्रश्नोत्तर ३२" के उत्तर में लिखा है कि "जीवेश्वर का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध और "पृष्ठ ४, प्र० २१ में जीव को अणु माना है। जीव शरीर को छोड़ दूसरे शरीर में जाता और शरीर के मध्य में रहता है। इसलिए अनन्त वा असंख्य ईश्वर के ज्ञान में नहीं। किन्तु जीवों के ज्ञान में जीव असंख्य हैं। जिन लाला जगन्नाथदास वा मुन्शी इन्द्रमणि जी को अपने ग्रन्थस्थ पूर्वापर विरुद्ध विषयों का ज्ञान भी नहीं है तो आगे क्या आशा होती है। इसी से इनके सब प्रपंचों का उत्तर समझ लेना शिष्टों को योग्य है।

(पृष्ठ ४, प्र० २४) "जीव के गुण वास्तव में विभु हैं, परन्तु बृद्धावस्था में अविद्या से आच्छादित होने से परिच्छिन्न हैं। मुक्तावस्था में विभु हो जाते हैं।"

(समीक्षा) विभु गुण उसी के होते हैं जो द्रव्य भी विभु हो। और जिसको अणु मानते हैं क्या उसके गुण विभु हो सकते हैं ? क्योंकि गुणों का आधार द्रव्य होता है। भला कोई कह सकता है कि परिच्छिन्न द्रव्य में विभु गुण हों। क्या गुणी देशी और गुण विभु हो सकते हैं ? और गुणी को छोड़ केवल गुण पृथक् भी रह सकता है ? नहीं ! नहीं !! और जो (पृष्ठ ४१ प्रश्नोत्तर २१ में) जीव को अणु माना है। वह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक अणु में भी जीव रह सकता है। अर्थात् एक अणु में अनेक जीव रह सकते हैं। देखो अणु अणु काँच वा पृथ्वी आदि के मध्य में से पार नहीं जा सकता और जीव जा सकता है। इसलिए जीव अणु से भी सूक्ष्म है और इसके अणु भी विभु नहीं। हाँ मुक्तावस्था में जिस ओर उसका ज्ञान होगा उस दूरस्थ पदाथ को भी अपने ज्ञान स जान लेता है। नहीं तो

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" इस न्याय शास्त्र के सूत्र का अर्थ ही नहीं घट सकेगा। जो एक क्षण में एक पदार्थ को जाने अनेक को नहीं, उसी को मन कहते हैं। वही मन मुक्तावस्था में भी रह जाता। पुनः उसी मनरूप साधन मे विभु गुण वाला जीव कैसे हो सकता है।

(पृष्ठ ४ प्रश्न २५) "जीव परतन्त्र है।"

(समीक्षा) जीव किसके आधीन है? जो कहो कि परमेश्वर के तो जो कुछ जीव कर्म करता है वह स्वतन्त्रता से वा ईश्वराधीनता से? जो ईश्वराधीनता से करता है तो जीव को पाप पुण्य का फल न होना चाहिये, किन्तु ईश्वर को होना चाहिए। जैसे सेनाध्यक्ष वा राजा की आज्ञा से कोई किसी को मारे तो वह अपराधी नहीं होता, अथवा किसी के मारने में लकड़ी तलवारादि शस्त्र (न) अपराधी और न दंडनीय होते हैं, वैसे ही जीवों को भी दंड न होना चाहिये। किन्तु पाप पुण्य का फल सुख-दुःख ईश्वर भोगे। इसलिए जीव अपने कर्म करने में सर्वदा स्वतन्त्र और पाप का फल दुःख भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र रह जाते हैं। जैसे चोर चोरी करने में स्वतन्त्र और राजदण्ड भोगने मे परतन्त्र हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवों को भी जानो।

(पृष्ठ ४ प्रश्नोत्तर २८) "मुक्त जीव कर्म्मवश होकर फिर कभी संसार में नहीं आते। ईश्वरेच्छानुकूल अपनी इच्छा से केवल धर्म रक्षा करने को आते हैं।"

(समीक्षा) पाठकगण! विचारिये यह अविद्या का प्रताप नहीं है तो और क्या है? जो कहते हैं कि जीव संसार में कभी नहीं आते और ईश्वरेच्छानुकूल अपनी इच्छा से केवल धर्मरक्षा करने को आते भी हैं। धन्य! भला इस पूर्वापर विरुद्धता को गुरु और चेले ने तनिक भी न समझा। विचारणीय है कि जिसका ज्ञान, सामर्थ्य, कर्म अन्त वाले हैं उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? और जो मुक्ति में से जीव संसार में न आवे तो संसार का उच्छेदन अर्थात् नाश ही हो जाय। और मुक्ति के स्थान में भीड़ भड़क्का हरद्वार के मेले के समान हो जावे। और ईश्वर भी अंत वाले गुण कर्म का फल अनन्त देवे तो न्यायरहित हो जाय। और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाले जीव अनन्त आनन्द को भोग भी नहीं सकते। फिर यह बात वेद तथा शास्त्र के विरुद्ध भी है। देखो 'अग्नेर्नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च" (ऋग्वेद वचन) अर्थ—हम उसी सुन्दर निष्पाप परमात्मा का नाम जानते हैं और स्व-प्रकाश स्वरूप जगदीश्वर प्राप्तमोक्ष जीवों को पुनः अवधि पर संसार में माता-पिता के दर्शन कराता है अर्थात् मुक्ति सुख को भुगा-

कर पुनः संसार में जन्म देता है। इसी प्रकार सांख्य शास्त्र में भी लिखा है "नात्यन्तोच्छेदः" इत्यादि वचनों से यही सिद्ध होता है कि अत्यन्त जन्म-मरण का छेदन (न) किसी का हुआ और न होगा, किन्तु समय पर पुनः जन्म लेता है। इत्यादि प्रमाणों और युक्तियों से मुक्त जीव भी पुनरावृत्ति में आते हैं।

(पृष्ठ ४, प्रश्नोत्तर ३०) "एक वृक्ष में एक ही जीव होता है अथवा अनेक"।

(समीक्षा) जो एक वृक्ष में एक जीव होता तो प्रत्येक जीव (वृक्ष) में पृथक्-पृथक् जीव कहाँ से आते और किसी वृक्ष की डाली काटकर लगाने से जम जाता है उस में जीव कहाँ से आया, इसलिये एक वृक्ष में अनेक जीव होते हैं।

(पृष्ठ ५, प्रश्नोत्तर ३५) "अनेक पूर्व जन्मों के कर्म जो ईश्वर के ज्ञान में स्थित हैं वे सञ्चित कहलाते हैं।"

(समीक्षा) क्या जीव का कर्म्म जीव के ज्ञान में सञ्चित नहीं होता ? जो ऐसा न हो तो कर्म्मों के योग से पवित्रता और अपवित्रता जीव में न होवे। इसलिये जो-जो अध्ययनादि कर्म जीव करते हैं उनका सञ्चय जीव में ही होता है, ईश्वर में नहीं। किन्तु ईश्वर तो केवल कर्म्मों का ज्ञाता है और फल प्रदाता है।

(पृष्ठ १२, प्रश्नोत्तर ७७) "केवल देवता और शिष्ट पुरुषों के नाम पर जन्माष्टम्यादि व्रत है। सो ईश्वरातिरिक्त किसी देव की उपासना कर्तव्य नहीं।"

(समीक्षा) क्या शिष्ट पुरुषों से भिन्न भी कोई देवता है ? विना पृथिव्यादि के तेतीस और वेद मन्त्र तथा माता-पिता आचार्य्य अतिथि आदि के जिनका वेदों ने पूजन अर्थात् सम्यक् सत्कार करना कहा है। क्या यह भी मनुष्यों को कर्त्तव्य नहीं।

(पृष्ठ १३, प्रश्नोत्तर ८२) "जो कुछ ईश्वर ने नियत किया है उसमें न्यूनाधिक करने वाला कोई नहीं जो बात जिस प्राणी के लिये जिस काल में जिस प्रकार से ईश्वर ने नियत की है उससे विरुद्ध कभी नहीं होती।"

(समीक्षा) क्या ब्रह्मचर्य्य और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से आयु का अधिक होना और कुपथ्य से वा व्यभिचारादि से न्यून नहीं होता ? जब ईश्वर का नियत किया हुआ ही होता है तो जीव के कर्मों की अपेक्षा कुछ भी नहीं रह सकती। और जो अपेक्षा है तो केवल ईश्वर ने नियत नहीं किया किन्तु दोनों निमित्तों से होती है। जो हमारा क्रियमाण स्वतन्त्र न हो तो हम उन्नति

को प्राप्त कभी नहीं हो सकते। इसलिये हम कर्म करने में स्वतन्त्र और ईश्वर जीवों के कर्मों को यथायोग्य जानकर कर्म्मानुसार शुभाऽशुभ फल देने में स्वतन्त्र है। ऐसा माने विना ईश्वर में वे ही दोष आ जावेंगे, जो २५ वें प्रश्नोत्तर की समीक्षा में लिख आये हैं।

(पृष्ठ १३, प्रश्नोत्तर ८४) "स्वर्ग संसारांतर्गत है वा लोकान्तर ? "उत्तर" स्वर्ग लोक विशेष है वहां क्षुधा, पिपासा, बुढ़ापा आदि दुःख नहीं है।"

(समीक्षा) क्या लोकान्तर का नाम संसार है नहीं। क्या विना मुक्ति के प्रलय अथवा स्थूल शरीर के क्षुधादि की निवृत्ति हो सकती है। ऐसे विशेष स्वर्ग लोग को गुरु-शिष्य देख आये होंगे। जो पूर्व मीमांसा को देखा होता तो ऐसी अन्यथा बातें क्यों लिखते। देखिये "स एव स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्ट-त्वात्" पूर्वमीमांसा का वचन। जो सर्वत्र अविशेष अर्थात् सुख विशेष की प्राप्ति का नाम स्वर्ग और दुःखविशेष की प्राप्ति का नाम नरक लिखा है। सब जीवों को सब संसार में प्राप्त होता है किसी विशेष लोकान्तर ही में नहीं। और जहां शरीर धारण श्वास प्रश्वास भोग वृद्धि क्षय आदि होते हैं वहाँ क्षुधा पिपासा और बुड्ढापन आदि क्यों नहीं ? यह सब अविद्या की बात है। ध्यान दीजिये वेद का कोष क्या कहता है (स्वः) साधारण नाम में है निघण्टु १। ४। "स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् सः स्वर्गः" जिसमें सुख की प्राप्ति हो वह स्वर्ग कहाता है। परन्तु "गौणमुख्ययोर्मध्ये मुख्ये कार्य्ये सम्प्रत्ययः।" यह व्याकरण महाभाष्यकार का वचन है। इससे यह सिद्ध होता है कि निर्मल धर्म्माऽनुष्ठान-जन्य सत्य विद्यादि साधनों मे सिद्ध आत्मीय और शारीरिक सुख विशेष है। उसी प्रधान सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है।

(पृष्ठ १४, प्रश्नोत्तर ९१) "सम्पूर्ण जीव वास्तव में ईश्वर के दास हैं इस कारण मनुष्यों के नाम में ईश्वर वाच्य शब्द में दास शब्द का प्रयोग करना अत्युत्तम है।"

(समीक्षा) यह शास्त्रीय व्यवहार से सर्वथा बाहर है। किन्तु केवल कपोलकल्पना मात्र ही है। क्योंकि—

शर्म्मवद् ब्राह्मणस्य स्यात् राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य गुप्तसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ मनु०

जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णु शर्म्मा, क्षत्रिय का विष्णु वर्म्मा, वैश्य का विष्णु गुप्त और शूद्र का विष्णुदास इस प्रकार रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले और जो शास्त्रोक्त विधि छोड़ मनोमुख चले उस को क्या कहना !

(पृष्ठ १९, प्रश्नोत्तर ९७) "परलोक और धर्मार्थ के फल तथा ईश्वर को न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं।'

(समीक्षा) इसमें केवल इतनी न्यूनता है कि "नास्तिको वेदनिन्दक:" जो लाला जगन्नाथदास और मुन्शी इन्द्रमणि जी ने मनुस्मृति पढ़ी वा अच्छे प्रकार से देखी भी होती तो वेद निन्दक का नाम नास्तिक में क्यों न लिखते, जिससे सब कुछ अर्थ आ जाता और लक्षण भी दृष्टि पड़ता।

(पृष्ठ १९, प्रश्नोत्तर ९८) "हिन्दू" शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है, पारसी भाषा में वास्तविक अर्थ "हिन्दुस्तान" के रहने वाले का अर्थ है और (काला, लुटेरा, गुलाम) यह सांकेतिकार्थ हैं।"

(समीक्षा) वह क्या ! जब संस्कृत भाषा का नहीं है तो इसका वास्तविक अर्थ कभी नहीं हो सकता, वास्तविक अर्थ (में) इस देश वालों-का नाम (आर्य्य) और इस देश का नाम आर्य्यावर्त्त है"। इस सत्यार्थ को छोड़ असत्यार्थ की कल्पना करनी मुझको तो अविद्या और हठ की लीला दृष्टि पड़ती है। जब "अर्बी" की (लुगात) नामक पुस्तक में लिखा है कि लुटेरे आदि का नाम हिन्दू है तो उस भाषा में वास्तविक नाम क्यों नहीं ? केवल सांकेतिक अर्थ क्यों ? अर्थात् जो कोई आर्य्य होकर अपने हिन्दू नाम होने में आग्रह करे, उन्हीं का नाम काला, लुटेरा, गुलामादि का रखो, आर्य्य का नहीं।

(पृष्ठ १९, प्रश्नोत्तर १००) 'पहले कहने वाला "परमात्मा जयति" कहे और उत्तर देने वाला "जयति परमात्मा" कहे।'

(समीक्षा) यह कल्पना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा ही मिथ्या जान पड़ती है क्योंकि "नमस्ते रुद्र मन्यवे०। नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नम:" इत्यादि यजुर्वेद वचन "परमर्षिभ्यो नम:" "नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो इत्यादि उपनिषद् वचन, इनसे निश्चित यही सिद्ध होता है कि परस्पर सत्कारार्थ (नमस्ते) शब्द मे व्यवहार करने में वेदादि शास्त्रों का प्रमाण है और परस्पर अर्थ भी यथावत् घटता है जैसे (ते) तुभ्यं वा तव अर्थात् जिस को मान्य देता है उसका वाची है और (नम:) शब्द नम्रार्थवाचक होने से नमस्कार कर्त्ता का बोधक है मैं तुम कू नमता हूँ अर्थात् (ते) आप वा तेरा मान्य वा सत्कार करता हूँ। इसमें नमस्कर्ता और नमस्करणीय दोनों का परस्पर प्रसंग प्रकाशित होता है और यही अभिप्राय दोनों का है कि दोनों प्रसन्न रहें और जो असंबद्ध प्रलाप अर्थात् तीसरे परमेश्वर का प्रसंग लाना है सो व्यर्थ ही है। जैसे "आम्रान्पृष्ट: कोविदारानाचष्टे" किसी ने किसी से पूछा कि आम्र के वृक्ष कोन से हैं उसने उसे उत्तर दिया कि ये कचनार के वृक्ष हैं। क्या ऐसी ही यह बात नहीं

है ? किसी ने ईश्वर का प्रश्न पूछा ही नहीं और न कोई परस्पर सत्कार के व्यवहार में ईश्वर प्रसंग है और कह देना कि (परमात्मा सारे उत्कर्षों के साथ विराजमान है) यह वचन हठयुक्त का नहीं तो और क्या है ? हाँ जहाँ परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना उपदेश और व्याख्या करने का प्रसंग हो वहाँ परमात्मा के नाम का उच्चारण करना सबको उचित है। जैसा राम-राम, जय गोपाल, जय कृष्णादि शब्दों से परस्पर व्यवहार करना, यह हठ दुराग्रह से सम्प्रदायी लोगों ने वेदादि शास्त्रविरुद्ध मनमानी व्यर्थ कल्पना की है, उसी प्रकार से मुन्शी इन्द्रमणि जी व लाला जगन्नाथदास जी की युक्ति और प्रमाण से शून्य यह कल्पना दृष्टि पड़ती है।

इन विषयों में मुन्शी इन्द्रमणि जी और स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का सवाद पूर्व समय में भी हो चुका है। परन्तु मुन्शी जी कब मानते हैं। विशेष क्या लिखें। शोक है कि लाला जगन्नाथदास की करतूतों को विचार कर अब मुझको यह कहना पड़ा कि इन दोनों महात्माओं के प्रतिज्ञा से विरुद्ध करना आदि अन्यथा व्यवहारों को जो कोई सज्जन पुरुष जानना चाहें, वे आर्य्यसमाज मेरठ लाला रामसरनदासादि व भद्र पुरुषों से पूछ देखें कि अन्य मार्गियों के विवाद विषय की शान्तिकारक व्यवहार प्रसंग में इन्होंने कैसा-कैसा विपरीत व्यवहार किया, जिसको सब जानकार आर्यलोग जानते हैं। सत्य यह बात चली आती है कि "सब पापों का पाप लोभ है" जो कोई उसी तृष्णारूपी नदीप्रवाह में बहे जाते हैं उनमें पवित्र वेदोक्त आर्य्य धर्म की स्थिरता होनी कठिन है। अब जो मुन्शी इन्द्रमणि जी और उनके चेले लाला जगन्नाथदास, स्वामी जी और भद्र आर्य्यों की व्यर्थ निन्दा करें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? पाठक गण ! ठीक भी तो है जब जैसे में वैसा मिले फिर क्या न्यूनता रहै। जैसे दावानल अग्नि का सहायक वायु होता है वैसे ही इनके श्री मुन्शी बख्तारसिंह जी सहायकारी बन बैठे। अब तो जितनी निन्दा आर्य्य लोगों की करें उनती ही थोड़ी। चलो भाई यह भी अच्छी मण्डली जुड़ी। महाशयो ! जब तक तुम्हारा पेट न भरे तब तक निन्दा करने में कसर न रखना क्योंकि यह अवसर अच्छा मिला है। जैसे किसी कवि ने यह श्लोक कहा है सो बहुत ठीक है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१॥

चाहे कोई अपने मतलब की नीति में चतुर निन्दा करे वा स्तुति करे, चाहे लक्ष्मी प्राप्त हो वा चली जाओ, चाहे मरण आज ही हो वा वर्षान्तरों में,

परन्तु जो धीर पुरुष महाशय महात्मा आप्तजन हैं वे धर्म्म मार्ग से एक पाद भी विरुद्ध अर्थात् अधर्म मार्ग में नहीं चलते ।। १ ।।

सभ्य गणो ! यह तो आर्य्यों की शुभेच्छा का कारण है, परन्तु जो प्रथम उत्तमाचरण करके पश्चात् गड़बड़ा जायं वे ही तो आर्य्यावर्त्त के हानिकारक होते हैं। परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए क "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" जो इस सनातन वेदोक्त सत्य धर्म का आचरण करते हैं उसमें अनेक विघ्न क्यों न होय, तदपि इस सत्यमार्ग से चलायमान न होना चाहिए। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर परमात्मा अपनी कृपादृष्टि से इन विघ्नों से हम से और हम को इनमे सर्वथा दूर रखकर हम से आर्य्यावर्त्त की उन्नति कराने में सहायक रहै। इस थोड़े लेख से सज्जन पुरुष बहुत सा जान लेंगे। अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

ध्यान किसका और कैसे करें

(महाराणा उदयपुर से प्रश्नोत्तर—अगस्त, १८८२)

स्वामी जी ११ अगस्त, सन् १८८२ से १ मार्च सन् १८८३ तक उदयपुर में रहे। इसी अवधि में एक दिन प्रातः काल के समय जब स्वामी जी ध्यान से निवृत्त हुए तो दर्बार (महाराणा उदयपुर) ने उनसे प्रश्न किया कि जब किसी मूर्तिमान् वस्तु को चाहे वह कैसी ही हो आप नहीं मानते तो ध्यान किसका करें ?

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि कोई चीज मानकर ध्यान नहीं करना चाहिये। ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वसृष्टिकर्ता, सृष्टि को एक क्रम में चलाने वाला, नियन्ता, पालनकर्ता और ऐसे ही अनेक ब्रह्माण्डों का स्वामी और निन्यता ऐसी-ऐसी उसकी महिमा का स्मरण करके अपने चित्त में उसकी महानता का ध्यान करना चाहिए अर्थात् इसी प्रकार समस्त विशेषणों से युक्त परमेश्वर को स्मरण करके उसका ध्यान करना और उसकी अपार महिमा का वर्णन करना संसार के उपकार में चित्त की वृत्ति लगाने की प्रार्थना करना, यह ध्यान है।

(लेखराम पृष्ठ ५५६)

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

(कविराज शामलदास जी उदयपुर से वार्तालाप—अगस्त, १८८२)

शामलदास ने कहा—

एक दिन मैंने निवेदन किया कि आपका स्मारक चिह्न बनना चाहिए।

कहा कि नहीं; प्रस्थुत मेरी भस्मी को किसी खेत में डाल देना, काम आयेगी। कोई स्मारक न बनाना, ऐसा न हो कि मेरी मूर्त्तिपूजा आरम्भ हो जाये। मेरा (शामलदास) का विचार था कि अपना प्रस्तर मूर्त्ति बनवाऊँ। कहा कि— कविराज जी ऐसा न करना मूर्त्तिपूजा का मूल यही है? उनकी समस्त बातें श्रेष्ठ थीं। ब्रह्मचारी तो प्रथम श्रेणी के थे। जहां तक उनसे हो सकता था स्त्रियों को देखते ही नहीं थे। उनका कथन था कि 'वीर्य का नाश आयु का नाश है। वह वीर्य बड़ा रत्न है'। यदि मार्ग में जाते हुए कहीं कोई स्त्री आ जाती तो उस ओर पीठ कर लिया करते थे। उनकी यह बातें ढोंग नहीं प्रत्युत सच्ची और हार्दिक थीं, क्योंकि वे एक महान् जितेन्द्रिय थे। (लेखराम पृ० ५५७)

ईश्वरीय ज्ञान अनादि है

मौलवी अब्दुल रहमान साहब न्यायाधीश से उदयपुर में शास्त्रार्थ

११ तथा १३ व १७ सितम्बर, १८८२ ई०

पंडित बृजनाथ जी शासक साइर मेवाड़ देश (जो उस समय इस शास्त्रार्थ के लिखने वाले थे) ने कथन किया कि मैं उस समय स्वामी जी के मध्य दु-भाषिया भी था। अर्बी के कठोर शब्दों का अर्थ स्वामी जी को और संस्कृत के कठिन शब्दों का अर्थ मौलवी को बता दिया करता था। यह शास्त्रार्थ मैंने उस समय अपने हाथ से लिखा जिसका मूल लेख पेंसिल का लिखा हुआ अभी तक विद्यमान है।

तीन मनुष्य इस शास्त्रार्थ के लिखने वाले थे। एक पंडित बृजनाथ जी शासक साइर, दूसरे मिर्जा मोहम्मद अली खां भूतपूर्व वकील वर्तमान सदस्य विधान सभा टौंक, तीसरे मुन्शी रामनारायण जी सरिश्तेदार, बागकलाँ सर्कारी जिनमें से १ व ३ सज्जनों के मूल लेख हमको मिल गये हैं। और जिनका मौलवी साहब ने भी समर्थन किया है परन्तु उनकी बुद्धिमानी तथा ईमानदारी पर खेद है कि उस समय तो कोई युक्तियुक्त उत्तर न दे सके और पीछे से दिसम्बर, सन् १८८६ में निर्मूल और झूठे-झूठे उद्धरण देकर मूललेख के विरुद्ध कुछ का कुछ प्रकाशित करके अपनी धार्मिकता का चमत्कार दिखाया। इस शास्त्रार्थ के दिन सामान्य तथा विशेष हिन्दू तथा मुसलमान सुनने वालों की बहुत अधिकता थी यहाँ तक कि श्री दर्बार वैकुण्ठवासी महाराजा सज्जनसिंह भी शास्त्रार्थ सुनने के लिए पधारे हुए थे।

"स्वामी दयानन्द जी महाराज और मौलवी अब्दुर्रहमान साहब सुपरिण्टे-

एजेन्ट पुलिस तथा न्यायाधीश न्यायालय उदयपुर मेवाड़ देश के मध्य में होने वाला शास्त्रार्थ"

११ सितम्बर, सन् १८८२ तदनुसार भादों बदि चौदश,
संवत् १९३९, सोमवार।

मौलवी साहब—(प्रथम प्रश्न) ऐसा कौन सा मत है जिसकी मूल पुस्तक सब मनुष्यों की बोलचाल और समस्त प्राकृतिक बातों को सिद्ध करने में पूर्ण हो। जब बड़े-बड़े मतों पर विचार किया जाता है जैसे भारतीय वेद पुराण या चीन वाले चीनी, जापानी, बर्मी बौद्ध वाले, फार्सी जिन्द वाले, यहूदी तौरेत वाले, नसरानी इन्जील वाले, मौहम्मदी कुरान वाले तो प्रकट होता है कि उनके धार्मिक नियम और मूल विशेष एक देश में एक भाषा के द्वारा एक प्रकार से ऐसे बनाये गये हैं जो एक दूसरे से नहीं मिलते और इन मतों में से प्रत्येक मत के समस्त गुण और विशेष चमत्कार उसी देश तक सीमित हैं जहाँ वह बना है। जिनमें से कोई एक लक्षण तथा चिह्न उसी देश के अतिरिक्त दूसरे देश में नहीं पाया जाता, प्रत्युत दूसरे देश वाले अनभिज्ञता के कारण उसे बुरा जानकर उसके प्रति मानवी व्यवहार तो क्या उसका मुख तक देखना नहीं चाहते। ऐसी दशा में सब मतों में से कौन-सा मत सत्य समझना चाहिये।

उत्तर स्वामी जी का—मतों की पुस्तकों में से विश्वास के योग्य एक भी नहीं क्योंकि पक्षपात से पूर्ण हैं। जो विद्या की पुस्तक पक्षपात से जो रहित है वह मेरे विचार में सत्य है और ऐसी पुस्तक का साधारण प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध न होना भी आवश्यक है। मैंने जो खोज की है उसके अनुसार वेदों के अतिरिक्त कोई पुस्तक ऐसा नहीं है जो विश्वास के योग्य हो क्योंकि समस्त पुस्तकें किसी न किसी देश विशेष की भाषा में हैं और वेद की भाषा किसी देश विशेष की भाषा नहीं, केवल विद्या की भाषा है। क्योंकि यह विद्या की पुस्तक है, इसी कारण से किसी मत विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। यही पुस्तक समस्त देशीय भाषाओं का मूल कारण है और पूर्ण होने से प्रसिद्ध भलाइयों तथा निषिद्ध बुराइयों की परिचायक है और समस्त प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है।

प्रश्न मौ०—क्या वेद मत की पुस्तक नहीं है ?

उत्तर स्वा०—वेद मत की पुस्तक नहीं है प्रत्युत विद्या की पुस्तक है।

प्रश्न मौ०—मत का आप क्या अर्थ करते हैं ?

उत्तर स्वा०—पक्षपात सहित को मत कहते हैं इसी कारण से मत की पुस्तक सर्वथा मान्य नहीं हो सकतीं।

प्रश्न मौ०—हमारे पूछने का अभिप्राय यह है कि समस्त मनुष्यों की भाषाओं पर तथा समस्त मनुष्यों के आचारों पर और समस्त प्राकृतिक नियमों पर कौन-सी पुस्तक पूर्ण है सो आपने वेद निश्चित किया। सो वेद इस योग्य है वा नहीं ?

उत्तर स्वामी—हां है।

प्रश्न मौ०—आपने कहा कि वेद किसी देश की भाषा में नहीं। जो किसी देश की भाषा नहीं होती उसके अन्तर्गत समस्त भाषाएं कैसे हो सकती हैं ?

उत्तर स्वा०—जो किसी देश विशेष की भाषा होती है वह किसी दूसरी देश भाषा में व्यापक नहीं हो सकती क्योंकि उसी में बद्ध (सीमित) है।

प्रश्न मौ०—जब एक देश की भाषा होने से वह दूसरे देश में नही मिलती तो जब वह किसी देश की है ही नहीं तो सब में व्यापक कैसे हो सकती है ?

उत्तर स्वा०—जो एक देश की भाषा है उसका व्यापक कहना सर्वथा विरुद्ध है और जो किसी देश विशेष की भाषा नही वह सब भाषाओं में व्यापक है जैसे आकाश किसी देश विशेष का नहीं है इसी से सब देशों में व्यापक है। ऐसे वेद की भाषा भी किसी देश विशेष से सम्बन्ध न रखने से व्यापक है।

प्रश्न मौ०—यह भाषा किसकी है ?

उत्तर स्वा०—विद्या की।

प्रश्न मौ०—बोलने वाला इसका कौन है ?

उत्तर स्वा०—इसका बोलने वाला सर्वदेशी है।

मौलवी—तो वह कौन है ?

स्वामी—वह परब्रह्म है।

मौलवी—यह किसको सम्बोधन की गई है ?

स्वामी—आदि सृष्टि में इसके सुनने वाले चार ऋषि थे जिनका नाम अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा था। इन चारों ने ईश्वर से शिक्षा प्राप्त करके दूसरों को सुनाया।

मौलवी—इन चारों को ही विशेषरूप से क्यों सुनाया ?

स्वामी—वे चार ही सब में पुण्यात्मा और उत्तम थे।

मौलवी—क्या इस बोली को वे जानते थे ?

स्वामी—उस जानने वाले ने उसी समय उनको भाषा भी जना दी थी अर्थात् उस शिक्षक ने उसी समय उनको भाषा का ज्ञान दे दिया।

मौलवी—इसको आप किन युक्तियों से सिद्ध करते हैं ?

स्वामी—विना कारण के कार्य कोई नहीं हो सकता।

मौलवी—विना कारण के कार्य होता है या नहीं ?

स्वामी—नहीं।

मौलवी—इस बात की क्या साक्षी है ?

स्वामी—ब्रह्मादिक अनेक ऋषियों की साक्षी है और उनके ग्रन्थ भी विद्यमान हैं।

मौलवी—यह साक्षी सन्देहात्मक और बुद्धिविरुद्ध है। कारण कथन कीजिये।

स्वामी—वेद की साक्षी स्वयं वेद से प्रकट है।

मौलवी—इसी प्रकार सब मतवाले भी अपनी-अपनी पुस्तकों में कहते हैं।

स्वामी—ऐसी बात दूसरे मतवालों की पुस्तकों में नहीं है और न वे सिद्ध कर सकते हैं।

मौलवी—पुस्तक वाले सभी सिद्ध कर सकते हैं।

स्वामी—मैं पहले ही कह चुका हूं कि मतवाले ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते (और यदि कर सकते हैं तो बताइये कि मौहम्मद साहब के पास कुरान कैसे पहुंचा)।

मौलवी—जैसे चारों ऋषियों के पास वेद आया।

नोट—खेद है कि मौलवी साहब ने विना सोचे समझे ऐसा कह दिया। यह किसी प्रकार ठीक नहीं। न तो कुरान आदि सृष्टि में मौहम्मद साहब की आत्मा में प्रकाशित हुआ और न उसमें वर्णित कहानियाँ ही ऐसी हैं जो आदि सृष्टि से सम्बन्धित हों और न उसकी भाषा ही ऐसी है। मौहम्मदसाहब और खुदा के मध्य में तीसरा जबराइल और असंख्य फरिश्तों की चौकीदारी और पहरा और आकाश से उतरना आदि समस्त बातें ऐसी हैं जिनसे कोई मौहम्मदी भाई इंकार नहीं कर सकता। इसलिये कुरान किसी प्रकार भी इस विशेषण का पात्र नहीं हो सकता और उस्मान और कुरानों के बदलने की कहानी इसके अतिरिक्त है। —**सम्पादक**

दूसरा प्रश्न—

प्रश्न मौलवी—समस्त संसार के मनुष्य एक जाति के हैं अथवा कई जातियों के ?

उत्तर स्वामी—जुदी-जुदी जातियों के हैं।

मौलवी—किस युक्ति से ?

स्वामी—सृष्टि की आदि में ईश्वरीय सृष्टि में उतने जीव मनुष्य शरीर-धारण करते हैं कि जितने गर्भ सृष्टि में शरीर धारण करने के योग्य होते हैं और वे जीव असंख्य होने से अनेक हैं।

मौलवी—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है ?

स्वामी—अब भी सब ही अनेक माँ-बाप के पुत्र हैं।

मौलवी—इसके विश्वसनीय प्रमाण कहिये।

स्वामी—प्रत्यक्षादि आठों प्रमाण।

मौलवी—वे कौन से हैं ?

स्वामी—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, ऐतिह्य, संभव, उपमान, अभाव, अर्थापत्ति।

मौलवी—इन आठों में से एक-एक का उदाहरण दे कर सिद्ध कीजिये।

प्रश्न मौलवी—ये जो आकार मनुष्यों के हैं, इनके शरीर एक प्रकार के बने अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के बने ?

उत्तर स्वामी—मुख आदियों में एक से हैं, रंगों में कुछ भेद है।

मौलवी—किस-किस रंग में क्या-क्या भेद है ?

स्वामी—छोटाई-बड़ाई में किंचिन्मात्र अन्तर है।

मौलवी—यह अन्तर एक देश अथवा एक जाति में एक ही प्रकार के हैं अथवा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के ?

स्वामी—एक-एक देश में अनेक हैं। जैसे एक माँ-बाप के पुत्रों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

मौलवी—हम जब संसार की अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं तो आपके कथनानुसार नहीं पाते। एक ही देश में कई जातियाँ जैसे हिन्दी, हब्शी, चीनी, इत्यादि देखने में पृथक्-पृथक् विदित होती हैं अर्थात् चीन वाले दाढ़ी नहीं रखते और तिकोने मुँह के होते हैं। हब्शी, मलन्नाई, चीनी, तीनों की आकृतियाँ परस्पर नहीं मिलतीं। एक ही देश में यह भेद क्योंकर है ?

स्वामी—उनमें भी अन्तर है ।

मौलवी—दाढ़ी न निकलने का क्या कारण है ?

स्वामी—देशकाल और माँ-बाप आदि के शरीरों में कुछ-कुछ भेद है। समस्त शरीर रज वीर्य्य के अनुसार बनते हैं। वात, पित्त, कफ आदि धातुओं के संयोग वियोग से भी कुछ भेद होते है ।

मौलवी—हम समस्त संसार में तीन प्रकार के मनष्य देखते हैं जिनका विभाजन इस प्रकार है—दाढ़ी वाले, बिना दाढ़ी के, घूंघरू बाल वाले। दाढ़ी वाले भारतीय, फिरंगी, अर्बी, मिश्री आदि। बे दाढ़ी वाले चीनी, जापानी, कैमिस्टका के। घुंघरू बाल वाले हब्शी। इन तीनों की बनावट और प्रकार में बहुत-सा भेद हैं। एक दूसरे से नहीं मिलता और यह भेद आपके कथनानुसार ऊपर वाले कारणों से है। यदि एक देश के रहने वाले ये तीनों प्रकार के मनुष्य दूसरे देश में जाकर रहें तो कभी भेद नहीं होता। जाति समान है। इस अवस्था में संसार के मूलपुरुष आपके कथनानुसार तीन हुऐ, अधिक नहीं।

स्वामी—भोटियों को किस में मिलाते हैं। वे किसी से नहीं मिलते। इस प्रकार तीन से अधिक सम्पत्ति विदित होती हैं।

मौलवी—जैसा भेद इन तीनों में है वैसा दूसरे में नहीं। तोनों जातियों का परस्पर मिल जाना इस थोड़े भेद का कारण है परन्तु इन तीनों की आकृति एक दूसरे से नहीं मिलती।

तीसरा प्रश्न—

प्रश्न मौलवी—मनुष्य की उत्पत्ति कब से है और अन्त कब होगा ?

स्वामी—एक अरब छयानवे करोड़ और कितने लाख वर्ष उत्पत्ति को हुए और दो अरब वर्ष से कुछ ऊपर तक और रहेगी।

मौलवी—इसका क्या कारण और प्रमाण है ?

स्वामी—इसका हिसाब विद्या और ज्योतिष शास्त्र से है।

मौलवी—वह हिसाब बतलाइये ?

स्वामी—भूमिका के पहले अंक में लिखा है और हमारे ज्योतिषशास्त्र से सिद्ध है, देख लो।

चौथा प्रश्न—

(१३ सितम्बर, सन् १८८२, बुधवार तदनुसार भादों सुदि एकम,
संवत् १९३९ विक्रमी)

प्रश्न (मौलवी जी की ओर से)—आप धर्म के नेता हैं या विद्या के अर्थात् आप किसी धर्म के मानने वाले हैं या नहीं ?

उत्तर (स्वामी जी की ओर से)—जो धर्म विद्या से सिद्ध होता है उसको मानते है।

प्रश्न मौलवी—आपने किस प्रकार जाना कि ब्रह्म ने चारों ऋषियों को वेद पढ़ाया ?

उत्तर स्वामी—प्रदान किये गये वेदों के पढने से और विश्वसनीय विद्वानों की साक्षी से।

मौलवी—यह साक्षी आप तक किस प्रकार पहुँची ?

स्वामी—शब्दानुक्रम से और उनके ग्रन्थों से।

मौलवी—प्रश्नों से पूर्व परसों यह निश्चित हुआ था कि उत्तर बुद्धि के आधार पर दिए जायेंगे, पुस्तकों के आधार पर नही। अब आप उसके विरुद्ध ग्रन्थों की साक्षी देते है।

स्वामी—बुद्धि के अनुकूल वह है जो विद्या से सिद्ध हो चाहे वह लिखित हो अथवा वाणी द्वारा कहा जावे। समस्त बुद्धिमान् इसको मानते है और आप भी।

मौलवी—इस कथन के अनुसार ब्रह्म का चारों ऋषियों को वेद की शिक्षा देना विद्या अथवा बुद्धि द्वारा किस प्रकार सिद्ध होता है ?

स्वामी—विना कारण के कार्य नही हो सकता इसलिये विद्या का भी कोई कारण चाहिये और विद्या का कारण वह है कि जो सनातन हो। यह सनातन विद्या परमेश्वर में उसकी कारीगरी को देखने से सिद्ध होती है। जिस प्रकार वह समस्त सृष्टि का निमित्त कारण है उसी प्रकार उसकी विद्या भी समस्त मनुष्यों की विद्या का कारण है। यदि वह उन ऋषियों को शिक्षा न देता तो सृष्टि-नियम के अनुकूल यह जो विद्या की पुस्तक है, इसका क्रम ही न चलता।

मौलवी—ब्रह्म ने वेद चारों ऋषियों को पृथक्-पृथक् पढ़ाया अथवा एक साथ क्रमश: शिक्षा दी अथवा एक काल में पढ़ाया ?

स्वामी—ब्रह्म व्यापक होने के कारण चारों को पृथक्-पृथक् और क्रमश: पढ़ाता गया क्योंकि वे चारों परिमित बुद्धि वाले होने के कारण एक ही समय कई विद्याओं को नहीं सीख सकते थे और प्रत्येक की बुद्धिप्राप्ति की शक्ति भिन्न-भिन्न होने के कारण कभी चारों एक समय में और कभी पृथक्-पृथक् समझकर एक साथ पढ़ते रहे। जिस प्रकार चारों वेद पृथक्-पृथक् हैं उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को एक-एक वेद पढ़ाया।

मौलवी—शिक्षा देने में कितना समय लगा?

स्वामी—जितना समय उनकी बुद्धि की दृढ़ता लिए आवश्यक था।

नोट—(इससे आगे मौलवी साहब के स्थान पर मौ० और स्वामी के स्थान पर स्वा० लिखा जायगा)।

मौ०—पढ़ाना मानसिक प्रेरणा के द्वारा था अथवा शब्द अक्षर आदि के द्वारा जो वेद में लिखे हुए हैं अर्थात् क्या शब्द अर्थ सम्बन्ध सहित पढ़ाया?

स्वा०—वही अक्षर जो वेद में लिखे हुए हैं शब्दार्थ सम्बन्ध रहित पढ़ाए गये।

मौ०—शब्द बोलने के लिए मुख, जिह्वादि साधनों की अपेक्षा है। शिक्षा देने वाले में यह साधन हैं या नहीं?

स्वा०—उसमें ये साधन नहीं हैं क्योंकि वह निराकार है। शिक्षा देने के लिए परमेश्वर अवयवों तथा बोलने के साधनादि से रहित है।

मौ०—शब्द कैसे बोला गया?

स्वा०—जैसे आत्मा और मन में बोला सुना और समझा जाता है।

मौ०—भाषा को जाने विना शब्द किस प्रकार उनके मन में आये?

स्वा०—ईश्वर के डालने से क्योंकि वह सर्वव्यापक है।

मौ०—इस सारे वार्तालाप में दो बातें बुद्धि के विरुद्ध हैं प्रथम यह कि ब्रह्म ने केवल चार ही मनुष्यों को उस भाषा में वेद की शिक्षा दी जो किसी देश अथवा जाति की भाषा नहीं। दूसरे यह कि उच्चारित शब्द जो पहले से जाने हुए न थे, दिल में डाले गए और उन्होंने ठीक समझे। यदि यह स्वीकार किया जावे तो फिर समस्त बुद्धिविरुद्ध बातें जैसे चमत्कारादि सब मतों के सत्य स्वीकार करने चाहियें।

स्वा०—ये दोनों बातें बुद्धिविरुद्ध नहीं क्योंकि ये दोनों ही सच्ची हैं। जो कुछ जिह्वा से अथवा आत्मा से बताया जावे वह शब्दों के विना नहीं हो सकता। उसने जब शब्द बतलाये तो उनमें ग्रहण करने की शक्ति थी। उसके द्वारा उन्होंने परमेश्वर के ग्रहण कराने से योग्यतानुसार ग्रहण किया। और बोलने के साधनों की आवश्यकता बोलने और सुनने वाले के अलग अलग होने पर होती है

क्योंकि जो वक्ता मुख से न कहे और श्रोता के कान न हों तो न कोई शिक्षा कर सकता है और न कोई श्रवण। परमेश्वर चूंकि सर्वव्यापक है इसलिए उनके आत्मा में भी विद्यमान था, पृथक् न था। परमेश्वर ने अपनी सनातन विद्या के शब्दों को उनके अर्थात् चारों के आत्माओं में प्रकट किया और सिखाया। जैसे किसी अन्य देश की भाषा का ज्ञाता किसी अन्य देश के अनभिज्ञ मनुष्य को जिसने उस भाषा का कोई शब्द नहीं सुना, सिखा देता है उसी प्रकार परमेश्वर ने जिसकी विद्या व्यापक है और जो उस विद्या की भाषा को भी जानता था, उनको सिखा दिया। ये बातें बुद्धिविरुद्ध नहीं। जो इनको बुद्धिविरुद्ध कहे वह अपने दावे को युक्तियों द्वारा सिद्ध करे। पुराण जो पुरानी पुस्तकें हैं अर्थात् वेद के चार ब्राह्मण हैं, वे वहीं तक सत्य हैं जहाँ तक वेदविरुद्ध न हों। और जो अठारह पुराण नवीन हैं जैसे भागवत, पद्मपुराणादि, वे प्राकृतिक नियमों और विद्या के विरुद्ध होने से सत्य नहीं, नितान्त झूठे हैं।

मौ०— पुराण मत की पुस्तकें हैं या विद्या की ?

स्वा०—वह प्राचीन पुस्तके अर्थात् चारों ब्राह्मण विद्या की और पिछली भागवतादि पुराण मत की पुस्तकें हैं जैसे कि अन्य मत के ग्रन्थ।

मौ०—जब वेद विद्या को पुस्तक हैं और पुराण मत की पुस्तकें हैं और आपके कथनानुसार असत्य हैं तो आर्यों का धर्म क्या है ?

स्वा०—धर्म वह है जिसमें निष्पक्षता, न्याय और सत्य का स्वीकार और असत्य का अस्वीकार हो। वेदों में भी उसी का वर्णन है और वही आर्य्यों का प्राचीन धर्म है और पुराण केवल पक्षपातपूर्ण सम्प्रदायों अर्थात् शैव, वैष्णवादि से सम्बन्धित हैं जैसे कि अन्य मत के ग्रन्थ।

मौ०—पक्षपात आप किसको कहते है ?

स्वा०—जो अविद्या, काम, क्रोध, लोभ,मोह, कुसंग से किसी अपने स्वार्थ के लिये न्याय और सत्य को छोड़कर असत्य और अन्याय को धारण करना है, वह पक्षपात कहलाता है।

मौ०—यदि कोई इन गुणों से रहित हो, आर्य्य न हो तो आर्य्य लोग उसके साथ भोजन और विवाहादि व्यवहार करेंगे या नहीं।

स्वा०—विद्वान् पुरुष भोजन तथा विवाह को धर्म अथवा अधर्म से सम्बन्धित नहीं मानते प्रत्युत इसका सम्बन्ध विशेष रीतियों, देश तथा समीपस्थ वर्गों से है। इसके ग्रहण अथवा त्याग से धर्म की उन्नति अथवा हानि नहीं होती परन्तु किसी देश अथवा वर्ग में रहकर किसी अन्य मतवाले के साथ इन दोनों कार्य्यों

में सम्मिलित होना हानिकारक है इसलिए करना अनुचित है। जो लोग भोजन तथा विवाहादि पर ही धर्म अथवा अधर्म का आधार समझते हैं उनका सुधार करना विद्वानों को आवश्यक है और यदि कोई विद्वान् उनसे पृथक् हो जावे तो वर्ग को उसमें घृणा होगी और यह घृणा उसको शिक्षा का लाभ उठाने से वंचित रखेगी। सब विद्याओं का निष्कर्ष यह है कि दूसरों को लाभ पहुंचाना और दूसरों को हानि पहुंचाना उचित नहीं।

पाँचवाँ प्रश्न—

(रविवार १७ सितम्बर, सन् १८८२ तदनुसार भादों सुदि पंचमी
संवत् १६३६ विक्रमी)

प्रथम मौ०—समस्त धर्म वाले अपनी धार्मिक पुस्तकों को सबसे उत्तम और उनकी भाषा को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और उसको उस कारण का कार्य भी कहते हैं। जिस प्रकार की बौद्धिक युक्तियाँ वे देते है उसी प्रकार आपने भी वेद के विषय मे कहा। कोई प्रमाण प्रकट नहीं किया, फिर वेदमे क्या विशेषता है ?

स्वा०—पहले भी इसका उत्तर दे दिया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध विषय जिन पुस्तकों में होगे वे सर्वज्ञ की बनाई हुई नहीं हो सकती और कार्य का होना कारण के बिना असम्भव है। चार मत जो कि समस्त मतों का मूल है अर्थात् पुराणी, जैनी, इजील तौरेत वाले किरानी, कुरानी इनकी पुस्तके मैने कुछ देखी है और इस समय भी मेरे पास है और मैं इनके बारे मे कुछ कह भी सकता हूँ और पुस्तक भी दिखा सकता हूँ। उदाहरणार्थ—पुराण वाले एक शरीर से सृष्टि का आरम्भ मानते है यह अशुद्ध है क्योंकि शरीर संयोगज है, इसलिए वह कार्य है उसके लिए कर्त्ता की अपेक्षा है।

जिन्होंने इस कार्य को इस प्रकार सनातन माना है कि कोई इसका रचयिता नहीं, वह भी अशुद्ध है क्योंकि संयोगज पदार्थ स्वयं नहीं बनता। इजील और कुरान में अभाव से भाव माना है। ये चारों बातें उदाहरणार्थ विद्या के नियमों के विरुद्ध हैं, इसलिए इनकी वेद से समता नहीं कर सकते। वेदों में कारण से कार्य को माना है और कारण को अनादि कहा है। कार्य को प्रवाह से अनादि और संयोगज होने के कारण सान्त बताया है। इसको समस्त बुद्धिमान् मानते है। मैं सत्य और असत्य वचनों के कारण वेद की सत्यता और मतस्थ पुस्तकों की असत्यता कथन करता हूँ। यदि कोई सज्जन इसको प्रकट रूप मे देखना चाहें तो मैं किसी दिन तीन घंटे के भीतर उन मतों की पुस्तकों को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध सिद्ध करके दिखा सकता हूँ। यदि कोई नास्तिक वेद में

से प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई बात दिखायेगा तो उसको विचार करने के पश्चात् केवल अपनी अज्ञानता ही स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए वेद सत्य-विद्याओं की पुस्तक है न किसी मत विशेष की।

छठा प्रश्न--

प्रश्न मौ०—क्या प्रकृति अनादि है?

उत्तर स्वा०—उपादान कारण अनादि है।

मौ०—अनादि आप कितने पदार्थों को मानने है?

स्वा०—तीन। परमात्मा, जीव और सृष्टि का कारण—यह तीनों स्वभाव से अनादि हैं। इन का संयोग, वियोग, कर्म तथा उनका फल भोग प्रवाह मे अनादि है। कारण का उदाहरण—जैसे घड़ा कार्य, उसका उपादान कारण मट्टी बनाने वाला अर्थात् निमित्त कारण कुम्हार चक्र दंडादि साधारण कारण, काल तथा आकाश समवाय कारण।

मौ०—वह वस्तु जिसको हमारी बुद्धि ग्रहण नही कर सकती, हम उसको अनादि क्योंकर मान सकते हैं?

स्वा०—जो वस्तु नहीं है वह कभी नहीं हो सकती और जो है वही होती है। जैसे इस सभा के मनुष्य जो थे तो यहाँ आये। यहाँ हैं तो फिर भी कहीं होंगे। विना कारण के कार्य का मानना ऐसा है जैसे वन्ध्या के पुत्र उत्पन्न होने की बात कहना। कार्य वस्तु से चारों कारण जिनका ऊपर वर्णन किया है, पहले मानने पड़ेंगे। संसार में कोई ऐसा कार्य नहीं जिसके पूर्वकथित चार कारण न हों।

मौ०—सम्भव है कि जगत् का कारण जिसे आप अनादि कहते है, कदाचित् वह भी किसी अन्य वस्तु का कार्य हो। जैसे कि बिजली के बनने में कई साधारण वस्तुएं मिलकर ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो अत्यन्त महान् है। इस वार्तालाप के परिमाण से प्रकट है कि प्रत्येक वस्तु के लिए कोई कारण चाहिए तो कारण के लिए भी कोई कारण अवश्य होगा।

स्वा०—अनादि कारण उसका नाम है जो किसी की कार्य न हो। जो किसी का कार्य हो उसको अनादि अथवा सनातन कारण नहीं कह सकते किन्तु वह परम्परा और पूर्वापर सम्बन्ध से कार्य कारण नाम वाला होता है। यह बात सब विद्वानों को जो पदार्थविद्या को यथावत् जानते हैं, स्वीकरणीय है। किसी वस्तु को चाहे जहाँ तक अवस्थान्तर में विभक्त करते चले जावें, चाहे वह सूक्ष्म हो चाहे स्थूल, जो उसकी अन्तिम अवस्था होगी, उसको कारण कहते हैं

और जो यह बिजली का दृष्टान्त दिया, वह भी निश्चित कारणों से होता है जो उसके लिये आवश्यक हैं। अन्य कारणों से वह नहीं हो सकती ।

सतवां प्रश्न—

मौ०—यदि वेद ईश्वर का बनाया होता तो अन्य प्राकृतिक पदार्थों सूर्य, जल तथा वायु के समान संसार के समस्त साधारण मनुष्यों को लाभ पहुंचाना चाहिए था ।

स्वा०—सूर्यादि सृष्टि के समान ही वेदों से सबको लाभ पहुंचता है क्योंकि सब मतों और विद्या की पुस्तकों का आदिकारण वेद ही हैं। और इन पुस्तकों में विद्या के विरुद्ध जो बातें हैं वे अविद्या के सम्बन्ध से हैं क्योंकि वे सब पुस्तकें वेद के पीछे बनी हैं। वेद के अनादि होने का प्रमाण यह है कि अन्य प्रत्येक मत की पुस्तक में वेद की बात गौण अथवा प्रत्यक्ष रूप से पाई जाती है और वेदों में किसी का खंडन मंडन नहीं। जैसे सृष्टि विद्या वाले सूर्यादि से अधिक उपकार लेते हैं वैसे ही वेद के पढ़ने वाले भी वेद से अधिक उपकार लेते हैं और नहीं पढ़ने वाले कम ।

मौ०—कोई इस दावे को स्वीकार नहीं करता कि किसी काल में वेद को समस्त मनुष्यों ने माना हो और न किसी मत की पुस्तक में प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से वेदों का खंडन मंडन पाया जाता है ।

स्वा०—वेद का खंडन मंडन पुस्तकों में है, जैसे कुरान में बेकिताब वाले और एक ऊनी ईश्वर के मानने वाले जैसे बाइबिल में पिता पुत्र और पवित्रात्मा, होम की भेंट, ईश्वर को प्रिय, याजक, महायाजक, यज्ञ, महायज्ञ आदि शब्द आते हैं। जितने मतों के पुस्तक बने हुए हैं—बीच के काल के हैं। उस समय के इतिहास से सिद्ध है कि मुसलमान, ईसाई आदि जंगली थे तो जंगलियों को विद्या से क्या काम। पूर्व के विद्वान् पुरुष वेदों को मानते थे और वर्तमान समय में शब्द विद्या (फिलालोजी) के परीक्षक मोक्षमूलर आदि विद्वान् भी संस्कृत भाषा तथा ऋग्वेदादि को सब भाषाओं का मूल निश्चित करते हैं। जब बाइबिल कुरान नहीं बने थे तब वेद के अतिरिक्त दूसरी मानने योग्य पुस्तक कोई भी नहीं थी। मनुष्य की उत्पत्ति का आदि काल ही ऋषियों की वेदप्राप्ति का समय है जिसको १९६०८५२९९७ वर्ष हुए। इससे प्राचीन कोई पुस्तक नहीं है ।

पांडे मोहनलाल जी ने कहा कि मौलवी साहब के शास्त्रार्थ के प्रथम दिन तो राणासाहब नहीं आये थे परन्तु उन्होंने शास्त्रार्थ लिखित होना स्वीकार किया था। अन्तिम दिन श्री महाराज पधारे और मौलवी साहब की हठ देखकर श्री दर्बार साहब ने कहा कि जो कुछ स्वामी जी ने कहा है वह निस्सन्देह ठीक

है। फिर शास्त्रार्थ नहीं हुआ। कविराज श्यामलदास जी ने भी इसका समर्थन किया।

नवीन वेदान्त

(राव राजा मोहनसिंह जोधपुर से प्रश्नोत्तर—जून, १८८३)

जोधपुर निवासकाल में राव राजा शिवनाथसिंह जी के भाई राव राजा मोहनसिंह जी जो संस्कृतज्ञ थे, कई बार स्वामी जी से मिलने के लिए आये और जीव ब्रह्म की एकता के बारे में स्वामी जी से प्रश्न किया कि आप जीव हैं या ब्रह्म ?

स्वामी जी ने कहा कि हम जीव हैं।

उसने कहा कि मैं तो ब्रह्म हूँ क्योंकि पंडित का यही कथन है कि वह समदर्शी हो और चराचर में उसको देखे।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यदि ब्रह्म हो तो ब्रह्म के गुण होने चाहियें जो कि आप में नहीं दीखते। इस पर कई मन्त्र पढ़कर सुनाये जिस पर उसने कहा कि यदि मैं चाहूँ तो सब जान सकता हूँ परन्तु जब मैं शुद्ध हो जाऊं तभी ब्रह्म बनूंगा।

स्वामी जी ने कहा कि ब्रह्म में अशुद्धता कहाँ से आई, शुद्ध क्यों नहीं होते ?

इसी प्रकार की बातें एकदिन हुई परन्तु उन्होंने फिर कभी ऐसे प्रश्न नहीं पूछे; प्रत्युत स्वामी जी से प्रीतियुक्त बातें करते रहे और प्रेम रखते रहे। स्वामी जी भी उन की योग्यता की प्रशंसा करते थे। (लेखराम पृष्ठ ८३४)

१२३/१२, १७२/२६–१७३/५, तीन पदार्थ अनादि ईश्वर, कारण और सब जीव १७३/३२ पुनर्जन्म २१४/१, नासत: आत्मलाभ:। न सत आत्महानम् ६२/२०, मुक्ति से पुनरावृत्ति का न होना तथा स्वेच्छया धर्मरक्षार्थ जीव का आगमन ठीक है ? २४६/१७–२५०/४, निस्सन्देह कौन २४५/१०–१६।

क्या स्वर्ग लोकान्तर है ?—२५१/७–२१, मुक्ति ६६/३०, मोक्ष क्या १४६/२१, सुख दो प्रकार के हैं २०७/२४, मुक्ति मिलने के साधन १००/२२–३२, १०१/२३, १५२/३, ईश्वरदर्शन कैसे प्रश्नोत्तर २१३/६, ध्यान किसका करें—२५४/१७–२५, विना मूर्ति के किसका ध्यान करें और किस प्रकार ७७/२०, सन्ध्या केवल दो समय प्रात: सायं तीन समय नहीं ७७/२७, "अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति०" १३८/४, वेदों में कहीं किये गए पापों की क्षमा नहीं १४७/१३, गायत्री का जाप जो वेदोक्त-रीति से करे तो उसका फल अच्छा होता है १५३/११, नास्तिक लक्षण–"नास्तिको वेदनिन्दक:" २५२/३, शुद्धि अवश्य करनी चाहिये २३०/१२–१३, विद्युत् कहां और कैसे उत्पन्न होती है २३०/१४, नमस्ते प्रतिपादन २५२/२०–२५४/११, १६६/१३–१६७/१५, वेद में मुर्दे दफनाना नहीं लिखा १२६/२३–१२७/१७, क्या मनुष्यों के नाम में दास शब्द प्रयोग ठीक है ?—२५१/२२, लुटेरे आदि का नाम हिन्दू है २५२/१४, संस्कृत भाषा सदा से है और अत्यन्त शुद्ध है ७६/७, आर्यावर्त्त सब देशों का गुरु—हम आर्य लोग सदा से कि जब से यह सृष्टि हुई बराबर विद्वान् होते चले आये हैं ६४/७, जो अभिमान करता है सो पण्डित नहीं होता ४०/४, अभिमान आ गया और उसकी बड़ाई में दोष लग गया १६६/२६, आत्मा का हिंसक—असुर, राक्षस, दुष्ट, पापी, नीच आदि होता है १००/१६–२१, पुरुषार्थहीन से वेद का पढ़ना बहुत कठिन है २१३/२६।

मतमतान्तर

जिस प्रकार से बहुत प्रकार के सम्प्रदायों का नाश हो जाये वैसा सबको करना ६३/२, मतमतान्तरों का विचार राजप्रवन्ध से हो सकता है ८६/२३, सम्प्रदायों तथा धर्म में मुक्ति क्या—१०१/२४, ईसाई मुसलमानों से १६६०८५२-६७६ वर्षों के भीतर आर्यों के मत में बिगड़ा हुआ तो वह बहुत ही कम है—१०५/२८, मैंने कितने स्थानों पर पादरी लोगों से बात-चीत की है, कभी किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं हुई १५५/२२, पौराणिक मान्यता २०८/१२–१५।

नवीन वेदान्ती—१६५/२२, १६३/१२, यदि आप ब्रह्म हैं तो अपने शरीर के साढ़े तीन करोड़ लोमों में से एक को उखाड़ कर पुन: स्थापित कर दीजिये ६५/३, "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" का अर्थ ५७/२४-३०, २६७/३, यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय सारा जीव-ब्रह्म का भेद बतलाता है २३०/१०।

तीर्थ—काश्यादि स्थान, गंगादिक तीर्थ, एकादशी आदिक व्रत, राम, शिव आदि नामस्मरण पापों में प्रवृत्त कराते हैं—५२/४-३०, वेद में आये गगा-यमुना का नाम दो नाड़ियों का है १०९/२, मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध है १३४/२०, गंगा जी को मुक्ति देने और पाप छुड़ाने का साधन नही मान सकता १३७/२४–१३८/१५, (हरिद्वार में) हर की पौड़ी नहीं किन्तु हाड़ की पौड़ी है १६४/१ ।

श्राद्ध तर्पण—जीते पितरों की श्रद्धा से सेवा पुरुषार्थ व पदार्थों से तृप्ति करनी श्राद्ध और तर्पण कहलाता है १५२/११, मरे हुओं के नाम से देना निष्फल है और शास्त्र में भी ऐसा ही लिखा है २०९/२४, २०९/३ से २१०/२५ ।

विविध—रामनाम लेने से परमेश्वर नहीं मिल सकता २४४/१७, कबीर पन्थ २४०/२१—२४१/११, राधास्वामीमत हिन्दु धर्म से अच्छा नही २१३/२२, दार्शनिक व विचारक बन्दर से मनुष्य का होना मानता है यह सर्वथा मिथ्या है—१७७/१२ ।

अवतारवाद—परमेश्वर का कदाचित् जन्म-मरण नहीं होता ६२/२५, भला परमेश्वर का कभी अवतार हो सकता है । १३८/२०,१६८/३, क्या ईश्वर देहधारण करता है । १८१/२८ ।

मूर्त्तिपूजा—६/८, ७/१४, ८/२०, ९/७, १०/२६, १५/१, १८/३, मूर्त्तिखंडन की बात क्यों और कैसे उठाई १६५/१, मूर्त्तिपूजा वेदों में नहीं २७/१७–२२, ३७/११, ३९/६, ४७/१५, ५६/७, ५७/१०, ६३/२०, १६३/१, १६४/२६, २४५/१८ सदाचार पञ्चमहायज्ञ है न कि मूर्त्तिपूजा ९/१, क्या भाव से वे देव हो जाते है—५१/२५, मूर्त्तिपूजन की शिक्षा न किसी ऋषि-मुनि के वचन से और न किसी शास्त्र के उद्धरण से सिद्ध है, ३४/२४, न तस्य प्रतिमास्ति० १३५/४, हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे० १३५/२२, अन्धन्तमः प्रविशन्ति० १३५/२८, युक्ति मे भी ठीक नहीं १३६/७, उस समय शिव, विष्णु आदि मनुष्य के नाम होते थे २४६/३ ।

जैनमत

बौद्ध और जैन एक ही मत के नाम २२१/१२, मत की दृष्टि से शाखाएं एक ही मत की होती हैं २२१/१८, आत्माराम जी के स० प्र० विषयक आक्षेपों का उत्तर २१७/२९–२२६/२१, विवेकसार ग्रन्थ के लेख पर कुछ शंकाए २२४/२५, उष्ण-जल करने में अधिक दुःख पाते हैं २३१/१२, मुख पर पट्टी बांधने पर प्रश्नोत्तर २३२/५–२३३/९, आप पुस्तक 'रत्नसार भाग'' को विश्वसनीय नही समझते हो तो क्या हुआ २२३/५, जल में अनन्त जीव विषयक प्रश्न १५०/१५, (जैन मत में) तुम्हारे मत में ऐसी ऐसी बहुत सी बात अयुक्त हैं–२३३/२८–२३४/१२, २३५/२२–

२३६/१३, आप और आप लोगों के पथ पदर्शकों ने ऐसी भाषा बिगाड़ कर अपनी भाषा बना ली है—जैसे धर्म का धम्म पद २२२/२६ ।

ईसाईमत

चमत्कार विषयक प्रश्नोत्तर ११५/१५–११६/१३, पाप क्षमा पर प्रश्नोत्तर १६३/८-२०५/२०, ईसाइयों ने उसमें बहुत कुछ घटत-बढ़त कर दी है (मौलवी) ८८/१६, ईसा और इन सब जीवों में क्या भेद है २०२/४, २२७/६ से २२६/१३, शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या से मृत पुरुषों को जिलाया था ७६/६, रोम के पोप २२८/३०–२२६/१३, क्या ईश्वर देहधारण करता है १८१/२८–१६३/६ ।

बाइबिल–तौरेत तथा इंजील इत्यादि की समीक्षा—१०८/१६, १५५/३१–१५७/१४–१६१/६, १६१/८–१६३/६,

ईसामसीहा पर विश्वास २३६/१७–२६, लूत पैगम्बर का अनाचार १२५/१–३१ (ईसाइयो तुम्हारी) उन्नति के कारण–ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन, एक स्त्री प्रसंग, दूरदेश यात्रा, देशप्रीति आदि हैं ११०/२ ।

मुसलमानमत

जो विरुद्ध करता है तो न्यायकारी नहीं ठहर सकता १०४/२३, मुक्ति देने में ईश्वर पराधीन है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता १०६/१७, ईश्वर के दरबार में भी फरिश्तों का होना मानोगे तो और बहुत से दोष ईश्वर में आवेंगे १०४/२४, ।

कुरान—कुरान तुम्हारा ईश्वरीय वचन नहीं हो सकता १४/२७, खुदा ने उनके मन में प्रेम उत्पन्न क्यों न किया ८/१४, ईश्वर चाहे सो करे ऐसा ठीक नहीं १०६/३, कुरान को हाथ से पृथिवी पर रख दिया २४३/१–८, दाढ़ी रखने से प्रयोजन. ऊँची बांग देते हो यह क्या ईश्वर की उपासना है ? ८/७, कुरान अलग आसमानी पुस्तक नहीं हो सकता ८८/१३, क्या मुसलममान दासी-पुत्र नहीं २४०/१७, २४२/१७ ।

आवश्यक निर्देश

यह प्रमाण-सूची ग्रन्थत्रय (लघु-ग्रन्थ-संग्रह, उपदेश मञ्जरी एवं शास्त्रार्थ-संग्रह) की वर्णानुक्रम मे बनाई गई है। इसमे पाठकों को जहाँ महर्षि की योग्यता का परिज्ञान होगा, वहाँ प्रमाण-अप्रमाण कोटि के ग्राह्य-अग्राह्य पुस्तकों का भी ज्ञान होगा। सूची में लघु-ग्रन्थ-संग्रह आदि के पृष्ठों की संख्या का उल्लेख है जिससे तद्विषयक प्रमाण का सम्पूर्ण विस्तार से विवरण सुगमता से उस स्थल पर प्राप्त हो सकेगा।

इस सूची के दो विभाग किये गए है। एक में तो महर्षि जी के वे वचन हैं जिन्हें वे प्रमाण रूप से स्वीकारते हैं, एक में वे वचन हैं जिन्हें प्रमाण रूप मे नहीं स्वीकारते। इसमें हम महर्षि द्वारा प्रदत्त सभी वचनों के, जो प्रमाण रूप से दिये गए हैं, पते देने में समर्थ नही हो सके हैं।

ऋग्वेद के पतों का क्रम मण्डल, सूक्त व मन्त्रों का है अर्थात् तीन संख्याओं को देखकर ऋग्वेद का पता, यजुर्वेद के दो संख्याओं मे अध्याय वा मन्त्र का क्रम, सामवेद में पूर्वार्चिक के पते प्रपाठक, अर्धः, दशति, मन्त्र-क्रमानुसारेण और उत्तरार्चिक के पते प्रपाठक, अर्धः, मण्डल मन्त्रक्रमेण तथा अथर्ववेद के मन्त्रों में काण्ड, सूक्त, मन्त्र का क्रम अपनाया गया है।

प्रमाण-सूची में हमने वर्त्तमान विद्वानों की प्रथा का अनुसरण न करके महर्षि-पाणिनि के क्रम का आश्रयण कर विसर्ग एवं अनुस्वार युक्त प्रतीकों को सबके पश्चाद् रखा है क्योंकि महर्षि-पाणिनि ने वर्णोच्चारण शिक्षा में इनको यमों के अन्दर रखते हुए अचों के (स्वरों के) पश्चाद् बताया है।

ग्रन्थ-संकेत-सूची

प्रतीक	विवरण	प्रतीक	विवरण
उ०	उपदेशमञ्जरी	अ०	अथर्ववेद
ल०	लघुग्रन्थसग्रह	अष्टा०	अष्टाध्यायी
शा०	शास्त्रार्थसंग्रह	आ० गृ०	आश्वलायनगृह्यसूत्र

प्रतीक	विवरण	प्रतीक	विवरण
ऋ०	ऋग्वेद	महा० उद्यो०	महाभारत उद्योगपर्व
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण	मा०	माण्डूक्योपनिषद्
क०	कठोपनिषद्	मी०	मीमांसादर्शन
कवि०	कविवचन	मु०	मुण्डकोपनिषद्
का० प्र०	कात्यायनादिप्रतिज्ञासूत्र	य०	यजुर्वेद
के०	केनोपनिषद्	यो०	योगदर्शन
गी०	गीता	यो० भा०	योगदर्शन-भाष्य
छा०	छान्दोग्योपनिषद्	लो०	लोकोक्ति
तै०	तैत्तिरीयोपनिषद्	बृ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक	वे०	वेदान्तदर्शन
नि०	निरुक्त	वै०	वैशेषिकदर्शन
नी०	नीतिशतक	श०	शतपथब्राह्मण
न्या०	न्यायदर्शन	शा०	शान्तिपर्व (महाभारत)
प० वि०	पत्रविज्ञापन	श्वे०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
पा०	पारिभाषिक	सा०	सामवेद
फलित०	फलित ज्योतिष्	सा० ब्रा०	सामब्राह्मण
ब्रा०	ब्राह्मणग्रन्थ	सा० षड्० ब्रा०	सामषड्विंशब्राह्मण
म० भा०	महाभाष्य	सां०	सांख्यदर्शन
मनु०	मनुस्मृति	सु०	सुश्रुत

अप्रामाणिक ग्रन्थ-सूची

का०	काल्पनिक	शी०	शीघ्रबोध
का० मा०	काशी माहात्म्य	शु०	शुद्धाद्वैतमार्तण्ड
लक्ष्मी०	लक्ष्मी सूक्त	सि० गो०	सिद्धान्त रहस्य
लो०	लोकोक्ति		(गोसाईं मत)

अकारादिवर्णानुक्रम-प्रमाण-सूची

दयानन्द-ग्रन्थमाला भाग—३

अप्रामाणिक वचन

मुद्रक—आर० के० प्रिन्टर्स, ८० डी कमला नगर, दिल्ली-७